णमो सुअस्स

श्रीनन्दीसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थ-भावार्थोपेत-
हिन्दीभाषाटीकासहितञ्च

व्याख्याकार
जैनधर्म दिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न
जैनाचार्य श्री श्री श्री १००८ श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक
पं० मुनि श्री फूलचन्दजी 'श्रमण'

प्रकाशक
आचार्य श्री आत्माराम जैन
प्रकाशन समिति, लुधियाना

प्रकाशकीय

प्रिय धर्मबन्धुओ ! प्रातः स्मरणीय शान्तमुद्रा, बालब्रह्मचारी, जैन धर्मदिवाकर जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य १००८ श्री आत्माराम जी महाराज के पवित्र नाम से जैन समाज तथा इतर विद्वज्जनसमाज में कोई ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होंगे जो परिचित न हों। जैन समाज को इस बात पर गौरव है कि उसने तपस्त्याग, की साक्षात् मूर्ति, उच्चचारित्री, दीर्घदर्शी, अनेक गुणालङ्कृत श्रुत-पुरुष आचार्यरूप में प्राप्त किया। उनकी संघ सेवा और श्रुतसेवा का ही यह सुमधुर फल है कि आज स्थानकवासी जैन समाज अपना मस्तक गर्व से उन्नत कर अन्य समाजों के समकक्ष दृढ़ता से खड़ा हो सका है। जिस समय अपनी समाज में साधुओं को संस्कृत आदि भाषाओं का पढ़ना अच्छा नहीं समझा जाता था, उस समय उन्होंने स्व-पराक्रम और बुद्धिबल से व्याकरण तथा शास्त्रीय भाषाओं का गहनतम अध्ययन करके आगामी पीढ़ी के लिए मार्गदर्शन किया। अस्तु यहां पर इस विषय में कुछ अधिक नहीं लिखते।

आचार्य श्री जी ने अपने पूर्वज महामनीषी, तत्त्ववेत्ता, जैनाचार्य पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज द्वारा प्रदत्त आगमज्ञान पर वर्षों तक चिन्तन-मनन करने के अनन्तर शास्त्र स्वाध्याय का मार्ग जनसाधारण के लिए खोल दिया। आप श्री जी ने अनेकों छोटे-मोटे पुस्तकें, लेख और जैनागमों पर विस्तृत टीकाएं रची। उनके जीवन का उद्देश्य जैनागमों को सर्वसाधारण के पास पहुंचाने का रहा है और इसी लग्न से वे तारों में भी चन्द्रमा के मन्द प्रकाश में अपने संकल्प को साकार करने के लिए अध्ययन और लेखन कार्य में व्यस्त रहे, यह कितना महान उपकार है उनका समाज पर !

आचार्य श्रीजी के आगम लेखन की एक विस्तृत कहानी है। भारत विभाजन से पूर्व लाहौर में प्रकाशन चलता रहा। देश के विघटन का प्रभाव आचार्य श्री जी के आगमों के प्रकाशन पर भी पड़ा और यही कारण हुआ कि महाराज श्री द्वारा लिखित व्याख्याएं उनके जीवन काल में सम्पूर्णतया प्रकट न हो सकीं। पिछले वर्ष श्री उपासकदशाङ्गसूत्र, आप महानुभावों के पास पहुंचा ही होगा। इस वर्ष हम पाठकों के कर कमलों में श्री नन्दी सूत्र को समर्पण करते हुए हर्ष अनुभव करते हैं।

श्री नन्दी सूत्र के विषय में आचार्य श्री जी तथा वर्तमान आचार्य श्री जी तथा आचार्य श्री जी के पौत्र शिष्य पं० मुनि श्री फूलचन्द जी म० 'श्रमण' ने अपने लेखों में विवेचना पूर्वक लिखा है। 'श्रमण' जी ने इस सम्पादन में अपना अमूल्य समय देकर स्वाध्याय प्रेमियों पर अनुग्रह किया है। अतः हम उनका हृदय से आभार मानते हैं। अपने पाठकों से हम अनुरोध करते हैं कि वे अपने अमूल्य सुझावों को हमें भेजें जिससे भविष्य में प्रकाशित होने वाले आगमों में उनका उपयोग किया जा सके।

पन्नालाल जैन,

मन्त्री आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति

जैन स्थानक, लुधियाना (पंजाब)

श्रीमती बहिन सत्यवतीजी जैन, धर्मपत्नी श्री ज्ञानचन्द जी जैन लुधियाना ।
आप भी अपने पति श्री की तरह बड़ी उदार एवं धर्मभावना से अनुरंजित हैं । आपकी उदारता और धर्मभावना अनुकरणीय है ।

आप हैं, श्रीमान् धर्मप्रेमी गुरु-सेवक, लुधियाना के सुप्रसिद्ध उद्योगपति बाबू ज्ञानचन्दजी अग्रवाल जैन,
मालिक युनाइटेड हौज्यरी फैक्ट्री, युनाइटेड इंजीनियरिंग फैक्ट्री, तथा युनाइटेड इण्डस्ट्रीज़ ।
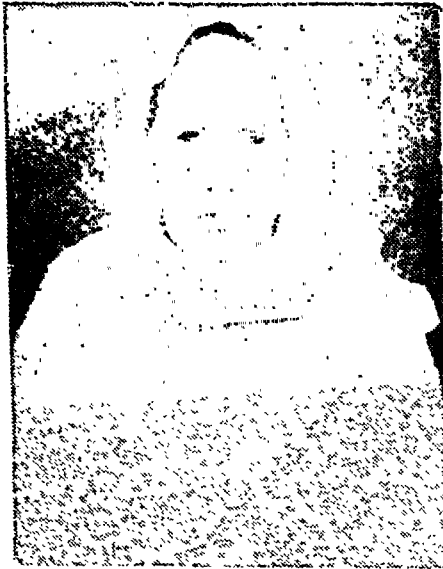
श्रीमती लच्छोदेवी जैन, धर्मपत्नी स्वर्गीय धर्मप्रेमी श्रुतप्रभावक लाला लद्धेशाह जैन
आप भी अपने स्व० पति की भान्ति उदार विचारों से ओत-प्रोत हैं । आपके सुपुत्र भी आप जैसे ही उदार और दानवीर हैं ।

आप हैं, श्री फतेहचन्दजी जैन बी० एस-सी० एल. एल. बी. ऐसिस्टेण्ट प्रिंसिपल इन्फार्मेशन आफिसर 'आइ एण्ड बी' मिनिस्ट्री देहली, आप श्रीनौहरियामलजी जैन के अकलौते सुयोग्य सुपुत्र और धर्मप्रेमी सज्जन हैं ।
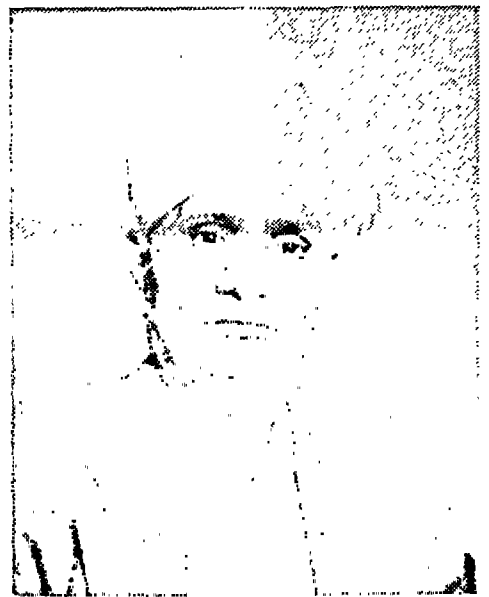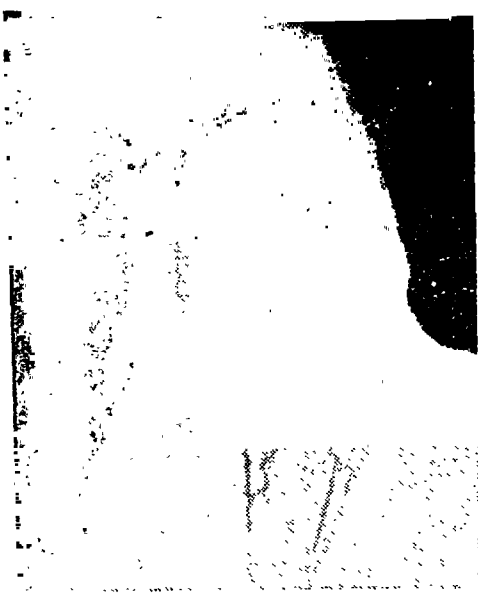
आप हैं, स्वर्गीय श्री हेमराजजी जैन, प्रोप्राइटर मैसर्ज गेन्दामल हेमराज, कनॉटप्लेस, न्यू देहली आपके सुपुत्र भी अपने पिता के पदचिह्नों पर चल कर धर्म व समाज की सेवा कर रहे हैं।

आप हैं, धर्मप्रेमी श्रीमान् लाला खैरायतीलालजी जैन

प्रोप्राइटर-ओसवाल कैमिकल वर्क्स (रजिस्टर्ड) लुधियाना। आपमें धर्म का प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है। आप धार्मिक और सामाजिक कार्यों में सदा-काल विशेष रुचि रखते हैं।

श्रुत-सेविका श्रीमती सुमित्रादेवीजी, धर्मपत्नी स्वर्गीय लाला श्री रतनचन्द जैन, मालिक फर्म-फग्गूमल रतनचन्द सर्राफ जम्मू तथा लाहौर-निवासी ला० नन्दलाल जी की सुपुत्री हैं। सम्पन्न परिवार से सम्बन्धित होते हुए भी आपका जीवन उच्च, सादा एवं धार्मिक है।

बालब्रह्मचारिणी बहन पद्मावती जैन

आप बालब्रह्मचारिणी स्वर्गीय देवकीदेवी जैन की सुशिष्या तथा श्रीमान् लाला चिरंजी-लालजी जैन मालेरकोटला निवासी की सुपुत्री हैं, वर्तमानयुग में आप का जीवन सादा और प्रशंसनीय है।

शास्त्रमाला के स्थायी सदस्य

१. चौधरी श्री सन्तलालजी जैन, लुधियाना
२. श्री सोहनलालजी जैन, ,,
३. श्री वख्शीराम चमनलाल जैन ,,
४. श्री नन्दलालजी जैन ,,
५. श्री हुकमचन्दजी जैन ,,
६. श्री सावनमलजी नाहर ,,
७. श्री हंसराजजी जैन लोहटिया ,,
८. श्री मुन्शीरामजी जैन ,,
९. श्री बालकरामजी जैन ,,
१०. श्री प्यारेलालजी जैन सराफ ,,
११. श्री बांकेरायजी जैन ,,
१२. श्री हरिरामजी थापर ,,
१३. श्री नौहरियामल रामप्रसाद जैन ,,
१४. श्री तेलूरामजी जैन ,,
१५. श्री अमरनाथजी जैन ,,
१६. श्री ज्ञानचन्दजी जैन ,,
१७. श्री कुलयशरायजी जैन ,,
१८. श्री खैरायतीलालजी जैन ,,
१९. वहिन देवकीदेवी जैन ,,
२०. श्रीमती भाग्यवती जैन ,,
२१, श्रीमती बहिन सुशीलादेवी जैन ,,
२२. बहिन पद्मावतीजी जैन
२३. श्री दौलतरामजी जैन समराला
२४. श्री सत्यप्रकाशजी फगवाड़ा
२५. श्री बनारसीदासजी जैन कपूरथला
२६. श्रीमती द्रौपदीदेवी जैन ,,
२७. श्री चुन्नीलालजी जैन ,,
२८. श्री धनीरामजी जैन, सुलतानपुर
२९. श्री देशराजजी जैन ,,
३०. श्री धूमीरामजी जालन्धर छावनी
३१. श्री तेलूरामजी जैन ,, ,,
३२. श्री सन्तरामजी जैन अमृतसर
३३. श्री वैष्णवदासजी जैन ,,
३४. श्री गोपीरामजी जैन होशियारपुर
३५. श्री हंसराजजी जैन ,,
३६. श्री शालिग्रामजी जैन जम्मू
३७. श्रीमती उत्तमीदेवी जैन ,,
३८. श्री कर्मचन्द कस्तूरीलाल जैन ,,
३९. श्रीमती सुमित्रादेवीजी ,,
४०. वहिन सावित्रीदेवीजी जैन जीरा
४०. श्री मुन्शीरामजी जैन फरीदकोट
४१. श्रीमती हुक्मीदेवी जैन ,,
४२. श्रीमती विष्णदेवी जैन जेतोंमंडी
४३. श्री कुन्दनलालजी जैन रामामंडी
४४. श्री रोशनलालजी जैन भटिंडा
४५. श्री रामजीदास जी जैन, मालेरकोटला
४६. सेठ अच्छरुमलजी जैन पटियाला
४७. श्री बरखारामजी जैन ,,
४८. श्री चरणदासजी जैन चण्डीगढ़
४९. श्री श्रीरामजी जैन, घनौर
५०. श्री मोहनलालजी जैन बनूड़
५१. श्री अमृतसरियामलजी जैन समाना मं०
५२. श्री किशोरचन्दजी जैन मानसा मं०
५३. श्री शिवजीरामजी जैन ,,
५४. श्री भानचन्दजी जैन ,,
५५. श्री अमोलकसिंहजी जैन हाँसी

५६. श्री शिवप्रसादजी जैन अम्बाला
५७. श्री खजाञ्चीरामजी जैन देहली
५८. श्री लद्धेशाहजी जैन देहली
५९. श्री मुनिलालजी जैन ,,
६०. श्री विलायतीरामजी जैन ,,
६१. श्री टेकचन्दजी जैन ,,
६२. श्री कुञ्जलालजी जैन ,,
६३. श्री अमरनाथजी जैन ,,
६४. श्री खूबचन्दजी जैन ,,
६५. श्री फतेहचन्दजी जैन ,,
६६. श्रीमती केसरदेवी जैन ,,
६७. श्रीमती चन्द्रपति जैन ,,
६८. बहिन महेन्द्रकुमारी जैन गुड़गाँव
६९. श्री आशारामजी जैन (कसूरवाले)
७०. श्री परमानन्दजी जैन ,,
७१. श्री रोचीशाहजी जैन (रावलपिंडी)
७२. श्री तेजेशाहजी जैन ,,
७३. श्री चुनीशाहजी जैन ,,
७४. श्री राधूशाहजी जैन ,,
७५. श्री नथूशाहजी जैन स्यालकोट
७६. श्री जयदयालशाहजी जैन
७७. श्रीमती मलावीदेवी जैन बम्बई
७८. श्रीमती खेमीदेवी जैन ,,
७९. श्रीमती अनारबाई जैन लोहामंडी आगरा

इनके अतिरिक्त पांच सौभाग्यवती बहिनें गुप्तदान देकर शास्त्रमाला की सदस्याएं बनी हैं। आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति इन सभी महानुभावों का हार्दिक धन्यवाद करती है।

उपरोक्त बहुत से सदस्यों के चित्र पूर्व प्रकाशित सूत्रों में यथा समय छप चुके हैं। कई धर्मप्रेमी, गुरुभक्त और श्रुतोपासकों से फोटो मांगने पर भी नहीं मिल सके, इससे उनकी धर्मभावना का उत्कर्ष प्रकट होता है। आशा है, सभी धर्मप्रेमी अपने उपार्जित द्रव्य का शास्त्र प्रकाशन में सुयोग प्रदान करके श्रुत-सेवा का अनुपम लाभ प्राप्त करेंगे।

अन्यच्च श्री एस० एस० जैन सभा चन्द्रावल रोड़ सब्जीमंडी देहली शास्त्रश्रवण, शास्त्र प्रभावना एवं शास्त्र स्वाध्यायमें पर्याप्त अभिरुचि रखती है। आचार्यश्री द्वारा अनुवादित श्रीनन्दीसूत्र के प्रकाशन में उसने १५०१ का महत्त्वपूर्ण योग देकर श्रुतसेवा और गुरुभक्ति का सराहनीय कार्य किया है।

आचार्य श्री जी महाराज के अनन्य उपासक और धर्मप्रेमी श्री रामलालजी जैन सर्राफ, प्रो० पापुलर ज्विलर्स चान्दनी चौक दिल्ली तथा श्री टेकचन्द जी जैन (फगवाड़ा वाले) जैन फाइनेंस रूपनगर देहली बड़े उत्साही और श्रद्धालु श्रावक हैं। आपने भी शास्त्र प्रकाशन में प्रशंसनीय सहायता की है।

अतः 'आचार्य श्रीआत्माराम जैन प्रकाशन समिति' जैन सभा के सदस्यों तथा इन दोनों महानुभावों का हार्दिक धन्यवाद करती है। —मन्त्री

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति

अनध्यायकाल

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय वताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए, किन्तु अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्याय काल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रंथों का भी अनध्याय काल माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या-संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्याय काल वर्णित किया गया है, जैसेकि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाइए पण्णत्ते, तंजहा—उक्कावाते, दिसिदाग्घे, गज्जिते, निग्घाते, जूयते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रतउग्घाते। दसविहे ओरालिते, असज्झातिते पण्णत्ते, तंजहा— अट्ठि-मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाण सामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे। स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०।

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तंजहा—आसाढ पाडिवए, इंद महापाडिवाते, कतिएपाडिवए, सुगिम्ह पाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चुसे। स्थानाङ्गसूत्र स्थान ४, उद्देश २।

उपरोक्त सूत्र पाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्नप्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात (तारापतन)** यदि महत् तारा पतन हुआ हो तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्त वर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी लगी हो, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलों के गर्जने पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. **विद्युत्**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा में स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात्—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतिया को सन्ध्या और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा, थोड़े-थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है, वह यक्षादीप्त होता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे, तब तक शास्त्र स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्त्तिक से लेकर माघ मास तक का समय मेघों का गर्भ मास होता है, इसमें धूम्रवर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूंध पड़ती है, वह धूमिका कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धून्ध पड़ती रहे, तबतक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. महिका श्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धून्ध महिका कहलाती जबतक वह गिरती रहे, तबतक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में जो चारोंओर धूलि छा जाती है, जबतक वह धूलि फैली रहे, तब तक स्वाध्याय वर्जित है।

उपरोक्त १० कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी, माँस और रुधिर—पंचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से उक्त वस्तुएं उठाई न जाएं, तबतक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार ६० हाथ के आस-पास इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य संबन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशान भूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना गया है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्याय काल माना गया है।

१८. **पतन**—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र-पुरुष के निधन होने पर जब तक उसका दाह-संस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ़ न हो तब तक शनैःशनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. **राजव्युद्ग्रह**—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शांति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि तक स्वाध्याय नहीं करे।

२०. **औदारिक शरीर**—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का बध हो जाने पर जबतक वह कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर संबन्धी कहे गए हैं।

२१-२८. **चार महोत्सव** और **चार महाप्रतिपदा**—आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा, ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. **प्रातः, सायं, मध्यान्ह** और **अर्धरात्रि**—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।
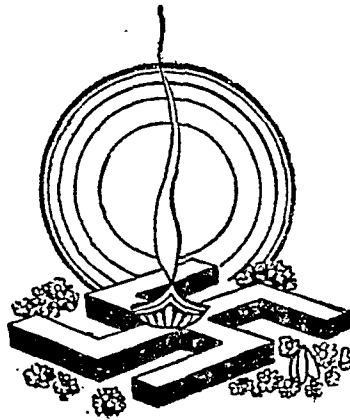
गुर्वावली

जिणे महावीर सुनामधेज्जे, तित्थंकरे होत्थ जया हु सिद्धे ।
गएसु वासेसु सहस्सदोसुं, बुड्ढि गएसुं चर्उहिं सएहिं ॥१॥
देसे इहं भारह नामधेज्जे, पंजाब पंते नयरं समिद्धं ।
वासो सयुज्जोगवईण चारू, सोहावरं णं लुधियाण नामं ॥२॥
तस्सि महंतो समणो जसंसी, लद्धुब्भवो णं बहलोल गामे ।
जइणाण होत्थाऽऽयरिओ सुथेरो, नाणी पयावी सिरिमोत्तिरामो ॥३॥
सिरिगणवइराओ तस्स सीसो पसिद्धो, सयलगुणि-गणावच्छेयगत्तं धरंतो ।
जव-तवसुणिमग्गो संघसेवाहिलासी, सुकढिणजमवित्ती संजमी बंभयारी ॥४॥
सीसो तदीओ समणो सुदन्तो संतो गुरुस्सेव गुणेहिंजुत्तो ।
नामेण सामी जयरामदासो, होत्था पहु संघगणावछेई ॥५॥
अन्तेसओ तस्स महामहेसी, जोइव्विऊ सालिगरामनामो ।
सद्धावसो सग्गुरुणो सुसेवं, सुसीसमेगं पडिलद्धवन्तो ॥६॥
अप्पाराम त्तीह सुन्नामधेओ, धीलीलाहिं सग्गुणेहाणिएहिं ।
विम्हावेन्तो मोहयन्तो य लोअं, णेया-साहू जइणधम्मस्स जाओ ॥७॥
विसालवुद्धि समणो सुसीलो, धीरो सुसोमो विणई विरत्तो ।
सुलक्खणेहिं सयलेहिं जुत्तो, आसी सया सज्झयणे स लीणो ॥८॥
तातो पिओ से मणसासरामो, माया सती सा परमेसरी णं ।
राहों त्ति नामा नयरी पवित्ता, जम्मंसि धन्ना अभविंसु सव्वे ॥९॥
थोवेण कालेण कुसग्गबुद्धी, सव्वाणि सत्थाणि सुहीवरो सो ।
साहिच्चजाएण समं पढित्ता, सुपंडिओ असि पसिद्धकित्ती ॥१०॥
धम्मप्पयारे कय निच्छओतो, उग्गं विहारं कयवं स देसे ।
वेउस्सपुण्णेहिं सुभासणेहिं, जणे बहू बोहियवं अबोहे ॥११॥
अउल्लवेउस्स पहावसाली, जिइंदिओ कामजई महेसी ।
पभासयन्तो जिणधम्ममेवं, जसोमहं लद्धवमासुपन्नो ॥१२॥
सोउं सुकित्ति धवलं तदीयं, सूरी महं सोहणलालनामो ।
पसन्नचित्तो सुसमादरन्तो दाऊणुवज्झायपयं सुतुट्ठो ॥१३॥

सहेसगासो महुराय भासा, जणा विसालं च समिक्ख तेअं।
तम्हा हु सद्धावसगा थुणंतो, तं जइणधम्मस्स दिवागरत्ति ॥१४॥
नाऊण सुत्तेसु सइं विसालं, जइणागमाणं परिवेइणो तं।
भासिसु सव्वे समणं महत्तं जिणागमाणं रयणागरोऽयं ॥१५॥
वक्खाणमज्झे समुदाहरन्तं, निस्सेस साहिच्च कहाविसेसा।
साहिच्चपुव्वं रयणं समत्थं, पसंसमाणा विबुहा भणिसु ॥१६॥
समुत्तरंतं हु कुओ वि पुट्ठं, उदाहरंतं सयलंपि वित्तं।
गूढेवि अत्थे सुविबोहयंतं, भणिसु तं जीविअ विस्सकोसं ॥१७॥
दोसुं सहस्सेसु विणिग्गएसुं, तिवासवुड्ढेसु य विक्कमेसुं।
संवच्छरेसुं लुहियाणपोरे, गणाहिवं तेण पयं गहीयं ॥१८॥
एगत्तत्थ संपयायाण नाणा, रायत्थाणे सादडी नाम पोरे।
होत्था एगं साहुसम्मेलणं जं, पायं सव्वे तत्थ संगत्तियाणं ॥१९॥
विरायमाणेहि तहिं तयाणि, वियक्खणेहिं सुमहामुणीहिं।
मएण एक्केण महाणुभावो, सव्वप्पहाणायरिओ कओ सो ॥२०॥
महामुणीसस्स पहाणसीसो, खजाणचन्दो हु महाजसंसी।
धीरो मणस्सी समणो महप्पा, समायधम्मस्स सयाहिएसी ॥२१॥
सुपंडिओ से समणोवनामो, सीसो सुजोग्गो हु महामणीसी।
महातवस्सी सिरिपुप्फचन्दो, टीगं सुसंपादियवं मुणीमं ॥२२॥
हिन्दीजुगेऽस्सिं भविबोहणत्थं, पियामहेणं गुरुणा निबद्धं।
पोत्तेण सीसेण य सोहियं तं, कल्लाण-भाजो पढिऊण होन्तु ॥२३॥
नंदीसत्थं दिसु तित्थयराणं, सुत्तं बद्धं तग्गणस्सामिहिं तं।
वक्खाणिसुं पुव्वसूरी अणेगे, हिन्दी टीया पत्थुया तस्स एसा ॥२४॥
तेसिं कणिट्ठेण हु सेवएणं, गुव्वावली साहसपायसेसा।
कयामया णं मुणिविक्कमेण, खमंतु मे तत्थ पसायजायं ॥२५॥
सुद्धं च ठावंतु किवालुणो ते, सुमंगलं मे सरणं च दितु।
वंदामि सद्धेयपए खु निच्चं, सव्वे वि मोयंतु सुवंदमाणा ॥२६॥

—मुणिविक्कमो

व्याख्याकार के दो शब्द

ज्ञानकी आराधना से ही आत्मा अपना कल्याण कर सकता है। इसी विषय को लक्ष्य में रखकर मैंने नन्दीसूत्र की हिन्दी भाषाटीका लिखी है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि यह सूत्र आगमों के आधार पर निर्माण किया गया है, वे सब पाठ आगमों में विद्यमान हैं। देववाचक जी आचार्य ने इन पाठों को यथास्थान रख कर अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय दिया है। यह शास्त्र परम माङ्गलिक है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस का योग्यतापूर्ण अस्वाध्यायकाल को छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिए।

वास्तव में यह शास्त्र आत्म-प्रकाश का मुख्य साधन है। मलयगिरि वृत्ति और चूर्णिकार ने इस सूत्र के विषय में बड़े अर्थयुक्त शब्दों में महात्म्य वर्णन किया है। अतः इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। मंगल शब्द को लक्ष्यमें रख कर ही देववाचकगणी ने प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान के अतिरिक्त तीन अज्ञान के विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया, जैसे कि व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में किया है।

इस सूत्र में मुख्यतया पांच ज्ञानों का ही विशदरूप से वर्णन किया है। पाठकजन इसको योग्यता पूर्वक पठन करें। यदि अज्ञान व प्रमादवश जिनागम के विरुद्ध कोई शब्द लिखा गया हो तो संस्था को सूचित करें, जिस से उसकी पुनरावृत्ति में शुद्धि की जा सके।

यदि मेरे से कोई भूल हो गई हो, तो मैं उसका 'मिच्छामि दुक्कडं' लेता हुआ विद्वद्वर्ग से व आगमपाठियों से प्रार्थना किए विना नहीं रहूंगा कि मुझपर क्षमा करते हुए, इसको शुद्धिपूर्वक पढ़ते हुए निर्वाणप्राप्ति के कारणीभूत वनें। इत्यलं विद्वत्सु।

नन्द्यध्ययनविवरणं, कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम्।
तेन खलु जीवलोको, लभतां जिनशासने नन्दीम्॥

संवत् २००२ ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी
वृहस्पतिवार, लुधियाना

उपाध्याय जैनमुनि
आत्माराम

प्रामाणिक दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान अंगों का है। उनकी रचना भगवद्वाणी के आधार पर उनके प्रमुख शिष्य गणधरों ने की। उनके पश्चात् आवश्यक आदि उन आगमों का स्थान है, जिनकी गणना १४ पूर्वधारी मुनियों ने की। जैनपरंपरा में चतुर्दशपूर्वधरों को श्रुतकेवली कहा जाता है। उनके पश्चात् समग्र दश पूर्व का ज्ञान रखने वाले मुनियों की रचनाओं को भी आगम साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया। जैनधर्म की मान्यता है कि जिस व्यक्ति को संपूर्ण दशपूर्वों का ज्ञान होता है, वह अवश्यमेव सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टि कुछ अधिक नवपूर्वों तक ही पहुँच सकता है। दृष्टिवाद का कुछ समय पश्चात् लोप हो गया। वर्तमान समय में आगमों का विभाजन नीचे लिखे अनुसार किया जाता है—

१. ग्यारह अंग } ४ छेद और आवश्यक।
२. बारह उपांग } ४ मूल

स्था० परंपरा उपर्युक्त ३२ आगमों को मानती है। मूर्तिपूजक परंपरा में इनकी संख्या ४५ मानी जाती है। वे १० प्रकीर्णक और जोड़ देते हैं, साथ ही छेद सूत्रों की ६ और मूल सूत्रों की ५ संख्या मानते हैं।

नंदी सूत्र की गणना मूल सूत्रों में की जाती है। रचना की दृष्टि से इसका अंतिम स्थान है। ईसा की ४ थी शताब्दी में इसकी रचना देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने की। आगम साहित्य की दृष्टि से देवर्द्धिगणी का स्थान कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जैन परंपरा में यह माना जाता है, कि आगमों का संकलन एवं संपादन करने के लिए ३ वाचनायें हुई थीं। प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में भद्रबाहु स्वामी की अध्यक्षता में हुई। जिसका समय भगवान महावीर के १७० वर्ष पश्चात् माना जाता है।

द्वितीय वाचना उनके २॥ सौ वर्ष पश्चात् मथुरा में हुई और तृतीय एक हजार वर्ष पश्चात् वल्लभी में हुई। उस समय आगमों को जो रूप दिया गया वह अबतक प्रचलित है।

संस्कृत साहित्य में नंदी शब्द का अर्थ मंगल है। यह "टुनदि समृद्धौ" धातु से बना है। उसका यह अर्थ है, वे सब बातें जो सुख समृद्धि देने वाली हैं। संस्कृत नाटकों में सर्व प्रथम नंदी हुआ करती थी, उसके पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता था। इसीलिए प्रत्येक मंगलाचरण के अंत में लिखा रहता है, नान्द्यन्ते सूत्रधारः। जैन परंपरा में ५ ज्ञानों के विवेचन को नंदी का स्थान दिया है, वह इसकी विशेषता है। इसका अर्थ है, वह ज्ञान के आलोक को सबसे बड़ा मंगल मानती है। जैनपरंपरा प्रारंभ से ही गुण पूजक रही है। वहाँ व्यक्ति में गुणों का आरोप नहीं किया जाता, किन्तु गुणों के आधार पर व्यक्ति पूजा जाता है। ज्ञान का आलोक सबसे बड़ा गुण है, इसीलिए उसे मंगल मान लिया गया। व्यक्ति विशेष की वन्दना के स्थान पर उसी को ग्रंथ के प्रारंभ में रखने की परंपरा चल पड़ी। प्रतीत होता है आचार्य देवर्द्धिगणी के मन में आगमों का अध्ययन प्रारंभ करते समय मंगल के रूप में सर्व प्रथम इसके अध्ययन की कल्पना रही होगी। विशेषावश्यकभाष्य आगमिक ज्ञान का आकर ग्रंथ है। आगम सम्बन्धी ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसकी चर्चा उसमें न आई हो। इसमें भी सर्व प्रथम मंगल के रूप में ५ ज्ञानों की विस्तृत चर्चा है। ज्ञान सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से जैनपरंपरा को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है। प्राचीनतम परंपरा—इनका विभाजन ५ ज्ञानों के रूप में करती है। कर्म सिद्धान्त भी इसी का समर्थक है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म ने दबा रक्खा है। वह ज्यों-ज्यों हटता है, ज्ञान अपने आप प्रकट होता जाता है। इसी को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आदि के रूप में विभाजन किया जाता है।

द्वितीय युग में इनका विभाजन प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में किया गया। प्रथम दो ज्ञान मति और श्रुत, इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखने के कारण परोक्ष कहे गये। और अन्तिम तीन ज्ञान अर्थात् अवधि, मनःपर्यव और केवल, आत्म मात्र की अपेक्षा रखने के कारण प्रत्यक्ष।

तृतीय युग में इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मान लिया गया। यह विभाजन अकलंक के ग्रंथों में मिलता है, और न्यायदर्शन के प्रभाव को प्रकट करता है। नंदीसूत्र प्रथम दो युगों का प्रतिनिधित्व करता है। ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक ज्ञानसिद्धान्त के संबंध में जो विकास हुआ, वह इसमें मिलता है।

नंदीसूत्र में सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत का विभाजन भी दोनों दृष्टियों लिये हुए है। सर्व प्रथम आचारांग आदि जैन आगमों को सम्यक्श्रुत कहा गया और रामायण, महाभारत आदि जैनेतर साहित्य को मिथ्याश्रुत, तत्पश्चात् यह बताया गया कि जैनेतर साहित्य भी सम्यग्दृष्टि द्वारा गृहीत होने पर सम्यक्-श्रुत कहा जायेगा और मिथ्यादृष्टि द्वारा गृहीत होने पर मिथ्याश्रुत, यह दृष्टि जैनपरंपरा की प्राचीन एवं मौलिक देन है। उसकी धारणा है, कि वस्तु अपने आप में सम्यक् और मिथ्या नहीं होती। एक ही वस्तु सज्जन के पास जाने पर उपकारक बन जाती है, और दुर्जन के पास जाने पर अपकारक। सज्जन उसे अच्छे काम में लगाता है, और दुर्जन बुरे काम में। तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान और अज्ञान का विभाजन इसी आधार पर किया गया है।

आचार्यश्री आत्मारामजी म० द्वारा अनुवादित नंदीसूत्र का संपादन आधुनिक शैली पर किया गया है। प्रारंभ में विस्तृत भूमिका है। जो ज्ञान चर्चा पर अच्छा प्रकाश डालती है। आशा है, इसी प्रकार अन्य सूत्रों का संपादन भी किया जायेगा। अंत में मैं दिवंगत आचार्यश्री जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा एवं भक्ति प्रकट करता हूँ।

शुभाकांक्षी
आचार्य आनंद ऋषि

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य
श्रीआत्मारामजी महाराज

जन्म	....	भाद्रपद शुक्ला १२, वि सं० १९३९, राहों,
दीक्षा	...	सं० १९५१, आषाढ़, बनूड़,
श्रमणसंघ-आचार्य पद	....	सं० २००९, सादड़ी-राजस्थान,
स्वर्गारोहण	....	माघवदि ९, सं० २०१८, लुधियाना,

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर

आचार्यप्रवर श्रीआत्मारामजी महाराज का

संक्षिप्त जीवन परिचय

संयम जीवन और समाज सेवा

जिनका जीवन संयम की दृष्टि से और संघ सेवा की दृष्टि से आदर्शमय हो, वे ही अग्रगण्य नेता होते हैं। जैसे रेलवे इंजन स्वयं लाईन पर चलता हुआ अपने पीछे डिब्बों को साथ ही खींच कर ले जाता है, वैसे ही आचार्य भी समाज और मुमुक्षुओं के लिए रेलइंजन सदृश हैं। अतः हमारे आराध्य पूज्य गुरु देव आचार्य प्रवर जी जैन समाज के सफल शास्ता थे, उनका संयममय जीवन कितना था ? उन्होंने समाज सेवाएं कितनी माधुर्य तथा शान्ति पूर्ण शैली से की हैं ? इसका अधिक अनुभव वे ही कर सकते हैं, जिन्हें उनके निकटतम रहने का अवसर प्राप्त हुआ है।

स्वाध्याय तप और संघसेवा इन सबका महत्त्व संयम के साथ ही है, संयम का साम्राज्य सर्व गुणों पर है। यम की साधना तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकते हैं, किन्तु संयम की साधना विवेक शील ही कर सकते हैं, संयम का अर्थ है सम्यक् प्रकार से आत्मा को नियंत्रित करना, जिससे आत्मा में किसी भी प्रकार की विकृति न होने पाए। आचार्य देव जी संयम में सदा सतत जागरूक रहते थे। वे श्रुतधर्म की संतुलित रूप से आराधना करते थे।

श्रुतज्ञान से आत्मा प्रकाशित होता है और संयम से कर्मक्षय करने के लिए आत्मा को वेग मिलता है। जिसके जीवन में उक्त दोनों धर्मों का अवतरण हो जाये, फिर जीवन आदर्शमय क्यों न बने ? अवश्यमेव बनता है। आचार्य देव का शरीर जहां सौन्दर्यपूर्ण था, वहां संयम का सौरभ्य भी कुछ कम न था। संयम-सौरभ्य सब ओर जन-जन के मानस को सुरभित कर रहा था। आपके दर्शन करते ही महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनिजी की पुनीत-स्मृति जग उठती थी, ऐसा प्रतीत होता था, मानो बाह्य वैभव-शरीर और आन्तरिक वैभव-संयम दोनों की होड़ लग रही हो, कोई भी व्यक्ति एक बार आपके देवदुर्लभ दर्शन करता, वह सदा के लिए अवश्य प्रभावित हो जाता था।

पूज्यवर बाह्य तप की अपेक्षा अन्तरङ्ग तप में अधिक संलग्न रहते थे। समाज सेवा ने आपको लोकप्रिय बना दिया। आपकी वाणी में इतना माधुर्य था कि शत्रु की शत्रुता ही नष्ट हो जाती थी। पुण्य प्रताप इतना प्रबल था कि अनिच्छा होते हुए भी वह आपको सर्वोपरि बनाने में तत्पर रहता था। "पुव्वकम्मक्खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे" इस आगम उक्ति पर उनका विशेष लक्ष्य बना हुआ था।

गम्भीर और दीर्घदर्शी

आचार्य्यवर्य्य जी गम्भीरता में महासमुद्र के समान थे। जिस समय शास्त्रों का मनन करते थे, उस समय गहरी डुबकी लगाकर अनुप्रेक्षा करते-करते आगमधरों के आशय को स्पर्श कर लेते थे। आप अपने विचारों को स्वतन्त्र नहीं, बल्कि आगमों के अनुकूल मिला कर ही चलते थे। गुणों में पूर्णता का

होना ही गम्भीरता का लक्षण है। प्रत्येक कार्य के अन्तिम परिणाम को पहले देख कर फिर उसे प्रारम्भ करते थे। उक्त दोनों महान गुण आपके सहचारी थे।

नम्रता और सहिष्णुता

ये दोनों गुण उस व्यक्ति में हो सकते हैं जिसमें अभिमान और ममत्व न हो। आचार्य प्रवर जी के जीवन में मैंने कभी अभिमान नहीं देखा और न शरीर पर अधिकममत्व ही। आपका जब जन्म हुआ, तब मालूम पड़ता है कि विनय और नम्रता को साथ लिए हुए ही उत्पन्न हुए हैं। आप नवदीक्षित मुनि को भी जब सम्बोधित करते तब नाम के पीछे 'जी' कहकर ही बुलाते थे। नम्रता में आपने स्वर्ण को भी जीत रखा था। नम्रता आत्मा का गुण है। अहंकार आत्मा में कठोरता पैदा करता है। नम्रता से ही आत्मा सद्गुणों का भाजन बनाता है। जहां पूज्यवर में नम्रता की विशेषता थी, वहां सहिष्णुता में भी वे पीछे नहीं थे। परीषह-उपसर्ग सहन करने में मेरु के समान अडोल थे। अनेकों बार मारणान्तिक कष्ट भी आए, फिर भी मुख से हाय, उफ तक नहीं निकली। उस समय वेदना में भी जो उनकी दिनचर्या और रात्रिचर्या का कार्यक्रम होता था, उसमें कभी अन्तर नहीं पड़ने देते—[1]**अवि अप्पणोवि देहम्मि नायरन्ति ममाइयं** 'महानिर्ग्रन्थ अपने देह पर भी ममत्व नहीं करते' मानो इस पाठ को आपने अपने जीवन में चरितार्थकर रक्खा हो, सहन शीलता में आप अग्रणीय नेता थे।

शक्ति और तेजस्विता

उक्त दोनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी आचार्य श्री जी में ऐसे मिल-जुल के रहते, जैसे कि तीर्थंकर के समवसरण में सहज वैरी भी वैरभाव छोड़कर शेर और मृग एक स्थान में बैठे हुए धर्मोपदेश सुनते हैं। शेर को यह ध्यान नहीं आता कि मेरे पास मेरा भोज्य बैठा है और मृग को यह ध्यान नहीं आता कि मेरे पास मुझे ही खाने वाला पंचानन बैठा है। इसी प्रकार शान्तता वहीं हो सकती है, जहां क्रोध न हो। वैर, क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष जहां हों, वहां शान्तता कहां? आप सचमुच शान्ति के महान सरोवर थे। दुःखदावानल से संतप्त व्यक्ति जब आपकी चरण-शरण में बैठता तो वह शान्तरस का अनुभव करने लग जाता। इस गुण ने आपके जीवन में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर रक्खा था। जहां शान्ति होती है, वहां तेजस्विता नहीं होती, जैसे कि चन्द्रमा, किन्तु आपमें तेजस्विता भी थी। यदि कोई वादी अभिमानी दुर्विदग्ध कट्टर पन्थी भी आपके पास आता, तो वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। विद्वत्ता, सहनशीलता, नम्रता, संयम एवं गम्भीरता, इत्यादि अनेक गुणों ने आपको दिव्य तेजस्विता से देदिप्यमान बना रक्खा था।

दयालुता और सेवाभावित्व

साधुता सुकोमलता के साथ पलती है, शरीर में नहीं, हृदय में दया होनी चाहिए। वह साधु ही क्या है? जिसमें दयालुता न हो, किन्तु फिर भी ये दो गुण, आपमें विशिष्ट थे। जहां आचार्यश्रीजी अपने दुःख को सहन करने में दृढ़तर थे, धैर्यवान थे, वहां दूसरों पर दयालुता की भी कुछ न्यूनता नहीं थी। आपने अपने जीवन में जैनाचार्य श्रीमोतीराम जी महाराज, गणपतिरायजी म०, श्रद्धेय जयरामदासजी म०,

तत्त्वार्थसूत्र—जैनागमसमन्वय

आचार्यप्रवरजी अपने युग में प्रकांड विद्वान हुए हैं। उनके आगमों का अध्ययन-मनन-चिन्तन-अनुप्रेक्षा-निदिध्यासन अनुपम ही था। वि० सं० १९८९ के वर्ष आप ने दस ही दिनों में दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र का समन्वय ३२ आगमों से पाठों का, उद्धरण करके यह सिद्ध किया है कि यह तत्त्वार्थसूत्र उमास्वातिजी ने आगमों से उद्धृत किया। उन सूत्रों का मूलाधार क्या है ? यह रहस्य सदियों से अप्रकाशित रहा, उसी रहस्य का उद्घाटन जब आप पंजाब संप्रदाय के उपाध्याय पद को सुशोभित करते हुए अजमेर में होने वाले बृहत्साधुसम्मेलन में भाग लेने के लिए पंजाब से देहली पधारे, तब वहीं समन्वय का कार्य सम्पन्न किया। इस महान कार्य की प्रशस्ति महामनीषी पण्डित प्रवर सुखलालजी ने मुक्त कण्ठ से की है, उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र की भूमिका में लिखा है—

"**तत्त्वार्थसूत्र—जैनागमसमन्वय**" नामक जो पुस्तक स्थानकवासी मुनि उपाध्याय आत्माराम जी की लिखी प्रसिद्ध हुई है, वह अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखती है। जहां तक मैं जानता हूं, स्थानकवासी परंपरा में तत्त्वार्थ सूत्र की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करनेवाला उपाध्याय जी का प्रयास प्रथम ही है। यद्यपि स्थानकवासी परम्परा को तत्त्वार्थ सूत्र और उसके समग्रव्याख्या ग्रन्थो में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति या विमति कभी रही नहीं है तदपि वह परम्परा उसके विषय में कभी इतना रस या इतना आदर बतलाती नहीं थी, जितना अन्तिम कुछ वर्षों से बतलाने लगी है। स्थानकवासी परम्परा का मुख्य आदर एक मात्र बतीस आगमों पर ही केन्द्रित रहा है। इसलिए उपाध्याय जी ने उन्हीं आगमों के पाठों को तत्त्वार्थसूत्र को मूलाधार बतलाकर यह दिखाने का बुद्धिशुद्ध प्रयत्न किया है कि स्थानकवासी परम्परा के लिए तत्त्वार्थसूत्र का वही स्थान हो सकता है, जो उसके लिए आगमों का है। अगर स्थानकवासी परम्परा उपाध्याय जी के वास्तविक सूचन से अब भी संभल जाए, तो वह तत्त्वार्थसूत्र और उसके समग्र व्याख्या ग्रन्थों को अपना कर अर्थात् गृहस्थ और साधुओं में उन्हें अधिक प्रचारित करके शताब्दियों के अविचार मल का थोड़े ही समय में प्रक्षालन कर सकती है। उपाध्याय जी का "समन्वय" जहां तक एक ओर स्थानकवासी परम्परा के वास्ते मार्गदीपिका का काम कर सकता है, वहां दूसरी ओर वह ऐतिहासिकों व संशोधकों के वास्ते भी बहुत उपयोगी है। श्वेताम्बर हो या जैनेतर हो जो भी तत्त्वार्थ सूत्र के मूल स्थानों को आगमों में से देखना चाहे और इस पर ऐतिहासिक या तुलनात्मक विचार करना चाहे, उसके वास्ते यह समन्वय बहुत ही कीमती है।"

यह है समन्वय के विषय में महामनीषी पण्डित जी के हार्दिक उद्गार। पूज्यवर जी ने यह सिद्ध किया है कि जिन आगमों का आधार लेकर वाचक उमास्वाती जी ने जिस तत्त्वार्थसूत्र का निर्माण किया है, वे श्वेताम्बर मान्य आगमों के आधार पर ही किया है। यद्यपि कतिपय ऐसे सूत्र भी तत्त्वार्थसूत्र में हैं जिनका समन्वय वर्तमान में उपलब्ध आगमों से नहीं हो सका, किन्तु ऐसे सूत्र इने गिने ही हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और जैनागम समन्वय नामक यह पुस्तक दिगंबराम्नाय के धुरन्धर पण्डितों के हाथ को जब सुशोभित करने लगी, तब उन्होंने उमास्वाती जी से पूर्वप्रणीत दिगम्बरमान्य षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के आधार पर समन्वय करने का श्रीगणेश किया। वे समन्वय करने में वर्षों यावत् अनथक परिश्रम करते रहे। निरन्तर परिश्रम अनेक पण्डितों के द्वारा करने पर भी कुछ ही सूत्रों का

समन्वय करने पाए, अन्ततोगत्वा हताश हो कर इस ओर उपेक्षा ही कर ली। जब कि आचार्य प्रवर जी ने दस दिनों में ही समन्वय कार्य सम्पन्न कर लिया था। यह है उनकी स्मृति और आगमाभ्यास का अद्भुत चमत्कार।

दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थ सूत्र में कुछ ऐसे सूत्र भी हैं जो मतभेद जनक नहीं है, उनसे न किसी का खण्डन होता है और न किसी संप्रदाय की पुष्टि ही होती है, फिर भी पूर्णतया समन्वय नहीं हो सका, शेष सभी सूत्रों का समन्वय आगमों से 'रेख में मेख' जैसी उक्ति पूज्य श्री जी ने चरितार्थ कर दी। उन्होंने श्वेताम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र का समन्वय नहीं किया, क्योंकि वह तो आगमों से सर्वथा मिलता ही है, किन्तु दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र से श्वेताम्बर मान्य आगम अधिक प्राचीन हैं।

उमास्वाती जी के युग में दिगम्बर जैन साहित्य स्वल्पमात्रा में ही था, जब कि श्वेताम्बर मान्य आगम प्रचुर मात्रा में थे तथा अन्य साहित्य भी, इससे यह सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर आगम प्राचीन हैं, जब कि दिगम्बर मान्य षट्खण्डागम आदि आगम अर्वाचीन हैं।

उमास्वाती जी का समय वीर निर्वाण सं० पाचवीं शति का होना विद्वान् मानते हैं और कुछ एक विद्वान् विक्रम सं० पांचवीं छठी शती को स्वीकार करते हैं, वास्तव में वे किस शती में हुए हैं? यह अभी रिसर्च का विषय है। ऐसी तरङ्ग एकवार सिद्धसेन दिवाकर जी के मन में भी उठी थी कि सभी आगमों को तत्त्वार्थसूत्र की तरह संस्कृत भाषा में सूत्र रूप में निर्माण करूं, किन्तु इसके लिए समाज और उनके गुरु सहमत नहीं हुए, प्रत्युत उन्हें ऐसी भावना लाने का प्रायश्चित्त करना पड़ा।

नन्दीसूत्र की हिन्दी व्याख्या का आचार्य प्रवर जी ने उपाध्याय के युग में ही लेख कार्य प्रारम्भ करके उसकी इति श्री की है। आप का शरीर वार्द्धक्य के कारण अस्वस्थ एवं दुर्बल अवश्य हो गया था फिर भी धारणा शक्ति और स्मृति सदा सरस ही रही है। उनमें वार्द्धक्य का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। नेत्रों की विनाई कम होने से आगमों का स्वाध्याय कण्ठस्थ और श्रवण से करते रहे हैं। आपकी आगमों पर अगाधश्रद्धा एवं रुचि थी। इन दृष्टियों से आचार्य प्रवर जी श्रुतज्ञान के आराधक ही रहे हैं।

कब ? कहाँ ? क्या लाभ हुआ ?

जन्म—पंजाब प्रान्त जि० जालंधर के अन्तर्गत 'राहों' नगरी में क्षत्रिय कुल मुकुट, चोपड़ा वंशज सेठ मनसाराम जी की धर्मपत्नी परमेश्वरीदेवी की कुक्षि से वि० सं० १९३९ भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष, द्वादशी तिथि, शुभमुहूर्त में एक होनहार पुण्य आत्मा का जन्म हुआ। नवजात शिशु का माता-पिता ने जन्मोत्सव मनाया। अन्य किसी दिन नवजात कुलदीपक का नाम आतमाराम रखा गया। शरीर संपदा से जनता को ऐसा प्रतीत होता था, मानो जैसे कि देवलोक से च्यव कर कोई देव आए हैं।

दैवयोग से शैशवकाल में ही क्रमशः माता-पिता का साया सिर से उठ गया। कुछ वर्षों तक आप की दादी ने आप का भरण-पोषण किया, तत्पश्चात वृद्धावस्था होनेसे उसका भी निधन हो गया। कुछ महीने इधर-उधर रिश्तेदारों के यहां कालक्षेप किया। मन कहीं न लगने से लुधियाना में निकटतर सम्बन्धियों के पहुंचे। किन्तु वहां भी मन न लगने से कुछ सोच ही रहे थे, कि अकस्मात् वकील सोहनलाल जी उपाश्रय में विराजित मुनिवरों के दर्शनार्थ जाते हुए मिल गए, उनसे पूछा—"आप कहां जा रहे हैं ?" वकील जी ने कहा—"मैं पूज्यवर श्री मोतीराम जी महाराज के दर्शनार्थ जा रहा हूं, क्या तुमने भी साथ चलना है ?"

आत्माराम जी ने कहा—"यदि मुझे भी उनके दर्शन कराओ तो आप की बड़ी मेहरबानी होगी" इतना कहकर दोनों चल पड़े ।

उपाश्रय में मुनिवरों के दर्शन किए । दर्शन करते ही मन आनन्द प्रसन्न हो गया । पूज्य श्री जी ने धर्मोपदेश सीधी-सादी भाषा में सुनाया । शिक्षा के अमृत कण पा कर बालक ने अपने मन में दृढ़संकल्प किया कि मैं भी इन्हीं जैसा बनूं । यही स्थान मेरे लिए सर्वयोचित है, अब अन्य कहीं पर जाने की आवश्यकता ही नहीं रही, यही मार्ग मेरे लिए श्रेयस्कर है । वकील जी चले गए, उन्हें कुछ जल्दी भी थी जाने की । बालक की अन्तरात्मा की भूख एकदम भड़क उठी, पूज्य आचार्य श्री मोतीराम जी म० से बातचीत की और अपने हृदय के भाव मुनिसत्तम के समक्ष रक्खे ।

पूज्य श्री जी ने होनहार बालक के शुभलक्षण देखकर अपने साथ रखने के लिए स्वीकृति प्रदान की । कुछ ही महीनों में कुशाग्रबुद्धि होने से बहुत कुछ सीख लिया । इससे आचार्य श्रीमोतीराम जी म० को बहुत सन्तुष्टि हुई । प्रत्येक दृष्टि से परख कर दीक्षा के लिए शुभमुहूर्त निश्चित किया ।

दीक्षा—पटियाला शहर से २४ मील उत्तर दिशा की ओर 'छत्तबनूड़' नगर में मुनिवर पहुंचे । वहाँ वि० सं० १६५१ आषाढ़ मास शुक्ल पंचमी को श्रीसंघ ने बड़े समारोह से दीक्षा का कार्यक्रम सम्पन्न किया । दीक्षागुरु श्रद्धेय श्रीशालीग्राम जी बने और विद्यागुरु आचार्य श्रीमोतीरामजी म० ही रहे हैं । दीक्षा के समय नवदीक्षित श्री आत्माराम जी की आयु कुछ महीने कम बारह वर्ष की थी, किन्तु बुद्धि महान थी ।

ज्येष्ट-श्रेष्ठ शिष्यरत्न—रावलपिण्डी के ओसवाल विंशति वर्षीय वैराग्य त्याग एवं सौन्दर्य्य की साक्षात् मूर्ति श्री खजानचन्द जी की वि० सं० १६६० फाल्गुन शुक्ला तृतीय के दिन गुजरांवाला नगर में श्रीसंघ ने बड़े उत्साह और हर्ष से दीक्षा का कार्यक्रम सम्पन्न किया । उनके दीक्षागुरु और विद्यागुरु मुनिसत्तम परमयोगी श्री आत्माराम जी महाराज बने । गुरु और शिष्य दोनों के शरीर तथा मन पर सौन्दर्य्य की अपूर्व छटा दृष्टिगोचर हो रही थी । जब दोनों व्याख्यान में बैठते थे, तब जनता को ऐसा प्रतीत होता था मानों सूर्य चन्द्र एक स्थान में विराजित हों । जब अध्ययन और अध्यापन होता था तब ऐसा प्रतीत होता था मानो सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी जी विराज रहे हों, क्योंकि दोनों ही घोरब्रह्मचारी, महामनीषी, निर्भीक प्रवक्ता, शुद्धसंयमी, स्वाध्यायपरायण, दृढ़निष्ठावान् लोकप्रिय एवं संघसेवी थे ।

उपाध्यायपद—अमृतसर नगर में पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने तथा पंजाब प्रान्तीय श्रीसंघ ने वि० सं० १६६८ के वर्ष मुनिवर श्री आत्माराम जी महाराज को उपाध्याय पद से विभूषित किया, क्योंकि उस समय संस्कृत-प्राकृत भाषा के तथा आगमों के और दर्शनास्त्रों के उद्भट्ट विद्वान मुनिवर श्री आत्माराम जी म० ही थे । अतः इस पद से अधिक सुशोभायमान होने लगे । स्थानकवासी परम्परा में उस काल की अपेक्षा से सर्वप्रथम उपाध्याय बनने का सौभाग्य श्री आत्माराम जी महाराज को ही प्राप्त हुआ ।

जैनधर्मदिवाकर—अजमेर में एक बृहत्साधुसम्मेलन १६६० के वर्ष में हुआ, वहां उपाध्याय श्री जी की विद्वत्ता से श्रीसंघ में धाक जम गई । चातुर्मास के पश्चात् जोधपुर से लौटते हुए देहली चान्दनी चौक, महावीर भवन में वि० सं० १६६१ वें उपाध्याय जी का चातुर्मास हुआ, वहां के श्रीसंघ ने आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर कृतज्ञता के रूप में आप को "जैनधर्मदिवाकर"—के पद से सम्मानित किया ।

साहित्यरत्न—स्यालकोट शहर में स्वामी लालचन्द जी म० बहुत वर्षों से स्थविर होने के कारण

विराजित थे। वहां की जनता ने कृतज्ञता के परिणाम स्वरूप, उनकी स्वर्ण जयन्ती बड़े समारोह से मनाई। उस समय उपाध्याय श्री जी भी अपने शिष्यों सहित वहां विराजमान थे। वि० सं० १९९३ में स्वर्णजयन्ती के अवसर पर श्रीसंघ ने एकमत से उपाध्याय महाराज जी को 'साहित्यरत्न' की उपाधि से सम्मानित कर कृतज्ञता प्रकट की।

नन्दीसूत्र का लेखन का—वि० सं० २००१ वैशाख शुक्ला तृतीया, मंगलवार को नन्दीसूत्र की हिन्दी व्याख्या लिखना प्रारंभ किया। इस कार्य की पूर्णता वि० सं० २००२ वैशाख शुक्ला त्रयोदशी तिथि में हुई।

आचार्यपद—वि० सं० २००३, चैत्रशुक्ला त्रयोदशी महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर पंजाब प्रान्तीय श्रीसंघ ने एकमत होकर एवं प्रतिष्ठित मुनिवरों ने सहर्षबड़े समारोह से जनता के समक्ष उपाध्याय श्री जी को पंजाब संघ के आचार्य पद की प्रतीक चादर महती श्रद्धा से ओढाई। जनता के जयनाद से आकाश गूंज उठा। वह देवदुर्लभ दृश्य आज भी स्मृति पट में निहित है जो कि वर्णन शक्ति से बाहिर है।

श्रमण संघीय आचार्यपद—वि० सं० २००९ में अक्षय तृतीया के दिन सादड़ी नगर में बृहत्साधु सम्मेलन हुआ। वहां सभी आचार्य तथा अन्य पदाधिकारियों ने संघैक्यहित एक मन से पदवियों का विलीनीकरण करके श्रमणसंघ को सुसंगठित किया, और नई व्यवस्था बनाई। जब आचार्य पद के निर्वाचन का समय आया, तब आचार्य पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज का नाम अग्रगण्य रहा। आप उस समय शरीर की अस्वस्थता के कारण लुधियाना में विराजित थे। सम्मेलन में अनुपस्थित होने पर भी आप को ही आचार्यपद प्रदान किया। जनगण-मानस में आचार्य प्रवर जी के व्यक्तित्व की छाप चिर काल से पड़ी हुई थी। इसी कारण दूर रहते हुए भी श्रमणसंघ ने आप को ही श्रमणसंघ बनाकर अपने आप को धन्य मानने लगा। लग-भग दस वर्ष आपने श्रमणसंघ की दृढ़तासे नायक सेवा की और अपना त्तरदायित्व यथाशक्य पूर्णतया निभाया।

पण्डितमरण—वि० सं० २०१८ में आप श्री जी के शरीर को लगभग तीन महीने कैंसर महारोग ने घेरे रखा था। महावेदना होते हुए भीआप शान्त रहते थे। दूसरे को यह भी पता नहीं चला था कि आपका शरीर कैंसर रोग ने ग्रसा हुआ है। अपनी नित्य क्रिया वैसे ही चलती रही, जैसे कि पहले। ईसवी सन्१९६२ जनवरी का महीना चल रहा था। आस-पास विचरने वाले तथा दूर-दूर से भीसाधु-साध्वियां अपने प्रियशास्ता के दर्शनार्थ आए। दर्शनार्थ आए हुए साधुओं की संख्या ७१ थी और साध्वियों की संख्या ४० के करीब हो गई थी।

कैंसर का रोग प्रतिदिन उपचार होने पर भी बढ़ता ही गया। जिससे आप श्री जी के भौतिक वपुरत्न में शिथिलता अधिक से अधिक बढ़ती चली गयी। अन्ततोगत्वा आप श्री जी ने दिनाङ्क ३०-१-६२ को प्रातः दस बजे अपच्छिममारणन्तिय संलेखना करके अनशन कर दिया। दिन भर दर्शनार्थियों का तान्ता लगा रहा, आचार्य प्रवर जी शान्तावस्था में होश के साथ अन्तर्ध्यान में मग्न रहे। रात के दस बजे के समीप डा० श्यामसिंह जी आए और पूज्यश्री से पूछा—'अब आप का क्या हाल है?' पूज्य श्री जी ने शान्तचित से उत्तर दिया—"अच्छा हाल है," इतना कहकर पुनः अन्तर्ध्यान में संलग्न हो गए। ज्वर १०६ डीगरी का चढा हुआ था, किन्तु देखने वालों को ऐसा प्रतीत होता था कि इन्हें कोई भी पीडा नहीं है। इतनी महावेदना होने पर भी परम शान्ति झलक रही थी। रात के १२ बजे तारीख

बदली और ३१ जनवरी प्रारंभ हुई। रात के दो बजे का समय हुआ, मैं भी उस समय सेवा में उपस्थित था। ठीक दो बजकर २० मिनट पर पूज्य श्री आत्माराम जी म० अमर हो गए। माघवदी नौमी और दसमी की मध्यरात्रि को नश्वर शरीर का परित्याग किया। संयम शीलता, सहिष्णुता, गम्भीरता, विद्वत्ता, दीर्घदर्शिता, सरलता, नम्रता, तथा पुण्यपुंज से वे महान थे। उन के प्रत्येक गुण मुमुक्षुओं के अनुकरणीय हैं। यह हैनन्दीसूत्र के हिन्दी व्याख्याकार की अनुभूत और संक्षिप्त दिव्य कहानी।

आभार प्रदर्शन

अपने चिरस्नेही साहित्यप्रेमी सेवाभावी श्री रत्नमुनिजी का तथा मनोहरव्याख्याता, हिन्दी 'प्रभाकर' मुनि श्रीक्रान्तिकुमार जी का मैं हार्दिक आभार मानता हूं, जिन्होंने प्रस्तुत सूत्र के सम्पादन और प्रकाशन में मुझे दाहिने हाथ की तरह पूर्ण सहयोग दिया है। उक्त दोनों मुनियों ने पूज्यपाद आचार्य भगवान की प्रत्यक्ष रूप में जिस निष्ठा से निरन्तर अङ्ग परिचर्या की, उनके स्वर्गवास होने के पश्चात् उसी निष्ठा से परोक्षरूप में भी उन के अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने के लिए सतत उद्यमशील हैं। स्वर्गीय आचार्यप्रवर जी के लिखे हुए अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने के लिए जो उक्त मुनिवरों के हृदय में उत्साह है, वह प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। नन्दीसूत्र का मूल, छाया, पदार्थ और भावार्थ का संपादन श्री रत्नमुनिजी ने किया है। हिन्दी टीका का सम्पादन यथा—संभव मैंने किया। उसमें भी जहां तक भाषा का सम्बन्ध है, वहां तक उक्त दोनों मुनिवरों का संशोधन एवं परिमार्जन में पूर्ण सहयोग रहा है। इसी प्रकार प्रकाशन कार्य में भी। अतः मैं उक्त दोनों मुनियों का कृतज्ञ एवं धन्य-वादी हूं। अन्य भी जिन का इस पुनीतकार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में सहयोग रहा है, उन का आभार माननाभी मेरा परम कर्त्तव्य है। भावों में कहीं पर यदि प्रमादवश स्खलना हो गयी हो तो पाठकजन अनुसंधानपूर्वक स्वाध्याय करें।

—मुनि फूलचन्द 'श्रमण'

नन्दीसूत्र-दिग्दर्शन

तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानम्

"अज्ञान का पूर्ण अभाव ही वस्तुतः ज्ञान है"—क्षण-क्षण क्षीयमान एवं प्रतिपल परिवर्त्तित होने वाले इस संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख और अशांति की भीषण ज्वाला में पड़ा छट-पटा रहा है। इस ज्वाला से त्राण-परित्राण पाने के लिए ही उसकी किसी न किसी रूप में इधर-उधर भाग-दौड़ चलती ही रहती है। परन्तु अजस्रसुख की अनन्तधारा से वह दूर, प्रतिपल दूर ही होता चला जाता है। इसका मूल कारण खोजने पर पता चलता है कि मानव का अपना अज्ञान ही उसे अनन्त-शान्ति परमसुख तथा विमुक्ति के सोपान पर कदम रखने से रोके हुए है। उसका अपना अज्ञान ही उसे संसार चक्र में अटकाने-भटकाने वाला है। जैन दर्शन ऐसी किसी भी अज्ञात या ज्ञात शक्ति को स्वीकार नहीं करता जो कि मनुष्य को उसकी चोटी पकड़े इधर-उधर भटकाती फिरे। उसने समस्त बनाव-बिगाड़ की सत्ता मनुष्य के अपने ही हाथ में सौंप दी है। वह चाहे तो ऊपर उठ सकता है और वह चाहे तो नीचे भी गिर सकता है। मनुष्य के अन्तःकरण में जब अज्ञान की अन्धकारमयी भीषण-भीषण आंधी चलती है तो वह भ्रान्त हो अपनी ठीक दिशा एवं आत्मपथ से भटक जाता है। परन्तु ज्यों ही ज्ञानालोक की अनन्त किरणें उसकी आत्मा में प्रस्फुटित होती हैं तो उसे निजस्वरूप का भान-ज्ञान-परिज्ञान हो उठता है। जो उसे परपरिणति से हटाकर आत्म-रमण के पावन-पवित्र पथ पर आगे, निरन्तर आगे ही बढ़ते रहने की ओर इङ्गित करता रहता है, जहाँ अनन्तसुख और अनन्त शान्ति का अक्षय भण्डार विद्यमान है। जब सच्चे सुख की परिभाषा का प्रश्न आया तो उसके लिए जैनदर्शनकारों ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि अज्ञान की निवृत्ति एवं आत्मा में विद्यमान परमानन्द या निजानन्द की अनुभूति ही सच्चे सुख की श्रेणि में है। श्रमण भगवान महावीर ने अपनी ओजस्वी वाणी में कहा है कि आत्मा के अन्दर ही अनन्त-ज्ञान की अजस्र धारा प्रवहमान है। आवश्यकता है, केवल उसके ऊपर से अज्ञान एवं मोह के शिलाखण्ड को हटाने की। फिर वह अनन्त सुख की धारा, वह अनन्त शान्ति का लहराता हुआ सागर तुम्हारे अन्दर ही ठाठें मारता हुआ नजर आएगा।

ज्ञान क्या है? जब इस शंका के समाधान के लिए हम आचार्यों की चिन्तनपूर्ण वाणी की शरण में पहुँचते हैं या स्वयं के प्रौढ-प्रखर आत्म-चिन्तन की गहराइयों में डुबकी लगाते हैं, तो यही उत्तर सामने आता है कि सुख और दुःख के हेतुओं से अपने आप को परिचित करना ही ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है, निजगुण प्राप्ति से बढ़कर अन्य सुख की कल्पना करना ही कल्पना है। जैन दर्शनकारों ने हेय, उपादेय आदि हेतुओं को अहेतु और अहेतुओं को हेतु मानना-समझना ही अज्ञान कहा है। जिसे जैन-दर्शन की भाषा में मिथ्यात्व भी कहा जाता है, यही अज्ञान है और दुःख का मूल कारण भी। एक स्पष्टोक्ति जैनदर्शन ने और की, वह यह कि जिस ज्ञेय को जान कर भी जीव हेय और उपादेय का विवेक न कर सके, उस ज्ञान को भी अज्ञान की ही कोटि में सम्मिलित किया गया है। जहां विवेक नहीं, वहां दर्शन का अभाव है, वहीं अज्ञान है। सम्यग्दर्शन से ही सद्विवेक की प्राप्ति होती है। हेय और

आत्मा और कर्म, वन्ध और मोक्ष के उपायों को भिन्न-भिन्न रूप में सद्बुद्धि की तुला पर तोल कर विवेचनात्मक दृष्टि से समझना-परखना ही विवेक माना गया है। यह विवेक की मसाल ज्ञान के द्वारा ही उज्ज्वल-समुज्ज्वल-परमोज्ज्वल होती चली जाती है। इस प्रकार समुज्ज्वल विवेक की पतवार ही इस जीवन-नौका को संसार सागर में सन्तुलित रख सकती है।

विवेक के प्रदीप को कभी धूमिल न होने देने के लिए आचार्यों ने स्वाध्याय को सर्व श्रेष्ठ साधन माना है। स्वाध्याय श्रुत धर्म का ही एक विशिष्ट अंग है, श्रुत धर्म हमारे चारित्र धर्म को जगाता है। चारित्र धर्म से आत्मा की विशुद्धि होती है, आत्मविशुद्धि से कैवल्य की उपलब्धि होती है, कैवल्य से ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक विमुक्ति, विमुक्ति से परमसुख जो मुमुक्षुओं का परमध्येय एवं अन्तिम लक्ष्य है।

विघ्नहरण मंगलकरण

किसी भी शुभ कार्य को करने से पूर्व मंगलाचरण करने की पद्धति चली आ रही है, नूतन साहित्य सृजन के समय, संकलन के समय, टीका अनुवाद आदि सभी स्थलों पर रचनाकारों ने प्रारम्भ में मंगलाचरण किया है, यह परम्परा आज तक अविच्छिन्न चली आ रही है। इस परम्परा में अनेक रहस्य निहित हैं, जिनसे कि हम कथंचित् अनभिज्ञ हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के पीछे अनेक प्रकार के विघ्नों का होना स्वाभाविक है, इसी कारण अनुभवी रचनाकारों ने अपनी रचना करने से पूर्व मंगलाचरण किया, क्योंकि मंगल ही अमंगल का विनाश कर सकता है।

श्रेष्ठ कार्य अनेक विघ्नों से परिव्याप्त होते हैं, वे कार्य को सकुशल पूर्ण नहीं होने देते। अतः मंगलोपचार करने के अनन्तर ही उस कार्य को प्रारम्भ करना चाहिए। महानिधि का उद्घाटन मंगलोपचार करने पर ही किया जाता है, क्योंकि वह महानिधि अनेक विघ्नों से व्याप्त होता है। मंगलोपचार करने से आने वाले सभी विघ्नसमूह स्वयं उपशान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार महाविद्या भी मंगलोपचार करने से निर्विघ्नता पूर्वक सिद्ध हो जाती है। अतः शिष्टजनों को प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिए, ताकि विघ्नों का समूह स्वयं उपशान्त हो जाए।

शास्त्र के आदि में, मध्य में और अन्त में मंगलाचरण किया जाता है। शास्त्र के आदि में किया हुआ मंगल, निर्विघ्नता से पारगमन के लिए सहयोगी होता है। उसकी स्थिरता के लिए मध्य मंगल सहयोग देता है। शिष्य प्रशिष्यों में मंगलाचरण की परम्परा चालू रखने के लिए अंतिम मंगल किया जाता है। इसी विषय में जिनभद्र गणीक्षमा श्रमणजी अपने भाव विशेषावश्यकभाष्य में व्यक्त करते हैं कि—

बहुविघ्नानि[1] श्रेयांसि, तेन कृतमंगलोपचारैः।
ग्रहीतव्यः सुमहानिधि-रिव यथा वा महाविद्या॥
तद् मंगलमादौ मध्ये, पर्यन्तके च शास्त्रस्य।
प्रथमं शास्त्रार्थऽविघ्न- पारगमनाय निर्दिष्टम्॥
तस्यैव च स्थैर्यार्थं, मध्यमकमन्तिममपि तस्यैव।
अव्यवच्छित्ति निमित्तं, शिष्यप्रशिष्यादि वंशस्य॥

जिसके द्वारा अनायास हित में प्रगति हो जाए, वह मंगल है, कहा भी है—मंग्यते हितम-

नेनेति मंगलम् । अनेक व्यक्ति मंगलाचरण करने पर भी अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं करते, कतिपय बिना ही मंगलाचरण किए सफल सिद्ध होते हैं, इसमें मुख्य रहस्य क्या है ? इसके मुख्य रहस्य की बात यह है कि उत्तमविधि से मंगलाचरण की न्यूनता और विघ्नों की प्रबलता तथा विघ्नों का सर्वथा अभाव ही हो सकता है । अन्य कोई कारण इसमें दृष्टिगोचर नहीं होता ।

स्वतः मंगल में मंगलाचरण क्यों ?

जब अन्य-अन्य ग्रंथ की रचना स्वतन्त्र रूप से करनी होती है, तब तो उसके आदि में मंगलाचरण की आवश्यकता होती है, किन्तु जिनवाणी तो स्वयं मंगल रूप है, फिर इस सूत्र के आदि में मंगलाचरण हेतु अर्हत्स्तुति, वीरस्तुति, संघस्तुति, तीर्थंकरावलि, गणधरावलि, जिनशासनस्तुति, और स्थविरावलि में सुधर्मा स्वामी से लेकर आचार्य दूष्यगणी तक जितने प्रावचनिक आचार्य हुए, उनके नाम, गोत्र, वंश आदि का परिचय दिया और साथ ही उन्हें वन्दन भी किया । गुणानुवाद और वन्दन ये सब मंगल ही हैं, तथैव आगम भी मंगल है फिर मंगल में मंगल का प्रयोग क्यों ? यदि मंगल में भी मंगल का प्रयोग करते ही जाएं तो यह अनवस्था दोष है ?

प्रश्न बहुत सुन्दर एवं मननीय है । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आगम स्वयं मंगलरूप है । इस विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं है । शुभ उद्देश्य सबके भिन्न-भिन्न होते हैं, उसकी पूर्ति निर्विघ्नता से हो जाए, इसी कारण आदि में मंगल किया जाता है । जिस प्रकार किसी तपस्वी शिष्य ने तपोऽनुष्ठान करना है, तप भी स्वयं मांगलिक है, फिर भी उसे ग्रहण करने से पूर्व गुरु की आज्ञा, सविनय वन्दन, नमस्कार ये सब, उस तपःकर्म की पूर्णाहुति में कारण होने से मंगल रूप हैं । उसी प्रकार शास्त्र भी मंगलरूप है, सम्यक् ज्ञान में प्रवृत्तिजनक होने से आनन्दप्रद भी है । अतः अनेक दृष्टिकोणों से शास्त्र स्वतः मंगलकारी है, फिर भी अध्ययन-अध्यापन, रचना एवं संकलन करने से पूर्व अध्येता या प्रणेता का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने अभीष्ट शासन देव को तथा अन्य संयम-परायण श्रद्धास्पद बहुश्रुत मुनिवरों को वन्दन और गुणग्राम करे, क्योंकि उनके गुणानुवाद करने से विघ्नों का समूह स्वयं उपशान्त हो जाता है । उसके अभाव होने पर कार्य में सफलता निश्चित है । यदि प्रगतिबाधक विघ्न पहले से ही शान्त हैं, तो मंगलाचरण आध्यात्मिक दृष्टि से निर्जरा का कारण है तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य का भी कारण हो जाता है । इसीलिए नन्दी के आदि में स्तुतिकार ने मंगलाचरण किया है । मंगलाचरण में असाधारण गुणों की स्तुति की जाती है । मंगलाचरण स्व–पर प्रकाशक होता है । नन्दी में मंगलाचरण करने से देववाचक जी को तो लाभ हुआ ही है, किन्तु इस मंगलाचरण के पठन और श्रवण से दूसरों को भी लाभ होता है । श्रीसंघ तथा श्रुतधर आचार्यों के प्रति उन्होंने श्रद्धा बढ़ाई है । चतुर्विध संघ ही भगवान है उसकी विनय-भक्ति बहुमान करना ही भगवद्भक्ति है । उसका अपमान करना भगवान् का अपमान है, यह देववाचक जी के अन्तरात्मा की अन्तर्ध्वनि है । इन्सान शुभरूप उद्देश्य की पूर्ति चाहता है, जिसकी पूर्ति उसकी नजरों में कठिन सी प्रतीत हो रही है, उसकी पूर्ति के लिए मंगलाचरण की शरण लेता है । कार्य में सफलता होने पर उसमें अहंभाव न आ जाए, उसमें ऐसी भावना प्रायः होती है कि यह सफलता मेरी शक्ति से नहीं, बल्कि मंगलाचरण की शक्ति से हुई है, अन्यथा अहंभाव आए बिना नहीं रह सकता । अहंभाव, विनय का नाश और विघ्नों का आह्वान करता है ।

मंगलाचरण से अचिन्त्य लाभ

१ विघ्नोपशमन—जैसे मार्तण्ड के प्रकाश से सर्वत्र तिमिर का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मंगलाचरण करने से विघ्नसमूह स्वयं प्रनष्ट हो जाते हैं, भले ही कंटकाकीर्ण मार्ग क्यों न हो, वह हमारे लिये स्वच्छ, निष्कंटक बन जाता है। हमारे ध्येय की पूर्ति निराबाध पूर्ण हो जाती है। सभी आने वाले विघ्न उपशान्त हो जाते हैं।

२ श्रद्धा—मंगलाचरण करने से अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है, कहा भी है कि—"सद्धा परम दुल्लहा" श्रद्धा का प्राप्त होना दुर्लभ ही नहीं, अपितु परम दुर्लभ है। श्रद्धा साधना की आधार शिला है, श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। "श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्" श्रद्धा ही आत्मोन्नति का मूल मंत्र है। जिससे श्रद्धा दृढ़तर बने, साधक को वही कार्य करना चाहिए।

३ आदर—मंगलाचरण करने से अपने इष्टदेव एवं उद्देश्य दोनों के प्रति आदर बढ़ता है। जहां बहुमान है, वहां अविनय, आशातना, अवहेलना हो जाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, साधक दोषों से सर्वथा सुरक्षित रहता है।

४ उपयोग—जब कोई अपने इष्टदेव के असाधारण गुणों की स्तुति करता है, तब उपयोग विशुद्ध एवं स्वच्छ हो जाता है और आत्मा में परमात्मतत्त्व झलकने लग जाता है।

५ निर्जरा—मंगलाचरण करने से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। जिस प्रकार तैलादि से अति-मलिन वस्त्र कुछ काल तक सोड़ा या साबुनमिश्रित जल में भिगोये रखने से चिकनाई एवं मलिनता दोनों ही उस से विलग हो जाती हैं, उसी प्रकार मंगलाचरण करने से कर्मों की निर्जरा होती है।

६ अधिगम—मंगलाचरण करने से प्रमाण-नयों के द्वारा उत्पन्न होने वाला जो सम्यक्त्व है, उसका लाभ होता है। जो सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विशिष्ट निमित्त हो, वह अधिगम है अथवा अधिगम विज्ञान को भी कहते हैं। विज्ञान की वृद्धि या अधिगम ये मंगलाचरण के कार्य हैं।

७ भक्ति—भज् सेवायाँ धातु से भक्ति शब्द बनता है। जब मन में भक्ति भाव की वृद्धि होती है, तब वह इष्टदेव को सर्वस्व समर्पण कर देता है। भक्त अपने अधीन कुछ भी नहीं रखता। भक्ति भी एक प्रकार से आत्मा की मस्ती है। जिस समय कोई उसमें तल्लीन हो जाता है, तो सिवाय इष्टदेव के अन्य के प्रति उसे अपनत्व नहीं रहता। मोह-ममता से उसके भाव अछूते रहते हैं। मंगलाचरण से भक्ति में अभिवृद्धि होती है।

८ प्रभावना—जिससे दूसरों पर प्रभाव पड़े, जो दूसरों के लिये मार्ग प्रदर्शन करे, वह प्रभावना कहलाती है। मंगलाचरण मन से भी किया जा सकता है। ध्यान द्वारा भी किया जा सकता है और स्मरण से भी। मंगलाचरण लिपिबद्ध करने की जो परम्परा चली आ रही है, वह देहली दीपक न्याय को चरितार्थ करती है तथा वह स्व-पर प्रकाशिका है। इसमें अपना कल्याण है और दूसरों के लिये मार्ग प्रशस्त बनता है। मंगलाचरण की परम्परा को अविच्छिन्न रखना ही आचार्यों का मुख्य उद्देश्य रहा है, ताकि भविष्य में होने वाले शिष्य-प्रशिष्य भी इसी मार्ग का अनुसरण करें। अस्तु मंगलाचरण से प्रभा-वना भी होती है।

मंगलाचरण करने से जीव को उपर्युक्त आठ प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है। अतः राजदर्शन

आधि-व्याधि को हरण करने वाला अचूक नुस्खा है। सर्व दुःखों को ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक क्षय करने वाला यदि विश्व में कोई ज्ञान है, तो वह आगमज्ञान ही है। नन्दीसूत्र में उपर्युक्त सभी उपमाएं तथा दिव्य-ओषधिएं घटित हो जाती हैं। इसकी आराधना करने से तीन गुप्तिएं गुप्त हो जाती हैं तथा तीन शल्य जड़मूल से उखड़ जाते हैं, वे तीन शल्य निम्नलिखित हैं—

१. मायाशल्य—व्रतों में जितने अतिचार लगते हैं, जिन दोषों से मूलगुण तथा उत्तरगुण दूषित होते हैं, उनमें माया की मुख्यता होती है। किसी की आंख में धूल झोंक कर व्रतों को दूषित करना, चारित्र में मायाचारी करना, लोगों में उच्च क्रिया दिखाना और गुप्त रूप में दोषों का सेवन करना, दोषों का सेवन माया से किया जाता है। जब शक्ति और भावना के अनुरूप क्रिया की जाती है तब माया का सेवन नहीं होता। माया का उन्मूलन आलोचना करने से हो जाता है।

२. निदानशल्य—रूप, बल, सत्ता, ऐश्वर्य, की प्राप्ति के लिए देवत्व तथा वैषयिक तृप्ति के लिए उपार्जन किए हुए संयम-तप के बदले उपर्युक्त वस्तुओं की इच्छा रखना, नश्वर सुख के लिए तप-संयम इसका अर्थ यह हुआ, उसे मोक्ष सुख की आवश्यकता नहीं। तप-संयम के बदले इहभविक तथा पारभाविक बेच देना। भौतिकसुख की कामना करना ही, निदान है, यह भी आत्मा को जन्म जन्मान्तर में चुभे हुए कांटे बेचैन बनाए रखते हैं।

३. मिथ्यादर्शनशल्य—यह भी आध्यात्मिक रोग है, इससे आत्मा सदा रुग्ण और अशान्त रहता है। इससे वैराग्य, संयम, तप सदाचार, स्वाख्यात-धर्म, ये सब व्यर्थ एवं ढोंग मालूम देते हैं। उससे बुद्धि में नास्तिकता, हृदय में कलुष्यता, वैषयिक सुख में आसक्ति, प्रभु से विमुखता, धर्म और मोक्ष से पराङ्मुखता होती है। मिथ्यादृष्टि का लक्ष्य बिन्दु अर्थ और काम ही होता है, वह कभी उनकी प्राप्ति और वृद्धि के लिए पुण्य की साधना भी कर लेता है। ये सब मिथ्यादर्शन के दुष्परिणाम हैं। तीनों शल्य संसार की वृद्धि करने वाले हैं, भव-भ्रमण कराने वाले हैं, पापों में लगाने वाले हैं, दुर्गति में भटकाने वाले हैं।

आलोचना करने से और नन्दीसूत्र की आराधना करसे ने उपर्युक्त सभी शल्यों का उद्धरण हो जाता है। जैसे चुभे हुए कांटे के निकालने से शान्ति हो जाती है, वैसे ही तीन शल्यों को निकालने से आत्मा सम्यग्दर्शन और [1]व्रतों का आराधक बन जाता है तथा श्रुतज्ञान का भी। नन्दी अनन्त सुखों का भण्डार है और मोक्ष सुख का कारण एवं साधन है, विजय का अमोघ साधन है और सभी प्रकार के भयों से सर्वथा मुक्त करने वाला है। आगम तो सचमुच दर्पण है, जिसके अध्ययन करने से अपने में छुपे अवगुण स्पष्ट झलकने लग जाते हैं। आत्मा को परमात्मपद की ओर प्रेरणा करने वाले परमगुरु आगम ही हैं। आगम-ज्ञान से ही मन और इन्द्रियां समाहित रहती हैं।

आगम-ज्ञान आत्मा में अद्भुत शक्ति-स्फूर्ति-अप्रमत्तता को जगाता है। नन्दी सूत्र आत्मगुणों की सूची है। इसके अध्ययन करने से अन्तःकरण में वीतरागता जगती है। क्लेश, मनोमालिन्य, हिंसा विरोध इन सबका शमन सहज में ही हो जाता है।

इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर पूर्वाचार्यों ने जहां तक उनका वश चला, वहां तक आगमों को

---

१. [illegible]

विच्छिन्न नहीं होने दिया। यदि शास्त्र में विषय गहन हो, अध्ययन और अध्यापन करने वालों का समाधान तथा स्पष्टीकरण न हो सके तो, वह आगम, कालान्तर में स्वतः विच्छिन्न हो जाता है। अतः गहन विषय को और प्राचीन शब्दावलियों को सुगम एवं सुबोध बनाने के लिए निर्युक्ति, वृत्ति, चूर्णि, अवचूरिका, भाष्य, हिन्दी विवेचन आदि लिखे हैं, ताकि जिज्ञासुओं के मन में आगमों के प्रति रुचि बनी रहे। पढ़ने-पढ़ाने की पद्धति चलती रहे, अपना उपयोग ज्ञान में लगा रहे। तीर्थ भी आगमों के आधार पर ही टिका हुआ है। श्रुतज्ञान से स्व और पर दोनों को लाभ होता है।[1]

भगवान् महावीर ने कहा है—कि आगमाभ्यास से ज्ञान लाभ होता है, मन एकाग्र होता है, आत्मा, श्रुतज्ञान से ही धर्म में स्थिर रह सकता है, स्वयं धर्म में स्थिर रहता हुआ दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकता है। अतः श्रुतज्ञान चित्तसमाधि का मुख्य कारण है।

यदि आज वृत्ति, चूर्णि, भाष्य, निर्युक्ति, टब्बा आदि न होते, तो विषय जटिल होने से संभव है, उपलब्ध आगम भी बहुत कुछ व्यवच्छिन्न हो जाते। आज का जैन समाज उन पूर्वाचार्यों का कृतज्ञ है, जिन्होंने आगमों को व्यवच्छिन्न नहीं होने दिया, हम उन्हें कोटिशः प्रणाम करते हैं।

नन्दीसूत्र और ज्ञान

जिस सूत्र का जैसा नाम है, उसमें विषय वर्णन भी वैसा ही पाया जाता है, किन्तु हम जब 'नन्दी' नाम पढ़ते हैं या सुनते हैं, तब बुद्धि शीघ्रता से यह निर्णय नहीं करने पाती कि इसमें किस विषय का वर्णन है ? नन्दी का और ज्ञान का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का नाम नन्दी क्यों रखा है ? इस प्रकार अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। वास्तव में देखा जाए तो ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं, जिसका कोई उत्तर न हो, यह बात अलग है, किसी को उत्तर देने का ज्ञान है और किसी को नहीं।

'टुनदि समृद्धौ' धातु से नन्दी शब्द बनता है। समृद्धि सबको आनन्द देने वाली होती है। वह समृद्धि दो प्रकार की होती है, जैसे कि द्रव्य समृद्धि और भाव समृद्धि। इनमें चलसम्पत्ति, अचलसंपत्ति, कनक-रत्न, तथा-अभीष्ट वस्तु की संप्राप्ति, द्रव्यसमृद्धि है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये सब भावसमृद्धि है। द्रव्यसमृद्धि निस्पृह व्यक्ति के लिए आनन्दवर्द्धक नहीं होती, किन्तु जिससे अज्ञान का ज्ञान हो जाए या अज्ञान की सर्वथा निवृत्ति हो जाए, वह ज्ञानलाभ सबके लिए अवश्यमेव आनन्द विभोर करने वाला होता है। पूर्वभव को याद दिलाने वाला जाति-स्मरण आदि ज्ञान यदि किसी को हो जाता हैं, तो वह एक समृद्धि व लब्धि है। वह भाव समृद्धि भी आनन्दप्रद होती है। अतः कारण में कार्य का उपचार करने से शास्त्र का नाम भी नन्दी रखा गया है। नन्दी शब्द पढ़ते हुए या सुनते हुए यह अवश्य प्रतीत होता है कि इसमें जो विषय है, वह नियमेन आनन्ददायी है, जैसे अन्धेरी गली में भटकते हुए व्यक्ति को अकस्मात् प्रदीप मिल जाने से जो प्रसन्नता उसे होती है, इसका पूर्ण तया अनुभव वही कर सकता है। ठीक उसी प्रकार ज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है, उसका लाभ होने से किस को हर्ष नहीं होता ? जिस शास्त्र में सविस्तर पाँच ज्ञान का वर्ण है, उसके ज्ञान होने से भी आनन्द

---

१. दशवैकालिक सूत्र अ० ९वां उ० चौथा।

की अनुभूति होती है। यदि वह ज्ञान सचमुच अपने में उत्पन्न हो जाए फिर तो कहना ही क्या ? ज्ञान भी आत्मा में है और आनन्द भी। जो शास्त्र अखण्ड महा-ज्योति को जगाने वाला है, उसे नन्दी कहते हैं। जब आत्मा भावसमृद्धि से समृद्ध हो जाता है, तब वह पूर्णतया सच्चिदानन्द बन जाता है। उस निःसीम आनन्द का जो असाधारण कारण है, वह नन्दीसूत्र कहलाता है। यह भी कोई नियम नहीं है कि आनन्द ज्ञानवर्द्धक ही होता है, परन्तु ज्ञान नियमेन आनन्द वर्द्धक ही होता है। इसी कारण देववाचकजी ने प्रस्तुत आगम का नाम नन्दी रखा है।

नन्दीसूत्र के संकलन में हेतु

देव वाचकजी जिनवाणी पर अविच्छिन्न एवं दृढ़ श्रद्धा रखते थे। और साथ ही निर्ग्रंथ प्रवचन को अविच्छिन्न रखने के लिए प्रयत्नशील थे, इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर, उन्होंने नन्दीसूत्र का संकलन किया। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र संघसेवा, प्रवचन रक्षा, निर्जरा इत्यादि संकलन में हेतु है। इसी को दूसरे शब्दों में प्रयोजन भी कहते हैं। क्योंकि प्रयोजन के बिना बुद्धिमान तो क्या ? साधारण लोग भी प्रवृत्ति करते हुए देखे नहीं जाते। दृढ़निष्ठा से जिन शासन व प्रवचनभक्ति करना ही शासनदेव की भक्ति है। भवसमुद्र को पार करने के लिए सर्वोत्तम नाव श्रुतसेवा ही है। श्रीसंघ की सेवा करना कर्मयोग है। आगमों पर तथा तत्त्वों पर दृढ़निष्ठा रखना, आगमों की रक्षा करना, और उनका अध्ययन करना ज्ञानयोग है। देव, गुरु, आगम और धर्म के लिए सहर्ष तन, मन और जीवन-साधन द्रव्य को भी समर्पण कर देना, इसे भक्तियोग कहते हैं। इस प्रकार त्रिपुटी संगम ही आत्मकल्याण का अमोघ उपाय है। अतः देववाचकजी के सन्मुख नन्दीसूत्र के संकलन में रत्नत्रय या योगत्रय की अराधना करना ही मुख्य हेतु रहा है।

नन्दीसूत्र के संकलन में निमित्त

आज से १५०० वर्ष पहले भी ऐसा कोई आगम उपलब्ध नहीं था, जिसमें पांच ज्ञान का सविस्तर वर्णन हो। बीज की तरह बिखरा हुआ ज्ञान का वर्णन उस युग की तरह आज भी अनेक आगमों में उपलब्ध है। संभव है तत्कालीन उपलब्ध आगमों में से बिखरे हुए ज्ञान कणों को संगृहीत करके देववाचकजी ने संपादित किया हो अथवा व्यवच्छिन्न हुए ज्ञान प्रवादपूर्व के शेषावशेष को संकलित करके नन्दी की रचना की हो, क्योंकि देववाचक भी पूर्वधर थे, ज्ञान का वर्णन जिस क्रम या शैली से नन्दी सूत्र में किया है. वैसा क्रम अन्य आगमों में यत्किञ्चित् रूपेण तो अवश्य है, किन्तु पूर्णतया यथास्थान संपादित नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उस समय में शेषावशेष ज्ञानप्रवादपूर्व का आधार लेकर नन्दीसूत्र की रचना या संकलन किया गया हो, क्योंकि संकलन के समय दृष्टिवाद का केवल ढांचा ही रह गया था, वही देववाचकजी ने ज्यों-का-त्यों नन्दीसूत्र में निरूपित कर दिया।

नन्दीसूत्र के अन्तर्गत आवश्यक व्यतिरिक्त जितने सूत्र हैं, उनमें 'नन्दी' का उल्लेख मिलता है, ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि समवायाङ्ग सूत्र में जैसे समवायाङ्ग का परिचय दिया हुआ है, वैसे ही नन्दी में नन्दी का उल्लेख किया है। प्राचीनकाल में कुछ ऐसी ही पद्धति दृष्टिगोचर होती है जैसे कि यजुर्वेद में यजुर्वेद का उल्लेख पाया जाता है।[1]

---

१. यजुः अ० १८, मंत्र ८।

यदि नन्दी को ज्ञानप्रवाद पूर्व की यत् किंचित् झांकी मान लिया जाए तो कोई अनुचित न होगा, क्योंकि इसका मूलस्रोत उक्त पूर्व ही है। उस युग में जो ज्ञानप्रवादपूर्व के अध्ययन करने में असमर्थ थे, वे भी इस सूत्र के द्वारा पाँच ज्ञान का ज्ञान सुगमता पूर्वक कर सकें, संभव है, देववाचकजी ने उन्हीं को लक्ष्य में रखकर पांच ज्ञान का संकलन किया हो। परमार्थ-ज्ञानी मन्दमति शिष्यों का उद्धार जैसे हो सके, वैसा सरल एवं सुगम मार्ग प्रदर्शित करते हैं, हो सकता है, अन्य निमित्तों की तरह नन्दी की रचना में यह भी एक मुख्य निमित्त हो।

'नन्दी' शब्द की व्याख्या

उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार व्याख्या के मुख्य साधन हैं। इनमें नन्दीसूत्र का अन्तर्भाव कहां? और किस में हो सकता है? इसका उत्तर यथास्थान व्याख्या से ही मिल जाएगा।

१. उपक्रम—जो अर्थ को अपने समीप करता है, वह उपक्रम कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार, इन पांचों से जिस शब्द की व्याख्या की जाती है, उसे उपक्रम कहते हैं।

आनुपूर्वी—इसके तीन भेद हैं—पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और अनानुपूर्वी। मति-श्रुत-अवधि-मनः-पर्यव और केवलज्ञान इस गणनानुसार जो सूत्र में क्रम रखा गया है, इसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। आगे चलकर अवधि-मनःपर्यव-केवल-मति और श्रुत इस क्रम से व्याख्या की गई है, इस दृष्टि से अनानुपूर्वी का भी अधिकार है, किन्तु पश्चादानुपूर्वी का केवलज्ञान-मनःपर्यव-अवधि-श्रुत और मति, यहां इसका अधिकार नहीं है।

नाम—नामोपक्रम के दस भेद होते हैं, जैसे कि गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, प्राधान्यपद, अनादि सिद्धान्तपद, नामपद, अवयवपद, संयोगपद और प्रमाणपद। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। जब उससे वह समृद्धशाली बनता है, तब नियमेन आनन्दानुभव होता है। इसलिए इस सूत्र का नन्दी नाम गुणसंपन्न होने से गौण्यपद में, इसमें ज्ञान की मुख्यता है, इसलिए प्राधान्यपद में; पांचज्ञान जीवास्तिकाय में ही हैं, अन्य द्रव्य में नहीं। अतः अनादि सिद्धान्तपद में अन्तर्भाव होता है। शेष पदों का यहां निषेध समझना चाहिए।

प्रमाण—इस उपक्रम के चार भेद हैं, जैसे कि—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण, इनमें से इस सूत्र में भाव प्रमाण का अधिकार है। भावप्रमाण के तीन भेद हैं—गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण। इनमें से गुणप्रमाण के दो भेद हैं—जीवगुण-प्रमाण और अजीव-गुणप्रमाण। जीवगुण प्रमाण के तीन भेद हैं—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण। इनमें ज्ञानगुण-प्रमाण का अधिकार है, शेष अधिकारों का निषेध है। ज्ञानगुण-प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम, इनमें से इस सूत्र का अन्तर्भाव आगम में होता है। अन्य किसी प्रमाण में नहीं, क्योंकि नन्दीसूत्र आगम है।

वक्तव्यता—इस आगम में स्वसमय की मुख्यता है, परसमय का विवरण अधिक नहीं है, तदुभय समय का भी किंचिद् वर्णन है।

अर्थाधिकार—इस नन्दीसूत्र में पांचज्ञान का अधिकार है। अर्थात् पाँच ज्ञान का विस्तृत विवेचन करना, यही इसके अर्थाधिकार है। इसके अनन्तर नन्दी का विवेचन निक्षेप से किया जाता है।—

२. निक्षेप—किसी वस्तु का रखना या उपस्थित करने को निक्षेप कहते हैं। वस्तु-तत्त्व को शब्दों में रखने, उपस्थित करने अथवा वर्णन करने की चार शैलियां बतलाई गयी हैं, जिन्हें निक्षेप कहते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि जिसको जाने, उसका भी निक्षेप करे और जिस को विशेषरूप से न जाने, उसको जितना भी समझे, कम-से-कम उतने का अवश्य चार निक्षेपरूप में वर्णन करे, क्योंकि इस प्रकार वक्ता का अभिप्राय या वस्तुतत्त्व अच्छी प्रकार समझ में आ सकता है। विश्व में सभी व्यवहार तथा विचारों का आदान-प्रदान भाषा के माध्यम से होता है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द, प्रयोजन तथा प्रसंगवश अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम-से-कम चार अर्थ पाए जाते हैं। अतः सिद्ध हुआ, जो अर्थ कोष में एक ही अर्थ का द्योतक है, निक्षेप करने से उस शब्द के भी चार अर्थ होते हैं, जैसे कि नन्दी शब्द को लीजिए, उसे भी चार भागों में विभाजित करने से अनेक अर्थ निकल आते हैं। वे चार निक्षेप निम्नलिखित हैं—

नामनन्दी, स्थापनानन्दी, द्रव्यनन्दी और भावनन्दी। किसी जीव या अजीव का नाम, नन्दी रखा गया है, जैसे कि नन्दिषेण, नन्दिघोष, नन्दिफल, नन्दिकुमार, नन्दिवृक्ष और नन्दिग्राम इस प्रकार किसी का नाम रखना, इसे नामनन्दी कहते हैं। जो अर्थ इतर लोगों के संकेत-बल से जाना जाता है, भले ही उसमें वह अर्थ नहीं घटित होता है, फिर भी उसे उसी नाम से पुकारा जाता है। स्थापनानन्दी उसे कहते हैं, जैसे 'नन्दी' शब्द किसी कागज आदि में लिखना। द्रव्यनन्दी के दो भेद हैं—आगमतः और नोआगमतः। आगमत द्रव्यनन्दी उसे कहते हैं जो व्यक्ति नन्दीसूत्र को भली भांति जानता तो है, परन्तु उसमें उपयोग लगा हुआ नहीं है, क्योंकि कहा भी है—अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्। नो आगमतः द्रव्यनन्दी के तीन भेद हैं, जैसे कि ज्ञशरीर द्रव्यनन्दी, भव्यशरीर द्रव्यनन्दी और उभयव्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी।

ज्ञशरीर द्रव्यनन्दी उसे कहते हैं, जो जीवितावस्था में नन्दीसूत्र का पारगामी था, अब केवल उसका शव पड़ा है। लोग परस्पर यह चर्चा करते हैं कि यह व्यक्ति या मुनि नन्दीसूत्र का पारदर्शी था।

भाव्यशरीर द्रव्यनन्दी उसे कहते हैं, जैसे कि एक नवजात शिशु है, जिसने अनागत काल में निश्चय ही नन्दीसूत्र का पारगामी बनना है, परन्तु वर्तमानकाल में वह नन्दी के विषय को नहीं जानता है, इस कारण उसे द्रव्यनन्दी कहा जाता है। कहा भी है—

"इह हि यद् भूतभावं, भाविभावं वा वस्तु, तद् यथाक्रमं विवक्षितभूतभाविभावापेक्षया द्रव्यमिति तत्त्ववेदिनां प्रसिद्धिमुपागमत्, उक्तं च—

भूतस्य भाविनो भावा, भावस्य हि कारणं यल्लोके।
तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम्॥"

उभयव्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी, जहां १२ प्रकार के साज-बाज वाले एकसाथ, एक लय से जब वाद्य बजा रहे हों, तब इन्सान मस्ती में झूमने लग जाते हैं, इस आनन्द को उभयव्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी कहते हैं।

इसी प्रकार भावनन्दी के भी दो भेद हैं, आगमतः भावनन्दी और नो आगमतः भावनन्दी। जब कोई मुनि पुङ्गव दत्तचित्त से उपयोग के साथ नन्दी का अध्ययन कर रहा है, वह भी अनुप्रेक्षापूर्वक, तब उसे आगमतः भावनन्दी कहते हैं। जिस समय में जो जिसमें उपयुक्त है, उस समय में वह व्यक्ति वही कहलाता है, क्योंकि उसका उपयोग उस समय तदाकार बना हुआ होता है, उस ध्येय से वह अभिन्न होता है।

इसीलिए वह[1] आगमत: भावनन्दी कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति अरिहन्त या सिद्ध भगवान का ध्यान कर रहा है, तो उस समय उसे आगमत: अरिहन्त या सिद्धभगवन्त कह सकते हैं, क्योंकि वह ध्येय से कथंचित् अभिन्न है।[2] नो आगमत: भावनन्दी, जो नन्दीसूत्र में पांच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप वर्णित है, उनमें से कोई अध्येता मतिज्ञान के अवान्तर भेदों में से किसी एक पद या पंक्ति का जब अध्ययन कर रहा है, तब उसे नो आगमत: भावनन्दी कहते हैं, क्योंकि नो शब्द यहां देश—अर्थात् आंशिकवाची है, जैसे अंगुली को मनुष्य नहीं कहते, अथवा मकान में लगी हुई ईंट को मकान नहीं कहते, वैसे ही जब कोई नन्दी के पद या पंक्ति को उपयोग सहित पढ़ रहा है, तब उसे नो आगमत: भावनन्दी कहते हैं। जब तक पांच ज्ञान का वर्णनात्मक अध्ययन या विषय, ज्ञान में सम्पूर्ण न झलके, तब तक वह नो आगमत: भावनन्दी ही कहलाता है। तदनु जब सम्पूर्णनन्दी को जानता है और उसमें उपयोग भी है, तब आगमत: भावनन्दी कहते हैं।

नन्दी सूत्र ज्ञानप्रवादपूर्व का तथा समस्त आगमों का एक बिन्दुमात्र है। इस दृष्टि से भी इसे नो आगमत: भावनन्दी कहते हैं। पाँच ज्ञान में से कोई भी ज्ञान यदि विशिष्टरूप से उत्पन्न हो जाए, तो वह आनन्दानुभूति का अवश्य कारण बनता है। इस प्रकार नामनन्दी, स्थापनानन्दी, द्रव्यनन्दी और भावनन्दी का संक्षेप में निक्षेप का वर्णन है।

२. **अनुगम**—अब नन्दी की व्याख्या अनुगम की शैली से की जाती है। जिसके द्वारा, जिसमें, या जिससे सूत्र के अनुकूल गमन किया जाए, उसे अनुगम कहते हैं। जो सूत्र और अर्थ का अनुसरण करने वाला है, उसको अनुगम कहते हैं, कहा भी है—

"अणुगम्मइ तेण, तहिं तओ व अणुगमणमेव वाणुगमो।
अणुणोऽणुरूवो वा जं, सुत्तत्थाणमणुसरणं॥"

इस गाथा में अणुणो षष्ठ्यन्त पद है, जिसका अर्थ होता है—सूत्र का और गम कहते हैं—व्याख्या को, अर्थात् सूत्र का व्याख्यान करना। अनुगम साधन है और नन्दीसूत्र साध्य है, जहाँ साधन है, वहाँ निश्चितरूप से साध्य का अस्तित्व है, जैसे साध्य का साधन के साथ अन्वय सम्बन्ध है, वैसे ही सूत्र का सम्बन्ध अनुगम से है। अनुगम सूत्र और अर्थ दोनों का अनुसरण करता है। सूत्र वर्णात्मक होता है और अर्थ ज्ञानात्मक, सूत्र द्रव्य है, और अर्थ भाव है। सूत्र कारण है और अर्थ कार्य है। अनुगम दोनों का अनुसरण करने वाला है। अनुगम के बिना आगमों में प्रवृत्ति नहीं होती। अनुगम-अध्ययन की सफल पद्धति है, यह पद्धति छः प्रकार की होती है—

१. **संहिता**—अध्ययन का सबसे पहला क्रम है—वर्णों का या सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना। शुद्ध उच्चारण के बिना जंवाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, घोसहीणं, ये अतिचार लगते हैं, जिनसे श्रुतज्ञान की आराधना नहीं, अपितु विराधना होती है।

२. **पदं**—यह पद सुबन्त है, या तिङन्त है? अव्यय है, या क्रियाविशेषण है? इस प्रकार के पदों का ज्ञान होना भी अनिवार्य है। जब तक इस प्रकार पदों का ज्ञान नहीं होता, तब तक सूत्र और अर्थ का

---

१. उपयोगो भावलक्खणं। २. भावम्मि पंच नाणाइं।

ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे नन्दी में ५७ सूत्र हैं, उनमें से एक सूत्र में कितने पद हैं? उनका ज्ञान होना भी आवश्यकीय है।

३. पदार्थ—जितने पद हों, उनका अर्थ भी जानना चाहिए। प्रत्येक पद का ज्ञान और उसके अर्थ का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक आगे अध्ययन में प्रगति नहीं हो सकती, जैसे **देवा**—देवता, **वि**—भी, **तं**—उसको, **नमंसंति**—नमस्कार करते हैं, **जस्स**—जिसका, **धम्मे**—धर्म में, **सया**—सदा **मणो**—मन है, इस प्रकार पदों के अर्थ जानने का प्रयास करना पदार्थ है।

४. पदविग्रह—पदार्थ हो जाने के पश्चात् पदविग्रह करना, जैसे **नन्दति नन्दयत्यात्मानमिति नन्दी** जो आत्मा को आनन्दित करता है, उसे नन्दी कहते हैं। यदि समस्तपद हों, तो उनका पदविग्रह करके अर्थ करना चाहिए। जो पदविग्रह सूत्र और अर्थ के अनुरूप हो, वैसा विग्रह करना, इस विधि से अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

५. चालना—पदविग्रह के अनन्तर मूलसूत्र पर या अर्थ पर शंका,—प्रश्न या तर्क करने का अभ्यास करना, जैसे प्रस्तुत सूत्र का नाम किसी प्रति में ह्रस्व इकार सहित लिखा होता है और किसी में दीर्घ ईकार सहित। वस्तुतः शुद्ध कौन-सा शब्द है, नन्दिः? या नन्दी? इनकी व्युत्पत्ति किस धातु से हुई है? ये दोनों शब्द किस लिङ्ग में रूढ़ हैं। इस प्रकार शब्द विषयक प्रश्न करने को शब्द चालना कहते हैं। इस आगम को नन्दी क्यों कहते हैं? नन्दी का और ज्ञान का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस प्रकार अनेक प्रश्न अर्थ विषयक किए जा सकते हैं, इसे अर्थ चालना कहते हैं।

६. प्रसिद्धिः—प्रसिद्धि का अर्थ धारणा या समाधान भी होता है। शंका का समाधान करना प्रश्न का उत्तर देना, कभी शिष्य की ओर से प्रश्न होता है, उसका उत्तर गुरु देते हैं और कभी प्रश्न भी गुरु की ओर से तथा उत्तर भी गुरु की ओर से दिया जाता है। कभी प्रश्न गुरु की ओर से और उत्तर शिष्य की ओर से दिया जाता है। इसको प्रसिद्धि कहते हैं।

जैसे पहले चालना में प्रश्न दिए हुए हैं, उन्हीं का यहां उत्तर देते हैं—नन्दि या नन्दी दोनों शब्द शुद्ध हैं। 'टुनदि' समृद्धौ धातु से इनकी निष्पत्ति हुई है। नन्दिः शब्द पुल्लिग है और नन्दी शब्द स्त्रीलिङ्ग है, दोनों का अर्थ भी एक ही है, किन्तु प्राचीन पद्धति में आगम के लिए नन्दी शब्द प्रयुक्त है, जो कि आर्ष है। हमें उसी परम्परा को स्थिर रखना है। जिनभद्रगणी जी ने विशेषावश्यक भाष्य में स्त्रीलिङ्ग में नन्दी शब्द का प्रयोग किया है, जैसे कि—

> **"मङ्गलमहवा नन्दी, चउव्विहा मंगलं च सा नेया।**
> **दव्वे तूर समुदओ, भावम्मि य पंचनाणाइं॥"**

इससे सिद्ध होता है कि दीर्घ ईकार सहित नन्दी ऐसा लिखना ही सर्वथोचित है। "आगमोदय समिति" द्वारा प्रकाशित मलयगिरि वृत्ति में नन्दीसूत्रम्, नन्दीवृत्तिः, नन्दीनिक्षेपाः इस प्रकार शब्द प्रयोग किए हुए हैं। समस्तपद में भी दीर्घ ईकार सहित नन्दी का प्रयोग किया है। यदि भावनन्दी के अतिरिक्त नामनन्दिः, स्थापना नन्दी, द्रव्यनन्दिः इनका ह्रस्वइकार सहित पुल्लिग में प्रयोग किया जाए, तो कोई दोषापत्ति नहीं है। यह शब्द विषयक समाधान है।

चिर काल से खोई हुई निजी अमूल्य निधि मिल जाने से व्यक्ति को जैसे असीम आनन्द की

अनुभूति होती है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मा की निजी संपत्ति है। नन्दी सूत्र उसकी तालिका है। इसको स्पष्ट करने लिए निम्न उदाहरण है—

एक सेठ ने अनेक बहुमूल्य रत्नों से परिपूर्ण मंजूषा किसी अज्ञात स्थान में रख दी और साथ ही बही में उसका उल्लेख कर दिया। बही में उन रत्नों की संख्या, गुण, नाम, मूल्य और लक्षण आदि की सूची दे दी। अकस्मात् हृदय की गति रुक जाने से वह सेठ मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसने अपने पुत्रों को न उस मंजूषा का निर्देश किया और न बही उनकी नज़रों में रखी, कालान्तर में अनायास बही मिली और उस सूची के अनुसार मंजूषा और रत्न मिले। अपनी निजी संपत्ति मिल जाने पर जैसे उन्हें आनन्द की अनुभूति हुई, वैसे ही नन्दी भी आत्मगुणों की बही है। जिसका देववाचक जी ने इतस्ततः बिखरे हुए ज्ञान के प्रकरणों को तद्‌युगीन आगमों से या ज्ञानप्रवाद पूर्व में से संकलित किया। वह संकलन सौभाग्य से श्रीसंघ को मिला। अथवा जो नन्दीसूत्र पहले व्यवच्छिन्न प्रायः हो रहा था, उसका पुनरुद्धार ५० मंगल गाथाओं के साथ किया ताकि भविष्यत् में यह सूत्र दीर्घकाल पर्यन्त सुरक्षित रहे। इसके अध्ययन करने से परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिए इस आगम का नाम नन्दी रखा है। इसको अर्थविषयक प्रसिद्धि—समाधान कहते हैं। इस क्रम से यदि उपाध्याय या गुरु शिष्यों को अध्ययन कराए तो वह ज्ञान, विज्ञान के रूप में परिणत हो सकता है। कहा भी है—

"संहिया य पदं चेव, पयत्थो पयविग्गहो।
चालणा य पसिद्धि य, छव्विहं विद्धि लक्खणं॥"

इस प्रकार की व्याख्या शैली को अनुगम कहते हैं।

४. नय—नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीन नयों की दृष्टि से जो नन्दी पत्राकार अथवा जो कण्ठस्थ है, कोई व्यक्ति उसकी पुनरावृत्ति कर रहा है, किन्तु उसमें उपयोग नहीं है, वह भी नन्दी है। ऋजुसूत्र नय, पुस्तकाकार या पत्राकार को नन्दी नहीं मानता। हाँ, जो नन्दी का अध्ययन कर रहा है, भले ही उसमें उपयोग न हो, फिर भी वह नन्दी है, यह नय कण्टस्थ विद्या को विद्या मानता है।

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन नय अनुपयुक्त समय में नन्दी नहीं मानते। जब कोई उपयोगपूर्वक अध्ययन कर रहा हो, तभी उसे नन्दी मानते हैं, क्योंकि आनन्द की अनुभूति उपयोग अवस्था में ही हो सकती है, अनुपयुक्तावस्था में नहीं, आनन्द से नन्दी की सार्थकता होती है। जिस समय आत्मा आनन्द से समृद्ध नहीं होता, वह नन्दी नहीं। यह है नन्दी शब्द के विषय में नयों का दृष्टिकोण, यह है, उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय की दृष्टि से नन्दी की व्याख्या।

नन्दी को मूल क्यों कहते हैं ?

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक. अनुयोगद्वार और नन्दी इन सूत्रों को मूल संज्ञा दी गई है। आत्मोत्थान के मूलमंत्र चार हैं, जैसे कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप। उत्तराध्ययनसुत्र सम्यग्दर्शन, चारित्र और तप का प्रतीक है। दशवैकालिकसुत्र—चारित्र और तप का। अनुयोगद्वार सूत्र श्रुतज्ञान का और नन्दीसूत्र पांच ज्ञान का प्रतिनिधि है। इस दृष्टि से नन्दी की गणना मूल सूत्रों में की गई है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान नहीं, अपितु अज्ञान होता है। जहाँ ज्ञान है, वहां निश्चय ही सम्यग्दर्शन है। ज्ञान के विना चारित्र नहीं। चारित्र और तप की आराधना-साधना ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है।

चारित्र और तप ये इहभविक ही हैं, किन्तु ज्ञान साधक अवस्था में मोक्ष का मार्ग है और सिद्ध अवस्था में यह आत्मगुण है। ज्ञान इहभविक भी है, पारभविक भी और सादि अनन्त भी। नन्दी सूत्र में पाँच ज्ञान का स्वरूप वर्णित है। ज्ञानगुण जीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। ज्ञान स्व-प्रकाशक भी है और पर-प्रकाशक भी। पारमार्थिक हित-अहित, अमृत-विष, सन्मार्ग-कुमार्ग का ज्ञान सम्यग्ज्ञान से ही हो सकता है, अज्ञान से नहीं। कुत्सित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। वह आत्मोत्थान में अकिंचित्कर है, अज्ञान किसी को भी प्रिय नहीं, किन्तु ज्ञान सब को प्रिय है। ज्ञान की परिपक्वावस्था विज्ञान है और विज्ञान की परिपक्वावस्था को चारित्र कहते हैं। चारित्र आत्मविशुद्धि का अमोघ साधन है। सम्यग्दर्शन कारण है और ज्ञान कार्य है, आत्मशुद्धि के शेष सभी साधनों का मूल कारण ज्ञान है। इसीलिए नन्दीसूत्र को 'मूल' कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान

विश्व के अनन्त-अनन्त पदार्थ जैनदर्शनकारों ने नवतत्त्वो में विभाजित कर दिए हैं। वे नव तत्त्व सदाकाल भावी हैं, उनसे कोई तत्त्व बाहिर नहीं रह जाता। सभी का अन्तर्भाव नौ में ही हो जाता है। जैसे कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर बन्ध, निर्जरा और मोक्ष। पंचास्तिकाय का अन्तर्भाव भी उक्त नौ में ही हो जाता है। इनका स्वरूप याथातथ्य जानने व समझने के लिए प्रमाण-नय, निक्षेप तथा असाधारण लक्षण हैं। जीव चेतन स्वरूप है, वह न अन्य द्रव्यों के गुण ग्रहण करता और न अपने गुणों से विहीन होता है। उसमें ज्ञानशक्ति सदाकाल से विद्यमान है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उसका महाप्रकाश आवृत्त हो रहा है, किन्तु फिर भी ज्ञानप्रकाश सर्वथा आवृत्त नहीं होता, यत् किंचित् सदा-सर्वदा अनावृत्त ही रहता है, इसको सर्वतो जघन्य क्षयोपशम भी कहते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अनन्त प्रकार का है। ज्यों-ज्यों क्षयोपशम अधिक होता है, त्यों-त्यों ज्ञान की मात्रा बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार ज्ञान की न्यून-अधिकता से या ह्रास-विकास से क्रमशः अज्ञानी व ज्ञानी जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता। वह एक डी० लिट्० को भी अज्ञानी मानता है और किसी अपठित व्यक्ति को भी ज्ञानी मानता है। इस मान्यता के पीछे दर्शन मोह और चारित्र मोह की ऐसी प्रकृतियों को स्वीकार करता है, जिनके कारण प्रचुर मात्रा में ज्ञान होते हुए भी अज्ञानी मानता है, जैसे नेत्रों की दृष्टि ठीक होने पर भी गलत चश्मा लगा देने से गलत नजर आता है। ठीक वैसे ही मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान-दृष्टि विपरीत हो जाती है। जहाँ तक मिथ्यात्व का उदय भाव है, वहाँ तक जीव अज्ञानी ही बना रहता है और उस के सर्वथा उदयाभाव में ज्ञानी। सम्यग्दर्शन के होते हुए जीव ज्ञानी कहलाता है।

सम्यग्दर्शन का साहचर्य्य सम्यग्ज्ञान से है और मिथ्यात्व का साहचर्य्य मिथ्याज्ञान से है। अदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में गुरु, धर्माभास में धर्म, कुशास्त्र में सच्छास्त्र बुद्धि अथवा देव में अदेव बुद्धि, सुगुरु में कुगुरु, धर्म में अधर्म, सत्शास्त्र में कुशास्त्र बुद्धि रखना, ये सब मिथ्यत्व के लक्षण हैं। उस समय मति, श्रुत और अवधि ये तीनों अज्ञान कहलाते हैं और अज्ञान का फल संसार है। मिथ्याज्ञान उन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराता है, संसार का तथा कर्म बन्ध का मूलकारण है और अनन्त दुःख का हेतु है। जब कि सम्यग्ज्ञान सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराता है, मोक्ष एवं अनन्त सुख का हेतु है। अर्थात् जिस ज्ञान से आत्मोत्थान, आत्मविकास और सभी विकारों का शमन हो, वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। संसार वृद्धि, एवं दुर्गति में पतन कराने वाला ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाता है। हो सकता है, क्षयोपशम की न्यूनता से तथा

बाह्य सामग्री की न्यूनता से सम्यक्त्वी जीव को किसी विषय में संशय हो, स्पष्टतया भान न हो, भ्रम भी हो, परन्तु फिर भी वह सत्य का खोजी है। जो सत्य वह मेरा है, यत्सत्यं तन्मम यही उसके अन्तरात्मा की आवाज होती है। वह जीने के लिए खाता है न कि खाने के लिए जीता है। वह अपने ज्ञान का उपयोग मुख्यतया लोकैषणा, वित्तैषणा, भोगैषणा, पुत्रैषणा, काम-क्रोध, मद-लोभ, मोह की पोषणा के लिए नहीं, अपितु आध्यात्मिक विकास के लिए उपयोग करता है। जब कि मिथ्यादृष्टि अपने ज्ञान का उपयोग उपर्युक्त दोषों के पोषण के लिए करता है। सम्यग्दृष्टि का ध्येय सही होता है जब कि मिथ्यादृष्टि का ध्येय मूलतः ही गलत होता है।

आत्मा में कितना ज्ञान का अक्षय भण्डार है? यह नन्दी सूत्र के अध्ययन, श्रवण, मनन, चिन्तन, एवं निदिध्यासन से ही मालूम हो सकता है। नन्दीसूत्र में मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यव तथा केवलज्ञान का विस्तृत वर्णन है। पहले चार ज्ञान कम-से-कम कितने हो सकते हैं, और उत्कृष्ट कितने महान ? इसका समाधान नन्दीसूत्र में मिल सकता है। जो कि अपने आप में पूर्ण है, जिसमें न्यूनाधिकता न पाई जाए, वह कौन सा ज्ञान है ? यह अध्ययन करने से ही मालूम हो सकता है। यद्यपि साकारोपयोग में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान अन्तर्भूत हो जाते हैं, तदपि इसमें सम्यक्श्रुत होने से मात्र पांच ज्ञान का ही मुख्यतया विवेचन किया गया है, अज्ञान का नहीं।

अन्यान्य आगमों में ज्ञान और अज्ञान का विवेचन संक्षेप से वर्णित है। नन्दी सूत्र में पांच ज्ञान का सविस्तर विवेचन है, अन्य आगमों में इतना विस्तृत वर्णन नहीं है।

शास्त्र और सूत्र

शास्त्र न कागज का नाम है, न स्याही का, न लिपि और भाषा का। यदि इनके समुदाय को शास्त्र कहा जाए तो कोकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र भी शास्त्र कहलाते हैं। ऐसे लौकिक शास्त्र से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। 'शासु' अनुशिष्टौ धातु से शास्ता, शास्त्र, शिक्षा, शिष्य और अनुशासन इत्यादि शब्द बनते हैं। शास्ता उसे कहते हैं—जिसका जीवन उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका है, जिसके विकार सर्वथा विलय हो गए हैं तथा जिसका जीवन ही शास्त्रमय बन चुका है, इसी दृष्टि से श्रमण भगवान् महावीर को भी औपपातिक के सूत्र में शास्ता कहा है। वे भव्य जीवों को सन्मार्ग पर चलने वाली शिक्षा देते थे अर्थात् सत् शिक्षा देने वाले को शास्ता कहते हैं। उनके प्रवचन को शास्त्र कहते हैं, अनुशासन में रहने वाले को शिष्य कहते हैं। जिससे वह अनुशासन में रहने के लिए संकेत प्राप्त करता है, उसे शिक्षा कहते हैं। केवली या गुरु के अनुशासन में रहना ही धर्म है। शास्त्र से हित शिक्षा मिलती है। हित शिक्षाओं का ग्रहण तभी हो सकता है जब कि शिष्य अनुशासन में रहे, वरना वे शिक्षाएं जीवन में उतर नहीं सकतीं। "शासनाच्छास्त्रमिदम्" शिक्षा देने के कारण नन्दीसूत्र भी शास्त्र कहलाता है। "शास्यते प्राणिनोऽनेनेति शास्त्रम्" जिसके द्वारा प्राणियों को सुशिक्षित किया जाए, उसे शास्त्र कहते हैं।

उमास्वाति जी ने शास्त्र की व्युत्पत्ति बहुत ही सुन्दर शैली से की है। उन्होंने 'शासु अनुशिष्टौ' और 'त्रैङ्' पालने धातु से व्युत्पत्ति की है और साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया है कि जो संस्कृत व्याकरण के विद्वान हैं, उन्होंने भी शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति इसी प्रकार की है—जैसे कि मैंने की है। आगे चलकर उन्होंने शास्त्र शब्द की व्याख्या सुन्दर शैली से की है। जिन प्राणियों का चित्त राग-द्वेष से उद्धत, मलिन एवं कलुषित हो रहा है, जो धर्म से विमुख हैं, जो दुःख की ज्वाला से झुलस रहे हैं। उनके चित्त

को जो स्वच्छ एवं निर्मल करने में निमित्त है। धर्म में लगाने वाला है और सभी प्रकार के दुःख से रक्षा करने वाला है, उसे शास्त्र कहते हैं। उनके शब्द निम्न लिखित हैं—

"शास्त्विति वाग्विधिविद्भिर्धातुः पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थः।
त्रैङिति पालनार्थे विपश्चितः सर्वशब्दविदाम्॥
यस्माद्रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः॥"

प्रशमरति, श्लो० १८६-१८७।

आचार्य समन्तभद्र ने शास्त्र का लक्षण बहुत ही सुन्दर बतलाया है, जो आप्त का कहा हुआ हो, जिसका उल्लंघन कोई न कर सकता हो, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध न हो, तत्त्व का उपदेष्टा हो, सर्व जीवों का हित करने वाला हो, और कुमार्ग का निषेधक हो; जिसमें ये छः लक्षण घटित हों, वह शास्त्र कहलाता है। उनके शब्द निम्न लिखित हैं, जैसे कि—

"आप्तोपज्ञमनुलंघ्य-मदृष्टेष्टविरुद्धकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्-सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥"

यह श्लोक आचार्य सिद्धसेनदिवाकर के न्यायावतार में भी गृहीत है। अतः मुमुक्षुओं को उपर्युक्त लक्षणोपेत शास्त्रों के अध्ययन व अध्यापन, आत्म-चिन्तन, धर्मकथा, हित शिक्षा सुनने, उसे धारण करने संयम, तप और गुरु भक्ति में सदा प्रयत्न शील रहना चाहिए, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान धर्म-ध्यान का अवलम्बन है। शास्त्रीयज्ञान स्व-पर प्रकाशक होने से ग्राह्य एवं संग्राह्य है। सत् शिक्षा देने के कारण नन्दीसूत्र भी शास्त्र कहलाता है। शास्ता की प्रधानता से शास्त्र की प्रधानता हो जाती है।

अर्थ को सूचित करने के कारण इसे सूत्र कहते हैं। जो तीर्थंकरों के द्वारा अर्थरूप में उत्पन्न होकर गणधरों के द्वारा ग्रन्थ रूप में रचा गया है, उसे भी सूत्र कहते हैं। नन्दी-सूत्र का संकलन भी गणधर-कृत अंगसूत्रों के आधार पर किया गया है। सूत्र को पकड़ कर चलने वाले व्यक्ति ही बिना पथभ्रष्ट हुए संसार से पार हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार कि सूत्र (धागा) से पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है, और बिना सूत्र के खो जाती है, वैसे ही जिसने निश्चय पूर्वक सूत्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, वह संसार में भटकता नहीं, प्रत्युत शीघ्र ही सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से नन्दी शास्त्र को, सूत्र भी कहते हैं, क्योंकि इसमें ज्ञान का वर्णन है, ज्ञान से आत्मा प्रकाशवान होता है। जैसे भस्वर पदार्थ अन्धेरे में गुम नहीं होता, वैसे ही ज्ञान हो जाने से जीव संसार-अन्धकार में गुम नहीं होता। सूत्रं-सूक्तं-सुप्तं इन शब्दों का प्राकृत में सुत्तं बनता है। सूत्र की संक्षिप्त व्याख्या ऊपर लिखी जा चुकी है। सूक्तं का अर्थ है—सुभाषित जो अरिहन्त के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का आधार लेकर गणधरों ने व श्रुतकेवलियों ने अपने मधुर-सरस वर्णात्मक सुन्दर शब्दों में गून्था है। जिससे भव्य प्राणी जटिल शब्दाडम्बर में न पड़-कर भावार्थ को शीघ्र समझ सकें। अतः आगमों को यदि सूक्तं भी कहा जाए तो अनुचित न होगा। इस दृष्टि से नन्दीसूत्र को नन्दीसूक्त भी कहा जा सकता है।

सुप्त के स्थान पर भी प्राकृत में सुत्त बनता है, इसका आशय है—जिस प्रकार सोए हुए व्यक्ति के आस-पास वार्तालाप करते हुए भी उसे उसका ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार, व्याख्या, चूर्णि, निर्युक्ति और भाष्य के बिना जिसके अर्थ का बोध यथार्थ रूप से नहीं होता। अतः उसे सुप्त भी कह सकते हैं।

सूत्र के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, जिसमें महार्थ को गर्भित किया जा सके। जैसे बहुमूल्य रत्न में सैंकड़ों स्वर्णमुद्राएं, हज़ारों रूपय, लाखों पैसे समाविष्ट हो जाते हैं। वैसे ही तीर्थंकर भगवान् के तथा श्रुतकेवली के प्रवचन; शब्द की अपेक्षा से स्वल्पमात्रा में होते हैं और अर्थ में महान्।

जिस मनुष्य के विषय एवं कषाय के विकार शान्त हों तथा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अधिकमात्रा में हो, वही सम्यग्दृष्टि सूत्र में से महान् अर्थ निकाल सकता है। वही सुप्त सूत्र को जगाने में समर्थ हो सकता है। बीज में जैसे मूल-कन्द, स्कन्ध-शाखा, प्रशाखा, किसलय, पत्र-पुष्प, फल और रस सब कुछ विद्यमान हैं, जब उसे अनुकूल जल, वायु, भूमि, समय, और रक्षा के साधन मिलते हैं; तब उसमें छिपे हुए या सुप्त पड़े हुए सभी तत्त्व यथा समय जागृत हो जाते हैं। वैसे ही सूत्र भी बीज की तरह महत्ता को अपने में लिए हुए हैं। पुस्तकासीन, अनुपयुक्त तथा मिथ्यात्व दशा में जीव के अन्तर्गत श्रुतज्ञान सुप्त होता है। जब सच्चे गुरुदेव के मुखारविन्द से विनयी शिष्य, दत्त-चित से क्रमशः, श्रवण-पठन, मनन-चिन्तन और अनुप्रेक्षा करता है, तब सुप्त श्रुत जागरूक हो जाता है। द्रव्यश्रुत ही भाव श्रुत का कारण है। इसको "कारण में कार्य का उपचार" ऐसा भी कहा जा सकता है। पुनः-पुनः ज्ञान में उपयोग लगाना इसे श्रुतधर्म या स्वध्याय धर्म भी कहते हैं। साधक को पहले श्रुतालोक से आत्मा को आलोकित करना चाहिए, तभी केवलज्ञान का सूर्य उदय हो सकता है।

आगम और साहित्य

जैन परिभाषा में तीर्थंकर, गणधर तथा श्रुतकेवली प्रणीत शास्त्रों को आगम कहते हैं। अर्थरूप से तीर्थंकर के प्रवचन और सूत्र रूप से गणधर एवं श्रुतकेवली प्रणीत साहित्य को आगम कहते हैं। जिस ज्ञान का मूलस्रोत तीर्थंकर भगवान हैं, आचार्य परम्परा के अनुसार जो श्रुतज्ञान आया है, आ रहा है, वह आगम[1] कहलाता है अथवा आप्त वचन को आगम कहते हैं।

जिस के द्वारा पञ्चास्तिकाय, नव पदार्थ जाने जाएं, वह आगम[2] कहलाता है, इस दृष्टि से केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, १४ पूर्वधर, १० पूर्वधर तथा ९ पूर्वधर इन का जाना हुआ श्रुतज्ञान आगम कहलाता है।

सूत्र, अर्थ और उभयरूप तीनों को आगम[3] कहते हैं। जो गुरुपरम्परा से अविच्छिन्न गति से आ रहा है, वह आगम[4] कहलाता है, एवं जिस के द्वारा सब ओर से जीवादि पदार्थों को जाना जाए, वह आगम है। जिन की रचना आप्त पुरुषों के द्वारा हुई, वे ही आगम[5] हैं। आप्त वे कहलाते हैं, जिन में १८ दोष न हों, जिनका जीवन ही शास्त्रमय तथा चारित्रमय बन गया है, उन्हें आप्त कहते हैं। जो ज्ञान रागद्वेष से मलिन हो रहा है, वह ज्ञान निर्दोष नहीं होता। उस में भूलें व गलतियां रह जाती हैं। वह आगम

---

१. आचार्यपारम्पर्येणागतः, आप्तवचनं वा अनु०, ३८।

२. आगम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था अनेनेति, केवलमनःपर्ययावधिपूर्वचतुर्दशकदशकनवकरूपः, ठाणा० ३१७।

३. सूत्रार्थोभयरूपः, आव० ५२४।

४. गुरुपारम्पर्येणागच्छतीति आगमः, आ-समन्तात् गम्यन्ते, ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति वा, अनु० २१६ । ५, आप्तप्रणीतः···आचा० ४८।

५. अनुयोगद्वार सूत्र का उत्तरार्द्ध, भाग, सू० १४७।

प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। जैन दर्शन किसी भी आगम या शास्त्र को अपौरुषेय नहीं मानता। उसका रचयिता कोई न कोई अवश्य ऐसा व्यक्ति हुआ है, जिस ने वेद व शास्त्र की रचना की। जैन के जितने भी मान्य आगम हैं, उनके रचयिता कौन हुए हैं ? इस का विवरण पूर्णतया मिलता है। वर्तमान में जो आगम हैं, उन के रचयिता सुधर्मास्वामी तथा अन्य श्रुतकेवली व स्थविर हैं, जिन के नाम निर्देश मिलते हैं। नन्दी सूत्र भी आगम है।

जैन परम्परा के अनुसार आगम तीन प्रकार के हैं, जैसे कि सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम। इन में से अर्थागम का आगमन सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान से हुआ है। सूत्रागम गणधर कृत हैं। और तदुभयागम उपर्युक्त दोनों से निर्मित है, अर्थात् श्रुतकेवली व स्थविरों के द्वारा प्रणीत तदुभयागम कहलाता है।

अब दूसरी शैली से आगमों का वर्णन करते हैं—आगम तीन प्रकार के होते हैं **अत्तागमे, अनन्तरागमे, परम्परागमे।** आत्म और आप्त इन शब्दों का प्राकृत भाषा में 'अत्त' शब्द बनता है। जो अर्थ तीर्थंकर भगवान प्रतिपादन करते हैं, वह आगम, आत्मागम या आप्तागम कहलाता है। जो अर्थ तीर्थंकर भगवान के मुखारविन्द से गणधरों ने सुना है, वह अनन्तरागम कहलाता है। जो गणधरों ने अर्थ सुनकर सूत्रों की रचना की है, वे सूत्र गणधरकृत होने से आत्मागम या आप्तागम कहलाते हैं। जो सूत्रागम हैं, वे अनन्तरागम भी हैं और आत्म आगम भी।

जो आगमज्ञान उन के शिष्यों में है, वह सूत्र की अपेक्षा से अनन्तरागम है और अर्थ की अपेक्षा परम्परागम। प्रशिष्यों से लेकर जब तक आगामों का अस्तित्व रहेगा, तब तक अध्ययन और अध्यापन किए जाने वाले वे सब परम्परागम कहलाते हैं।

नन्दी सूत्र का अन्तर्भाव तदुभयागमे और परम्परागमे में होता है। उक्त तीनों प्रकार के आगम सर्वथा प्रामाणिक हैं।

आगमों में अधिकारों का विवरण

श्रुतस्कन्ध—अध्ययनों के समूह को स्कन्ध कहते हैं। वैदिक परम्परा में श्रीमद्भागवत पुराण के अन्तर्गत स्कन्धों का प्रयोग किया हुआ है, प्रत्येक स्कन्ध में अनेक अध्याय हैं। जैनागमों में भी स्कन्ध का प्रयोग किया है, केवल स्कन्ध का ही नहीं, अपितु श्रुतस्कन्ध का उल्लेख है। किसी भी आगम में दो श्रुतस्कधों से अधिक स्कन्धों का प्रयोग नहीं किया। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र इन में प्रत्येक सूत्र के दो भाग किए हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में श्रुतस्कन्ध कहते हैं। पहला श्रुतस्कन्ध और दूसरा श्रुतस्कन्ध, इस प्रकार विभाग करने के दो उद्देश्य हो सकते हैं, अचाराङ्ग में संयम की आन्तरिक विशुद्धि और बाह्य विशुद्धि की दृष्टि से, और सूत्रकृताङ्ग में पद्य और गद्य की दृष्टि से। ज्ञाताधर्मकथा में आराधक और विराधक की दृष्टि से, तथा प्रश्नव्याकरण में आश्रव और संवर की दृष्टि से, एवं विपाक सूत्र में अशुभविपाक और शुभविपाक की दृष्टि से विषय को दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक श्रुतस्कन्ध में अनेक अध्ययन हैं और किसी-किसी अध्ययन में अनेक उद्देशक भी हैं।

वर्ग—वर्ग भी अध्ययनों के समूह को ही कहते हैं, अन्तकृत्सूत्र में आठ वर्ग हैं। अनुत्तरौपपातिक में तीन वर्ग और ज्ञाताधर्मकथा के दूसरे श्रुतस्कन्ध में दस वर्ग हैं।

दशा—दश अध्ययनों के समूह को दशा कहते हैं। जिनके जीवन की दशा प्रगति की ओर बढ़ी, उसे भी दशा कहते हैं, जैसे कि उपासकदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, अन्तकृद्दशा, इन तीन दशाओं में इतिहास है। जिस दशा में इतिहास की प्रचुरता नहीं, अपितु आचार की प्रचुरता है, वह दशाश्रुतस्कन्ध है, इस सूत्र में दशा का प्रयोग अन्त में न करके आदि में किया है।

शतक—भगवती सूत्र में अध्ययन के स्थान पर शतक का प्रयोग किया गया है। अन्य किसी आगम में शतक का प्रयोग नहीं किया।

स्थान—स्थानाङ्ग सूत्र में अध्ययन के स्थान पर स्थान शब्द का प्रयोग किया है। इसके पहले स्थान में एक-एक विषय का, दूसरे में दो-दो का यावत् दसवें में दस-दस विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है।

समवाय—समवायाङ्ग सूत्र में अध्ययन के स्थान पर समवाय का प्रयोग किया है, इस में स्थानाङ्ग की तरह संक्षिप्त शैली है, किन्तु विशेषता इस में यह है कि एक से लेकर करोड़ तक जितने विषय हैं, उनका वर्णन किया गया है। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग को यदि आगमोंकी विषयसूचि कहा जाए तो अनुचित न होगा।

प्राभृत—दृष्टिवाद, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति इन में प्राभृत का प्रयोग अध्ययन के स्थान में किया है और उद्देशक के स्थान पर प्राभृतप्राभृत।

पद—प्रज्ञापना सूत्र में अध्ययन के स्थान में सूत्रकार ने पद का प्रयोग किया है, इसके ३६ पद हैं। इस में अधिकतर द्रव्यानुयोग का वर्णन है।

प्रतिपत्ति—जीवाभिगमसूत्र में अध्ययन के स्थान पर प्रतिपत्ति का प्रयोग किया हुआ है। इस का अर्थ होता है—जिन के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जाना जाए, उन्हें प्रतिपत्ति कहते हैं—**प्रतिपद्यन्ते यथार्थमवगम्यन्तेऽर्था आभिरिति प्रतिपत्तयः।**

वक्षस्कार—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में अध्ययन के स्थान पर वक्षस्कार का प्रयोग किया हुआ है। इस का मुख्य विषय भूगोल और खगोल का है। भगवान ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का इतिहास भी वर्णित है।

उद्देशक—अध्ययन, शतक, पद और स्थान इन के उपभाग को उद्देशक कहते हैं। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, भगवती, स्थानाङ्ग, व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्प, निशीथ, दशवैकालिक, प्रज्ञापनासूत्र और जीवाभिगम इन सूत्रों में उद्देशकों का वर्णन मिलता है।

अध्ययन—जैनागमों में अध्याय नहीं अपितु अध्ययन का प्रयोग किया हुआ है और उस अध्ययन का नाम निर्देश भी। अध्ययन के नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि इस अध्ययन में अमुक विषय का वर्णन है। यह विशेषता जैनागम के अतिरिक्त अन्य किसी शास्त्र-ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और निरियावलिका आदि ५ सूत्र तथा नन्दी इन में आगमकारों ने अध्ययन का प्रयोग किया है।

नन्दी में न श्रुतस्कन्ध है, न वर्ग है, न प्रतिपत्ति, न पद, न शतक, न प्राभृत न स्थान, न समवाय न वक्षस्कार, और न उद्देशक ही हैं, मात्र एक अध्ययन है, क्योंकि यह सूत्र द्वादशाङ्ग गणीपिटक का या ज्ञानप्रवाद पूर्व का एक बिन्दु प्रमाण है। इसे ज्ञानप्रवादपूर्व की एक छोटी सी झाँकी माना जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

साहित्य का विवेचन

साहित्य शब्द स-हित से बना है—जो प्राणीमात्र का हितकारी, प्रियकारी हो, उसे साहित्य कहते हैं अथवा किसी भाषा या देश के उन समस्त गद्य-पद्य ग्रन्थों, लेखों आदि के समूह को साहित्य कहते हैं, इसी को लिटरेचर, एवं सकल वाङ्मय भी कहते हैं। साहित्य शब्द से अभिप्राय किसी भाषा विशेष से ही नहीं हैं, अपितु सर्व भाषाओं और सर्व लिपियों का अन्तर्भाव साहित्य में हो जाता है। साहित्य भावों के परिवर्तन का एक मुख्य साधन है। भाषा, व्यवहार, वार्तालाप, व्याख्यान, शिक्षा, लेख, पुस्तक, चित्र, पत्र आदि सब साहित्य के अंग हैं। शोक साहित्य के पढ़ने सुनने से हम रोने लग जाते हैं, धैर्य का वेग एकदम छूट जाता है। प्रेम साहित्य से दूसरों के प्रति हमारा अनुराग और वात्सल्य बढ़ जाता है, हम ऊंच-नीच का भेदभाव हटाकर प्रेम करने लग जाते हैं, फिर भले ही वह पशु-पक्षी ही क्यों न हो। शान्ति-साहित्य के सन्मुख आने पर हम सहसा शान्ति के पुजारी बन जाते हैं। नोंक-झोंक साहित्य हमें हंसने के लिए विवश एवं बाध्य कर देता है। आगम साहित्य से हमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सदाचार, अपरिग्रह, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार, वीर्याचार, संवर, निर्जरा, न्याय, नीति और बन्धन से मुक्ति आदि सद्गुणों की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। राजीमती की शिक्षाओं से रहनेमि के सभी विकार शान्त हो गए, वह वार्तालाप या शिक्षा भी साहित्य ही था और अब भी वह साहित्य ही है। साहित्य महान् सर्वव्यापक एवं विश्वकोष है। जैसे—सर्वांगपूर्ण शरीर में उत्तमांग अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसके बिना शरीर मात्र कवन्धक ही है। वैसे ही आगम-शास्त्र भी साहित्य जगत में मूर्धन्य स्थान रखता है। बारह अंगों को आगम कहते हैं। जैसे—गंगाजल से भरे हुए घट के नीर को गंगा नहीं कह सकते, वैसे ही नन्दी को न अंगसूत्र कह सकते और न ज्ञानप्रवाद पूर्व ही। हां, उन्हीं से अंश-अंश ग्रहण किए हुए पीयूष घट की तरह ज्ञानघट कह सकते हैं। जो कि भव्य प्राणियों को अमर बनाने वाला तथा जीवन को मंगलमय एवं आनन्दमय बनानेवाला शास्त्र है। इससे मोहनिद्रा नष्ट हो जाती है और आज्ञानान्धकार सदा के लिए लुप्त हो जाता है। अतः इसके अध्ययन करने से मानसिक शान्ति सदा बनी रहती है। अध्ययन श्रद्धा पूर्वक होना चाहिए। सम्यक्श्रद्धा के बिना अध्ययन, योग्यता सब कुछ अवस्तु है। सम्यग्ज्ञान के बिना श्रद्धा अवस्तु है। अतः नन्दी भी साहित्य जगत् में अपना विलक्षण ही स्थान रखता है।

आगम युग

भगवान् महावीर का शासन प्रारम्भ होने के अनन्तर हजार वर्ष से कुछ अधिक काल पर्यन्त आगम युग रहा है। उस काल में श्रमणवर्ग प्रायः हृदय का ऋजु और महामनीषी रहा है। उस युगमें आगमों का अध्ययन और अध्यापन बिना किसी वृत्ति, चूर्णि तथा भाष्य के सुचारु रूपेण चल रहा था। आगमों के अतिरिक्त अन्य कुछ पढ़ने-पढ़ाने की उन्हें किसी प्रकार की आवश्यकता ही नहीं रहती थी, उनकी संतुष्टि सर्वतोभावेन आगमों से ही हो जाती थी, क्योंकि वाचनाचार्य के द्वारा उनकी ज्ञान पिपासा सब तरह से

शान्त हो जाती थीं, लौकिक विद्या के पारगामी तो वे घर में ही होते थे। मुमुक्षुओं की अभिरुचि सदा-काल से आगमों की ओर ही रही है। आगम आध्यात्मिक शास्त्र हैं, इन्हीं के अध्ययन से संयम मार्ग में प्रगति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

मनुष्य जिस कार्यक्षेत्र में उतरता है, वह तद् विषयक ज्ञान प्राप्त करने में अधिक लालायित रहता है तथा अभिरुचि रखता है। महाव्रती का उच्च जीवन आगमों के श्रद्धापूर्वक किए जाने वाले अध्ययन से ही हो सकता है। आगम युग प्रायः आगम व्यवहारियों का रहा है। उस युग में अन्य किसी व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती। अनुयोगाचार्य और मुमुक्षु शिष्यों का युग ही आगमयुग कहलाता है। द्वादशांग गणिपिटक के अतिरिक्त १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद इत्यादि आगमों की रचना श्रुतकेवली स्थविरों ने शिष्यों की सुगमता के लिए की है। जब काल के प्रभाव से दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हुआ तब सूत्र व्यवहारियों का युग आया। अवशिष्ट तथा उपलब्ध आगमों को सुरक्षित रखने के लिए विशिष्ट प्रतिभा-शाली आचार्योंने निर्युक्ति, वृत्ति, चूर्णि, एवं भाष्य इत्यादि रचनाओंसे शिष्यों की अभिरुचि आगमों के प्रति न्यून नहीं होने दी। तत्पश्चात् शास्त्रार्थ का युग आया, तब सिद्धसेन, हरिभद्र, हेमचन्द्राचार्य आदि शास्त्रार्थ महारथियों ने श्रमणों की अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप, प्रमाण लक्षण, सप्तभंगी नव्य न्याय की ओर अभि-रुचि बढ़ाई। इससे आगमों की प्रगति तो कुछ मन्थर हो गई, किन्तु प्रवचन प्रभावना से तथा प्रवादी रूप आततायियों से श्रीसंघ की रक्षा के प्रति श्रमणों का मन आकृष्ट हुआ। श्रमणवर्ग संयम और तप से अपनी, प्रवचन की तथा श्रीसंघ की रक्षा करने में सदाकाल से ही अग्रसर रहा है, उसने एड़ी की जगह अंगुठा नहीं रखा।

आगमों की भाषा अर्धमागधी

आगम-भाषा सदा काल से अर्धमागधी ही रही है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर[1] अर्धमागधी भाषा में प्रवचन, देशना एवं शिक्षा देते हैं। तीर्थंकर अर्धमागधी के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं बोलते। वैसे तो केवलज्ञानी कौन-सी भाषा नहीं जानते ? अर्थात् वे सभी भाषाओं के परिज्ञाता होते हैं। फिर भी सुकोमल और सर्वोत्तम होने के कारण भगवान् अर्धमागधी वाणी में ही देशना देते हैं। प्रभु के द्वारा उच्चारित वह भाषा आर्य-अनार्य, द्विपद-चतुष्पद सब के लिए हितकर शिवंकर एवं सुखप्रदात्री रही है अर्थात् इस भगवद्वाणी को सभी अपनी भाषा के अनुरूप समझ लेते थे। यह भाषातिशय केवल महावीर में ही न था, अपितु सभी तीर्थंकर इस अतिशय के स्वामी होते हैं। तीर्थंकर भगवान् के ३४ अतिशयों में यह भाषातिशय भी है कि अर्धमागधी में प्रवचन करते समय वह भाषा उसी भाषा में परिणत हो जाती है, जिसकी जो भाषा है।[2]

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि यह अर्धमागधी भाषा उस समय मगध के आधे भाग में बोली जाती थी। इसीलिए इसे अर्धमागधी कहा जाता है। वास्तव में ऐसी बात नहीं है, केवल शब्द मात्र की व्युत्पत्ति पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, तीर्थंकरों का अर्धमागधी भाषा में बोलना अनादि नियम है।

---

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ, सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी, तेसिं सव्वेसिं आरिय-मणारियाणं दुप्पय, चउप्पद-मिय-पसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुह भासत्ताए परिणमइ।

समवायाङ्ग सूत्र, ३४ वां समवाय।

२. सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयण णीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासइ, अरिहा धम्मं परिकहेइ। तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्मं आइक्खइ, सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारि-याणं अप्पणो स-भासाए परिणामेणं परिणमइ।

औपपातिक सूत्र—सू० ५६।

अर्धमागधी देववाणी है, यह इसकी दूसरी विशेषता है। आगम में एक स्थल पर भगवान् महावीर से गणधर गौतम पूछते हैं—भगवन् ! देव किस भाषा में बोलते हैं ? कौन-सी भाषा उन्हें अभीष्ट है ? उत्तर में सर्वज्ञ महावीर बोले—गौतम ! देव अर्धमागधी में बोलते हैं और वही भाषा उन्हें अभीष्ट एवं रुचिकर है।[1] उपर्युक्त प्रमाणों से निसन्देह सिद्ध हो जाता है कि अर्धमागधी स्वतन्त्र एवं तीर्थंकर और देवों से बोली जाने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। देव तो स्वर्ग में रहने वाले हैं, उन्हें मगध के आधे भाग में बोली जानेवाली भाषा में बोलना क्योंकर अभीष्ट हो सकता है ? वह उन्हें क्यों प्रिय हो सकती है ? इसका उत्तर यही है कि अर्धमागधी स्वतन्त्र, सर्वप्रिय एवं श्रुतिसुखदा भाषा है। प्राकृत और संस्कृत ये दोनों अर्धमागधी की सहोदराएं हैं, इन दोनों का अर्धमागधी भाषा को पूर्ण सहयोग मिला हुआ है। यदि अर्ध-मागधी को लोकोत्तरिक भाषा कहा जाए, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। नन्दीसूत्र की भाषा भी अन्य आगमों की भान्ति सुगम और सारगर्भित अर्धमागधी भाषा ही है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण

युक्ति-सिद्धज्ञान को प्रमाण कहते हैं, जो ज्ञान पदार्थ को अनेक दृष्टिकोणों से जानने वाला हो वह प्रमाण है, यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है ? किन्तु उसके निःशेष लक्षण निम्न प्रकार से हैं—जो ज्ञान केवल बिना इन्द्रिय और बिना कीसी सहायता के सीधा आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। इसके विपरीत जो ज्ञान, इंद्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखता है वह परोक्ष प्रमाण है।

२. सांख्य दर्शन इन्द्रिय प्रवृत्ति को प्रमाण मानता है।

३. प्रभाकर मीमांसक लोग, प्रमाता के व्यापार को प्रमाण मानते हैं।

४. जिस वस्तुतत्त्व का ज्ञान पहले नहीं प्राप्त किया, भाट्ट लोग उसे प्रमाण मानते हैं।

५. जो विज्ञान अपने विषय को यथार्थरूप से ग्रहण करता है,उसे प्रमाण कहते है,' यह मान्यता बौद्धों की है।

६. स्व-पर का निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण मानने वाले जैन हैं। चार्वाक-केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। बौद्ध-प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष-अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण मानते हैं। न्यायदर्शन-प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द और उपमान ये चार प्रमाण मानता है। प्राभाकर-अर्था-पत्ति सहित पांच प्रमाण मानते हैं। वेदान्त दर्शन और भाट्ट ये अभाव सहित ६ प्रमाण मानते हैं। जैन दार्शनिक, प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण मानते हैं।

---

१. देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कयराए वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ ? गोयमा ! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति, सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ। भगवती सूत्र, श० ५, उ० ४—

२. इन्द्रिय प्रवृत्तिः प्रमाणमिति कापिलाः।

३. प्रमातृव्यापारः प्रमाणमिति प्राभाकराः।

४. अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति भाट्टाः।

५. अविसंवादि प्रमाणमिति सौगताः।

६. [illegible] जैनाः।

नन्दीसूत्र में पांच ज्ञानों में अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण में गर्भित किए हैं। इन्हें किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं रहती, न इन्द्रियों की, न मन की और न आलोक की, उस ज्ञान का सम्बन्ध तो सीधा आत्मा से ही होता है। जैसे २ क्षयोपशम की तरतमता होती है, वैसे २ प्रत्यक्ष होता है, किन्तु सकलादेश प्रत्यक्ष में आवरण का सर्वथा क्षय होना अनिवार्य है, तभी केवलज्ञान प्रत्यक्ष होता है, स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। नन्दीसूत्र में पहले प्रत्यक्ष के दो भेद बतलाएं हैं, इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष सांव्यवहारिक है न कि पारमार्थिक। नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेद गिनाए हैं, जैसे कि—अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, और केवलज्ञान ये उत्तरोत्तर विशुद्धतर, विशुद्धतम हैं। सूत्रकार ने प्रत्यक्ष ज्ञान की मुख्यता और स्पष्टता को तथा वर्णन की दृष्टि से अल्पता को लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त तीन ज्ञान का वर्णन पहले किया है।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर मतिपूर्वक जो अन्य पदार्थों का ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम इनको परोक्ष प्रमाण में सम्मिलित किया है। नन्दीसूत्र में परोक्ष प्रमाण का वर्णन पीछे किया है। परोक्षज्ञान-अस्पष्ट और जटिल होता है। उसे समझने-समझाने में बहुत कठिनाई प्रतीत होती है। धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान, गुण-गुणी का भेद किए विना पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान, प्रमाण है। यह लक्षण सभी प्रमाणों में घटित हो जाता है। अथवा पांच ज्ञान, प्रमाण और नय में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अनन्तधर्मात्मक रूप वस्तु को सर्वांश रूप से ग्रहण करने वाला प्रमाण और उसके विशेष किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय कहलाता है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय त्रैकालिक विषयक हैं। ऋजुसूत्र केवल वर्तमान विषयक है। शेष तीन नय प्राय: वर्तमान कालापेक्षी हैं।

प्रमाण कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, प्रमाण हो या नय, वस्तुतत्त्व का जैसा स्वरूप है, यदि वैसा ही ज्ञान है, तो वह ज्ञान प्रमाण तथा नय की कोटि में माना जाता है। अन्यथा प्रमाणाभास, एवं दुर्नय है, उसकी गणना सम्यग्ज्ञान की कोटि में नहीं की जा सकती। प्रमाण और नय सम्यक्त्व अवस्था में ज्ञान के साधन हैं। प्रमाणाभास और दुर्नय दोनों मिथ्याज्ञान के पोषक एवं परिवर्द्धक हैं। नन्दीसूत्र प्रमाणवाद एवं नयवाद दोनों को लेकर ही चलता है। इसी कारण वे सम्यग्ज्ञान के साधन माने जाते हैं। नन्दीसूत्र में पांचों का वर्णन दो भागों में विभाजित है पूर्वार्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन है और उत्तरार्ध में परोक्षप्रमाण का।

स्थविरावली के विषय में

अनेक विद्वन्मुनिवरों की यह धारणा चली आ रही है कि जो नन्दीसूत्र के आदि में मंगलाचरण के अन्तर्गत स्थविरावली है, वह पट्टधर आचार्यों की है, और किन्हीं का कहना है कि यह देववाचकजी की गुर्वावली है। परन्तु हमारे विचार में यह स्थविरावली न एकान्तरूप से पट्टधर आचार्यों की है और न यह देववाचकजी की गुर्वावली है, वस्तुत: देववाचक के जो परम श्रद्धेय थे, उनका परिचय ही उन्होंने गाथाओं में लौकिक तथा लोकोत्तरिक गुणों के साथ दिया है।

जो आचार्य, उपाध्याय या विशिष्ट आगम-धर आचार्य तथा अनुयोगाचार्य किसी भी शाखा में हुए हैं, गाथाओं में उन्हीं के पुनीत नाम उल्लेख किए गए हैं। इसके विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं। आचार्य

संभूतविजयजी जो कि यशोभद्र जी के शिष्य हुए हैं, आचार्य संभूतविजय और आचार्य भद्रबाहु स्वामी ये दोनों गुरु भ्राता थे, और संभूतविजय जी के शिष्य स्थूलभद्र जी हुए हैं, वे भी युगप्रधान आचार्य हुए, किन्तु हुए हैं भद्रबाहुजी के पश्चात् ही। आचार्य स्थूलभद्रजी के दो शिष्य हुए हैं—१ महागिरि और २ सुहस्ती, दोनों ही क्रमशः आचार्य हुए हैं, न कि गुरु-शिष्य।

आर्य नागहस्ती जी वाचकवंशज हुए है, उनके लिए आचार्य शब्द का प्रयोग नहीं किया, जैसे कि "वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जनागहत्थीणं"[1]। रेवति नक्षत्र ने उत्तम वाचकपद को प्राप्त किया।[2] ब्रह्मद्वीपिक शाखा के परम्परागत सिंह नामा मुनिवर ने भी उत्तम वाचकपद को प्राप्त किया।[3] जिन्होंने वाचकत्व को प्राप्त किया, उन वाचक नागार्जुन को भी देववाचक जी ने वन्दन किया है।[4] इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि देववाचक जी ने महती श्रद्धा से पूर्वोक्त युगप्रधान वाचकों की स्तुति और उन्हें वन्दना की है। वे आचार्य नहीं थे, बल्कि वाचक हुए हैं। वाचक उपाध्याय को कहते हैं, जैसे कि वाचक उमास्वाति जी, वाचक अथवा उपाध्याय यशोविजय जी। अतः वाचक शब्द उपाध्याय के लिए निर्धारित है।

कल्पसूत्र की स्थविरावली पर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो आर्य वज्रसेन जी १४ वें पट्टधर के मुख्यतया चार शिष्य हुए हैं, १ नाइल, २ पोमिल, ३ जयन्त और ४ तापस, इनकी चार शाखाएं निकलीं। देववाचक जी ने भूतदिन्न आचार्य का परिचय देते हुए कहा—'नाइल कुल वंस नन्दिकरे' इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह गुर्वावली नहीं हैं। अपितु जो युगप्रधान आचार्य या अनुयोगाचार्य किसी भी शाखा या परम्परा में हुए हैं, उनकी स्तुति मंगलाचरण के रूप में की है।

जिन महानुभावों का नाम और उनका परिचय देववाचक जी की स्मृति में नहीं था, उनके लिए उन्होंने कहा है—

"जे अन्ने भगवन्ते कालियसुय आणुओगिय धीरे, ते पणमिऊण सिरसा" जो युगप्रधान कालिक श्रुतधर तथा अनुयोगाचार्य हुए हैं, उन्हें भी मस्तक झुकाकर नमस्कार करके नाणस्स परूवणं वोच्छं कहकर नन्दीसूत्र के लिखने का प्रयोजन बतलाया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सभी अनुयोगाचार्य मुनिवर चाहे वे किसी भी शाखा में हुए हैं, उनको वन्दन किया है।

कल्पसूत्र में जो स्थविरावली है, वह वस्तुतः गुर्वावली ही है, उसमें पट्टधर आचार्यों के नामोल्लेख भी हुए हैं, किन्तु नन्दीसूत्र में युगप्रधान, विशिष्ट विद्वान एवं श्रुतधर आचार्य, उपाध्याय तथा अनुयोगाचार्य के पूनीत नामों का ही उल्लेख है, अन्य मुनियों का नहीं।

स्तुतिनन्दी में १८।१६।३१।३२।४८। ये गाथाएं न चूर्णि में हैं, न मलयगिरिवृत्ति में और न हरिभद्रीयवृत्ति में ही मिलती हैं, किन्तु अन्य-अन्य प्रतियों में उपलब्ध होती हैं।

जो श्रीसंघ ऋषभदेव भगवान् से लेकर एक अजस्र धारा में प्रवहमान था, वह वीर नि० सं० ६०६ में दो भागों में विभक्त हो गया, ऐसा विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रजी ने लिखा है उस समय दिगम्बर मत की स्थापना हुई, और वि० सं० के १३६ वर्ष के बाद श्वेताम्बर मत की स्थापना हुई, ऐसा स्पष्टोल्लेख 'दर्शनसार' गा० ११ में पाया जाता है। इस प्रकार दोनों उद्धरणों से परस्पर दोनों परम्पराओं का अन्तर कुछ तीन वर्ष का पाया जाता है। इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वीर

---

१. ३४, २ गा० ३५, ३ गा० ३६, ४ गा० ४०

निर्वाण की सातवीं शती के प्रारम्भ में ही श्रीसंघ दो भागों में विभक्त हो गया था । अतः मन ऐसी गवाही नहीं देता कि देववाचक तक एक ही शाखा, एक ही परम्परा, एक ही समाचारी चल रही हो । अपितु जो आचार भेद से स्थविरकल्पी और जिनकल्पी के रूप में दो परम्पराएं सदा काल से चली आ रही थीं, वे ही विचारभेद से क्रमशः श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप में बदलकर दो सम्प्रदाय बन गईं । आगम विच्छिन्न न हों, इस दृष्टि से श्वेताम्बरों ने आगमों को निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति तथा भाष्य आदि से पुनरुज्जीवित कर दिया तथा अन्य-अन्य ग्रन्थों का निर्माण करके अपनी परम्परा को आगमों पर आधारित रखते हुए अक्षुण्ण बनाए रक्खा, किन्तु दिगम्बरों ने यह मान्यता स्थापित कर दी कि आगमों का श्रुतज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया है । तत्पश्चात् पुष्पदन्त और भूतवली ने षट्खण्डागम की रचना की, फिर धरसेन, वीरसेन आदि आचार्यों ने धवला, जयधवला और महाधवला शौरसेनी भाषा में बृहद्वृत्तियां लिखीं । आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार, समयसार आदि अनेक ग्रन्थ लिखे । विद्यानन्दी, अकलंकदेव और स्वामी समन्तभद्र आदि अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की ।

तत्कालीन उपलब्ध श्वेताम्बर आगमों को दिगम्बरों ने वस्त्र, पात्र, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति का जिन आगमो में वर्णन है, उन्हें मानने से इन्कार कर दिया । वे केवल उत्तराध्ययन सूत्रको अनेक सदियों तक मानते चले आ रहे थे । अब कुछ शताब्दियों से उसे भी मानने से इन्कार कर दिया है । आगे चलकर उनके भी तीन मत स्थापित हो गए—बीसपंथी, तेरापंथी और तारणपंथी, किन्तु वास्तव में देखा जाए तो पुष्पदन्त और भूतवलि ने तथा आचार्य कुन्द कुन्द ने भी आगमश्रुत के आधार पर ही ग्रन्थों की रचना की, न कि अपने ही अनुभव के आधार पर ?

श्वेताम्बरों में भी मुख्यतया तीन मत स्थापित हुए—१. साधु मार्गी, २. मन्दिर मार्गी और ३. तेरापंथी । इनमें से साधुमार्गी अपने आपको पीछे से स्थानकवासी कहलाने लगे ।

ग्यारह अंग और दृष्टिवाद की प्राचीनता

दृष्टि का अर्थ होता है, विचारधारा-मान्यता । विश्व में अनेक दर्शन हैं, उन सब का अन्तर्भाव सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और मिश्रदर्शन में ही हो जाता है । जिनकी दृष्टि सम्यक् है, उन्हें सम्यग्दृष्टि कहते हैं । जिनकी दृष्टि-मान्यता मिथ्या है, उन्हें मिथ्यादृष्टि और जिनकी दृष्टि न सत्य में अनुरक्त है, न असत्य से विरक्त है, ऐसी मिली-जुली विचारधारा को मिश्रदृष्टि कहते हैं । वाद का अर्थ होता है—सिद्धान्त या कथन करना । सम्यग्वाद को दृष्टिवाद कहते हैं । 'दिट्ठिवाए' का रूप संस्कृत में दृष्टिपात भी बनता है । जिसका अर्थ होता है—जीवादि नव पदार्थों में अनेक दृष्टिकोण अर्थात् परस्पर विरुद्ध एकान्त-वादियों की मान्यताओं का जिसमें पृथक् विवेचन किया गया हो, तदनुसार सर्वथा विभिन्न उन मान्यताओं का समन्वय कैसे हो सकता है ? वस्तुतः इसकी कुंजी दृष्टिवाद नामक १२ वें अंग सूत्र में निहित है ।

किन्हीं की मान्यता है कि द्वादशांग गणिपिटक को भगवान् महावीर ने ही प्रचलित किया है, उनसे पहले जो श्रुतज्ञान था, वह १४ पूर्वो में विभक्त था । ग्यारह अंग और दृष्टिवाद, इनका उल्लेख तेवीस तीर्थकरों के शासनकाल में नहीं मिलता । ऐसा कथन उन्हीं का हो सकता है, जो आगमों के सम्यग् अध्येता नहीं हैं । नन्दी में तथा समवायांग सूत्रमें द्वादशांग गणिपिटक को ध्रुव, नित्य, शाश्वत् और अवस्थित, ऐसे स्पष्ट लिखा है । इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित पाठ से होती है जैसे कि—

"एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरेसु कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते ? गोयमा ! एएसु

णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमपच्छिम एसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते। सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए।" भ० श० २०, उ० ८।

सभी तीर्थंकरों के शासनकाल में दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हुआ है। इस पाठ से यह स्पष्ट सिद्ध है कि दृष्टिवाद सभी तीर्थंकर के शासनकाल में होता है। भगवान् महावीर के शासन प्रवृत्त करने से पहले ही पार्श्वनाथजी के शासन में दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हो गया था, सिर्फ ग्यारह अंगश्रुत ही शेष रह गए थे। पूर्वधर कोई भी मुनिवर उस समय में नहीं था, ऐसा इस पाठ से ध्वनित होता है। अब लीजिए ग्यारह अंग श्रुत की प्राचीनता के प्रमाण—

जम्बूदीवे णं दीवे इमीसे णं ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थयरा पुव्वभवे एक्कारसंगिणो होत्था, तं अजियसंभव अभिणंदणा सुमई जाव पासो वद्धमाणो य। उसभे णं अरहा कोसलिए चोद्दसपुव्वी होत्था।

समवयांग सूत्र, समवाए २३।

ऋषभदेव के अतिरिक्त २३ तीर्थंकरों ने पूर्वभव में ग्यारह अंग सूत्रों का श्रुतज्ञान ही प्राप्त किया है, किन्तु ऋषभदेवजी के जीव ने पूर्वभव में ग्यारह अंगों के अतिरिक्त १४ पूर्वों का श्रुतज्ञान भी प्राप्त किया। इसकी पुष्टि के लिए अन्य प्रमाण भी है, जैसे कि—**पढमस्स वारसंगं, सेसाणि क्कारसंग सुयलम्भो।**

आ० म० १ अ०, १ खंड।

इस पाठसे भी यही सिद्ध होता है जोकि ऊपर लिखा जा चुका है। इन सब प्रमाणों से उक्त मान्यता निर्मूल हो जाती है। प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में जो श्रुतज्ञान के आराधक होते हैं, उनमें कोई ग्यारह अंगश्रुत के, कोई पूर्वों के पाठी होते हैं और कोई सम्पूर्ण दृष्टिवाद के वेत्ता होते हैं। इनमें सबसे अल्प-संख्यक सम्पूर्ण दृष्टिवाद के वेत्ता होते हैं। 'पूर्वों' के अध्येता अधिक और सबसे अधिक संख्या वाले ग्यारह अंगों के श्रुतज्ञानी होते हैं।

महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से द्वादशांग गणिपिटक अनादि अनन्त है, किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा से सादि-सान्त है। ज्ञाताधर्मकथानामक सूत्र के आठवें अध्ययन में मल्लिनाथ जी के पूर्व भव का वर्णन करते हुए लिखा है—महब्बल कुमार आदि सात मित्रों ने मुनिवृत्ति ग्रहण की, ११ अंगों का श्रुत-ज्ञान प्राप्त करके अनुत्तर विमान में देवत्व के रूप में उत्पन्न हुए। बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के युग में गौतमकुमार आदि दस मुनिवर ११ अंगों का ही श्रुतज्ञान प्राप्त करके अन्तकृत केवली हुए।

अंतगड सू० वर्ग पहला।

ऋषभदेव भगवान् के ८४ हजार साधुओं में ४७५० मुनिवर दृष्टिवाद के वेत्ता हुए और शेष मुनि ११ अंग सूत्रों के ज्ञानी हुए, ऐसा कल्पसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है। जालिकुमार आदि दस मुनिवर अरिष्टनेमिजी के शिष्य हुए, उन्होंने द्वादशांग गणिपिटक का श्रुतज्ञान प्राप्त किया और अन्तकृत केवली हुए। ऐसा स्पष्टोल्लेख अंतगड सूत्र के चौथे वर्ग में है। ग्यारह अंग सूत्रों का श्रुतज्ञान पूर्वों में समाविष्ट होजाता है और पूर्वों का श्रुतज्ञान दृष्टिवाद में अन्तर्भूत होजाता है, क्योंकि छोटी चीज बड़ी में सन्निविष्ट हो जाती है। दृष्टिवाद के पांच अध्ययन हैं, उनमें पूर्वगत ज्ञान एक अध्ययन है, जिसमें १४ पूर्वों का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है। जिस आत्मतत्त्वी का, जितना श्रुतज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम होता है, वह तदनुसार ही श्रुतज्ञान की आराधना कर सकता है। तीर्थंकर के सभी गणधर सम्पूर्ण दृष्टिवाद के अध्येता होते हैं, तदपि शेष मुनिवरों के विषय में विकल्प है। अंग सूत्रों की अपेक्षा दृष्टिवाद उत्तमांग के स्तर पर

है। वह अपने आप में इतना महान् है, जिसका अथाह श्रुतकेवली भी नहीं पा सके। फिर भी दृष्टिवाद में श्रुतज्ञान की पूर्णता नहीं होने पाती। अतः श्रुतज्ञान दृष्टिवाद से भी महान् है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा मतिज्ञात अधिक महान् है, क्योंकि श्रुत, मतिपूर्वक होता है, न कि श्रुतपूर्विकामति होती है। आगमों में जहां कहीं ज्ञान की आराधना का ज० म० उत्कृष्ट का प्रसंग आया है, वह श्रुत की अपेक्षा से समझना चाहिए। सिर्फ आठ प्रवचन माता का ज्ञान होना जघन्य आराधना है। चौदह पूर्वों का ज्ञान हो जाना मध्यम आराधना है। सम्पूर्ण दृष्टिवादका ज्ञान होजाना उत्कृष्ट आराधना है। उत्कृष्ट श्रुतज्ञान का आराधक उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है। जिसका श्रुतज्ञान सम्पूर्ण दृष्टिवाद तक विकसित हो गया है, वह कभी भी प्रतिपाति नहीं होता।

इस अवसर्पिणी काल में अलग-अलग समय में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं उनमें सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुएहैं और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए हैं। इन दोनों का परस्पर अंतर एक करोडाकरोड सागरोपम का था।[1] सभी तीर्थंकरों के शासनकाल में नियमेन द्वादशांग गणिपिटक होता है। एक तीर्थंकर के जितने गण होते हैं, उतने ही गणधर होते हैं, तथा प्रत्येक अंग सूत्र की वाचनाएं भी उतनी ही होती हैं, किन्तु भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे, गण नौ थे और वाचनाएं भी नौ हुईं। आठवें, नौवें अकंपित और अचलभ्राता इनकी वाचनाएं एक ही प्रकार की प्रवृत्त हुई और दसवें, ग्यारहवें मेतार्य और प्रभास इन गणधरों की वाचनाएं भी एक ही प्रकार की थीं, इस प्रकार नौ गणों की नौ तरह की वाचनाएं प्रवृत्त हुईं। इस प्रकार द्वादशांग गणिपिटक की नौ धाराएं प्रवहमान हुई। उनमें से आजकल जो भी आगम विद्यमान हैं, वे सब श्रीसुधर्मास्वामी की वाचनाएं हैं, शेष गणधरोंकी वाचनाएं व्यवच्छिन्न हो गइं।।[2] कारण कि उनकी शिष्य परम्परा नहीं चलने पाई, क्योंकि नौ गणधर तो भगवान् महावीर के होते हुए ही निर्वाण हो गए। भगवान् महावीर के निर्वाण होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही गौतमगोत्रीय इन्द्रभूतिजी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और बारह वर्ष केवलज्ञान की पर्याय में रहकर [illegible] वर्ष की आयु समाप्त कर विदेहमुक्त हुए।

गणधर या आचार्य छद्मस्थकाल में ही शिष्यों को वाचना देते हैं, [illegible] श्रुतज्ञान के बल से होता है। केवलज्ञान होने पर न वे गणधर कहलाते हैं और न आचार्य ही। वे देह के रहते हुए अरिहन्त और विदेह अर्थात् निर्वाण होने पर सिद्ध कहलाते हैं। [illegible] गणधर रहे, बारह वर्ष आचार्य और आठ वर्ष केवलज्ञान की पर्याय में रहे। [illegible] बारह वर्ष तक जम्बूस्वामी आदि अनेक मुनिवरों को अंग सूत्रों की [illegible] स्थिर रखी। चौदह पूर्वों का अध्ययन सूत्ररूप से और [illegible] तत्पश्चात् स्थूलभद्रजी ने अभिन्न-अर्थात् सम्पूर्ण दस पूर्वों का ज्ञान सूत्र [illegible] शेष चार पूर्व सूत्ररूप से सीखे, अर्थरूप से नहीं। इस प्रकार क्रमशः [illegible] १००० वर्ष तक दृष्टिवाद का ज्ञान रहा, तत्पश्चात् [illegible] विच्छिन्न हो गया। [illegible]

---

१. [illegible]

२. [illegible]

दीपक के सदृश ११ अंगसूत्र ही मुमुक्षुओं के जीवन को प्रकाशित कर रहे हैं, यथा समय तक भविष्य में भी प्रकाशित करते रहेंगे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि द्वादशाङ्ग गणिपिटक सभी तीर्थंकरों के शासन में नियमेन पाया जाता है, तो क्या उनमें विषय वर्णन एक सदृश ही होता है ? या विभिन्न पद्धति से होता है ? इस प्रकार अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर निम्न प्रकार से दिए जाते हैं।

द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग और गणितानुयोग इनका वर्णन तो प्रायः तुल्य ही होता है, युगानुकूल वर्णन शैली बदलती रहती है किन्तु धर्मकथानुयोग प्रायः बदलता रहता है। उपदेश, शिक्षा, इतिहास, दृष्टान्त, उदाहरण और उपमाएं इत्यादि विषय बदलते रहते हैं। इनमें समानता नहीं पाई जाती। जैसे कि काकन्द नगरी के धन्ना अनगार ने ११ अङ्ग सूत्रों का अध्ययन नौ महीनों में ही कर लिया था, ऐसा अनुत्तरौपपातिक सूत्र में उल्लिखित है। अतिमुक्तकुमार (एवंताकुमार) जी ने भी ग्यारह अंग सूत्रों का अध्ययन किया, जिनका विस्तृत वर्णन अन्तगड सूत्र के छठे वर्ग में है, स्कन्धक संन्यासी जो कि महावीर स्वामी के सुशिष्य बने, उन्होंने भी एकादशाङ्ग गणिपिटक का अध्ययन किया, ऐसा भगवती सूत्र में स्पष्टोल्लेख है। इसी प्रकार मेघकुमार मुनिवर ने भी ग्यारह अङ्ग सूत्रों का श्रुतज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा ज्ञाताधर्म कथा सूत्र में वर्णित है। इत्यादि अनेक उद्धरणों से प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उन्होंने उन आगमों में अपने ही इतिहास का अध्ययन किया है ? इसका उत्तर इकरार में नहीं, इन्कार में ही मिल सकता है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जो सूत्र वर्तमान काल में उपलब्ध हैं, वे उनके अध्येता नहीं थे, उन्होंने सुधर्मास्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी गणधर की वाचना के अनुसार ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। दृष्टिवाद में आजीविक और त्रैराशिक मत का वर्णन मिलता है, तो क्या भगवान् ऋषभदेव के युग में भी इन मतों का वर्णन दृष्टिवाद में था ? गण्डिकानुयोग में एक भद्रबाहुगण्डिका है तो क्या ऋषभदेव भगवान् के युग में भी भद्रबाहुगण्डिका थी ? इनके उत्तर में कहना होगा कि इन स्थानों की पूर्ति तत्संबंधित अन्य विषयों से हो सकती है। निष्कर्ष यह निकला है कि इतिहास दृष्टान्त शिक्षा उपदेश तत्त्व-निरूपण की शैली सबके युग में एक समान नहीं रहती। हां द्वादशाङ्ग गणिपिटक के नाम सदा अवस्थित एवं शाश्वत हैं, वे नहीं बदलते हैं। जिस अंग सूत्र का जैसा नाम है, उसमें तदनुकूल विषय सदा-काल से पाया जाता है। विषय की विपरीतता किसी भी शास्त्र में नहीं होती। ऐसा कभी नहीं होता कि आचाराङ्ग में उपासकों का वर्णन पाया जाए और उपासकदशा में आचाराङ्ग का विषय वर्णित हो। जिस आगम का जो नाम है, तदनुसार विषय का वर्णन सदा-सर्वदा उसमें पाया जाता है।

द्वादशाङ्ग गणिपिटक प्रामाणिक आगम हैं, इनमें संशोधन, परिवर्धन तथा परिवर्तन करने का अधिकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखते हुए श्रुतकेवली को है, अन्य किसी को नहीं। और तो क्या अक्षर मात्रा अनुस्वार आदि को भी न्यून-अधिक करने का अधिकार नहीं है जंवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, घोसहीणं इत्यादि श्रुतज्ञान के अतिचार हैं। अतिचार के रूप में ये तभी तक हैं, जब तक कि भूल एवं अबोध अवस्था में ऐसा हो जाए। यदि जान बूझ कर अनधिकार चेष्टा की जाए तो अतिचार नहीं, अपितु अनाचार का भागी बनना है। अनाचार मिथ्यात्व एवं अनन्त संसार का पोषक है। वेद, बाईबल, कुरान, जैसे इनमें किसी मंत्र, पाठ, आयत आदि का कोई भी उनका अनुयायी हेर-फेर नहीं करता, इतना ही नहीं प्रत्येक अक्षर व पद का वे सम्मान करते हैं। इसी प्रकार हमें भी आगम के प्रत्येक पद का सम्मान करना

व्यवहार भाषा से अनुरंजित है, उसे भाषाविजय कहते हैं। प्राकृत में विचय का भी विजय बन जाता है। विचय निर्णय को कहते हैं तथा विजय समृद्धि को। विश्व में जितनी भाषाएं हैं, उन सब का अन्तर्भाव दृष्टिवाद में हो जाता है, अर्थात् यह अंग सभी भाषाओं से समृद्ध है, कोइ भी बोली या भाषा इससे बाहिर नहीं रह जाती।

८. पूर्वगत—जिसमें सभी पूर्वों का ज्ञान निहित है। पूर्व उसे कहते हैं, जो सर्वश्रुत से पूर्व कथन किया गया हो, उसके अन्तर्गत को पूर्वगत कहते हैं।

९. अनुयोगगत—जो प्रथमानुयोग तथा गण्डिकानुयोग से अभिन्न हो, अथवा उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम इन चार अनुयोगों से अनुरंजित हो, अथवा द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग से ओतप्रोत, अनुस्यूत को अनुयोगगत कहते हैं। यद्यपि पूर्वगत तथा अनुयोगत ये दोनों वाद दृष्टिवाद के ही अंश हैं, तदपि अवयव में समुदाय का उपचार करके इन दोनों को दृष्टिवाद ही कहा गया है।

१०.—सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्व सुखावहवाद—विकलेन्द्रियों को प्राणी, वनस्पति को भूत, पंचेन्द्रियों को जीव और पृथ्वी-अप्-तेजो वायु इन्हें सत्व कहते हैं। अथवा ये सब जीव के अपर नाम हैं, उन सबके दृष्टिवाद सुखावह या शुभावह है। संयम का प्रतिपादक होने से तथा सबके निर्वाण का कारण होने से यह अंग सर्व प्राणी-भूत जीव-सत्व हितावहवाद कहलाता है।[1]

परिकर्म की व्याख्या

परिकर्म दृष्टिवाद का प्रथम अध्ययन है, इसमें अधिकतर विषय गणितानुयोग का है। गणित अन्य विद्याओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है। गणितविशेषज्ञ किसी भी कार्य में असफल नहीं रह सकता। गणित प्रथम श्रेणी में १, २ आदि से लेकर एम, ए० पर्यन्त पढ़ाया जाता है, तत्पश्चात् अनुसन्धान करने पर पी-एच-डी की उपाधि भी प्राप्त की जाती है। जो भी विश्व में पी-एच-डी उपाधिधारी हैं, वे भी गणित के सब प्रकारों को नहीं जानते। गणित केवल घटाना, बढ़ाना, भाग देना, जोड़ना, इनमें ही नहीं है, प्रत्युत सभी व्यवहारों में हिसाब के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। नक्शा व चित्र बनाते या लेते समय भी हिसाब से ही काम लिया जाता है। प्रत्येक वस्तु का निर्माण हिसाब से ही होता है। जहां हिसाब से काम नहीं चलता, वहां मीटरों से काम लिया जाता है। पानी, विद्युत, गति, वाष्प, ऊँचाई, समतल आदि जानने के लिए मीटर बने हुए हैं, घड़ियां बनी हुई हैं, और यंत्र भी, उनके द्वारा हिसाब लगाने में सुगमता रहती है। विश्व में ऐसा कोई कार्य-विभाग नहीं, ऐसा कोई विषय नहीं, ऐसी कोई विद्या, कला, शिल्प नहीं, जिसमें गणित की आवश्यकता न हो। इसी कारण दृष्टिवाद में सर्व प्रथम परिकर्म अध्ययन रखा गया है। दृष्टिवाद में गणित की शैली कुछ विलक्षण ही है। ग्यारह अंगसूत्रों में संख्यात का वर्णन विशद रूप से मिलता है किन्तु असंख्यात और अनन्त का विस्तृत विवेचन नहीं, जितना कि दृष्टिवाद के परिकर्म नामक प्रथम अध्ययन के अन्तर्गत है। संख्यात, असंख्यात और अनन्त का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना जिज्ञासुओं की

---

१. दिट्ठिवायस्स णं दस नामधेज्जा प०, तं० दिट्ठिवाएति वा, हेउवाएति वा, भूयवाएति वा, तच्चवाएति वा, सम्मावाएति वा, धम्मावाएति वा, भासाविजएति वा, पुव्वगतेति वा, अणुजोगगतेति वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेति वा।
—स्थानाङ्ग सूत्र, स्था० १०वां, सू० ७४२।

जानकारी के लिए समुचित होगा। संख्या के आद्योपान्त को संख्यात कहते हैं। संख्या दो प्रकार की होती है, एक लौकिक और दूसरी लोकोत्तरिक। इकाई, दहाई, सैंकड़ा, हजार, दहहजार, लाख, दह लाख, करोड़-दहकरोड़, अर्ब-दहअर्ब, खर्व-दहखर्व, नीलम-दहनीलम, पद्म-दहपद्म, शंख-दहशंख इससे आगे लौकिक संख्या का अवसान है। क्योंकि इससे आगे लौकिक संख्या व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होती, किन्तु लोकोत्तरिक संख्या इससे बहुत आगे तक है। एक सौ चौरानवें अंकों तक आगमों में संख्या वर्णित है जैसे कि—

१. समय (काल का अविभाज्यांश)
२. असंख्यात समयों की एक आवलिका।
३. संख्यात आवलिकाओं का एक आणापाणु।
४. सात आणापाणु का एक स्तोक।
५. सात स्तोक का एक लव।
६. सात लवों की एक नालिका।
७. ३८½ नालिकाओं की एक घड़ी।
८. दो घड़ियों का एक मुहूर्त।
९. तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र।
१०. पन्दरह अहोरात्र का एक पक्ष।
११. दो पक्षों का एक मास।
१२. दो मासों की एक ऋतु।
१३. तीन ऋतुओं की एक अयन
१४. दो अयनों का एक वर्ष।
१५. पांच वर्षों का एक युग।
१६. बीस युगों की एक शती।
१७. दस शतियों का एक हजार।
१८. शतसहस्रों का एक लाख।
१९. चौरासी लाख का एक पूर्वांग।
२०. चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व।
२१. चौरासी लाख पूर्वों का एक त्रुटितांग।
२२. चौरासी लाख त्रुटितांगों का एक त्रुटित
२३. चौरासी लाख त्रुटित का एक अटटांग।
२४. चौरासी लाख अटटांगों का एक अटट।

इसी प्रकार आगे आने वाली संख्या को चौरासी लाख से गुणा करने पर यावत् शीर्षप्रहेलिक तक चौरासी लाख अटट का एक अववांग, चौरासी लाख अववांग का एक अवव अर्थात् पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर चौरासी लाख गुणा करने से हूहूकांग-हूहूक, उत्पलांग-उत्पल, पद्मांग-पद्म, नलिनांग-नलिन अक्षनिकुरांग-अक्षनिकुर, अयुतांग-अयुत. नयुतांग-नयुत, प्रयुतांग-प्रयुत, चुलिकांग-चुलिका, शीर्षप्रहेलिकांग-शीर्षप्रहेलिका तक पहुंच जाती है। यदि इनकी गणना अंकों में की जाए तो निम्नलिखित प्रकार से की जाती है, जैसे कि—

७५८२,६३२५,३०७३०,१०२४,११५७,९७३५,६९९७,५६९६,४०६२,१८९६,६८४८,८०१८३-२९६०००-००-०००००००००००००००००००००००। इन अङ्कों में संख्यात की [illegible] हो जाती है। संख्यात तीन प्रकार का है, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य संख्यात २, ३ से लेकर उत्कृष्ट संख्यात में से एक इकाई न्यून करने से मध्यम संख्यात बनता है। [illegible] उत्कृष्ट संख्यात बनता है। जघन्य और उत्कृष्ट के मध्य में जो संख्यात है, वे सब मध्यम संख्यात कहलाते हैं।

संख्यात का प्रयोजन

जिन मनुष्य और [illegible] हैं, वे संख्यात [illegible] जिनकी उससे अधिक हैं, वे असंख्यात [illegible] हैं। [illegible] नारक और देव [illegible] यहां दस हजार वर्ष से लेकर [illegible] और [illegible] की है। [illegible]

आयु वाले कहे जाते हैं। संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु असंख्यात वर्ष की आयु वाले केवल देवगति में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

नारकी और देवता आयु पूर्ण होने के बाद संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच बन सकते हैं। सर्वविरति, देशविरति और अविरति सम्यग्दृष्टि मनुष्य संख्यात ही हो सकते हैं। गर्भज संज्ञी मनुष्य भी संख्यात ही हैं। संज्ञी मनुष्य की गति और आगति भी संख्यात ही है। सर्वार्थसिद्ध महाविमान में संख्यात ही देवता रहते हैं। अप्रतिष्ठान नरकावास में भी नारकी संख्यात ही हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी में पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे पाथड़े तक संख्यात वर्ष की आयु वाले नैरयिक पाए जाते हैं। संख्यात योजनों के लम्बे-चौड़े नरकावासों में, भवनों में और विमानों में संख्यात नारकी और देवता पाए जाते हैं। कोई भी सशक्त देवता या मनुष्य यदि उत्तर वैक्रिय करे, तो संख्यात ही कर सकता है, असंख्यात नहीं। छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संख्यात जीव पाए जाते हैं। एक मुहूर्त में १६७७७ २१६ आवलिकाएं पाई जाती हैं। अतः यह भी संख्यात ही हैं। जीव का सबसे छोटा भव दो सौ छप्पन आवलिकाओं का होता है। अपर्याप्त अवस्था में कोई भी जीव २५६ आवलिकाएं पूरी किए विना काल नहीं करता, यह भी संख्यात ही है। नौवें देवलोक से लेकर छब्बीसवें देवलोक तक देवता संख्यात ही उत्पन्न होते हैं और उनका च्यवन भी संख्यात ही होता है। उत्सर्पिणी काल में चौबीसवें तीर्थंकर का शासन संख्यात काल तक चलेगा। लवण समुद्र में जितनी जल की बून्दें हैं, जितने संसार में धान्य के कण हैं, जितनी विश्वभर में पुस्तकें हैं, जितने उनमें अक्षर हैं, वे सब संख्यात को अतिक्रम नहीं करते। द्वादशांग गणिपिटक में अध्ययन, उद्देशक, प्रतिपत्ति, श्लोक, पद और अक्षर सब संख्यात ही हैं।मनःपर्यवज्ञानी संख्यात संज्ञी जीवों के भावों को जानने की शक्ति रखते हैं। ऐसे भी जीव हैं, जिन्हें सिद्ध होने में संख्यात भव ही शेष रहते हैं। जिन्होंने तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म बन्धा हुआ है, वे जीव भी संख्यात ही हैं। अवेदी मनुष्य भी संख्यात ही हैं। पुरुषोंसे स्त्रीएं संख्यात गुणा अधिक हैं। आगमों में जहां कहीं भी संख्यात शब्द का प्रयोग किया है, वह दो से लेकर शीर्षप्रहेलिका के अन्तराल व पूर्णता का सूचक समझना चाहिए।

परिकर्म में असंख्यात, और अनन्त द्रव्य पर्यायों का नाप-तोल है। असंख्यात ९ प्रकार का होता है, जैसे कि—

१ ज० परित्तासंख्यात, २ मध्यम परित्तासंख्यात, उ० ३ परित्तासंख्यात।

४ ज० युक्तासंख्यात, ५ मध्यम युक्तासंख्यात, ६ उ० युक्तासंख्यात।

७ ज० असंख्यातासंख्यात, ८ म० असंख्यासंख्यात, ९ उ० असंख्यातासंख्यात।

एक आवलिका, जघन्य युक्तासंख्यात समयों के समुदाय की होती है। लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिय जीव का शरीर भी आकाश के असंख्यात प्रदेशों को अवगाहन करता है। वे आकाश प्रदेश, कितने असंख्यात प्रदेश हैं? इनका हिसाब परिकर्म में है। प्रतर की एक श्रेणि में जितने प्रदेश हैं। वे उपर्युक्त ९ में से किसमें समाविष्ट हो सकते हैं?

संपूर्ण प्रतर में जितने आकाश प्रदेश हैं, वे किस भेद में अन्तर्भूत हो सकते हैं? सात घन राजू में जो आकाश प्रदेश हैं, वे किसमें? इन सबका उत्तर परिकर्म दृष्टिवाद श्रुत से मिल सकता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, और एक जीव इन चारों के असंख्यात—असंख्यात प्रदेश हैं, परस्पर चारों के

प्रदेश तुल्य हैं और असंख्यात हैं। सूक्ष्मसाधारण वनस्पति के शरीर, प्रत्येक शरीरी, पांच स्थावर, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने शरीरी हैं, भिन्न-भिन्न आठ प्रकार के कर्मों की स्थितिबंध के असंख्यात अध्यवसाय स्थान, अनुभाग के अध्यवसाय स्थान, योगप्रतिभाग के असंख्यात स्थान, दोनों कालों के समय इन दस राशियों को एकत्रित करने पर उसे फिर तीन बार गुणा करे, अन्त में जो गुणनफल निकले, उसमें से एक कम करने से उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। इसके विषय में विस्तृत वर्णन कर्मग्रन्थ के चौथे भाग में पाठक देख सकते हैं। पृथ्वी कायिक जीव कितने असंख्यात हैं? अप्काय में कितने? एवं वनस्पति काय तक कितने जीव हैं? इन सबका उत्तर परिकर्म दृष्टिवाद से मिल सकता है। वे ९ प्रकार के असंख्यातों में किस असंख्यात में गर्भित हो सकते हैं? इसका संक्षिप्त विवरण प्रज्ञापना सूत्र का १२ वाँ पद, अनुयोगद्वार सूत्र, चौथा और पांचवां कर्मग्रन्थ विशेष द्रष्टव्य है। वैक्रियवायुकायिक जीव उत्कृष्ट-क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र पाए जा सकते हैं। सम्पूर्ण व्याख्यासहित परिकर्म का तो व्यवच्छेद हो गया है।

अनन्त के आठ भेद

१. ज० परित्तानन्त, मध्यम परित्तानन्त उ०, परित्तानन्त,

२. ज० युक्तानन्त, मध्यम युक्तानन्त, उ० युक्तानन्त,

३. जघन्य अनन्तानन्त, मध्यमानन्तानन्त, उ० अनन्तानन्त नहीं है।

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक और मिला देने से ज० परित्तानन्त होता है, उसे उतने से परस्पर गुणाकार करने या अभ्यास करने से जो फलितार्थ निकले, उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट परित्तानन्त होता है, उसमें एक और मिला देने पर ज० युक्तानन्त होता है। अभव्य जीव भी जघन्य युक्तानन्त हैं न इससे न्यून और न अधिक। सम्यक्त्व के प्रतिपाती जीव उनसे अनन्तगुणा हैं, सिद्ध उनसे भी अनन्तगुणा हैं। सिद्ध, और निगोद के जीव, समुच्चय वनस्पति, अतीत, वर्तमान और भविष्यत् काल के समय, सभी पुद्गल और अलोकाकाश के प्रदेश, इन सब को मिलाने के बाद जो राशि प्राप्त हो, उसे क्रमशः तीन वार गुणा करे, तब भी उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त नहीं होता। उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्याय मिला देने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। एक शरीर में जितने अनन्त जीव हो सकते हैं, मतिज्ञान की पर्याय, श्रुतज्ञान की पर्याय एवं अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान की पर्याय एवं मति, श्रुत और विभंगज्ञान की अनन्त पर्याय हैं। उन सबका या प्रत्येक का अन्तर्भाव किस अनन्त में हो सकता है? इन सब का उत्तर परिकर्म दृष्टिवाद में मिल सकता है। अनन्तों के अनन्त भेद हैं, आगमों में तो सिन्धु में से विन्दु मात्र है। आज के युग में वह विन्दु भी सिन्धु जैसा ही अनुभव होता है।

दृष्टिवाद में स्वसिद्धान्त एवं पर सिद्धान्त तथा उभय सिद्धान्त का सविस्तर उल्लेख है। जैसे कि कतिपय दार्शनिकों का अभिमत है कि जीवात्मा सदाकाल से अबन्धक ही है, वह कभी भी न बन्धक बना, न है और न बन्धक बनेगा, क्योंकि आत्मा अरूपी है, जो कर्म पौद्गलिक हैं, उनके बन्धन से वह कैसे बन्धक बन सकता है? यह उनकी युक्ति है, आत्मा सदा कर्मों से निर्लिप्त ही है।

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि आत्मा अकर्ता है, प्रकृति कर्त्री है। यदि आत्मा को कर्ता माना जाए तो वह मुक्तावस्था में भी कर्ता ही रहेगा। जब निरुपाधिक दशा कुछ नहीं कर सकता है, तब वह संसारावस्था में कर्ता कैसे हो सकता है? जो पहले कर्ता है, वह आगे भी सदा से लिए कर्ता

ही रहेगा । जो पहले से ही अकर्त्ता है, वह अनागत में अनन्त काल तक अकर्त्ता ही रहेगा, जैसे सत् असत् नहीं हो सकता, वैसे ही असत्, सत् नहीं हो सकता । इसी प्रकार उनकी आत्मा के विषय में ऐसी धारणा वनी हुई है।

कुछ दार्शनिक आत्मा को अभोक्ता मानते हैं, उनका अभिमत है कि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, वह पर द्रव्य का भोक्ता कदाचित् भी नहीं हो सकता, जैसे पुद्गल का भोक्ता आकाश नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा भी आकाश की तरह अमूर्त है, वह अमूर्त होने से अभोक्ता है ।

कुछ विचारकों का अभिमत है कि आत्मा निर्गुण ही है अर्थात् त्रिगुणातीत है । त्रिगुण प्रकृति के हैं, पुरुष के नहीं । यदि आत्मा को निर्गुणी न मानें तो वह कभी भी त्रिगुणातीत नहीं वन सकता ।

किन्हीं का कहना है—आत्मा, अणु प्रमाण ही है । कोई दीपक की लौ प्रमाण मानते हैं । कोई अङ्गुष्ठ प्रमाण मानते हैं, कोई श्मामाक तण्डुल प्रमाण मानते हैं और कोई आत्मा को आकाशवत् विभु-व्यापक मानते हैं ।

किन्ही की मान्यता है कि जीव नास्तिस्वरूप ही है । किन्हीं की अस्तिस्वरूप ही है, ऐसी भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं ।

चार्वाक दर्शन पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पांच भूतों के समुदायरूप से जीव की उत्पत्ति मानता है । जीव न कहीं से आया और न कहीं जाने वाला है, समुदाय से उत्पन्न होता है और उनके वियुक्त होने से नष्ट हो जाता है ।

किन्ही की मान्यता है जीव चेतना रहित है जीव का अस्तित्व तो मानते हैं । परन्तु चेतनावान् वह पुद्गलों से ही होता है, जब उसे शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पुद्गलों का उचित योग मिलता है, तब वह चेतनवान् वनता है वस्तुतः आत्मा स्वयं चेतन रहित है ।

किन्ही की धारणा है—आत्मा और ज्ञान ये दो पदार्थ हैं, इनमें समवाय से आधाराधेय सम्बन्ध है ज्ञानाधिकरणमात्मा ।

किन्हीं का मत है—आत्मा कूटस्थ नित्य (एकान्तनित्य) है और किन्हीं का कहना है कि आत्मा क्षणिक होने से एकान्त अनित्य है । इसी प्रकार त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, शब्दब्रह्मवाद प्रधानवाद (प्रकृतिवाद, ईश्वरवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, भाग्यवाद, पुरुषार्थवाद, पुरुषाद्वैतवाद, द्रव्य-वाद, पुरुषवाद, इत्यादि पर-समय के मूल भेद चार होते हुए भी ३६३ दर्शन हैं, वे सब एकान्तवादी हैं, उनका अनेकान्तवाद के साथ कैसे समन्वय हो सकता है ? उसका उपाय भी दृष्टिवाद में वर्णित है । इस अंग में जो स्वतंत्ररूपेण स्वसमय है उसका, जो पर समय है, उसका और जो समन्वयात्मक है इन सव का पूर्णतया विवेचन दृष्टिवाद में मिलता है ।

अनेकान्तवाद ही एक ऐसा विशुद्ध एवं गुणग्राही है, जो कि हंस की तरह सत्यांश का समन्वय करने वाला है, असत्य का तो समन्वय सत्य के साथ तीन काल में भी नहीं हो सकता । अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आत्मा है, सम्यग् एकान्तवाद उसके स्वस्थ अंग हैं । यह सभी दर्शनों का सुधारक, शिक्षक, गुरु, हितैषी एवं रक्षक है । जैसे परमात्मा, परम दयालु होने से लोगहियाणं का विशेषण अरिहंत व सिद्ध भगवान् से जोड़ा है, वैसे ही अनेकान्तवाद भी सर्वोदय चाहने वाला सिद्धान्त है । मिथ्यादृष्टि इसकी

बुराई करते हैं, इसका अस्तित्व मिटाने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं फिर भी वह अनेकान्तवाद समन्वय के बल से उन्हीं को भ्रातृत्व व मैत्रीभाव के सूत्र से बांध कर पारस्परिक वैमनस्य को मिटा देता है। विश्व में शान्ति स्थापन करने वाला यदि कोई सशक्त है तो वह अनेकान्तवाद ही है। अनेकान्तवाद चक्रवर्ती-सम्राट् है और एकान्तवादी सब उसके अधीन में रहने वाले नरेश हैं।

दृष्टिवाद की क्रमिक व्याख्या

दृष्टिवाद एक दार्शनिक अंग है। उसका उपक्रम निम्न प्रकार से वर्णित है—

१. आनुपूर्वी—इस के तीन भेद हैं— पूर्वानुपूर्वी, पच्छानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी। इनमें से यदि क्रमशः गणना की जाए, तो दृष्टिवाद अंग १२वां सिद्ध होता है। यदि पच्छानुपूर्वी से गणना की जाए, तो दृष्टिवाद पहला ही अंग है। यथातथानुपूर्वी का अर्थ है—जैसे भी गणना की जाए, वैसे ही यहां दृष्टिवाद से प्रयोजन है, अन्य अंगों से नहीं।

२. नाम—इसमें अनेक दृष्टियों और अनेक दर्शनों का सविस्तार वर्णन है, इसलिए इसका जो दृष्टिवाद नाम है, वह सार्थक एवं गुणसंपन्न है।

३.—प्रमाण दृष्टिवाद में अक्षर, पद, प्रतिपत्ति एवं अनुयोग, आदि संख्यात प्रमाण हैं और अर्थ की अपेक्षा अनन्त प्रमाण हैं।

४. वक्तव्यता—दृष्टिवाद में स्वसमय परसमय तथा उभयसमय की वक्तव्यता है।

५. अर्थाधिकार—इसमें ३६३ मतों तथा अनेकान्तवाद का मुख्य विषय है। कहीं विषय वर्णन, कहीं खण्डन तथा कहीं समन्वय का उल्लेख है। दृष्टिवाद के मुख्य पांच अधिकार हैं, जैसे कि परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। यह क्रम दिगंबर परम्परा के अनुसार है, जब कि नन्दीसूत्र में पूर्वगत का तीसरा स्थान रखा गया है और अनुयोग का चौथा स्थान।

परिकर्म के भेद दिगंबर परम्परा में पांच किए हैं, जैसे कि चन्दपण्णत्ति, सूर्यपण्णत्ति, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, द्वीपसागरपण्णत्ति और विवाहपण्णत्ति। जब कि नन्दीसूत्र में सिद्धश्रेणिका परिकर्म आदि मूल सात भेद किए हैं और उत्तर ८३ भेद गिनाए हैं।

धवला और गोम्मटसार में अनुयोग के स्थान पर अनियोग पाठ मिलता है। दृष्टिवाद के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों ग्रंथों में 'पढमानियोग' पाठ दिया है, जब कि नन्दीसूत्र में 'अनुयोग' पाठ दिया है, फिर आगे उसके दो भेद किए हैं, मूल पढमानुयोग और गण्डिकानुयोग। दृष्टिवाद के अन्तर्गत २२ सूत्रों का कोई नामोल्लेख नहीं है। धवला की प्रस्तावना में नन्दीसूत्रगत २२ सूत्रावलियों का नामोल्लेख अवश्य किया है, किन्तु धवला में सूत्र के ८८ भेदों का नामोल्लेख अवश्य किया है। दिगम्बर परम्परा में चूलिका के पांच भेद किए है, जैसे कि—

१. जलगता—जल में गमन, जलस्तम्भन आदि के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन है।

२. स्थलगता—पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारण भूत मंत्र-तंत्रों तथा तपश्चर्या और वास्तु-विद्या भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभाशुभ कारणों का वर्णन है।

३. मायागता—इन्द्रजाल मिस्मरेजिम के कारण भूत का वर्णन है।

४. रूपगता—इसमें सिंह, घोड़ा, हरिण आदि के रूप धारिणी विद्याओं के कारणीभूत मंत्र-तंत्र, तपश्चरण, चित्रकर्म, काष्ठ कर्म, लेप्यकर्म, लेनकर्म आदि के लक्षणों का वर्णन है।

५. आकाशगता—आकाश में गमन करने के जंघाचरण तथा विद्याचरण लब्धि प्राप्त करने के साधन बताए हैं।

जब कि नन्दीसूत्र में आदि के चार पूर्वों की चूलिकाएं बताई हैं, उन्हीं को दृष्टिवाद के पांचवें अधिकार में निहित किया है। चूलिकाएं पूर्वों से न सर्वथा अभिन्न हैं और न सर्वथा भिन्न ही हैं। इसी कारण सूत्रकार ने उनका स्थान पांचवां रखा है।

दिगम्बर परम्परा में अवधिज्ञान के तीन भेद किए हैं, जैसे कि—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। इनमें पहला भेद चारों गतियों में पाया जाता है, जैसे असंयत, संयत तथा संयतासंयत में, किन्तु पिछले दो भेद अप्रतिपाति होने से केवल चरमशरीरी संयत में ही पाए जाते हैं। श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में अवधिज्ञान सविस्तार वर्णित है।

दिगम्बर परम्परा में ऋजुमति मन:पर्याय के तीन भेद किए हैं, जैसे कि [1]ऋजुमनोगतार्थ विषयक, ऋजुवचनगतार्थ विषयक और ऋजुकायगतार्थ विषयक। परकीय मनोगत होने पर भी जो सरलता से मन-वचन, काय के द्वारा किए गए संकल्प को विषय करने वाले को ऋजुमति ज्ञान कहते हैं। विपुलमति मन:पर्याय ज्ञान के ६ भेद किए हैं तीन उपर्युक्त ऋजु के साथ और तीन कुटिल के साथ जोड़ देने से ६ भेद बन जाते हैं। जिसका भूतकाल में चिन्तन किया गया हो, जिसका अनागत काल में चिन्तन किया जाएगा और वर्तमान में आधा चिन्तन किया है, उसे जानने वाला विपुलमतिमन:पर्याय ज्ञान कहलाता है।

पूर्वगत ज्ञान क्यों कहते हैं ?

अंग सूत्रों की रचना करने से पहले गणधरों को जो ज्ञान होता है, वह पूर्वगतज्ञान कहलाता है। पुराणों में एक रूपक है—"सबसे पहले जब आकाश से गंगा उतरी तो उसे पहले शिवशंकर ने अपनी जटाओं में अवरुद्ध किया और कुछ समय बाद उसे बाहिर प्रवाहित किया।" इस उक्ति में सच्चाई कहां तक है ? इसकी गवेषणा का हमारा उद्देश्य नहीं है। हां, जब तीर्थंकर भगवान् देशना-प्रवचन कहते हैं, तब वह ज्ञानगंगा तीर्थंकर के मुख से प्रवाहित होती है तो उसे गणधर पहले अपने मस्तिष्क में डालते हैं। जब मस्तिष्क-कुण्ड भर जाता है, तब उसे बारह अंगों में विभाजित करके प्रवाहित करते हैं, अर्थात् सूत्ररूप में १२ अंगों की रचना गणधर करते हैं जिनको दीक्षा लेते ही पूर्वों का ज्ञान हो जाता है वे ही गणधर बनते हैं, शेष दीक्षित मुनिसत्तम, गणधरों से आचाराङ्ग आदि अंग का अध्ययन करते हैं तथा दृष्टिवाद का भी। इसी कारण पूर्वगत संज्ञा दी गई है।

पूर्वों में क्या २ विषय है ?

१. उत्पादपूर्व में जीव, काल और पुद्गल आदि द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का विशद

---

१. देखो गोम्मटसार गा० ४३८—४३९।

वर्णन है, [1]सद्द्रव्यलक्षणं, सत् क्या है ? उसका उत्तर दिया है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् जिसमें ये तीनों हों, वह सत् कहलाता है, और जो सत् है, वही द्रव्य है। त्रिपदी का ज्ञान होने से ही पूर्वों का ज्ञान होता है। इस पूर्व में उक्त तीनों का विस्तृत वर्णन है।

२. अग्रायणीयपूर्व—इसमें ७०० सुनय, और ७०० दुर्नय, पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य एवं नवपदार्थ, इनका विस्तार सें वर्णन किया है।

३. वीर्यानुप्रवादपूर्व—इसमें आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, बालवीर्य, पण्डितवीर्य, बालपण्डित-वीर्य क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य का विशद वर्णन है।

४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—इसमें जीव और अजीव के अस्तित्व तथा नास्तित्व धर्म का वर्णन है, जैसे जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा अस्तित्व रूप है। और वही जीव परद्रव्य परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है। इसी प्रकार अजीव के विषय को भी जानना चाहिए।

५. ज्ञानप्रवादपूर्व—पांच ज्ञान, तीन अज्ञान का इसमें स्पष्टतया वर्णन है। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त, सादि अनन्त और सादि सान्त विकल्पों का तथा पांच ज्ञान का वर्णन करने वाला यही पूर्व है, क्योंकि इसका मुख्य विषय ज्ञान है।

६. सत्यप्रवादपूर्व—यह वचनगुप्ति, वाक्संस्कार के कारण वचन प्रयोग, दस प्रकार का सत्य, १२ प्रकार की व्यवहार भाषा, दस प्रकार के असत्य और दस प्रकार की मिश्र भाषा का वर्णन करता है। असत्य और मिश्र इन दोनों भाषाओं से गुप्ति और सत्य तथा व्यवहार भाषा में समिति का प्रयोग करना चाहिए। अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, मौखर्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, अप्रणति, मोष, सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यादर्शन वचन के भेद से भाषा १२ प्रकार की है।

किसी पर झूठा कलंक चढ़ाना अभ्याख्यान, क्लेश करना कलह, पीछे से दोष प्रकट करने को या सकषाय भेद नीति वर्तने को पैशुन्य, धर्म अर्थ,काम मोक्ष से रहित वचन को मौखर्य या अबद्धप्रलापवचन, विषयानुरागजनक वचन रति, दूसरे को हैरान परेशान करने वाले वचन को या आर्तध्यानजनक वचन को अरति, ममत्व-आसक्ति-परिग्रह रक्षण-संग्रह करने वाले वचन उपधि, जिस वचन से दूसरे को माया में फंसाया जाता है, या दूसरे की आंख में धूल झोंक कर अथवा बुद्धि विवेक को शून्य करके ठगा जाता है, वह निकृति, जिस वचन से संयम-तप की बात सुनकर भी गुणीजनों के समक्ष नहीं झुकता वह अप्रणति, जिस वचन से दूसरा चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाए, उसे मोष, सन्मार्ग की देशना देने वाले वचनको सम्यग्दर्शन वचन, कुमार्ग में प्रवृत्त कराने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं। अर्थात् जो सत्य वचन के बाधक हैं, सावद्य भाषा है वह हेय है। सत्य और व्यवहार ये दो भाषाएं उपादेय हैं। इस प्रकार अन्य-अन्य जो भी सत्यांश हैं उनका मूल स्रोत यही पूर्व है।

७. आत्मप्रवाद पूर्व—इसमें आत्मा का स्वरूप बताया है आत्मा के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं उनके अर्थों से भी आत्म-स्वरूप को जानने में सहूलियत रहती है। जैसे कि

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र पंचम अध्ययन।

३. मायागता—इन्द्रजाल मिस्मरेजिम के कारण भूत का वर्णन है।

४. रूपगता—इसमें सिंह, घोड़ा, हरिण आदि के रूप धारिणी विद्याओं के कारणीभूत मंत्र-तंत्र, तपश्चरण, चित्रकर्म, काष्ठ कर्म, लेप्यकर्म, लेनकर्म आदि के लक्षणों का वर्णन है।

५. आकाशगता—आकाश में गमन करने के जंघाचरण तथा विद्याचरण लब्धि प्राप्त करने के साधन बताए हैं।

जब कि नन्दीसूत्र में आदि के चार पूर्वों की चूलिकाएं बताई हैं, उन्हीं को दृष्टिवाद के पांचवें अधिकार में निहित किया है। चूलिकाएं पूर्वों से न सर्वथा अभिन्न हैं और न सर्वथा भिन्न ही हैं। इसी कारण सूत्रकार ने उनका स्थान पांचवां रखा है।

दिगम्बर परम्परा में अवधिज्ञान के तीन भेद किए हैं, जैसे कि—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। इनमें पहला भेद चारों गतियों में पाया जाता है, जैसे असंयत, संयत तथा संयतासंयत में, किन्तु पिछले दो भेद अप्रतिपाति होने से केवल चरमशरीरी संयत में ही पाए जाते हैं। श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में अवधिज्ञान सविस्तार वर्णित है।

दिगम्बर परम्परा में ऋजुमति मन:पर्याय के तीन भेद किए हैं, जैसे कि [1]ऋजुमनोगतार्थ विषयक, ऋजुवचनगतार्थ विषयक और ऋजुकायगतार्थ विषयक। परकीय मनोगत होने पर भी जो सरलता से मन-वचन, काय के द्वारा किए गए संकल्प को विषय करने वाले को ऋजुमति ज्ञान कहते हैं। विपुलमति मन:पर्याय ज्ञान के ६ भेद किए हैं तीन उपर्युक्त ऋजु के साथ और तीन कुटिल के साथ जोड़ देने से ६ भेद बन जाते हैं। जिसका भूतकाल में चिन्तन किया गया हो, जिसका अनागत काल में चिन्तन किया जाएगा और वर्तमान में आधा चिन्तन किया है, उसे जानने वाला विपुलमतिमन:पर्याय ज्ञान कहलाता है।

पूर्वगत ज्ञान क्यों कहते हैं ?

अंग सूत्रों की रचना करने से पहले गणधरों को जो ज्ञान होता है, वह पूर्वगतज्ञान कहलाता है। पुराणों में एक रूपक है—"सबसे पहले जब आकाश से गंगा उत्तरी तो उसे पहले शिवशंकर ने अपनी जटाओं में अवरुद्ध किया और कुछ समय बाद उसे बाहिर प्रवाहित किया।" इस उक्ति में सच्चाई कहां तक है? इसकी गवेषणा का हमारा उद्देश्य नहीं है। हां, जब तीर्थंकर भगवान् देशना-प्रवचन कहते हैं, तब वह ज्ञानगंगा तीर्थंकर के मुख से प्रवाहित होती है तो उसे गणधर पहले अपने मस्तिष्क में डालते हैं। जब मस्तिष्क-कुण्ड भर जाता है, तब उसे बारह अंगों में विभाजित करके प्रवाहित करते हैं, अर्थात् सूत्ररूप में १२ अंगों की रचना गणधर करते हैं जिनको दीक्षा लेते ही पूर्वो का ज्ञान हो जाता है वे ही गणधर बनते हैं, शेष दीक्षित मुनिसत्तम, गणधरों से आचाराङ्ग आदि अंग का अध्ययन करते हैं तथा दृष्टिवाद का भी। इसी कारण पूर्वगत संज्ञा दी गई है।

पूर्वों में क्या २ विषय है ?

१. उत्पादपूर्व में जीव, काल और पुद्गल आदि द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का विशद

---

१. देखो गोम्मट सार गा० ४३८—४३९।

वर्णन है, [1]सद्द्रव्यलक्षणं, सत् क्या है ? उसका उत्तर दिया है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् जिसमें तीनों हों, वह सत् कहलाता है, और जो सत् है, वही द्रव्य है। त्रिपदी का ज्ञान होने से ही पूर्वों का ज्ञान होता है। इस पूर्व में उक्त तीनों का विस्तृत वर्णन है।

२. अग्रायणीयपूर्व—इसमें ७०० सुनय, और ७०० दुर्नय, पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य एवं नवपदार्थ इनका विस्तार से वर्णन किया है।

३. वीर्यानुप्रवादपूर्व—इसमें आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, बालवीर्य, पण्डितवीर्य, बालपण्डित वीर्य क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य का विशद वर्णन है।

४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—इसमें जीव और अजीव के अस्तित्व तथा नास्तित्व धर्म का वर्णन है जैसे जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा अस्तित्व रूप है। और वही जीव परद्रव्य परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है। इसी प्रकार अजीव के विषय को भी जानना चाहिए।

५. ज्ञानप्रवादपूर्व—पांच ज्ञान, तीन अज्ञान का इसमें स्पष्टतया वर्णन है। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त, सादि अनन्त और सादि सान्त विकल्पों का तथा पांच ज्ञान का वर्णन करने वाला यही पूर्व है, क्योंकि इसका मुख्य विषय ज्ञान है।

६. सत्यप्रवादपूर्व—यह वचनगुप्ति, वाक्संस्कार के कारण वचन प्रयोग, दस प्रकार का सत्य १२ प्रकार की व्यवहार भाषा, दस प्रकार के असत्य और दस प्रकार की मिश्र भाषा का वर्णन करता है असत्य और मिश्र इन दोनों भाषाओं से गुप्ति और सत्य तथा व्यवहार भाषा में समिति का प्रयोग करना चाहिए। अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, मौखर्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, अप्रणति, मोष, सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यादर्शन वचन के भेद से भाषा १२ प्रकार की है।

किसी पर झूठा कलंक चढ़ाना अभ्याख्यान, क्लेश करना कलह, पीछे से दोष प्रकट करने को या सकषाय भेद नीति वर्तने को पैशुन्य, धर्म अर्थ,काम मोक्ष से रहित वचन को मौखर्य या असद्बद्धप्रलापवचन, विषयानुरागजनक वचन रति, दूसरे को हैरान परेशान करने वाले वचन को या आर्तध्यानजनक वचन को अरति, ममत्व-आसक्ति-परिग्रह रक्षण-संग्रह करने वाले वचन उपधि, जिस वचन से दूसरे को माया में फंसाया जाता है, या दूसरे की आंख में धूल झोंक कर अथवा बुद्धि विवेक को शून्य करके ठगा जाता है, वह निकृति, जिस वचन से संयम-तप की बात सुनकर भी गुणीजनों के समक्ष नहीं झुकना वह अप्रणति, जिस वचन से दूसरा चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाए, उसे मोष, सन्मार्ग की देशना देने वाले वचनको सम्यग्दर्शन वचन, कुमार्ग में प्रवृत्त कराने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं। अर्थात् जो सत्य वचन के बाधक हैं, सावद्य भाषा है वह हेय है। सत्य और व्यवहार ये दो भाषाएं उपादेय हैं। इस प्रकार अन्य-अन्य जो भी सत्यांश हैं उनका मूल स्रोत यही पूर्व है।

७. आत्मप्रवाद पूर्व—इसमें आत्मा का स्वरूप बताया है आत्मा के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं उनके अर्थों से भी आत्म-स्वरूप को जानने में सुविधा रहती है। जैसे कि

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र [illegible]।

१. जीव—द्रव्यप्राण १० होते हैं, उनसे जो जीया, जीवित है। और जीवितर हेगा निश्चय नय से अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तशक्ति, इन प्राणों से जीने वाले सिद्ध भगवन्त ही हैं, शेष संसारी जीव, दस प्राणों में जितने प्राण जिस में पाए जाते हैं, उनसे जीने वाले को जीव कहते हैं।

२. कर्त्ता—शुभ अशुभ कार्य करता है इसलिए उसे कर्त्ता भी कहते हैं।

३. वक्ता—सत्य-असत्य, योग्य अयोग्य वचन बोलता है अतः वह वक्ता भी है।

४. प्राणी—इसमें दस प्राण पाए जाते हैं इसलिए प्राणी कहलाता है।

५. भोक्ता—चार गति में पुण्य-पाप का फल भोगता है अतः वह भोक्ता भी है।

६. पोग्गल—नाना प्रकार के शरीरों के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण करता है, पूर्ण करता है, उन्हें गलाता है इसलिए उसे पुद्गल भी कहते हैं।

७. वेद—सुख दुःख के वेदन करने से या जानने से इसे वेद भी कहते हैं।

८. विष्णु—प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करने से उसे विष्णु भी कहते हैं।

९. स्वयंभू—स्वतः ही आत्मा का अस्तित्व है, परतः नहीं।

१०. शरीरी—संसार अवस्था में सूक्ष्म या स्थूल शरीर को धारण करने से इसे शरीरी, या देही कहा जाता है।

११. मानव—मनु ज्ञान को कहते हैं, ज्ञान सहित जन्मे हुए को मानव अथवा मा निषेधक है नव का अर्थ होता है नवीन अर्थात् जो नवीन नहीं अनादि है उसे मानव कहते हैं।

१२. सक्ता—जो परिग्रह में आसक्त रहता है अथवा जो पहले था, अब है, अनागत में रहेगा उसे सत्त्व भी कहते हैं।

१३. जन्तु—आत्मा कर्मों के योग से चार गति में उत्पन्न होता रहता है, इसलिए उसे जन्तु कहा है।

४१. मानी—इसमें मान कपाय पाई जाती है अथवा यह स्वाभिमानी है इस कारण से मानी कहा है।

१५. मायी—यह स्वार्थ पूर्ति के हेतु माया-कपट करता है अतः उसे मायी कहते हैं।

१६. योगी—मन वचन और काय के रूप में व्यापार (क्रिया) करता है इस हेतु से योगी कहा है।

१७. संकुट—जब अतिसूक्ष्म शरीर को धारण करता है, तब अपने प्रदेशों को संकुचित कर लेता है इस दृष्टि से संकुट कहा है।

१८. असंकुट—केवली समुद्घात के समय समस्त लोकाकाश को अपने आत्म प्रदेशों से व्याप्त कर लेता है अतः असंकुट भी है।

१९. क्षेत्रज्ञ—अपने स्वरूप को तथा लोकालोक को जानने से क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

२०. अन्तरात्मा—आठ कर्मों के भीतर रहने से अन्तरात्मा भी कहते हैं।

[1]जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ॥१॥

---

१. धवला गाह ८२—८३

सत्ता जन्तु य माणी य माई जोगी य संकुडो
असंकुडो य खेत्तण्णू अन्तरप्पा तहेव य ॥२॥

आत्मा के विषय में पूर्ण विवरण इस पूर्व में गर्भित है।

८. कर्मप्रवादपूर्व—इसमें आठ मूल प्रकृति, शेष उत्तर प्रकृतियों का बन्ध, उदय उदीरणा, क्षेत्र-विपाकी, जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, ध्रुवोदय अध्रुवोदय, ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, उद्वर्तन अपवर्तन, संक्रमण, निकाचित निधत्त, प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध प्रदेशबन्ध अबाधाकाल किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है? कितनी उदय रहती हैं? कितनी सत्ता में रहती हैं? इस प्रकार कर्मों के असंख्य भेदों सहित वर्णन करने वाला पूर्व है। जीव किस प्रकार कर्म करता है? कर्मबन्ध के हेतु कौन से हैं? उनको क्षय कैसे किया जा सकता है? इत्यादि।

आजकल भी ६ कर्मग्रन्थ, पञ्चसंग्रह कम्मपयडी, प्रज्ञापना सूत्र का २३ वां २४ वां २५ वां २६ वां पद, विशेषावश्यकभाष्य, गोम्मटसार का कर्मकाण्ड, इत्यादि अनेक ग्रन्थों व शास्त्रों में बिखरा हुआ है, इस विषय का मूलस्रोतकर्मप्रवादपूर्व ही है।

९. प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व—प्रत्याख्यान-त्याग को कहते हैं, गृहस्थ का धर्म क्या है? साधु धर्म क्या है? श्रावक किसी भी हेय—त्याज्य को ४९ तरीके से त्याग कर सकता है, साधु उसी को ९ कोटि से त्याग करता है। जिसका त्याग करने से मूलगुण की वृद्धि हो वह मूलगुणपच्चक्खाण कहलाता है और जिसके त्याग करने से उत्तरगुण की वृद्धि हो वह उत्तरगुण पच्चक्खाण कहलाता है। भगवती सूत्र के ७ वें शतक में, दशवैकालिक में, उपासकदशाङ्ग में, दशाश्रुतस्कन्ध की छठी सातवीं दशा में, ठाणाङ्ग सूत्र के दसवें स्थान में जो पच्चक्खाण का वर्णन आता है वह सब प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व के छोटे से पीयूष कुण्ड की तरह है। अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियंत्रित, सागार-अनागार पच्चक्खाण, परिमाणकृत, निरवशेष, संकेत पच्चक्खाण, अद्धापच्चक्खाण ये साधु के उत्तरगुण पच्चक्खाण हैं।

१०. विद्यानुप्रवाद—सात सौ अल्पविद्याओं का, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न लक्षण, व्यंजन और चिह्न इन आठ महानिमित्तों का इसमें विस्तृत वर्णन है।

११. अवन्ध्यपूर्व—अपर नाम कल्याणवाद दिगम्बर परम्परा में प्रसिद्ध है। शुभ कर्मों के तथा अशुभ कर्मों के फलों का वर्णन इस पूर्व में मिलता है। जो भी कोई जीव शुभ कर्म करता है वह निष्फल नहीं जाता, उत्तम देव बनता है, उत्तम मानव बनता है, तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती बनता है। यह शुभ कर्मों का फल है।

१२. प्राणायुपूर्व—शरीरचिकित्सा आदि अष्टाङ्ग आयुर्वेदिक भूतिकर्म, जांगुली (विषविद्या) प्राणायाम के भेद प्रभेदों का, प्राणियों के आयु को जानने का इसमें तरीका बतलाया है। यदि इस पूर्व में पूर्वधर उपयोग लगाए तो उसे अपनी तथा पर की भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों भवों की आयु का ज्ञान सहज ही हो जाता है। धर्मघोषाचार्य ने, धर्मरुचि अनगार का जीव कहाँ उत्पन्न हुआ है, यह इसी पूर्व से ज्ञात किया था।

१३. क्रियाविशालपूर्व—क्रिया के दो अर्थ होते हैं—संयम-रूप की आराधना करना, कर्म की क्रिया

कहते हैं, लौकिक व्यवहार को भी क्रिया कहते हैं। इसमें ७२ कलाएं पुरुषों की और ६४ कलाएं स्त्रियों की, शिल्पकला, काव्यसम्बन्धी-गुणदोष, विधि का, व्याकरण, छन्द, अलंकार, और रस इन सब का तथा धर्म क्रिया का विस्तृत वर्णन है ।

१४. **लोकविन्दुसारपूर्व**—संसार और उसके हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय, धर्म-मोक्ष, और लोक का स्वरूप, इनका लोक विन्दुसार पूर्व में विवेचन है। यह पूर्व श्रुतलोक में सर्वोत्तम है।

अनभिलाप्य पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुतनिवद्ध है। संख्यात अक्षरों के समुदाय को पदश्रुत कहते हैं। संख्यात पदों का एक संघातश्रुत होता है। संख्यात श्रुतों की एक प्रतिपत्ति होती है। संख्यात प्रतिपत्तियों पर एक अनुयोग श्रुत होता है। चारों अनुयोगों का अंतर्भाव प्राभृतप्राभृत में होता है। संख्यात प्राभृतप्राभृत के समुदाय को प्राभृत कहते हैं। संख्यातप्राभृतों का समावेश एक वस्तु में हो जाता है। संख्यात वस्तुओं के समुदाय का एक पूर्व होता है।

परोक्ष प्रमाण में श्रुतज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमाण में केवलज्ञान दोनों ही महान हैं, जिस तरह श्रुतज्ञानी सम्पूर्णद्रव्य और उनकी पर्यायों को जानता है। वैसे ही केवलज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है इसलिए इसकी प्रवृत्ति अमूर्त पदार्थों में उनकी अर्थ पर्याय तथा सूक्ष्म अर्थों में स्पष्टतया नहीं होती। केवलज्ञान निरावरण होने के कारण सकल पदार्थों को विशदरूपेण विषय करता है। अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान ये दोनों प्रत्यक्ष होते हुए भी श्रुतज्ञान की समानता नहीं कर सकते। पांच ज्ञान की अपेक्षा, श्रुतज्ञान, कल्याण की दृष्टि से और परोपकार की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान रखता है, श्रुतज्ञान ही मुखरित है, शेष चार ज्ञान मूक हैं। व्याख्या श्रुतज्ञान की ही की जा सकती है। शेष चार ज्ञान, अनुभवगम्य हैं, व्याख्यात्मक नहीं। आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाने वाला श्रुतज्ञान ही है, मार्गप्रदर्शक यदि कोई ज्ञान है तो वह श्रुतज्ञान ही है संयम-तप की आराधना में परीषह-उपसर्गों को सहन करने में सहयोगी साधन श्रुतज्ञान है। उपदेश, शिक्षा, स्वाध्याय, पढ़ना-पढ़ाना, मूल, टीका, व्याख्या ये सब श्रुतज्ञान है। अनुयोगद्वारसूत्र में श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है। श्रुतज्ञान का कोई पारावार नहीं, अनन्त है। विश्व में जितनी पुस्तकें हैं, जितनी लुप्त हो गई हैं और आगे के लिए जितनी बनेगीं, उन सबका अन्तर्भाव दृष्टिवाद में हो जाता है। जो सत्यांश है वह स्वसमय है, जो असत्यांश है, वह परसमय और जो सत्य-असत्य मिश्रितांश है, वह तदुभय समय है। इस प्रकार साहित्य को तीन भागों में विभाजित करना चाहिए ।

पूर्व	वत्थु	चूलिका	पाहुड	पद परिमाण
१	१०	४	२०००	१ करोड़
२	१४	१२	२८०	९६ लाख
३	८	८	१६०	७० लाख
४	१८	१०	३६०	६० लाख
५	१२	×	२४०	१ कम एक करोड़
६	२	×	२४०	१ करोड़ ६ पद
७	१६	×	३२०	२६ करोड़

८	३०	×	४००	१ करोड़, ८० हजार
९	२०	×	६००	८४ लाख
१०	१५	×	३००	१ करोड़, १० लाख
११	१२	×	२००	२६ करोड़
१२	१३	×	२००	१ करोड़, ५६ लाख
१३	३०	×	२००	९ करोड़
१४	२५	×	२००	१२ करोड़, ५० लाख
	२२५	३४	५७००	८३२६८०००५

१४ पूर्वों के नामों में श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों संप्रदायों में कोई विशेष भेद नहीं है, सिर्फ अवंभ्फ के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में कल्याणवादपूर्व कहा है। अवंभ्फ का जो अर्थ वृत्तिकार ने अवन्ध्यं अर्थात् सफल कहा है, वह कल्याण के शब्दार्थ के निकट पहुंच जाता है। ६वें, ८वें, ९वें, ११वें, १२वें, १३वें, और १४वें, इन ७ पूर्वों के अंतर्गत वस्तुओं की संख्या में दोनों संप्रदायों में मत भेद है, शेष पूर्वों की वस्तु संख्या में कोई भेद नहीं है। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए उन की संख्या भी प्रदर्शित करते हैं। छठे पूर्व में १२ वस्तु, ८वें में २०, ९वें में ३०, और शेष ११वें से लेकर १४वें तक प्रत्येक में १०-१० वस्तु हैं। उन्होंने कुल वस्तुओं की जोड़ १९५ बताई है, जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार वस्तुओं की कुल संख्या २२५ होती है। प्राभृतों की संख्या षट्खण्डागम से ली गई है, पद संख्या नन्दी सूत्र की वृत्ति में ही लिखी हुई है। दृष्टिवाद के प्रकरण में प्राभृतों का उल्लेख मूल में ही है। इसलिए उन की संख्या उक्त तालिका में दी है।

पूर्वों का ज्ञान कैसे होता है ?

दृष्टिवाद श्रुतज्ञान का रत्नाकर है। दृष्टिवाद श्रुतज्ञान का महाप्रकाश है, चौदह पूर्वों का ज्ञान इसी में निविष्ट है। पूर्वों का या दृष्टिवाद का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि पूर्वों का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—१ जब किसी विशिष्ट जीव के तीर्थंकर नाम-गोत्र का उदय होता है। (वह केवल ज्ञान होने पर ही उदय होता है छद्मस्थकाल में नहीं, यह कथन निश्चय दृष्टि से समझना चाहिए न कि व्यवहार दृष्टि से।) तब तीर्थ की स्थापना होती है, "तीर्थ" प्रवचन, गणधर और चतुर्विध श्रीसंघ को कहते हैं। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर अरिहंत भगवान प्रवचन करते हैं। उस प्रवचन से प्रभावित होकर जो विशिष्ट वेत्ता, कर्मठयोगी दीक्षित होते हैं, वे गणधर पद प्राप्त करते हैं। वे ही चतुर्विध-श्रीसंघ की व्यवस्था करते हैं, तीर्थंकर नहीं। जिस कार्य को गणधर नहीं कर सकते, उसे तीर्थंकर करते हैं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या गणधरों का निर्वाचन तीर्थंकर करते हैं, या श्रमणसंघ के द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं या स्वतः ही बनते हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि तीर्थंकर भगवान द्वारा उच्चारित "उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी को सुनकर जिस-जिस मुनिवर को चौदह पूर्वों का या सम्पूर्ण दृष्टिवाद का ज्ञान हो जाता है, उस-उस मुनिवर को गणधरपद प्राप्त होता है। त्रिपदी सुनते ही चौदह पूर्वों का ज्ञान हो जाता है, ऐसी बात नहीं है। जिसे त्रिपदी के चिन्तन-मनन और अनुप्रेक्षा (निदिध्यासन) करते-करते श्रुतज्ञान की महाज्योति; प्रस्फुटित हो जाए अर्थात् चौदह पूर्वों का

ज्ञान उत्पन्न होजाए, वह गणधर पद को प्राप्त करता है , जिन को सविशेष चिन्तन करने पर भी दृष्टि-वाद का ज्ञान नहीं हुआ, एक परिकर्म का या एक पूर्व का ज्ञान भी नहीं हुआ, वे गणधर पद के अयोग्य होते हैं । गणधर बनने के बाद ही गणव्यवस्था चालू होती है । वे सब से पहले आचारः प्रथमो धर्मः की उक्ति को लक्ष्य में रखकर आचाराङ्ग तत्पश्चात् सूत्रकृताङ्ग इस क्रम से ग्यारह अङ्ग पढ़ाते हैं । श्रमण या श्रमणी वर्ग का उद्देश्य न केवल पढ़ने का ही होता है, साथ-साथ संयम और तप की आराधना-साधना का भी होता है । कुछ एक साधक तो अधिक से अधिक ११ अङ्ग सूत्रों का अध्ययन करके ही आत्म-विजय प्राप्त कर लेते हैं । उस संयम-तप पूर्वक अध्ययन का अन्तिम परिणाम केवलज्ञान होने का या देवलोक में देवत्वपद प्राप्त करने का ही होता है ।

कुछ विशिष्ट प्रतिभाशाली साधक गणधरों से ११ अङ्ग सूत्रों का अध्ययन करने के बाद दृष्टिवाद का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं । वे पहले परिकर्म का अध्ययन करते हैं, फिर सूत्रगत का, तत्पश्चात् पूर्वों का अध्ययन प्रारंभ करते हैं, कोई एक पूर्व का, कोई दो पूर्वों का ज्ञाता होता है । इस प्रकार प्रतिपूर्ण दशपूर्व से लेकर १४ पूर्वों का ज्ञाता होता है, तत्पश्चात् चूलिका का अध्ययन करता है । जब प्रतिपूर्ण द्वादशाङ्ग गणिपिटक का वेत्ता हो जाता है, तब निश्चय ही वह उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है । यह एक निश्चित सिद्धांत है । श्रुतज्ञान की प्रतिपूर्णता हुई और अप्रतिपाति बना । प्रतिपूर्ण द्वादशाङ्ग गणिपिटक का अध्ययन चरमशरीरी ही कर सकता है, अपूर्णता में अप्रतिपाति होने की भजना है । कतिपय उसी भव में मिथ्यात्व के उदय होने पर प्रतिपाति हो जाते हैं ।

आहारकलब्धि नियमेन चतुर्दश पूर्वधर को ही होती है, किन्तु सभी चतुर्दश पूर्वधर आहारकलब्धि वाले होते हैं ऐसा होना नियम नहीं है । चार ज्ञान के धरता[1] और आहारकलब्धि सम्पन्न[2] प्रतिपाति होकर अनन्त जीव निगोद में भव भ्रमण कर रहे हैं । इस से ज्ञात होता है कि अनन्तगुणा हीन और अनन्तभागहीन चतुर्दशपूर्वधर को भी आहारकलब्धि हो सकती है । इस प्रकार के ज्ञानतपस्वी भी मिथ्यात्व के उदय से नरक और निगोद में भव भ्रमण कर सकते हैं, किन्तु अनन्तगुणा अधिक और अनन्तभाग अधिक प्रायः अप्रतिपाति होते हैं । शेष मध्यम श्रेणी वाले जीव चरमशरीरी हों और न भी हों, किन्तु वे दुर्गति में भ्रमण नहीं करते । अपितु कर्म शेष रहने पर कल्पोपपन्न और कल्पातीत कहीं भी महर्द्धिक देवता बन सकते हैं । मनुष्य और देवगति के अतिरिक्त अन्य किसी गति में जन्म नहीं लेते, जबतक सिद्धत्व प्राप्त न करलें । जैसे एक ही विषय में १०० छात्रों ने एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की । सब के अङ्क और श्रेणि तुल्य नहीं होती । उनमें एक वह है, जो प्रथम श्रेणि में भी सर्वप्रथम रहा । उसके लिए राजकीय उच्चतम विभागों में सर्वप्रथम स्थान है । दूसरा वह है, जिसने केवल उत्तीर्ण होने योग्य ही अङ्क प्राप्त किए हैं तथा निम्न श्रेणि वाले को राज-कीय विभागों में स्थान भी निम्न ही मिलता है, शेष सब मध्यम श्रेणि के माने जाते हैं । वैसे ही जितने पूर्व-धरहोते हैं, उनमें परस्पर षाड्गुण्य हानि-वृद्धि पाई जाती है । सब में श्रुतज्ञान समान नहीं होता । जो जीव अचरम शरीरी हैं, वे बारहवें अङ्ग का अध्ययन प्रतिपूर्ण नहीं कर सकते । गणधर के अतिरिक्त शेष मुनि-वर त्रिपदी से नहीं, अध्ययन करने से दृष्टिवाद के वेत्ता हो सकते हैं ।

---

१. देखो सर्वजीवाभिगम ७ वीं प्रतिपत्ति तथा भगवती सू० श० २४, १ ।

२. देखो-प्रज्ञापना सूत्र, ३४ वां पद, मणूसस्स केवइया णं भंते ! केवइया आहारग समुग्घाया अतीता ? गोयमा ! अणंता ।

कुछ विशिष्टतम संयत तो बिना ही वाचना लिए, बिना ही अध्ययन किए पूर्वधर हो जाते हैं, जैसे कि पोट्टिलदेव ने तेतलीपुत्र महामात्य को मोह के दलदल में फंसे हुए को परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप में प्रतिबोध देकर उसकी अन्तरात्मा को जगाया है। उसके परिणाम स्वरूप तेतलीपुत्र ने ऊहापोह किया, मोहकर्म के उपशान्त हो जाने से मतिज्ञानावरणीय के विशिष्ट क्षयोपशम से महामात्य को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उन्होंने जाना कि मैं पूर्व भव में महाविदेह क्षेत्र, उसमें पुष्कलावती विजय, उसमें भी पुण्डरीकिणी राजधानी में महापद्म नामा राजा था। चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग करके स्थविरों के पास जिनदीक्षा धारण की, संयम तप की आराधना करते हुए १४ पूर्वों का ज्ञान भी प्राप्त किया, चिरकाल तक संयम की पर्याय पालकर आयु के मासावशेष रहने पर अपच्छिम मारणंतिक संलेखना की, आयु के अंतिम क्षण में समाधिपूर्वक काल करके महाशुक्र (७वें) देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ, वहां की दीर्घ आयु समाप्त होने पर मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूं।

पूर्वभव में मैंने महाव्रतों की आराधना जिस रूप में की, उसी प्रकार अप्रमत्त होकर आत्मसाधना में संलग्न रहना चाहिए, इसी में मेरा कल्याण है। उस जातिस्मरण ज्ञान के सहयोग से उस प्रमदवन में बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का सर्वथा परित्याग कर तेतलीपुत्र स्वयमेव दीक्षित होकर, जहाँ उस वन में अशोक वृक्ष था, वहाँ पहुंचे और शिलापट्टक पर बैठकर समाधि में तल्लीन हो गए। फिर उस जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अनुप्रेक्षा करते हुए पूर्वभव में कृत अध्ययन आदि का पुनः पुनः चिन्तन करने लगे। इस प्रकार विचार करते करते अङ्गसूत्रों तथा चौदह पूर्वों का ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब उस श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा जगमगा उठी, कर्ममल को सर्वथा भस्मसात् करने वाले अपूर्वकरण में प्रविष्ट हुए, घनघाति कर्मों को प्रनष्ट करके तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही केवल ज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। जातिस्मरण ज्ञान से संयम ग्रहण किया, संयम से चौदह पूर्वों का ज्ञान उत्पन्न हुआ, उससे क्षपकश्रेणि में आरूढ़ हुए और तेतलीपुत्र को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।[1] इस प्रकार कारण कार्य बनता है। चौदह पूर्वों का ज्ञान उपर्युक्त ढंग से भी हो सकता है।

पद परिभाषा

प्रत्यक्ष प्रमाण में जितना सुस्पष्ट और विशद केवलज्ञान है, उतना अवधि और मनःपर्यवज्ञान नहीं। परोक्ष प्रमाण में श्रुतज्ञान जितना विशद है, मतिज्ञान उतना नहीं। श्रुतज्ञान का अन्तर्भाव पूर्णतया द्वादशाङ्गगणिपिटक में हो जाता है, उससे कोई भी श्रुतज्ञान बाहिर नहीं रह जाता है। आगमों में जो पद गणना की गई है, उसके विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बरों में मत भेद है, यदि हम अनेकान्तवाद की साक्षी से काम लें, तो वास्तव में मतभेद है ही नहीं, विचारधारा को न समझने से ही मत-भेद प्रतीत होता है।

पद शब्द अनेकार्थक है, जैसे कि अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। यहां संक्षेप रूप से इनकी व्याख्या की जाती है, जैसे कि—व्याकरण में 'सुप्तिङन्तं पदम्, अर्थात् विभक्ति सहित शब्द को पद कहते हैं।

---

१. ज्ञाताधर्म कथा १४ वां अध्ययन

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो॥

इस गाथा में अव्यय सहित १४ पद हैं, इनको भी पद कहते हैं। विहूयरयमला' पहीण जरमरणा, कित्तिय-वंदिय-महिया, उज्जोयगरे' इत्यादि शब्द समासान्त पद कहलाते हैं। जहां अर्थ की उपलब्धि हो उसे भी पद कहते हैं, जैसे कि "कहं नु कुज्जा सामाण्णं जो कामे न निवारए" इस पूरे वाक्य से अर्थ की उपलब्धि होती है अर्थात् यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम्, इस दृष्टि से जहां अर्थज्ञान हो, वह पद कहलाता है। वाक्यों के समूह को भी पद कहते हैं, जैसे पैराग्राफ। जिसमें द्रव्यानुयोग का विषय विभाजित हो, उसमें से किसी एक भाग को भी पद कहते हैं, जैसे कि प्रज्ञापना सूत्र में ३६ पद हैं, उनमें कोई छोटा है और कोई बड़ा, सब तुल्य नहीं हैं। इसी तरह युग्म, विशेषक, और कुलक इन्हें भी पद कहते हैं, ये सब अर्थपद से सम्बन्धित हैं।

छन्द शास्त्रानुसार श्लोक के एक चरण को पद कहते हैं, फिर भले ही वह श्लोक मात्रिकछन्द में हो या वर्णछन्द, किसी भी एक चरण को प्रमाण पद कहते हैं। अथवा अक्षरों के परिमित प्रमाण को प्रमाणपद कहते हैं। जैसे अनुष्टुप् श्लोक के एक चरण में आठ अक्षर होते हैं, बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक होता है, एक श्लोक में चार पद होते हैं, इसे भी प्रमाणपद कहते हैं, अथवा मुहावरे में कहा जाता है, अमुक व्यक्ति ने पांच हजार या दस हजार शब्दों में भाषण दिया है, इसे प्रमाण पद कहते हैं।

श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार अर्थपद के अन्तर्गत इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम् यह मान्यता अधिक प्रामाणिक सिद्ध होती है। क्योंकि आचार्य हरिभद्र और आचार्य मलयगिरि दोनों की वृत्ति में पद की परिभाषा उपर्युक्त शैली से ही की गयी है। यह परिभाषा हृदयंगम भी होती है, और यह परिभाषा आधुनिक ही नहीं, प्रत्युत् बहुत ही प्राचीन है। पद परिमाण का वर्णन अङ्गप्रविष्ट आगमों में ही देखने को मिलता है। अङ्गबाह्य आगमों में पद परिमाण का कोई उल्लेख नहीं है। प्रज्ञापना सूत्र में अध्ययन के स्थान पर पद का प्रयोग किया है।

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार पद का लक्षण मध्यमपद से ग्रहण किया है। उनका कहना है—जो अङ्ग शास्त्रों में पद परिमाण की गणना लिखी है, वह मध्यम पद से ही समझनी चाहिए, जैसे १६ अर्ब, ३४ करोड़ ८३ लाख ७ हजार ८ सौ ८८ अक्षरों का एक मध्यमपद कहलाता है। इतने अक्षरों के अनुष्टुप् छन्द ५१ करोड़ ८ लाख, ८४ हजार, ६ सौ, इक्कीस बनते हैं। उतने श्लोकों के परिमाण को एक पद कहते हैं, इस हिसाब से आचाराङ्ग में १८००० पद हैं।

कोई विशिष्ट बुद्धिमान और विद्वान यदि दस अनुष्टुप् श्लोकों का उच्चारण प्रत्येक मिनिट में करे और इसी तरह निरन्तर २० घण्टे बिना किसी अन्य कार्य किए उच्चारण करता ही रहे, तो एक वर्ष में ४३,२०००० श्लोकों का ही उच्चारण कर सकता है, इससे अधिक नहीं। गौतम स्वामी जी ३० वर्ष तक भगवान महावीर की चरण-शरण में रहे। सब कार्य बन्द करके जीवनपर्यन्त दिन रात श्लोक रचते रहना दुःशक्य ही नहीं, अपितु अशक्य ही है। यदि रच भी लें, तो वह एक पद का तीसरा हिस्सा भी रच नहीं सकते, जब कि एक पद ५१०८८४६२१ अनुष्टुप् श्लोकों के परिमाण जितना होता है। इस गणना से १८००० पद तो आचाराङ्ग के, ३६००० पद सूत्रकृताङ्ग के इस प्रकार द्वादशाङ्ग वाणी के १८४ संख से अधिक और १८५ संख से न्यून इतने अक्षरों का श्रुत परिमाण का अध्ययन करना, कैसे संगत बैठ सकता है? भद्रबाहु स्वामी जी ने स्थूलिभद्र जी को दस पूर्वो का ज्ञान अर्थ सहित कराया है, शेष चार पूर्वों

का ज्ञान अर्थ रूप में नहीं, यह बात भी कैसे संगत हो सकती है ? जब कि वे पूर्वों की कुल पद गणना १०८६८५६००५ इतने परिमाण का मानते हैं । अतः इसकी अपेक्षा इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम् यह मान्यता अधिक संगत प्रतीत होती है ।

दिगम्बर परम्परा में जो पद परिमाण तथा बारह अङ्ग सूत्रों की पदगणना लिखी है, जिन मुनि-वरों ने अध्ययन करते हुए सैंकड़ों तथा लाखों पूर्वों की आयु व्यतीत की है, यदि वे आयुपर्यन्त १८४ संख से अधिक अक्षर परिमाण वाले सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं, तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु दस-बीस वर्षों में इतने अर्वों की संख्या वाले पद परिमाण का अध्ययन करना अशक्य ही है।

श्वेताम्बर आम्नाय में एक पद कितने अक्षरों का होता है, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है । 'इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम्' इस सिद्धान्त के अनुसार 'एगे आया' 'एगे धम्मे' तथा—

असिप्पजीवी, अगिहे, अमित्ते, जिइंदिए, सव्वतो विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई, लहु, अप्पभक्खी, चिच्चा गिहं, एगचरे, स, भिक्खू ।।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न सुबन्त, तिङन्त और अव्यय पदों को सम्मिलित करके जितने भी एक अङ्ग सूत्र में पद आएं, उन सबकी पद गणना से आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गों के यदि पद परिमाण लिए जाएं, तो यह बात हृदयंगम हो सकती है ।

अब प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि विपाकसूत्र इतना महाकाय आगम नहीं है, जिसमें १८४३२००० पद परिमाण हों, यह बात कैसे घटित हो सकती है ? आज कल के युग में तो इतने परिमाण वाला कोई भी सूत्र नहीं है ।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि मानों किसी राजा के जीवन का परिचय एक हज़ार शब्दों में दिया है । एक हज़ार शब्दों में एक रानी का । तो किसी राजा की पांच सौ रानियां हुईं, उनके जीवन का भी इसी क्रम से परिचय दिया हो और इसी प्रकार राजकुमार, राजकन्या, वन, नगर, यक्षायतन, नदी, तालाब, श्रम-णोपासक, श्राविका, साधु, साध्वी, तीर्थंकर भगवान के विषय में यदि पहले किसी आगम में लिखा जा चुका हो तो अन्य आगमों में वह सारा पाठ नहीं दिया जाता, उद्धरण अवश्य दिया जाता है । 'जहा चम्पानयरी' जहा कोणिय राया, 'जहा पुण्णभद्दे चेइए, 'जहां चेलणा 'जहा सुबाहुकुमारे, 'जहा धन्ना अणगारे, जहा काली अज्जा, इत्यादि सब पाठों को यदि मिलाया जाए, तो पद परिमाण उचित प्रतीत हो जाता है । जिज्ञासु एक वार जिसका वर्णन विस्तृत रूप में पढ़ लेता है, पुनः-पुनः उन्हीं शब्दों को दुहराना उचित नहीं समझता । 'जहा चम्पा नयरी' इतना संकेत पढ़ते ही उववाई का सारा पाठ ध्यान में आ जाता है । जो सामान्य वर्णन से विलक्षण है, वस उनका ही सूत्रकारों ने उल्लेख किया है । सामान्य वर्णन 'जहा' कह कर संकेत से ज्ञान करा देता है । इस रीति से उक्त सूत्र का पद परिमाण संभव है । सम्भवतः सूत्रकारों की यही शैली रही हो ।

अर्जुन मुनि ने छः महीने में ही ग्यारह अङ्गों का अध्ययन कर लिया । धन्ना अणगार जो कि काकंदी नगरी के वासी थे, उन्होंने ९ महीने में ही ११ अङ्गों का अध्ययन कर लिया । यदि पद परिमाण की गणना ११ अङ्ग सूत्रों में दिगम्बर आम्नाय के अनुसार की जाए तो एक पद का ज्ञान होना भी असंभव है, जब कि ११ अङ्गों में करोड़ों की संख्या में पद हैं और एक पद १६३४८३०७८८८ अक्षरों का होता है, जिसको मध्यमपद भी कहते हैं ।

हां, यदि ऋषभदेव भगवान के युग में इतने अक्षरों के परिमाण को पद कहा जाए तो कोई अनुचित न होगा, किन्तु भगवान महावीर के युग में यह उपर्युक्त मान्यता कदापि संगत नहीं बैठती है। आदिनाथ भगवान के युग में मनुष्यों की जो अवगहना, आयु, बौद्धिकशक्ति, और वज्रऋषभनाराच संहनन थीं, यह सब काल के प्रभाव से क्षीण होते गए। महावीर के युग तक अधिक न्यूनता आ गई। अतः सिद्ध हुआ कि महावीर स्वामी के युग में जो अङ्गों में पद परिमाण आया है, वह उक्त विधि के अनुसार ही घटित हो सकता है, दिगम्बर आम्नाय के अनुसार नहीं। काल के प्रभाव से पद की परिभाषा बदलती रहती है, सदाकाल पद की परिभाषा एक जैसी नहीं रहती, क्योंकि आयु, बौद्धिक शक्ति, तथा संहननके अनुसार ही पद की परिभाषा बनती रहती है। पद गणना सब तीर्थंकरों के एक जैसी रहती है, किन्तु उसकी परिभाषा बदलती रहती है।

बारह अङ्ग सूत्रों की पद संख्या

सूत्रों के नाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
आचाराङ्ग	१८०००	१८०००
सुयगडाङ्ग	३६०००	३६०००
ठाणाङ्ग	७२०००	४२०००
समवायाङ्ग	१४४०००	१६४०००
भगवती	२,८८०००	२२८०००
ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	५,७६०००	५५६०००
उपासकदशाङ्ग	११,५२०००	११७०००
अन्तगडदशाङ्ग	२३,०४०००	२३२८०००
अनुत्तरौपपातिक	४६०८०००	९२४४०००
प्रश्नव्याकरण	९२१६०००	९३१६०००
विपाकसूत्र	१८४३२०००	१८४०००००
पूर्वस्थ पद संख्या	८३२६८०००५	१०८६८५६००५

मति और श्रुतज्ञान में परस्पर साधर्म्य

पांच ज्ञान में सर्वप्रथम मतिज्ञान, तत्पश्चात् श्रुतज्ञान. यह क्रम सूत्रकार ने क्यों अपनाया है ? श्रुतज्ञान को पहले प्रयुक्त क्यों नहीं किया ? जबकि श्रुतज्ञान स्व-पर कल्याण में परम सहायक है।

सूत्रकार ने पांच ज्ञान का क्रम जो रखा है, वह स्वाभाविक ही है, इसके पीछे अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। नन्दीसूत्र में 'सुयं मइपुव्वं' ऐसा उल्लेख किया हुआ है, इसका अर्थ—श्रुत मतिपूर्वक होता है, न कि श्रुतपूर्वक मति होती है। उमास्वाति जी ने भी श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक ही कहा है।[१] इन उद्धरणों से यह स्वयं सिद्ध है कि मतिज्ञान जो पहले प्रयुक्त किया है, वह निःसन्देह उचित ही है। वैसे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का अस्तित्व भिन्न ही है, फिर भी उनमें जो साम्य है, उसका उल्लेख भाष्यकृत् एवं

१- तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २०।

वृत्तिकृत् ने बड़े रोचक एवं नई शैली से प्रस्तुत किया है, जो निम्न प्रकार है—

१. स्वामी—जो मतिज्ञान के स्वामी हैं, वे ही श्रुतज्ञान के स्वामी हैं, **जत्थ मइ नाणं, तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं** इत्यादि जहां मतिज्ञान है, वहां श्रुतज्ञान है, जहां श्रुतज्ञान है, वहां मतिज्ञान है। इस प्रकार दोनों में स्वामित्व की दृष्टि से समानता है।

२. काल—मतिज्ञान का काल (स्थिति) जितना है. उतना ही श्रुतज्ञान का है। इन दोनों का काल सहभावी है। ये दोनों ज्ञान एक जीव में निरन्तर अधिक-से-अधिक ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक अवस्थित रह सकते हैं, तत्पश्चात् जीव केवलज्ञान को प्राप्त करता है या मिथ्यात्व में प्रविष्ट हो जाता है या मिश्रगुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त के लिए प्रविष्ट हो जाता है और उक्त दोनों गुणस्थानों में दोनों ज्ञान अज्ञान के रूप में परिणत हो जाते हैं। अतः काल की अपेक्षा दोनों में समानता है।

३ कारण—जैसे इन्द्रिय और मन यह मतिज्ञान के निमित्त हैं, वैसे ही श्रुतज्ञान के भी उपर्युक्त छः ही कारण हैं। अत: कारण की दृष्टि से दोनों में समानता है।

४. विषय—जैसे आदेश से मतिज्ञान के द्वारा सर्व द्रव्यों को जाना जाता है, वैसे ही श्रुतज्ञान के द्वारा भी जाना जाता है। जैसे मतिज्ञान के द्वारा द्रव्य. क्षेत्र, काल और भाव इन विषयों को जाना जाता है. वैसे ही श्रुतज्ञान के द्वारा भी, किन्तु सर्वपर्यायों का विषय मति-श्रुत का नहीं है, इस दृष्टि से दोनों में समानता है।

५. परोक्षत्व—जैसे मतिज्ञान परोक्ष प्रमाण है, वैसे ही श्रुतज्ञान भी नन्दीसूत्र में[1], तथा तत्त्वार्थसूत्र में[2] मति और श्रुतज्ञान दोनों को परोक्ष प्रमाण में अन्तर्निहित किया है। इस अपेक्षा से भी दोनों में समानता पाई जाती है। जैसे कि कहा भी है—

जं सामि-काल-कारण, विसय-परोक्खत्तणेहिं तुल्लाइं।
तब्भावे सेसाणि य, तेणाईए मइ-सुयाइं॥

आदि के तीन ज्ञान में परस्पर साधर्म्य

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मति-श्रुत के अनन्तर अवधिज्ञान क्यों कहा है? मनःपर्यवज्ञान क्यों नहीं कहा? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इन दोनों का जितना निकटतम सम्बन्ध अवधिज्ञान के साथ है, उतना मनःपर्यव के साथ नहीं। तीनों में परस्पर क्या समानता है? अब इसका सविस्तार विवेचन किया जाता है—

१. स्वामी—उक्त तीनों ज्ञान के स्वामी चारों गति के संज्ञी पंचेन्द्रिय हो सकते हैं, तीनों ज्ञान अविरति सम्यग्दृष्टि तथा साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं को तथा देव-नारकी एवं समनस्कतिर्यंच, इन सब को हो सकते हैं। जो अवधिज्ञान के स्वामी हैं, वे मति-श्रुत के भी। अतः स्वामित्व की अपेक्षा से भी उक्त तीनों ज्ञान में साम्य है।

२ काल—जितनी स्थिति उत्कृष्ट मति-श्रुत की बतलाई है. उतनी अवधिज्ञान की भी। एक जीव

---

१. देखो सूत्र २४ वां।

२. तत्त्वार्थ सूत्र अ० १ सू० ११।

की अपेक्षा से आदि के तीन ज्ञान जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक, अतः काल की अपेक्षा से तीनों में समानता है, विषमता नहीं।

३. विपर्यय—मिथ्यात्व के उदय से जैसे, मति-श्रुत ये दोनों अज्ञान के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही अवधिज्ञान भी विभंगज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। मति-श्रुत और अवधि ये तीन सम्यक्त्व के साथ ज्ञान कहलाते हैं. और मिथ्यात्व के साथ अज्ञान कहलाते हैं।

जो इन्हें ज्ञान और अज्ञान रूप कहा जाता है, वह शास्त्रीय संकेत के अनुसार है। इस विषय में उमास्वति जी ने भी कहा है[1]—मतिश्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान विपर्यय भी हो जाते हैं अर्थात् विपरीत भी हो जाते हैं। जब मति-श्रुत और विभंगज्ञान वाले को सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, तब तीनों अज्ञान ज्ञान के रूप में परिणत हो जाते हैं। जब मिथ्यात्व का उदय हो जाता है, तब तीन ज्ञान के धर्त्ता भी अज्ञानी बन जाते हैं।

४. लाभ—विभंगज्ञानी मनुष्य, तिर्यंच, देवता और नारकी को जब यथा प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब पहले जो तीन अज्ञान थे, वे तीनों मति, श्रुत और अवधि के रूप में परिणत हो जाते हैं। अतः लाभ की दृष्टि से तीनों में समानता है।

अवधि और मनःपर्यव में परस्पर साधर्म्य

अब प्रश्न पैदा होता है कि अवधिज्ञान के पश्चात् मनःपर्यवज्ञान क्यों प्रयुक्त किया ? केवलज्ञान क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि अवधिज्ञान की समानता जितनी मनःपर्यव के साथ है, उतनी केवलज्ञान के साथ नहीं, जैसे कि—

१. छद्मस्थ—अवधिज्ञान जैसे छद्मस्थ को होता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान भी छद्मस्थ को होता है, दोनों में इस अपेक्षा से समानता है।

२. विषय—अवधिज्ञान का विषय जैसे रूपी द्रव्य हैं, अरुपी नहीं, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान का विषय भी मनोवर्गणा के पुद्गल हैं।

२. उपादानकारण—अवधिज्ञान जैसे क्षायोपशमिक है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान भी क्षायोपशमिक है, इस अपेक्षा से भी दोनों में साम्य है।

४. प्रत्यक्षत्व—अवधिज्ञान जैसे विकलादेश पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान भी, इस दृष्टि से भी दोनों में साधर्म्य है।

५. संसार भ्रमण—अवधिज्ञान से प्रतिपाति होकर जैसे उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन कर सकता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान के विषय में भी समझ लेना चाहिए, इस कारण भी दोनों में समानता है।

मनःपर्यव और केवलज्ञान में परस्पर साधर्म्य

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनःपर्यवज्ञान के पश्चात् केवलज्ञान का क्रम क्यों रखा है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जितने क्षयोपशमजन्य ज्ञान हैं, उनका न्यास पहले किया गया है। तथा

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ० १, सू० ३२-३३।

साकारोपयोग है और जब पर्यायरहित सिर्फ अखण्ड वस्तु को सामान्य बोधरूप व्यापार से ग्रहण करता है, तब उसे अनाकारोपयोग कहते हैं। अब केवलज्ञानी के उपयोग के विषय में निरूपण किया जाता है।

१. केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं, जिसके मल-अवरण-विक्षेप का सर्वथा अभाव हो गया, उसमें साकारोपयोग और अनाकारोपयोग कैसे घटित होता है? इसका समाधान यूं किया जाता है—जब केवली सचेतन और अचेतन द्रव्य का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे अनाकारोपयोग अर्थात् केवल दर्शनोपयोग कहते हैं, किन्तु जब उन्हीं वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे साकारोपयोग कहते हैं।

२. जब केवली द्रव्यात्मक लोकालोक का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे अनाकारोपयोग कहते हैं और जब वही लोकालोक ज्ञान में साकार बन जाता है, तब उसे साकारोपयोग कहते हैं।

३. केवली जब वस्तु का सिर्फ प्रत्यक्ष ही करता है, तब वह अनाकारोपयोग होता है, किन्तु जब वस्तु का अनुभव पूर्वक प्रत्यक्ष किया जाता है, तब उसे साकारोपयोग कहते हैं।

४. केवली जब जीव या अजीव, दूर या समीप में रहे हुए मूर्त या अमूर्त, रूपी या अरूपी, एक या अनेक, नित्य या अनित्य, वक्तव्य या अवक्तव्य, ऐन्द्रियक या मानसिक, गुप्त या प्रकट, विभु या एक देशी, ऊर्ध्व-मध्य या पाताल लोक, कारण या कार्य, अन्दर या बाहिर, सूक्ष्म या बादर, संसारी या मुक्त, पृथ्वी, भवन या विमान, आविर्भूत या तिरोहित इनमें से किसी का या सबका सामान्य प्रत्यक्ष करता है, तब उसे अनाकारोपयोग कहते हैं, किन्तु जब इनमें से किसी एक का विशेष प्रत्यक्ष करता है, तब उसे साकारोपयोग कहते हैं।

५. केवली जब द्रव्य, क्षेत्र और काल का प्रत्यक्ष करता है, तब केवलदर्शन होता है, किन्तु जब भाव का प्रत्यक्ष करता है, तब केवलज्ञान में उपयोग होता है। 'यह परमाणु है' यह केवलदर्शन से प्रत्यक्ष किया, किन्तु यह परमाणु किस वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श का स्वामी है? जघन्यगुण वाला है? यावत् अनन्त-गुणवाला है? केवली यह सब केवलज्ञान के द्वारा जानता है।

६. पृथ्वी आदि किसी भी पदार्थ का विभिन्न आकारों, विभिन्न हेतुओं, विभिन्न दृष्टान्तों, विभिन्न उपमाओं, विभिन्न वर्णों, विभिन्न संस्थानों और विभिन्न विशेषणों से केवली जब प्रत्यक्ष करता है, तब केवलज्ञान से और जब इनके बिना प्रत्यक्ष करता है तब केवल दर्शन से। जब उपयोग साकार हो उठे, तब वह ज्ञान कहलाता है और जब अनाकारोपयोग होता है, तब उसे दर्शन कहते हैं। केवली के भी इन दोनों में से एक समय में एक ही उपयोग होता है, दोनों युगपत् नहीं होते, उपयोग का ऐसा ही स्वभाव है। केवली काल के एक अविभाज्य अंश, जिसे समय भी कहते हैं, उसे भी प्रत्यक्ष कर करता है, किन्तु एक समय के जाने हुए तथा देखे हुए को कहने में अन्तर्मुहूर्त लग जाता है। छद्मस्थ का उपयोग स्थूल होता है, वह अन्तर्मुहूर्त में ही किसी ओर लगता है। हां, इतना अवश्य है, अनाकारोपयोग की अपेक्षा साकारोपयोग का काल संख्यात गुणा अधिक होता है, क्योंकि छद्मस्थ जीवों की किसी एक पर्याय को जानने में अधिक काल लगता है, जब कि अनाकारोपयोग स्वल्प समयों में भी लग जाता है, किन्तु केवली का अनाकार उपयोग एवं साकारोपयोग एक सामयिक भी होता है। इन दोनों का उत्कृष्ट काल-मान आन्तर्मौहूर्तिक है। इससे अधिक कोई भी उपयोग अवस्थित नहीं रह सकता।

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र इनकी उत्पत्ति के पहले क्षण में साकारोपयोग होता है, तत्पश्चात् अनाकारोपयोग भी। अनाकारोपयोग काल में जीव को न सम्यक्त्व का लाभ होता है और न मिथ्यात्व का ही। सूक्ष्मसंपराय चारित्र और सिद्धत्व प्राप्ति का पहला समय साकारोपयोग में होता है। जितनी विशिष्ट लब्धियां हैं, वे सब साकारोपयोग में होती हैं।

किसी भी वस्तु का साक्षात्कार कर लेना, इसे अनाकारोपयोग कहते हैं, उसके अन्तर्गत किसी भी विशेष गुण का प्रत्यक्ष करना साकारोपयोग है। छद्मस्थ में १० उपयोग पाए जाते हैं, जैसे कि ४ ज्ञान, ३ अज्ञान और ३ दर्शन। यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो ७ पाए जा सकते हैं। यदि मिथ्यादृष्टि है, तो ६ उपयोग पाए जा सकते हैं। जितने उपयोग जिसमें हैं, उनमें से उपयोग कभी साकार में और कभी अनाकार में, इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है, उपयोग की गति तीव्रतम है। शब्द की गति तीव्र है, उसकी अपेक्षा प्रकाश की गति अत्यधिक तेज है, सबसे तेज गति उपयोग की है। जैसे फिल्म का फीता बड़ी शीघ्रगति से घूमता है। यदि हम एक सैकिण्ड में किसी व्यक्ति को जिस अवस्था में देखते हैं, तो उसके अन्तराल में कितने ही चित्र आगे निकल जाते हैं। पहला चित्र कब निकला? यह हमारी कल्पना से बाहिर है। आगम में सिर्फ एक समय की बात लिखी है, एक समय में एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते, एक ही हो सकता है। और ऐसा भी नहीं होता कि किसी समय में दोनों उपयोगों में से कोई भी उपयोग न पाया जाए, अन्यथा जीवत्व का ही अभाव हो जाएगा।

शंका—आँख की छोटी-सी पुतली में हज़ारों लाखों पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित हो जाने से एक साथ सबका ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार केवली के ज्ञान में सभी द्रव्य और सभी पर्याय एक साथ प्रतिभासित हो जाते हैं। अतः केवलदर्शन मानने की क्या आवश्यकता है?

कैमरे में फोटो लेते हुए एक साथ अनेक व्यक्तियों का चित्र चित्रित हो जाता है तथा बाह्य दृश्य भी। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में एक साथ अनेक दृश्य झलकते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञान में सभी पदार्थ झलकते हैं अर्थात् प्रतिबिम्बित होते हैं, फिर केवलदर्शन मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—इसका समाधान यह है, यदि अनावरण दर्पण में एक साथ अनेक पदार्थ अलग २ प्रतिबिम्बित होते हैं, तो वे सब प्रतिबिम्ब दर्पण के तथा कैमरे की रील के भिन्न अवयवों में पड़ते हैं, एक ही अवयव में नहीं। जहाँ एक वस्तु की प्रतिच्छाया पड़ती है, वहां दूसरी वस्तु की नहीं। ये उदाहरण आत्मा के साथ घटित नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा अमूर्त एवं अरूपी है और पुद्‌गल रूपी है। रूपी की प्रतिच्छाया रूपी में ही पड़ सकती है, अरूपी में नहीं। आत्मा के संख्यात प्रदेश हैं, अनन्त नहीं। असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात छोटे-बड़े पदार्थ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं, अनन्त नहीं। अतः मानना पड़ेगा कि प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान आत्मव्यापक होता है। प्रत्येक प्रदेश में अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन है तथा उनके समुदाय में भी अनन्त ज्ञान-दर्शन है, जैसे अनावृत्त एक प्रदेश भी केवलज्ञान एवं दर्शन है, उसमें भी व्यापक है, वैसे ही अन्य प्रदेशों में भी व्यापक है।

केवलदर्शन सामान्य का प्रत्यक्ष करता है और केवलज्ञान विशेष का। एक समय में सब पदार्थों का सामान्य प्रतिभास हो सकता है, किन्तु उसी समय सब पदार्थों का विशेष प्रतिभास भी होता है, ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

केवली के एक समय में एक साथ दो उपयोग न मानने का कारण सिर्फ यही है। जिस समय

केवली का ज्ञान जब विशेष को ग्रहण करता है, उस समय वह सामान्य का प्रतिभास नहीं कर सकता। जब सामान्य का प्रतिभास हो रहा हो, तब विशेष का नहीं, यह कथन उस अविभाज्य काल का है, जिस का विभाग केवलज्ञानी के ज्ञान से भी नहीं हो सकता।

एक मनुष्य बहुत ऊंचे मीनार पर खड़ा चारों ओर भूमि को देख रहा है या महानगर को देख रहा है। ज्यों २ क्षेत्र विशाल होता जाएगा, त्यों२ विशेषता के अंश विषय बाहिर होते जाएंगे, उन सब की समानता दर्शन के विषय में रहती जाएगी। जब यह महासमानता सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभावों में व्याप्त हो जाती है, तब विशेष अंश उसके विषय से बाहिर हो जाते हैं। जब केवली का उपयोग विशेष अंश ग्राही होता है, तब महासामान्य विषय से बाहिर हो जाता है। दर्पण में या फोटो में एक साथ अनेक प्रतिबिंब जब हम देखते हैं, तब वह सामान्य कहलाता है, जब प्रतिबिंब या फोटो में से किसी एक को पहचानने के लिए उपयोग लगाते हैं, तब वह उपयोग विशेष अंश ग्राही कहलाता है। इसी प्रकार केवली का भी जब सामान्य उपयोग चल रहा है, तब अनाकारोपयोग कहलाता है, किन्तु जब विशेष की ओर उपयोग लगा हुआ है, तब अनन्त में से किसी एक विषय पर लगता है, एक साथ अनन्त विशेषों को एक समय में नहीं जानता, ।

किसी व्यक्ति ने केवली से पूछा भगवन् ! अमुक नाम वाला व्यक्ति मर कर कहां उत्पन्न हुआ है ? किस गति में ? कितने भवशेष करने रहते हैं ? चरम शरीरी भव कैसा गुज़रेगा ? जब केवली अनन्त जीवों में से किसी एक को, एक समय में ही जान लेता है, तब विशेष उपयोग होता है, यह जानना केवल-ज्ञान का काम है। केवल-दर्शन से निगोद में अनन्त जीवों का प्रत्यक्ष किया जाता है, किन्तु उन में से कौन-सा जीव चरम शरीरी बनने वाला है, यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष करता है न कि केवलदर्शन। अमुक जीव अभव्य है, कृष्णपक्षी है अथवा अनंत संसारी है ? यह केवलज्ञान निर्णय देता है। केवलदर्शन तो अनन्त जीव मात्र को देखने का काम करता है। अनाकार उपयोग में अभेदभाव होता है, और साकार-उपयोग में भेदभाव, भेदभाव तो पर्याय में रहता है।

यह रत्न किस संज्ञा वाला है ? इस में विशेष गुण क्या २ हैं ? इसका मूल्य कितना हो सकता है ? यह किस राशि वाले के लिए उपयोगी है ? इस का स्वामी कौन सा ग्रह है ? यह किस के लिए हानिकारक है ? इस जाति के भेदों में से यह किस भेद वाला है ? इस प्रकार उस की गहराई में उतरना, यह साकारोपयोग का काम है और वही अन्तिम निर्णय देता है। अनाकार उपयोग प्रत्यक्ष अवश्य कर सकता है, किन्तु वह अन्तिम निर्णय नहीं देता। एक विशिष्ट औषध को चक्षुष्मान प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु इस टिकिया में या इस बिन्दु में क्या २ शक्ति है ? इसमें किन २ रोगों को उन्मूलन करनेकी शक्ति है ? क्या २ इस में गुण हैं ? इस में किन २ औषधियों का मिश्रण है ? इस का अवधिकाल कितना है ? इस में दोष क्या २ हैं ? इस प्रकार का ज्ञान, विशेष चिन्तन से या साकार उपयोग से होता है, अनाकार उपयोग से नहीं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों ही सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। जीव-अजीव, रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त, दृश्य-अदृश्य भाव-अभाव, ज्ञान अज्ञान, भव्य-अभव्य, मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि, गति-अगति, धर्म-अधर्म, संसारी-मुक्त, सुलभबोधि-दुर्लभबोधि, आराधक-विराधक, चरमशरीरी-अचरमशरीरी, नवतत्त्व, षड्द्रव्य, सर्वकाल, सर्वपर्याय, हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, अनन्त संसारी-परिलसंसारी, परमाणु-

महास्कन्ध, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान, संसार और संसार के हेतु, मोक्ष और मोक्ष के हेतु, १४ गुणस्थान और लेश्या, योग और उपयोग ये सब अनावरण ज्ञान-दर्शन के विषय हैं। दोनों उपयोग केवली के एक साथ होते हैं या क्रमभावी होते हैं ? इस के विषय में प्रज्ञापना सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान महावीर के उत्तर विशेष मननीय हैं, जैसे कि—

भगवन् ! जिस समय में केवली रत्नप्रभा पृथ्वी को जानता है, क्या उस समय रत्नप्रभा पृथ्वी को भी देखता है ? भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—नहीं। फिर प्रश्न शर्कर-प्रभा पृथ्वी के विषय में, फिर वालुकाप्रभा, इसी प्रकार सब पृथ्वियों, सौधर्म आदि देवलोकों एवं परमाणु से लेकर महास्कन्ध के विषय में भी प्रश्न करते हैं। इस से प्रतीत होता है कि केवली का उपयोग कभी रत्नप्रभा में, कभी सौधर्मस्वर्ग पर और कभी ग्रैवेयक पर, कभी परमाणु पर तथा कभी स्कन्ध पर पहुंचता है। यदि केवली सदा-सर्वदा सभी काल, सभी क्षेत्र, सभी द्रव्य और सभी भावों अर्थात् सभी पर्यायों को एक साथ जानता व देखता तो रत्नप्रभा आदि के अलग२ प्रश्न न किए जाते। इस से पता चलता है कि केवली का जब कभी ज्ञान में उपयोग होता है, तब एक साथ सब द्रव्य और पर्यायों पर नहीं, अपितु किसी परिमित विषय पर ही होता है। हां, उन में सर्व द्रव्य, और सर्वपर्यायों के जानने की लब्धि होती है। इसी प्रकार 'पश्यति' क्रिया के विषय में भी जानना चाहिए। इस विषय में सूत्र का वह पाठ निम्नलिखित है—

केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभापुढविं आगारेहिं, हेऊहिं, दिट्ठंतेहिं, वण्णेहिं, संठाणेहिं, पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणइ, तं समयं पासइ, जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ? गोयमा ? नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, केवली णं इमं रयणप्पभं आगारेहिं जं समयं जाणइ, नो तं समयं पासइ, जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ ? गोयमा ! सागारे से नाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ। से तेणट्ठेणं जाव नो तं समयं जाणइ, एवं जाव अहे सत्तमं, एवं सोहम्मं कप्पं जाव अच्चुअं। गेवेज्जगविमाणा, अणुत्तरविमाणा, ईसिप्पब्भारा पुढवी। परमाणुपोग्गलं, दुपएसियं खन्धं जाव अणन्त पएसियं खन्धं।

केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभापुढविं अणागारेहिं, अहेऊहिं अणुवमेहिं अदिट्ठंतेहिं अवण्णेहिं, असंठाणेहिं, अप्पमाणेहिं, अपडोयारेहिं पासइ न जाणइ ? हंता गोयमा ! केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं जाव पासइ, न जाणइ। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं जाव पासइ, न जाणइ ? गोयमा ! अणागारे से दंसणे भवइ, सागारे से नाणे भवइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं जाव पासइ न जाणइ, एवं जाव ईसिप्पब्भारं पुढविं परमाणु पोग्गलं अणन्तपएसियं खन्धं पासइ न जाणइ।

—पश्यत्ता ३० वां पद, प्रज्ञापना सूत्र।

केवली णं भंते ! इत्यादि, केवलज्ञानं दर्शनं चास्यास्तीति केवली, णमिति वाक्यालंकृतौ भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! इमां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानां रत्नप्रभाभिधां पृथिवीं ......।

१. आगारेहिं ति,—आकारा भेदा यथा इयं रत्नप्रभापृथिवी त्रिकाण्डा खरकांड पंककाण्डाऽप्काण्ड भेदात्, खरकाण्डमपि षोडशभेदं, तद्यथा—प्रथमं योजनसहस्रमानं रत्नकाण्डं, तदनंतरं योजनसहस्रप्रमाणमेवं वज्रकाण्डं तस्याप्यधो योजनसहस्रमानं वैडूर्यकाण्डमित्यादि।

२. हेऊहिं ति—हेतव—उपपत्तयः, ताश्चेमाः केन कारणेन रत्नप्रभेत्यभिधीयते ? उच्यते—यस्मादस्या रत्नमयं काण्डं तस्माद्रत्नप्रभा, रत्नानि प्रभाः स्वरूपं यस्या सा रत्नप्रभेति व्युत्पत्तेरिति ।

३. उवमाहिं ति—उपमाभिः, 'माङ्' माने अस्मादुपपूर्वाद् उपमितमुपमा 'उपसर्गादातः' इति अङ् प्रत्ययः, ताश्चेवं—रत्नप्रभायां रत्नाऽऽदीनि कांडानि वर्णविभागेन कीदृशानि ? पद्मरागेन्दुसदृशानीत्यादि ।

४. दिट्ठन्तेहिं ति—दृष्टः अंतः परिच्छेदो विवक्षितसाध्यसाधनयोः सम्बन्धस्याविनाभावरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते दृष्टान्तास्तैर्यथा घटः स्वगतैर्धर्मैः पृथुबुध्नोदराद्याकारादिरूपैरनुगतपरधर्मेभ्यश्च पटादिगतेभ्यो व्यतिरिक्त उपलभ्यत इति पटादिभ्यः पृथक् वस्त्वन्तरं तथैवैषापि रत्नप्रभा स्वगतभेदैरनुषक्ता शर्कराप्रभादिभ्यश्च व्यतिरिक्तेति ताभ्यः पृथक् वस्त्वन्तरमित्यादि ।

५. वण्णेहिं ति—शुक्लादि वर्णविभागेन तेषामेव उत्कर्षापकर्षसंख्येयासंख्येयानन्तगुणविभागेन च वर्णग्रहणमुपलक्षणं, तेन गन्ध-रस-स्पर्शविभागेन चेति द्रष्टव्यम् ।

६. संठाणेहिं ति—यानि तस्यां रत्नप्रभायां भवननारकादीनि संस्थानानि तद्यथा—ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अन्तो चउरंसा, अहे पुक्खरकण्णिया संठाण संठिया तत्थ ते णं निरया अन्तो वट्टा, बाहिं चउरंसा अहे खुरप्प संठाण संठिया इत्यादि ।

७. पमाणेहिं ति—परिमाणानि यथा असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लप्पमाणमेत्ता आयामविक्खंभेणमित्यादि ।

८. पडोयारेहिं ति—प्रति सर्वतः सामस्त्येन अवतीर्यते व्याप्यते यैस्ते प्रत्यवतारास्ते चात्र घनोदध्यादिवलया वेदितव्यास्ते हि सर्वासु दिक्षु विदिक्षु चेमां रत्नप्रभां परिक्षिप्य व्यवस्थितास्तैः—

—मलयगिरिकृत वृत्तिः ।

नन्दीसूत्र में साकारोपयोग रूप पांच ज्ञान का ही वर्णन है । यद्यपि साकारोपयोग में पांच ज्ञान, तीन अज्ञान का समावेश भी हो जाता है, तदपि तीन अज्ञान का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में नगण्य ही है। मुख्यता तो इसमें ज्ञान की है । सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का परस्पर नित्य सम्बन्ध है । दूसरी ओर मिथ्यात्व और अज्ञान का साहचर्य नित्य है ।

जैन आगमों में तथा कर्मग्रन्थों में चौदह गुणस्थानों का सविस्तर वर्णन मिलता है । पहले गुणस्थान में अनन्त-अनन्त जीव विद्यमान हैं, जो कि मिथ्यात्व के गहन अन्धकार में भटक रहे हैं । उनमें कतिपय अनादि अनन्त मिथ्यादृष्टि जीव हैं । कितने ही अनादि सान्त मिथ्यादृष्टि हैं और कतिपय सादि सान्त मिथ्यादृष्टि हैं । तीनों भागों में अनन्त-अनन्त जीव हैं, किन्तु सास्वादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि और देशविरत (श्रावक) इन चार गुणस्थानों में असंख्यात जीव पाए जाते हैं ।

असंख्यात के असंख्यात भेद होते हैं । जीवों की आयु और कर्मों की स्थिति अद्धापल्योपम से ग्रहण की जाती है, किन्तु जीवों की गणना क्षेत्रपल्योपम से । क्षेत्रसागरोपम से और अलोक में लोक जैसे खण्ड असंख्यात तथा अनन्त के जो आगम में उदाहरण दिए हैं, उन सबका प्रारम्भ क्षेत्र पल्योपम से लिया जाता है । क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में यावन्मात्र आकाश प्रदेश हैं, वे चाहे बालाग्रखण्डों से स्पृष्ट हैं या अस्पृष्ट, हैं असंख्यात ही ।

उपर्युक्त चार गुणस्थानों में जितने जीव हैं, यदि उन्हें एकत्रित किया जाए तो भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र राशि बनेगी । पृथक्-पृथक् उनकी चारों राशि में भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग

मात्र जीव पाए जाते हैं । कल्पना कीजिए एक पल्योपम में कुल संख्या ६५५३६ हैं । उनमें २०४८ जीव सास्वादन गुणस्थान में पाए जा सकते हैं । मिश्र गुणस्थान में जीवों की संख्या अधिक से अधिक ४०९६ पाई जा सकती है । अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में अधिक से अधिक १६३८४ जीव पाए जा सकते है । देशविरत गुणस्थान में ५१२ जीव पाए जा सकते हैं । यद्यपि दूसरा और तीसरा गुणस्थान अशाश्वत् हैं, तदपि उन गुणस्थानों में यदि अधिक से अधिक पाए जाएं तो उपर्युक्त शैली से असंख्यात पाए जा सकते हैं।

छठे गुणस्थान से लेकर १४ वें गुणस्थान तक कुल जीव संख्यात ही हैं, क्योंकि संज्ञी मनुष्य संख्यात हैं, उनमें सिवाय संयत मनुष्य के अन्य जीव नहीं पाए जाते । पंचम और तीसरे गुणस्थान में संज्ञी मनुष्य और तिर्यंच दोनों गति के जीव पाए जाए जाते हैं । दूसरे से लेकर चौथे गुणस्थान तक चारों गति के जीव पाए जाते हैं ।

प्रमत्त संयतों में मन:पर्यवज्ञानी स्वल्प हैं, अवधिज्ञानी विशेषाधिक, मति-श्रुत परस्पर तुल्य विशेषाधिक हैं । इसी प्रकार सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक समझना चाहिए । आठवें में उपशमक अवधिज्ञानी १४, और क्षपक २८ पाये जा सकते हैं ।[1] मन:पर्यवज्ञानी उपशमक १०, और क्षपक २० पाए जा सकते, हैं ।[2]

उपशम श्रेणी में यदि निरन्तर जीव प्रवेश करें तो आठ समय तक कर सकते हैं, तदनु नियमेन अन्तर पड़ जाता है, जैसे—

पहले	समय	में	जघन्य	१	२	३	यावत्	१६	प्रवेश	कर	सकते	हैं ।
दूसरे	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	२४	,,	,,	,,	,,
तीसरे	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	३०	,,	,,	,,	,,
चौथे	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	३६	,,	,,	,,	,,
पांचवें	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	४२	,,	,,	,,	,,
छठे	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	४८	,,	,,	,,	,,
सातवें	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	५४	,,	,,	,,	,,
आठवें	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	५४	,,	,,	,,	,,

यदि पहले समय में ५४ उपशम श्रेणी में प्रविष्ट हो जाएं तो अवश्य अन्तर (विरह) पड़ जाता है।

साकारोपयोगी जीवों का अल्पबहुत्व

सबसे स्वल्प मन:पर्यवज्ञानी, उनसे अवधिज्ञानी असंख्यातगुणा, उनसे मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी परस्पर तुल्य विशेषाधिक हैं, उन सबसे विभंगज्ञानी असंख्यातगुणा, उन सबसे केवलज्ञानी अनन्त गुणा, (सिद्धों की अपेक्षा) उनसे समुच्चय ज्ञानी विशेषाधिक, उन सबसे मति-श्रुत अज्ञानी परस्पर तुल्य अनन्त गुणा, उनसे समुच्चय अज्ञानी विशेष अधिक हैं । पहले और तीसरे गुणस्थान में तीन अज्ञान ही पाए जाते हैं, शेष में ज्ञान ।

---

१. उवसामगा चोद्दस, खवगा अठावीस ।

२. उवसामगा दस, खवगा वीस । (धवला जीवस्थान)

आगमों का ह्रास कैसे हुआ

जैनधर्म सदाकाल से क्रान्ति, विकास उन्नति एवं उत्थान का ही द्योतक तथा प्रेरक
का अपने स्वरूप एवं स्वभाव में अवस्थित होने को ही जैन धर्म कहते हैं। प्रत्येक वस्तु
हैं, एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। इसमें से दूसरे पहलू का उल्लेख तो वर्णित हो चु
का बाह्य पहलू क्या है? इसका उल्लेख करना भी अनिवार्य है। जो व्यावहारिक धर्म नि
भी धर्म का एक मुख्य अंग है, किन्तु निश्चय के अभाव में व्यावहारिक धर्म केवल मिथ्या
कारण तैयार होने पर ही निमित्त कारण सहयोगी हो सकता है। उपादान के बिना केव
महत्त्व नहीं रखता। इसी प्रकार आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के जो बाह्य निमित्त हैं,
उनकी भी परम आवश्यकता है। जब तक आत्मा की सिद्धावस्था नहीं हो जाती, तब त
की भी आवश्यकता रहती है। जैसे विद्यार्थी को पुस्तक की रक्षा करना अनिवार्य हो
मुमुक्षुओं के लिए जिन-शासन, निर्ग्रन्थ प्रवचन और सद्गुरु ये तीन बाह्य साधन भी पर
इनकी उन्नति व रक्षा करने में अनेक महामानवों ने अपने-अपने युग में पूरा-पूरा सहयो
वे मुक्तिपथ के पथिक बने।

इस जिन शासनरूप नन्दनवन को तीर्थंकर, श्रुतकेवली, गणधर, आचार्यप्रवर, सा
श्रावक-श्राविकाओं ने यथाशक्ति, यथासम्भव उत्साह, स्थिरीकरण, उववूह, प्रवचनप्रभावन
लता एवं श्रद्धारूपी जल से तन, मन, धन के द्वारा सींच-सींचकर समृद्ध बनाया। इसी का
लोक को अपने दिव्य सौरभ्य से अक्षुण्ण एवं अनवरत सुरभित कर रहा है। यद्यपि यह
प्राणियों का हितैषी है, इसमें किसी भी प्राणी का अहित निहित नहीं है। तदपि यह स
और विवेकी जीवों के लिए अधिक मनभावन तथा शान्तिप्रद है। मिथ्यादृष्टि एवं भ्रष्टा
यह लहलहाता हुआ नन्दन वन भी अखरता ही है, केवल अखरता ही नहीं, इसे उजाड़ने
भरसक प्रयत्न भी किए, परिणाम स्वरूप वे स्वयं मिट गए, इसे नहीं मिटा सके। जैसे सू
वह थूक वापिस थूकने वाले के मुँह पर ही आ गिरता है, वैसे ही उनके द्वारा किए गए
दुष्परिणाम स्वतः उन्हीं को भोगना पड़ा। यह जिन शासनरूपी गन्धहस्ती अपनी मस्त चा
चल रहा है। कहीं-कहीं मिथ्यादृष्टि अज्ञानी इसके पीछे मिथ्या प्रलाप करते हैं, किन्तु व
होता है और न भागता ही है, अपितु विश्व में सदा अप्रतिम ही रहा है।

जिन शासन का उद्देश्य किसी सम्प्रदाय, आश्रम, वर्ण, जाति आदि को दबाने का
करने का नहीं रहा, न है और न रहेगा, यह विशेषता इसी में है, अन्य किसी शासन में नहीं।
अनेकान्तवाद बौद्धिक मतभेद को मिटाता है। जो इसकी अहिंसा है, वह विश्वमैत्री सिखा
अपरिग्रहवाद (अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करना) जनता, देश व राष्ट्र में विषमता के स्थ
सीखाता है। इसका सत्य आत्मा को परमात्मत्व की ओर प्रगति करने के लिए अपूर्व एवं
प्रदान करता है। अखण्ड सत्यालोक में सर्वदा निवास करना ही परमात्मतत्व है। ऐसी अने
यह जिन शासन पूर्ण सुख और असीम शान्तिप्रद है।

जैसे ग्रहण, विग्रह और शिशिर ऋतुओं का क्रमशः साम्राज्य आ जाने पर याही

विधतीर्थ व आगमों की जो शोभा, प्रभावना सुव्यवस्था और विश्वमोहिनी सुरभि, तीर्थंकर, गणधर तथा निर्वाण प्राप्त करने वाले अन्तिम चरमशरीरी पट्टधर आचार्य पर्यन्त होती है, वह कालान्तर में उतनी नहीं रहती। बल्कि प्रतिदिन उसका ह्रास ही होता जाता है। यद्यपि इतनी जल्दी ह्रास नहीं हो सकता, जितनी जल्दी हो गया है, इसके पीछे अनेक विशेष कारण हो सकते हैं, जैसे कि—

१ भस्मराशि महाग्रह

जैन आगमों में ८८ महाग्रहों के नामोल्लेख स्पष्टरूप से मिलते हैं।[1] आजकल जो नौ महाग्रह प्रचलित हैं, उन सबका अन्तर्भाव ८८ में ही हो जाता है। नवग्रहों के अतिरिक्त जो शेष ग्रह हैं, उनका प्रभाव अधिकतर उन पर पड़ता है, जिनकी आयु सैंकड़ों, हजारों तथा लाखों वर्ष की हो या इतने काल तक किसी विशिष्ट महामानव की स्थापित संस्था पर अच्छा बुरा प्रभाव डालते हैं।

जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर का निर्वाण हुआ है, निर्वाण होने से पूर्व उसी रात्रि को क्रूरस्वभाव वाले भस्मराशि नामक तीसवें महाग्रह का भगवान के जन्म नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी के साथ योग लगा। वह महाग्रह दो हजार वर्ष की स्थिति वाला है। क्योंकि एक नक्षत्र पर वह इतने काल तक ही फल दे सकता है, किन्तु किसी महातेजस्वी के पुण्य प्रभाव से उसका होने वाला बुरा फल निस्तेज एवं नीरस भी हो जाता है।

अन्य किसी समय निर्वाण होने से पूर्व श्रमण भगवान महावीर से शक्रेन्द्र ने निवेदन किया, भगवन्! आपके जन्म नक्षत्र पर भस्मराशि महाग्रह संक्रमित होने वाला है। यह महाग्रह आपके द्वारा प्रवृत्त शासन को बहुत हानि पहुंचाएगा। अतः कृपा करके यदि आप अपनी आयु को मात्र दो घड़ी और बढा दें तो आपके शासन पर जो दो हजार वर्ष तक वह अपना कुप्रभाव डालेगा, वह फल नीरस हो जाएगा और आपका शासन चमकता ही रहेगा।

इन्द्र के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—इन्द्र! ऐसा कोई समर्थ व्यक्ति न हुआ, न है और न होगा—जो अपनी आयु को बढा सके।[1] इन्द्र! तुम इतने सशक्त हो जिसकी अखण्ड-आज्ञा बत्तीस लाख देवविमानों पर चल रही है, क्या तुम उस भस्मराशि की गति को अवरुद्ध या बदलने में समर्थ हो? इन्द्र ने कहा—भगवन्! मैं किसी भी ग्रहगति को रोकने या बदलने में समर्थ नहीं हूँ। तब भगवान् ने कहा—मैं दो घड़ी की अपनी आयु को कैसे बढा सकता हूँ? विश्व का जो अनादि नियम है, उसे बढाने, परिवर्तन करने तथा नष्ट करने की किसी में शक्ति नहीं है। जो कुछ जीव कर सकता है, वही उसके परिवर्तन करने में समर्थ है। उसकी शक्ति से जो कुछ बाहिर है, वह सदा बाहिर ही है।

यह उत्तर सुनकर इन्द्र ने विचार किया—भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं, जो कुछ इन्होंने अपने ज्ञान में जाना और देखा है, वह सदा सत्य है, निश्चित है, जो कुछ हो सकता है, वह जीव के प्रयोग से हो सकता है और जो नहीं हो सकता, वह तीन काल में भी नहीं हो सकता। इन्द्र को इस रहस्य का ज्ञान हुआ। जो इन्द्र ने निवेदन किया था, उसका ज्ञान भगवान् को पहले से ही था।

---

१. स्थानाङ्ग सूत्र स्था० २, उ० ३।

१. कल्पसूत्र व्याख्यान छठा।

यह जिन शासन भस्मराशि महाग्रह के प्रभाव से अनेक विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए, दैविक और भौतिक संकटों को झेलते हुए बड़े-बड़े मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानियों के द्वारा अन्धाधुन्ध प्रहारों से अपने आप को बचाते हुए, मन्थर गति से चलता ही रहा। दो हजार वर्ष के मध्यकाल में बहुत से आगमों का तथा अध्ययनों का व्यवच्छेद हो गया। इस समय अवशिष्ट आगम ही भावतीर्थ के मूलाधार हैं।

२. हुण्डावसर्पिणी

अनन्तकाल के वाद हुण्ड अवसर्पिणी का चक्र आता है। इस हुण्ड अवसर्पिणी काल में दस अच्छेरे हुए, जिनका अवतरण अनन्त काल के वाद हुआ है। जब तीसरे और चौथे आरे में दस अच्छेरे हुए, तब पंचम आरे में हुण्ड अवसर्पिणी काल का कोई दुष्प्रभाव न पड़े, यह कैसे हो सकता है। इस काल में असंयतों का मान, सम्मान, आदर-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा, बोलबाला अधिक रहा है और संयतों का बहुत ही कम। जिस राज्य में जाली सिक्के का दोर-दौरा अधिक बढ जाए और असली सिक्के का कम, उस राज्य की स्थिति जैसे डांवाडोल हो जाती है, वैसे ही इस काल का स्वभाव समझना चाहिए। यह काल भी आगम-व्यवच्छेद होने में कारण रहा है।

३. दुर्भिक्ष का प्रकोप

दुर्भिक्ष, कहत, अन्न-अभाव, दुष्काल ये सब एक ही अर्थ के वाची है। जब भिक्षु को भिक्षा मिलनी दुर्लभ हो जाए, उसे दुर्भिक्ष कहते हैं। जैन भिक्षु बयालीस दोष टालकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते हैं, वे सदोष भिक्षा मिलने पर भी नहीं ग्रहण करते। निर्दोष भिक्षा भी अभिग्रह फलने पर ही लेते हैं, अन्यथा नहीं। वि० सं० प्रारम्भ होने से पूर्व ही दुष्काल पड़ने लग गए। एक दुष्काल व्यापक रूप से १२ वर्षी और दूसरा ७ वर्ष पर्यन्त इत्यादि अनेक वार छोटे-वड़े दुष्काल पड़े। परिणामस्वरूप दुष्काल में निर्दोष भिक्षा न मिलने से बहुत से मुनिवर आगमों का अध्ययन तथा वाचना विधिपूर्वक न ले सके और न दे सके। इस कारण आगमधर मुनिवरों के स्वर्ग-सिधारने से आगमों का पठन-पाठन कम हो गया और कुछ अप्रमत्त आगमधर जैसे-तैसे इतस्ततः परिभ्रमण करके जीवन निर्वाह करते रहे तथा आगमवाचना भी यथातथा चालू रखी। कण्ठस्थ आगम ज्ञान कुछ २ विस्मृत भी हो गया, कुछ स्थल वीच-वीच में शिथिल हो गए, फिर भी यथा समय प्रामाणिकता से आगमों का पुनरुद्धार आगमधर करते ही रहे।

४. धारणा शक्ति की दुर्बलता

जहां तक चौदह पूर्वो का ज्ञान धारणा शक्ति की दुर्बलता से क्षीण होते- होते दस पूर्वों का ज्ञान रह गया, वहां तक तो ११ अङ्ग सूत्रों की वाचनाओं का आदान-प्रदान अविच्छिन्नरूप से होता रहा। तत्पश्चात् जैसे २ पूर्वो के सीखने-सीखाने का क्रम कम होता रहा, वैसे-वैसे ११ अङ्ग सूत्रों का भी। क्योंकि उस समय आगम लिखित रूप में नहीं थे, कण्ठस्थ सीखने-सिखाने की परिपाटी चली आ रही थी। जब तक धारणा शक्ति की प्रबलता थी, तब तक आगमों को कण्ठस्थ करने की और कोष्ठबुद्धि में सुरक्षित रखने की पद्धति चली आ रही थी। आगमों का लिखना बिलकुल निषिद्ध था। यदि किसी ने एक गाथा भी लिखी तो वह प्रायश्चित्त का भागी बनता था, क्योंकि वे लिखना आरम्भ-परिग्रह तथा जिनवाणी की अवहेलना समझते थे, वे ज्ञानी होते हुए निर्ग्रंथ थे। आवश्यकीय अत्यल्प वस्त्र व पात्र के अतिरिक्त और अपने पास कुछ भी नहीं रखते थे, उनकी दोनों समय देख-भाल भी करते थे। जैसे कोल्हू में कोई जीव पड़ जाए, तो उसका

बंचना बहुत कठिन होता है, वैसे ही पुस्तक में कोई जीव उत्पन्न हो जाए या प्रविष्ट हो जाए तो उसकी प्रतिलेखना करनी कठिन होती है, उससे जीव-जन्तुओं की हिंसा के भय से और परिग्रह बढ जाने से, निष्परिग्रह व्रत दूषित हो जाएगा, इस भय से पुस्तक जहां तहां रखने से आगमों की आशातना के भय से लिखने की पद्धति उन्होंने चालू ही नहीं की। ज्यों २ धारणा शक्ति का ह्रास होता गया, त्यों २ निर्ग्रंथ भी सग्रन्थ होते गए और आगमों को लिपि बद्ध करने का आविष्कार होने लगा। पहले विद्या कण्ठस्थ होती थी, आजकल पुस्तकों में रह गई है। यह धारणा शक्ति के ह्रास का परिणाम है।

५. आगम सीखने वालों की अल्पता

कुछ साधु पिछली आयु में दीक्षित हुए हैं। अतः वे सीखने में समर्थ न हो सके। कुछ तप में संलग्न रहते, कुछ ग्लान तथा स्थविरों की सेवा में संलग्न रहते, किसी में अधिक सीखने की अरुचि पाई जाती थी, कोई बुद्धि की मन्दता से जितना चाहता, उतना ग्रहण नहीं कर सकता था। लघुवयस्क, कुशाग्र बुद्धि गम्भीर, आगमज्ञान सीखने में अधिक रुचि वाला, प्रमाद तथा विकथाओं से निवृत्त, नीरोगकाय, एवं दीर्घायुष्क आत्मा, निश्चय ही आगम वेत्ता बन सकता है, ऐसे होनहार मुनिवरों की न्यूनता, पूर्वों तथा अन्य आगमों के व्यवच्छेद में कारण बने।

६. सम्प्रदायवाद का उद्गम

जो संघ पहले एक धारा के रूप में वह रहा था, उसकी दो धाराएं वीर नि० सं० ६०९ के वर्ष में बन गईं। आर्यकृष्ण के शिष्य शिवभूति ने दिगम्बरत्व की बुनियाद डाली। जो स्थविरकल्पी थे, वे श्वेताम्बर कहलाए, जो पहले कभी जिनकल्पी थे, वे अपने आपको दिगम्बर कहलाने लगे। संघ का बटवारा हो जाने से पारस्परिक विद्वेष, निन्दा एवं पैशुन्य बढ जाने से सहधर्मी वत्सलता के स्थान में कलह ने अपना अड्डा बना लिया। संप्रदाय के संघर्ष से भी संघ को बहुत हानि उठानी पड़ी। ऐसे अनेकों ही कारण बन गए, हो सकता है इनके अतिरिक्त आगमों के ह्रास में अन्य भी अज्ञात कारण हों, क्योंकि जहां हृदय में वक्रता और बुद्धि में जड़ता हो, वहां संघ में सुव्यवस्था नहीं रह सकती। अनधिकारी की महत्त्वाकांक्षा, प्रवचन-प्रभावना की न्यूनता, आज्ञा विरुद्ध प्रवृत्ति, धारणा शक्ति की दुर्बलता, दुष्काल का प्रकोप, हुण्ड-अवसर्पिणी, तथा भस्मराशि महाग्रह का दुष्प्रभाव, विस्मृतिदोष, विकथा प्रमाद की वृद्धि, भ्रातृत्व, मैत्री और वत्सलता की हीनता आदि अनेक कारणों से दृष्टिवाद सर्वथा तथा यत्किंचिद्रूपेण अङ्ग सूत्रों के अंश भी व्यवच्छिन्न हो गए। कुछ लिपिबद्ध होने के बाद भी आततायियों के युगों में, व्यवच्छिन्न हो गए। यह हैं आगमों के ह्रास के मुख्य-मुख्य कारण।

नन्दीसूत्र का ग्रन्थाग्र और वृत्तियां

वर्ण छन्दों में एक अनुष्टुप् श्लोक होता है, जिसमें प्रायः बत्तीस अक्षर होते हैं। ऐसे ७०० अनुष्टुप् श्लोकों के परिमाण जितना नन्दीसूत्रका परिमाण है। यद्यपि इस सूत्र में गद्य की बहुलता है, पद्य तो बहुत ही कम है, तदपि नन्दीजी में जितने अक्षर हैं, यदि उन अक्षरोंके अनुष्टुप् श्लोक बनाए जाएं, तो ७०० बन सकेंगे। इसलिए इस सूत्र का ग्रन्थाग्र ७०० श्लोक परिमाण है।

आगमों पर लिखी गई सब से प्राचीन व्याख्या निर्युक्ति है। आगमों पर जितनी निर्युक्तियां गिनती

हैं, वे सब पद्य में हैं और उनकी भाषा प्राकृत है। निर्युक्ति के आद्य-प्रणेता भद्रबाहुस्वामीजी माने जाते हैं। निर्युक्तियों से पूर्व अन्य किसी वृत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। निर्युक्ति में प्रत्येक अध्ययन की भूमिका तथा अन्य अनेक विचारणीय विषयों को बहुत कुछ स्पष्ट एवं सुगम बनाने के लिए भद्रबाहुजी ने भरसक-प्रयास किया है। आवश्यक, निशीथ, दशवैकालिक, बृहत्कल्प, उत्तराध्ययन, सूर्यप्रज्ञप्ति, आचारांग और सूत्रकृतांग आदि सूत्रों पर निर्युक्तियों का प्रणयन किया गया, किन्तु नन्दीसूत्र पर अभी तक कोई भी निर्युक्ति मेरे दृष्टिगोचर नहीं हो सकी। सभी आगमों पर निर्युक्तियां नहीं लिखी गईं। हां, इतना तो दृढ़ता से अवश्य कहा जा सकता है कि देववाचकजी से निर्युक्तिकार पहले हुए हैं।

नन्दीसूत्र पर चूर्णि

चूर्णिकारों में जिनदासमहत्तर का स्थान अग्रगण्य है। इनका समय वि० सं० सातवीं शती का माना जाता है। जिनदासजी ने आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध एवं नन्दीसूत्र आदि अनेक सूत्रों पर चूर्णि की रचना की। जैसे चूर्ण में अनेक वस्तुओं की सम्मिश्रणता होती है, वैसेही जिस रचना में मुख्यतया प्राकृत भाषा है और संस्कृत, अर्द्धमागधी, और शौरसेनी आदि देशी भाषाओं का भी जिसमें सम्मिश्रण हो, उसे चूर्णि कहते हैं। चूर्णियां प्रायः गद्य हैं, कहीं-कहीं पद्य भी प्रयुक्त हैं। चूर्णिकार का लक्ष्य भी क्लिष्ट विषय को विशद करने का रहा है। नन्दीसूत्र में चूर्णि का ग्रन्थाग्र अनुमानतः १५०० गाथाओं के परिमाण जितना है।

नन्दीसूत्र पर हारिभद्रीया वृत्ति

याकिनीसूनु हरिभद्रजी ब्राह्मणवर्ण से आए हुए विद्वच्छिरोमणि युगप्रवर्त्तक जैनाचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने जीवन में शास्त्रवार्ता, षड्दर्शनसमुच्चय, धूर्ताख्यान, विंशतिविंशिका, समराइच्चकहा आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ और अनेक आगमों पर संस्कृत वृत्तियां लिखीं। सुना जाता है, उन्होंने अपने जीवन में १४४४ ग्रन्थों का निर्माण किया, उनमें कतिपय ही आजकल उपलब्ध हैं, अधिकतर काल-दोष से व्यवच्छिन्न हो गए। उनकी गति संस्कृत और प्राकृत भाषा में समान थी। कथा साहित्य प्रायः प्राकृत भाषा में और दर्शन साहित्य संस्कृत भाषा में रचना करने वालों में आपका नाम विशेषोल्लेखनीय है। आपने दशवैकालिक, आवश्यक, प्रज्ञापना इत्यादि अनेक सूत्रों पर संस्कृत वृत्तियां लिखीं। नन्दीसूत्र पर भी आपने संस्कृत वृत्ति लिखी, जो कि लघु होती हुई भी, बृहद् है। जिसका ग्रन्थाग्र २३३६ श्लोक परिमाण है, आचार्य हरिभद्रजी के होने का समय वि० सं० ६वीं शती का निश्चित किया जाता है। श्रीमान् मेरुतुंग आचार्य स्वप्रणीत विचार-श्रेणि में लिखते हैं—

पंच सए पणसीए विक्कम, कालाओ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्द सूरि सूरो, भवियाणं दिसउ कल्लाणं॥

आचार्य हरिभद्रजी विक्रम सं० ५८५ में देवत्व को प्राप्त हुए, इस उद्धरण से भी छठी शती सिद्ध होती है।

नन्दीसूत्र पर मलयगिरि संस्कृत वृत्ति

आचार्य मलयगिरि भी अपने युग के अनुपम आचार्य हुए हैं। उन्होंने अनेक आगमों पर बृहद् वृत्तियां लिखीं, जैसे कि राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, आवश्यक,

नन्दी इत्यादि आगमों पर महत्त्वपूर्ण दार्शनिक शैली से व्याख्याएँ लिखीं। नन्दीसूत्र पर जो व्याख्या लिखी है, वह भी विशेष पठनीय है। आपकी अभिरुचि अधिकतर आगमों की ओर ही रही है। आप वृत्तिकार ही नहीं, भाष्यकार भी हुए हैं. आप जैन संस्कारों से सुसंस्कृत थे। आपने नन्दीसूत्र पर जो बृहद् वृत्ति लिखी है, उसका ग्रन्थाग्र ७७३२ श्लोक परिमाण है।

नन्दीसूत्र पर चन्द्रसूरिजी ने भी ३००० श्लोक परिमाण टिप्पणी लिखी है। यदि किसी जिज्ञासु ने नन्दीसूत्र के विषय को स्पष्ट रूपेण समझना हो, तो उसके लिए विशेषावश्यक भाष्य अधिक उपयोगी है। इसके रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए हैं। उनका समय ईसवी सन् ६०९ का वर्ष निश्चित होता है। भाष्य प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। गाथाओं की संख्या लगभग ३६०० है। यह आगमों एवं दर्शनों की कुञ्जी है। इसे जैन सिद्धान्त का महाकोष यदि कहा जाए तो कोई अनुचित न होगा। इसमें नन्दी और अनुयोगद्वार दोनों सूत्रों का विस्तृत विवेचन है। "करेमि भन्ते! सामाइयं" इस पाठ की व्याख्या को लेकर विषय प्रारंभ किया और इसी के साथ विशेषावश्यक भाष्य समाप्त हुआ। इसके अध्ययन करने से पूर्व आगमों का, वृत्तियों का, वैदिकदर्शन, बौद्धदर्शन, चार्वाकदर्शन का परिज्ञान होना आवश्यकीय है। भाषा सुगम है और भाव गंभीर हैं।

प्रभा टीका

नन्दीसूत्र पर एक जैनेतर विद्वान् ने संस्कृत विवृत्ति लिखी है, जिसका नाम प्रभा है। वस्तुतः यह वृत्ति मलयगिरि कृत विवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए रची गई है। बीकानेर में ज्ञान-भंडार के संस्थापक यतिवर्य्य हितवल्लभ की शुभ प्रेरणा से पं० जयदयालजी (जो कि संस्कृत प्रधान अध्यापक श्री दरबार हाई स्कूल बीकानेर) ने लिखी वह १५६ पन्नों में लिखित है। उसकी प्रेस कॉपी अगर चन्द नाहटाजी के भण्डार में निहित है। यह वृत्ति वि० सं० १९५८ के वैशाख शुक्ला तृतीया में लिखी गई।

पूज्यपाद आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी म० ने प्रस्तुत नन्दीसूत्र की देवनागरी में विशद व्याख्या २० वर्ष पूर्व लिखी थी, उस समय पूज्य श्री जी उपाध्याय पद का सुशोभित कर रहे थे। वि० सं० २००२ वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को नन्दीसूत्र का लेखन कार्य पूर्ण किया। अभी तक नन्दीसूत्र पर जितनी हिन्दी टीकाएं उपलब्ध हैं, उन सब में यह व्याख्या विशद, सुगम, सुबोध एवं विस्तृत होने से अद्वितीय है। इन सब रचनाओं से नन्दीसूत्र की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

देववाचकजी का संक्षिप्त परिचय

देववाचकजी सौराष्ट्र प्रदेश के एक क्षत्रिय कुल मुकुट, काश्यप गोत्री मुनिसत्तम हुए हैं। जिन्होंने आचारांग आदि ग्यारह अंग सूत्रों के अतिरिक्त दो पूर्वों का अध्ययन भी किया। अध्ययन कला बृहस्पति के तुल्य होने से श्रीसंघ ने कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए देववाचक पद से विभूषित किया। इनका माता-पिता ने क्या नाम रखा था ? यह अभी खोज का विषय है। नन्दीसूत्र का संकलन या रचना करने वाले देववाचकजी हुए हैं। वे ही आगे चलकर समयान्तरमें दूष्यगणी के पट्टधरगणी हुए हैं अर्थात् उपाध्याय से आचार्य बने हैं। दैवी संपत्ति व आध्यात्मिक ऋद्धि से समृद्ध होने के कारण देवर्द्धि गणी के नाम से ख्यात हुए हैं। तत्कालीन श्रमणों की अपेक्षा क्षमाप्रधान श्रमण होने से देवर्द्धिगणी-क्षमाश्रमण के नाम से

अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। एक देवर्द्धिगणी-क्षमाश्रमण इनसे भी पहले हुए हैं, वे काश्यप गोत्री नहीं, बल्कि माठरगोत्री हुए हैं, ऐसा कल्पसूत्र की स्थविरावलि में स्पष्ट-उल्लेख है।

काश्यपगोत्री देवर्द्धिगणी-क्षमाश्रमणजी अपने युग के महान् युगप्रवर्त्तक, विचारशील, दीर्घदर्शी, जिन प्रवचन के अनन्य श्रद्धालु, श्रीसंघ के अधिनायक आचार्य प्रवर हुए हैं। जिन प्रवचन को स्थिर एवं चिरस्थायी रखने के लिए उन्होंने वल्लभीनगर में बहुश्रुत मुनिवरों के एक वृहत्सम्मेलन का आयोजन किया। उस सम्मेलन में आचार्यश्री जी ने सूत्रों को लिपिबद्ध करने के लिए अपनी सम्मति प्रकट की। उन्होंने कहा, बौद्धिक शक्ति प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। यदि हम आगमों को लिपिबद्ध नहीं करेंगे, तो वह समय दूर नहीं है, जबकि समस्त आगम लुप्त हो जाएंगे। आगमों के अभाव होने पर तीर्थ का व्यवच्छेद होना अनिवार्य है, क्योंकि कारण के अभाव होने पर कार्य का अभाव भी अनिवार्य है।

आचार्य प्रवर के इस प्रस्ताव से अधिकतर मुनिवर सहमत हो गए, किन्तु कतिपय निर्ग्रन्थ इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए। क्योंकि उन का यह कथन था, यदि आगमों को लिपिबद्ध किया गया तो निर्गन्थ श्रमणवरों में आरम्भ और परिग्रह की प्रवृति का बढ़ जाना सहज है। दूसरा कारण उन्होंने यह भी बतलाया कि यदि आगमों का लिपिबद्ध करना उचित होता, तो गणधरों के होते हुए ही आगमलिपिबद्ध हो जाते, वे चतुर्ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने भी अपने ज्ञान में यही देखा कि आगमों को लिपिबद्ध करने से आरम्भ और परिग्रह तथा आशातना आदि दोषों को जन्म देना है। अतः उक्त दोषों को लक्ष्य में रखकर, उन्होंने आगमों को लिपिबद्ध करने तथा कराने की चेष्टा नहीं की। हमें भी उन्हीं के पदचिन्हों पर ही चलना चाहिए, विरुद्ध नहीं, इतना कहकर वे मौन होगए।

इस का उत्तर देते हुए देवर्द्धिगणी ने कहा— यह ठीक है कि आगमों को लिपिबद्ध करने से अनेक दोषों का उद्भव होना अनिवार्य है और श्रमण निर्ग्रन्थ उन दोषों से अछूते नहीं रह सकेंगे। यदि श्रुतज्ञान का सर्वथा विच्छेद हो गया, तो श्रमण निर्ग्रन्थ कहां रह सकेंगे? "मूलं नास्ति कुतः शाखा" तीर्थ का अस्तित्व जिनप्रवचन पर ही निर्भर है। जड़ें नष्ट व शुष्क हो जाने पर वृक्ष हरा भरा कहां रह सकता है, कहा भी है—"सर्व नाशे समुत्पन्नेऽर्धं त्यजति पण्डितः" इस उक्ति को लक्ष्य में रखते हुए समयानुसार आगमों का लिपिबद्ध करना ही सर्वथा उचित है।

गणधरों के युग में मुनिपुङ्गवों की धारणाशक्ति बड़ी प्रबल थी, बुद्धि स्वच्छ एवं निर्मल थी, हृदय निष्कलंक एवं ऋजु था, श्रद्धा की प्रबलता थी इस कारण उन्हें पुस्तकों की आवश्यकता ही नहीं रहती थी। स्मरण शक्ति की प्रबलता से वे आगमों को कण्ठस्थ करते थे। उन में विस्मृति का दोष नहीं पाया जाता था। इस लिए उन्हें आगमों को लिपिबद्ध करने की कभी उपयोगिता अनुभव नहीं हुई। इस कारण उन्होंने आगमों को लिपिबद्ध नहीं किया। आवश्यकता ही अविष्कार की जननी होती है। इस प्रकार क्षमाश्रमण जी ने असहमत मुनिवरों को कथंचित् सहमत किया।

तत्पश्चात् जिन बहुश्रुत मुनियों के जो-जो आगम कण्ठस्थ थे, उन्हें प्रामाणिकता से लिखना प्रारम्भ किया। लिखने के अनन्तर जो-जो प्रतियां परस्पर मिलती गई, उन्हें प्रमाण रूप से स्वीकार कर लिया गया, जहां-जहां कहीं पाठ-भेद देखा, उन-उन पाठों को पाठान्तर के रूप में रखते गए। इस प्रकार उन्होंने दोषावदोष आगमों को संकलन सहित लिपिबद्ध किया। फिर भी बहुत कुछ आगम विस्मृति दोष से व्यवच्छिन्न हो गए और आचाराङ्ग सूत्र का महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन सर्वथा लुप्त हो गया।

जिस समय आगम लिपिबद्ध किए गए, उस समय ८४ आगम विद्यमान थे। काल दोष से उन में से भी अधिकतर व्यवच्छिन्न हो गए हैं। वर्तमान काल में ४५ आगम हैं। श्वेताम्बर मन्दिर मार्गी उपलब्ध सभी आगमों को प्रामाणिकता देते हैं, जब कि श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन और श्वेताम्बर तेरापन्थ जैन उक्त संख्यक आगमों में से ३२ आगमों को प्रामाणिकता देते हैं। दिगम्बर जैन के मान्य शास्त्रों में उपर्युक्त आगमों के नाम तो मिलते हैं, किन्तु उन्हें मान्यता देने से वे सर्वथा इन्कार करते हैं। उन का विश्वास है कि १२ अङ्ग और १२ उपाङ्ग तथा चार मूल और चार छेद इत्यादि सभी आगम काल दोष से व्यवच्छिन्न हो गए हैं। जिन आगमों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और वस्त्र-पात्र का उल्लेख आया, उन्हें मानने से उन्होंने सर्वथा इन्कार कर दिया। सम्भव है, उक्त आगमों को मान्यता न देने से मुख्य कारण यही रहा हो।

आधुनिक किन्हीं विद्वानों की मान्यता है कि नन्दी के रचयिता देववाचक हुए हैं और आगमों को लिपिबद्ध करने वाले देवर्द्धिगणी हुए हैं। अतः उक्त दो महानुभाव अलग-अलग समय में हुए हैं, एक ही व्यक्ति नहीं। किन्तु उन की यह धारणा हृदयंगम नहीं होती, क्योंकि देववाचक जी ने नन्दी की स्थविरावलि में दूष्यगणी तक ही अनुयोगधर आचार्य और वाचकों की नामावलि का उल्लेख किया है। काश्यप गोत्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण दूष्यगणी के पट्टधर आचार्य हुए हैं। अतः सिद्ध हुआ, देववाचक और और देवर्द्धिगणी एक ही व्यक्ति के अपर नाम और पदवी है। जो पहले देववाचक के नाम से ख्यात थे, वे ही देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नाम से आगे चलकर विख्यात हुए। किसी अज्ञात मुनिवर ने कल्पसूत्र की स्थविरावलि में लिखा है—

सुत्तत्थरयण भरिए, खम-दम-मद्दव गुणेहिं सम्पन्ने।
देवड्ढि खमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि॥

अर्थात जो सूत्र ओर अर्थ रूप रत्नों से समृद्ध, क्षमा, दान्त, मार्दव आदि अनेक गुणों से सम्पन्न हैं, ऐसे काश्यप गोत्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को मैं सविधि वन्दन करता हूं। नन्दी सूत्र के संकलन करने वाले तथा आगमों को लिपिबद्धकरने वाले देवर्द्धिगणीजी को लगभग १५०० वर्ष होगए हैं। आजकल जो भी आगम उपलब्ध हैं, इस का श्रेयः उन्हीं को मिला है।

आराधना के प्रकार

जिस से आत्मा की वैभाविक पर्याय निवृत्त होजाए और स्वाभाविक पर्याय में परिणति हो जाए, उसे आराधना कहते हैं। अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से साधना में उत्तीर्ण होजाना ही आराधना है। वह दो प्रकार की होती है—धार्मिक आराधना और केवलि-आराधना। धर्म ध्यान के द्वारा जो आराधना होती है, उसे धार्मिक आराधना कहते हैं। जो शुक्ल ध्यान के द्वारा आराधना की जाए, वह केवलि-आराधना कहलाती है।[1] धार्मिक आराधना भी दो प्रकार से की जाती है— एक श्रुतधर्म से और दूसरी चारित्र धर्म से। सम्यक्त्व सहित आगमों का विधिपूर्वक अध्ययन करना श्रुतधर्म कहलाता है। श्रुतज्ञान जितना प्रबल होगा, उतना ही चारित्र प्रबल होगा। जैसे प्रकाश सहित चक्षुमान व्यक्ति सभी प्रकार की क्रियाएं कर सकता है, किसी भी सूक्ष्म व स्थूल क्रिया करने में उसे कोई बाधा नहीं आती, वैसे ही सम्यग-

---

१ देखो स्थानाङ्ग सूत्र, स्था० २ उ० ४

दृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान-आलोक से चारित्र की आराधना में सुगमता रहती है। दृष्टि सम्यक् होने पर ज्ञानाराधना भी धर्म है, क्योंकि धर्मध्यान के सौध पर आगम अभ्यास के द्वारा पहुंचने में सुविधा रहती है। आगमों का श्रवण और अध्ययन का सम्बन्ध श्रुतधर्म से है।

केवलि-आराधना भी दो प्रकार की होती है—अन्तक्रिया केवलि-आराधना और कल्पविमान-औपपत्तिका। इन में पहली आराधना करने वाला जीव सिद्धत्व प्राप्त करता है और दूसरी आराधना करने वाला कल्प और कल्पातीत वैमानिक देव बनता है। क्या केवली भी देवलोक में उत्पन्न हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है, जो मुनिवर चतुर्दशपूर्वधर, अवधिज्ञानी तथा मनःपर्यवज्ञानी हैं, उन्हें भी केवली कहते हैं।[२] इस दृष्टि से श्रुतकेवली भी देवलोक में उत्पन्न हो सकता है।

सम्यक्त्व सहित आगम ज्ञान पराविद्या है। अन्यथा अपराविद्या है। क्योंकि विद्या दो प्रकार की होती है, एक अपरा और दूसरी परा। लौकिकी और लोकोत्तरिकी, व्यावहारिकी और नैश्चयिकी, मिथ्या-श्रुत और सम्यक्श्रुत, इन नामान्तरों से भी उक्त दोनों विद्याओं का बोध हो जाता है।

अपरा विद्या का सीधा संबन्ध बहिर्जगत् से है, उस का फल है, भौतिक तत्त्वों का विकास, आजीविका, पारितोषिक, सत्ता-ऐश्वर्य, यशः और प्रतिष्ठा का लाभ। इस विद्या के सन्निकट साथी हैं—पदलोलुपता, तृष्णा, हिंसा, शोषणता, विद्रोह, मिथ्यात्व, कृतघ्नता, राग-द्वेष, विषय-कषाय। इस विद्या का पारंपरिक फल है—दुर्गतियों में परिभ्रमण एवं अनन्त संसार की वृद्धि आदि इसके दुष्परिणाम हैं। इसी को पारम्परिक फल भी कहते हैं।

पराविद्याके लक्षण

जिस विद्या से आत्मा सदा के लिए ज्ञान से आलोकित हो जाए, अज्ञान एवं मिथ्यात्व की सर्वथा निवृत्ति होजाए अथवा जिस से आत्मा अपूर्ण से पूर्णता की ओर बढ़े, वही पराविद्या है। वह सुनने से, अध्ययन करने से, अनुभव एवं अनुप्रेक्षा से प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त होती है।

अहिंसा, सत्य, क्षमा, तप, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम त्याग, संतोष, लाघव, ब्रह्मचर्यवास, प्रशम, संवेग, विरक्ति, करुणा, आस्था, शान्ति, मध्यस्थता, साधुता, सभ्यता, विनयता, वीतरागता एवं निष्परिग्रहता आदि अनन्तगुण पराविद्या के सहचारी हैं। देशविरति और सर्वविरति का होना उस का साक्षात् सुपरिणाम है।

उसी भव में सिद्धत्व प्राप्त करना, कर्म शेष रहने पर कल्प देवलोक में महर्द्धिक, महाप्रभावक, दीर्घस्थितिक देवत्व प्राप्त करना तथा कल्पातीत एवं अनुत्तर विमान में देवत्व प्राप्त करना, यह सब पराविद्या के परंपर फल हैं।

नन्दीसूत्र समस्त श्रुत साहित्य का एक बिन्दु है, वह पराविद्या का असाधारण कारण है। आत्मज्ञान हो जाना ही पराविद्या का अंतिम फल है, क्योंकि आत्मस्वरूप की पहचान इसी विद्या से होती है। इन्सान को आत्मलक्ष्यी बनाने वाली यही विद्या है। इसी विद्या से कर्मों एवं दुःखों का तथा अज्ञान का

---

२ देखो स्थानाङ्ग सूत्र, स्था० ३, उ० ४।

सर्वथा क्षय होता है, कहा भी है— "सा विद्या या विमुक्तये" इसी विद्या के सहयोग से शुक्लध्यान तथा यथाख्यात चारित्र की आराधना हो सकती है। पराविद्या आत्मा में पाई जाती है, न कि किताबों में? हां, जो श्रुत या आगम पुस्तक रूप में है, वह सम्यग्दृष्टि तथा मार्गानुसारी के लिए पराविद्या का कारण है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के लिए सभी श्रुतसाहित्य अपराविद्या ही है। आगम में रत्नत्रय की आराधनाके तीन-तीन प्रकार बतलाए हैं—

कइविहा णं भंते! आराहणा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा आराहणा पण्णत्ता, तंजहा नाणाराहणा, दंसणाराहणा चरित्ताराहणा। नाणाराहणा णं भंते! कइविहा पण्णत्ता! गोयमा! तिविहा प०, तं० उक्कोसिया, मज्झिमा, जहण्णा। दंसणाराहणा णं भंते! कइविहा? एवं चेव तिविहावि, एवं चरित्ताराहणावि।[1]

नए ज्ञान की प्राप्ति और प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिए सतत प्रयास करना ही ज्ञान की आराधना कहलाती है। तत्त्व और उनके अर्थों पर दृढ़श्रद्धा रखना ही दर्शनाराधना कहलाती है। शुद्ध दशा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना ही चारित्र है। जिस क्रिया से आत्मा की बद्धकर्मों से सर्वथा विमुक्ति हो जाए, आत्मा स्वच्छ-निर्मल होजाए, पूर्णतया विकसित होजाए, वैसी क्रिया में प्रयत्नशील रहने को ही चारित्र-आराधना कहते हैं। आगे चलकर गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—

जस्स णं भंते! उक्कोसिया नाणाराहणा, तस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा? जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा, तस्स उक्कोसिया नाणाराहणा? गोयमा! जस्स उक्कोसिया नाणाराहणा तस्स दंसणाराहणा उक्कोसा वा अजहण्णमणुक्कोसा वा, जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स नाणाराहणा उक्कोसा वा, जहण्णा वा, अजहण्णमणुक्कोसा वा।

अर्थात् भगवन्! जिस की उत्कृष्ट ज्ञान आराधना हो रही है, क्या उसकी दर्शन आराधना भी उत्कृष्ट ही हो रही है? जिस की दर्शन आराधना उत्कृष्ट हो रही है, क्या उस की ज्ञान आराधना भी उत्कृष्ट ही हो रही है? गौतम गणी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए महावीर प्रभु ने कहा—गौतम! जिस की ज्ञान आराधना उत्कृष्ट हो रही है, उस की दर्शन आराधना उत्कृष्ट और मध्यम हो सकती है, किन्तु जिस की दर्शन आराधना उत्कृष्ट स्तर पर हो रही है, उस की ज्ञान आराधना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार की हो सकती है।

इस प्रसंग में ज्ञान आराधना का तात्पर्य श्रुतज्ञान से है, न कि केवलज्ञान से। उत्कृष्ट दर्शन आराधना का आशय है क्षायिक सम्यक्त्व के अभिमुख क्षयोपशम सम्यक्त्व की प्रगति एवं स्वच्छता से। क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने मात्र को ही दर्शनाराधना नहीं कहते, सम्यक्त्व को उत्तरोत्तर विशुद्ध भावों से उस स्तर पर पहुँचाना, जहां से पुनः प्रतिपाति न होसके, उसे उत्कृष्ट दर्शन आराधना कहते हैं। गौतम स्वामी ज्ञान और चारित्र की तुलना के विषय में फिर प्रश्न करते हैं—

जस्स णं भंते! उक्कोसिया नाणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा? जस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स उक्कोसिया नाणाराहणा? जहा य उक्कोसिया नाणाराहणा य दंसणाराहणा य भणिया, तहा उक्कोसिया नाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा।

भगवन्! जिस की ज्ञानाराधना उत्कृष्ट स्तर पर हो रही है, क्या उस की चारित्र आराधना भी उत्कृष्ट ही हो रही है? जिस की उत्कृष्ट चारित्र आराधना हो रही है, क्या उस की ज्ञान आराधना भी

---

१ भगवती सूत्र, श० ८, उ० १०।

उत्कृष्ट हो रही है ? उत्तर देते हुए भगवान ने कहा— गौतम ! जिस की ज्ञान-आराधना उत्कृष्ट हो रही है, उस की चारित्र आराधना उत्कृष्ट और मध्यम दोनों तरह की हो सकती है, किन्तु जिस की चारित्र आराधना उत्कृष्ट हो रही है, उस की ज्ञान आराधना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीनों तरह की हो सकती है। यहाँ उत्कृष्ट चारित्र से तात्पर्य है—पांच चारित्रों में से किसी एक चारित्र का चरम सीमा तक पहुंच जाना। उत्कृष्ट ज्ञान आराधना का अर्थ प्रतिपूर्ण द्वादशाङ्ग गणिपिटक का ज्ञान प्राप्त करना तथा अयोगि भवस्थ केवलज्ञान के होते हुए यथाख्यात चारित्र की उत्कृष्टता का होना। जिस की चारित्र आराधना उत्कृष्ट हो रही है, उस की दर्शन आराधना नियमेन उत्कृष्ट ही होती है, किन्तु दर्शन की उत्कृष्ट आराधना में चारित्र की आराधना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीनों तरह की हो सकती है।

उत्कृष्ट ज्ञानाराधना का फल

उक्कोसियं णं भंते ! णाणाराहणं आराहित्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, जाव अंत करइ। अत्थेगइए। दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ। अत्थेगइए कप्पोवएसु कप्पातीएसु वा उववज्जइ।

भगवन् ! जीव उत्कृष्ट ज्ञान आराधना करके कितने भवों में सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! कोई उसी भव में सिद्ध होता है और कोई दूसरे भव को अतिक्रम नहीं करता, कोई कल्प देवलोकों में और कोई कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उत्कृष्ट दर्शन और उत्कृष्ट चारित्र आराधना का फल समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है, उत्कृष्ट चारित्र का आराधक कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होता है, कल्प देवलोकों में नहीं। यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयत आयु बांधकर उपशान्तकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान में काल करे तो यह औपशमिक चारित्र की उत्कृष्टता है और वह निश्चय ही अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होता है।

दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ—उत्कृष्ट ज्ञानाराधक जीव कभी भी मनुष्य गति में उत्पन्न नहीं होता। कर्म शेष रहने पर नियमेन देवलोक में उत्पन्न होता है, फिर वह दूसरे भव से कैसे सिद्ध होता है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि एक भव देवगति का बीच में करके वहाँ से आयु पूरी करके निश्चय ही वह मनुष्य बनता है, वह जीव उस भव में नियमेन सिद्ध हो जाता है। मनुष्य के दोनों भव आराधक ही रहते हैं। अथवा जिस भव में आराधना की है, उसके अतिरिक्त एक देव भव और दूसरा मनुष्य भव इस अपेक्षा से दूसरे भव को अतिक्रम नहीं करता। मनुष्य भव के अतिरिक्त अन्य भव में रत्नत्रय की आराधना नहीं हो सकती। रत्नत्रय का मध्यम आराधक उसी भव में सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकता, दूसरे भव में सिद्ध हो सकता है, अन्यथा तीसरे भव को अतिक्रम नहीं करता। इस कथन से भी दूसरा या तीसरा मनुष्य भव आश्रयी समझना चाहिए।

जिस साधक ने रत्नत्रय की जघन्य आराधना की है, वह तीसरे भव से पहले सिद्ध नहीं हो सकता। वह तीसरे भव से अधिक-से-अधिक सात-आठ भव से अवश्य सिद्ध हो जाएगा। जब तक जीव चरमशरीरी बनकर मनुष्य भव में नहीं आता, तब तक क्षपक श्रेणि में आरोहण नहीं कर सकता। आराधक मनुष्य वैमानिक देव के अतिरिक्त अन्य किसी गति में नहीं जाता और देव भव से च्यवकर सिवा मनुष्य भव के अन्य किसी गति में उत्पन्न नहीं होता। विराधक संयमसहित मनुष्य भव तो असंख्यात भी

हो सकते हैं, किन्तु आराधक भव जितने अधिक-से-अधिक हो सकते हैं, 'वे आठ ही हो सकते हैं' अधिक नहीं। यह कथन जघन्य रत्नत्रय के आराधक के विषय में समझना चाहिए।

ज्ञान सम्यक्त्व का सहचारी गुण है और अज्ञान मिथ्यात्व का। सम्यग्दर्शन के समकाल जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उनको ज्ञान आराधना और दर्शन आराधना नहीं कहते, अपितु उसके निरतिचार पालन करने को आराधना कहते हैं। रत्नत्रय में दोष न लगाना अथवा दोष लग जाने पर मायारहित आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि प्रायश्चित्त करने से रत्नत्रय को विशुद्ध, विशुद्धतर करना ही आराधना कहलाती है। रत्नत्रय की साधना में उत्तीर्ण होने को आराधक कहते हैं और अनुत्तीर्ण होने को विराधक। श्रुतज्ञान की जब सर्वोच्च आराधना होती है, तब वह आराधक उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार दर्शन और चारित्र के विषय में समझ लेना चाहिए। जब तीनों की आराधना सर्वोच्च श्रेणी तक पहुंच जाए, तब उसी भव में आत्मा का मोक्ष हो जाता है।

साधक के जीवन का मूल्यांकन आयु के अन्तिम क्षण में ही हो जाता कि जीवन आराधनामय व्यतीत हुआ है या विराधनामय। यदि जीवन आराधनामय रहा तो काललब्धि या कर्मशेष रहने पर आगे आने वाले मनुष्यभव जितने भी होंगे, वे सब आराधनामय ही व्यतीत होंगे। देव भव और मनुष्य भव के सिवा अन्य नरक और तिर्यंच गति में भोगने योग्य कर्म प्रकृतियों का वह बन्ध नहीं करता। देवों में वैमानिक और मनुष्यों में उच्चकुल, उच्चजाति में जन्म लेता है। मनुष्य भव में उत्तरोत्तर आराधना विशुद्ध-विशुद्धतर होती जाती है। जिस भव में रत्नत्रय की सर्वोच्च आराधना हो जाएगी, उसी भव में ही मोक्ष प्राप्त होता है। यदि एक में भी अपूर्णता रही तो मोक्ष नहीं, देव भव करना पड़ता है। तीनों की आराधना जब तक सर्वोत्कृष्ट नहीं हो जाती, तब तक मोक्ष नहीं, ऐसा केवलज्ञानियों का अटल सिद्धान्त है। जहां तीनों की आराधना सर्वोत्कृष्ट हो, वहां ३, जहां मध्यम स्तर पर हो वहां २, जहां जघन्य स्तर पर आराधना हो वहां १, यह चिह्न आराधना के परिचायक हैं। यदि इनके प्रस्तार बनाए जाएं तो १७ भेद बनते हैं, जैसे कि—

ज्ञान	दर्शन	चारित्र	ज्ञान	दर्शन	चारित्र	ज्ञान	दर्शन	चारित्र	ज्ञान	दर्शन	चारित्र
३	३	३	२	३	१	१	३	३	१	१	२
३	३	२	२	२	२	१	३	२	१	१	१
३	२	२	२	२	१	१	३	१	×	×	×
२	३	३	२	१	२	१	२	२	×	×	×
२	३	२	२	१	१	१	२	१	×	×	×

धर्म का त्रिवेणी संगम

भगवान् महावीर ने एक बार अपने प्रवचन में जनता को धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा था, कि धर्म तीन प्रकार का है अथवा धर्म की आराधना तीन प्रकार से की जा सकती है, जैसे कि—

१, सु-अध्ययन, २. सुध्यान, ३. सुतप। 'सु' के स्थान में सम्यक् का प्रयोग भी कर सकते हैं। 'सु' और सम्यक् का एक ही अर्थ है। विधिपूर्वक श्रद्धा एवं विनय के साथ अध्ययन करना धर्म है। अथवा अनुप्रेक्षा पूर्वक अध्ययन करने को सु-अध्ययन कहते हैं। अनुप्रेक्षा को दूसरे शब्दों में निदिध्यासन भी कहते

हैं। स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है। स्वाध्याय पांच प्रकार से किया जाता है—आगमों का अध्ययन करना, शंका होने पर ज्ञानी गुरु से पूच्छना, सीखे हुए आगमों की पुनः पुनः आवृत्ति करते रहना, आगम के अनुसार श्रोताओं को धर्मकथा या धर्मोपदेश करते रहना, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का पांचवाँ प्रकार है। अनुप्रेक्षा के बिना उक्त चार प्रकार का स्वाध्याय मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है, किन्तु अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय सिवाय सम्यग्दृष्टि के अन्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। अनुप्रेक्षा करने से आयु कर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन शिथिल हो जाते हैं, दीर्घकालिक स्थिति क्षय होकर अल्पकालीन रह जाती है, उन कर्मों का तीव्र रस मन्द हो जाता है। यदि कर्म बहुप्रदेशी हों, तो वे स्वल्प प्रदेशी हो जाते हैं, इतनी महानिर्जरा अनुप्रेक्षा पूर्वक अध्ययन करने से होती है। स्वाध्याय करने से वैराग्य भावना जाग्रत होती है, कर्मों की निर्जरा होती है; ज्ञान विशुद्ध होता है, चारित्र के परिणाम बढ़ते ही जाते हैं। धर्म में स्थैर्य होता है, देवायु का बन्ध होता है, भवान्तर में यथाशीघ्र रत्नत्रय का लाभ होता है। मन, वचन और काय गुप्त होते हैं, शल्यत्रय का उद्धरण होता है, पांच समितियां समित हो जाती हैं, ये हैं सु-अध्ययन के सुपरिणाम। इसलिए सु-अध्ययन धर्म का पहला अंग है।

सुध्यान—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत, अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, इन में मन को लगाना आर्त्त तथा रौद्र ध्यान से मन को हटाना अथवा **ध्यानं निर्विषयं** मनः ये सब तरीके सुध्यान के हैं। सुध्यान में धर्म और शुक्ल दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

सुतपः—सम्यक् तप यह धर्म का तीसरा प्रकार है। जिससे विषय कषाय और संचित कर्म भस्मसात् हो जाएं, उसे तप कहते हैं। तप का विशेष विवरण औपपातिक सूत्र, उत्तराध्ययन ३०वां अध्ययन, भगवती सूत्र श० २५वां, उ० ७वां, अन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र। अनुत्तरोपपातिक सूत्र, तत्त्वार्थ सूत्र का नौवां अध्याय तथा स्थानांग सूत्र, इन सूत्रों में जिज्ञासुजन देख सकते हैं। सम्यक् प्रकार से अध्ययन होने पर ही सुध्यान हो सकता है। सुध्यान होने पर ही सुतप की आराधना हो सकती है। अतः सिद्ध हुआ सु-अध्ययन होने पर ही धर्म की अन्य-अन्य प्रक्रियाएं चालू हो सकती हैं। अतः धर्म का पहला अंग सु-अध्ययन ही है।[1]

नन्दीसूत्र का अध्ययन करना भी इसी धर्म में सम्मिलित है, क्योंकि स्वाध्याय धर्मध्यान का आलंबन है। इसके बिना जीवन उन्नति के शिखर पर नहीं पहुंच सकता। श्रुतज्ञान की आराधना स्वाध्याय से ही हो सकती है। हमारे मन में जितनी श्रद्धा-भक्ति, श्रमण भगवान् महावीर के प्रति है, उनके वचनामृतरूप आगमों के प्रति भी वही श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि हमारे लिये इस युग में आगम ही भगवान् हैं।

---

१. स्थानांग सूत्र स्था० ३, उ० ४।

सिरि नंदीसुत्तं

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

॥ नमो नाणस्स ॥

सिरि नंदीसुत्तं

जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥१॥
जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥२॥
भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स, भद्दं जिणस्स वीरस्स ।
भद्दं सुरासुरनमंसियस्स, भद्दं धुयरयस्स ॥३॥
गुणभवणगहण ! सुयरयणभरिय ! दंसणविसुद्धरत्थागा !
संघनगर ! भद्दं ते, अखंड-चारित्त-पागारा ॥४॥
संजमतवतुंबारयस्स, नमो सम्मत्तपारियल्लस्स ।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स ॥५॥
भद्दं सीलपडागूसियस्स, तवनियमतुरयजुत्तस्स ।
संघरहस्स भगवओ, सज्झाय-सुनंदिघोसस्स ॥६॥
कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स, सुयरयणदीहनालस्स ।
पंचमहव्वयथिरकन्नियस्स, गुणकेसरालस्स ॥७॥
सावगजणमहुअरिपरिवुडस्स, जिणसूरतेयवुद्धस्स ।
संघपउमस्स भद्दं ! समणगणसहस्सपत्तस्स ॥८॥
तवसंजममयलंछण ! अकिरियराहुमुहदुद्धरिस ! निच्चं ।
जय संघचंद ! निम्मल-सम्मत्तविसुद्धजोण्हागा ! ॥९॥
परतित्थियगहपहनासगस्स, तवतेयदित्तलेसस्स ।
णाणुज्जोयस्स जए, भद्दं ! दमसंघसूरस्स ॥१०॥

भद्दं ! धिइवेलापरिगयस्स, सज्झाय-जोगमगरस्स ।
अक्खोहस्स भगवओ, संघसमुद्दस्स रुंदस्स ॥११॥
सम्मद्दंसणवरवइर - दढरूढगाढावगाढपेढस्स ।
धम्मवररयणमंडिय - चामीयरमेहलागस्स ॥१२॥
नियमूसियकणय - सिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स ।
नंदणवणमणहर - सुरभिसीलगंधुद्धुमायस्स ॥१३॥
जीवदया-सुन्दर - कंदरुद्दरिय-मुणिवरमइंदइन्नस्स ।
हेउसयधाउपगलंत - रयणदित्तोसहिगुहस्स ॥१४॥
संवरवरजलपगलिय - उज्झरप्पविरायमाणहारस्स ।
सावगजणपउररवंत - मोरनच्चंतकुहरस्स ॥१५॥
विणयनयपवरमुणिवर - फुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविहगुणकप्परुक्खग - फलभर-कुसुमाउलवणस्स ॥१६॥
नाणवररयणदिप्पंत - कंत-वेरुलिय - विमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ संघमहामंदरगिरिस्स ॥१७॥
गुणरयणुज्जलकडयं, सीलसुगंधि-तवमंडिउद्देसं ।
सुयबारसंगसिहरं, संघमहामंदरं वंदे ॥१८॥
नगर-रह-चक्क-पउमे चंदे सूरे समुद्दमेरुम्मि ।
जो उवमिज्जइ सययं, तं संघगुणायरं वंदे ॥१९॥
वंदे उसभमजियं, संभवमभिनंदणसुमइसुप्पभसुपासं ।
ससिपुप्फदंत-सीयल - सिज्जंस - वासुपुज्जं च ॥२०॥
विमलमणंत य धम्मं संतिं, कुंथुं अरं च मल्लिं च ।
मुणिसुव्वय-नमि-नेमि-पासं, तह वद्धमाणं च ॥२१॥
पढमित्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइ त्ति ।
तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे य ॥२२॥
मंडियमोरियपुत्ते, अकंपिये चेव अयलभाया य ।
मेयज्जे य पहासे, गणहरा हुंति वीरस्स ॥२३॥
निव्वुइपहसासणयं, जयइ सया सव्वभावदेसणयं ।
कुसमयमयनासणयं, जिणिंदवर-वीरसासणयं ॥२४॥

सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं ।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥२५॥
जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव माढरं ।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥२६॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च ।
तत्तो कोसियगोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥२७॥
हारियगुत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं ।
वंदे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२८॥
तिसमुद्दखायकित्तिं, दीवसमुद्देसु गहियपेयालं ।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥२९॥
भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥३०॥
वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च ।
तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिं वइरसमं ॥३१॥
वंदामि अज्जरक्खियखमणे, रक्खियचरित्तसव्वस्से ।
रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥३२॥
नाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं ।
अज्जं नंदिलखमणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं ॥३३॥
वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्ज-नागहत्थीणं ।
वागरण - करण - भंगिय - कम्मप्पयडी-पहाणाणं ॥३४॥
जच्चंजणधाउसमप्पहाणं, मुद्दियकुवलयनिहाणं ।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइ नक्खत्तनामाणं ॥३५॥
अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुय-आणुओगिए धीरे ।
बंभद्दीवग-सीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥३६॥
जेसिं इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढ भरहम्मि ।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥३७॥
तत्तो हिमवंतमहंत-विक्कमे धिइ परक्कममणंते ।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३८॥

कालियसुयअणुओगस्स, धारए धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ।।३९।।
मिउ-मद्दव-संपन्ने, आणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओह-सुय-समायारे, नागज्जुणवायए वंदे ।।४०।।
गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउल-धारिणिंदाणं ।
णिच्चं खंतिदयाणं, परूवणे दुल्लभिंदाणं ।।४१।।
तत्तो य भूयदिन्नं, निच्चं तवसंजमे अनिव्विण्णं ।
पंडियजणसम्माणं, वंदामो संजमविहिण्णू ।।४२।।
वरकणगतविय-चंपगविमउल-वरकमलगब्भसरिवन्ने ।
भवियजणहिययदइए, दयागुणविसारए धीरे ।।४३।।
अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे ।
अणुओगियवरवसभे, नाइल-कुल वंस-नदिकरे ।।४४।।
भूयहियप्पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ।।४५।।
सुमुणियनिच्चानिच्चं, सुमुणियसुत्तत्थधारयं वंदे ।
सब्भावुब्भावणया, तत्थ लोहिच्चणामाणं ।।४६।।
अत्थमहत्थक्खाणिं, सुसमण-वक्खाण-कहण-निव्वाणिं ।
पयईए महुरवाणिं, पयओ पणमामि दूसगणिं ।।४७।।
तवनियमसच्चसंजम - विणयज्जवखंतिमद्दवरयाणं ।
सीलगुणगद्दियाणं, अणुओगजुगप्पहाणाणं ।।४८।।
सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छसयएहिं पणिवइए ।।४९।।
जे अन्ने भगवंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे ।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ।।५०।।

सेल १ घण २ कुडग ३ चालणि ४, परिपुण्णग ५ हंस ६ महिस ७ मेसे ८ य ।
मसग ९ जलूग १० विराली ११, जाहग १२ गो १३ भेरी १४ आभीरी ।।५१।।

सा समासओ तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—जाणिया, अजाणिया, दुव्वियड्ढा ।
जाणिया जहा—

खीरमिव जहा हंसा, जे घुट्टंति इह गुरुगुणसमिद्धा ।
दोसे य विवज्जंती, तं जाणसु जाणियं परिसं ॥५२॥

अजाणिया जहा—

जा होइ पगइमहुरा, मिय-छावय-सीहकुक्कुड य भूआ ।
रयणमिव असंठविया, अजाणिया सा भवे परिसा ॥५३॥

दुव्वियड्ढा जहा—

न य कत्थइ निम्माओ, न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेणं ।
वत्थि व्व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लय दुव्वियड्ढो ॥५४॥

नाणं पंचविहं पन्नत्तं, तंजहा—आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं ॥सूत्र १॥

तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—पच्चक्खं च परोक्खं च ॥सू० २॥

से किं तं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—इंदिय-पच्चक्खं नोइंदिय-पच्चक्खं च ॥सूत्र ३॥

से किं तं इंदिय-पच्चक्खं ? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—सोइंदिय-पच्चक्खं, चक्खिंदिय-पच्चक्खं, घाणिंदिय-पच्चक्खं, जिब्भिंदिय-पच्चक्खं, फासिंदिय-पच्चक्खं । से त्तं इंदिय-पच्चक्खं ॥सूत्र ४॥

से किं तं नोइंदिय-पच्चक्खं ? नोइंदिय-पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तंजहा—ओहिनाण-पच्चक्खं, मणपज्जवनाण-पच्चक्खं, केवलनाण-पच्चक्खं ॥ सूत्र ५॥

से किं तं ओहिनाणपच्चक्खं ? ओहिनाण-पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—भवपच्चइयं च, खाओवसमियं च ॥सूत्र ६॥

से किं तं भवपच्चइयं ? भवपच्चइयं दुण्हं, तं जहा—देवाण य नेरइयाण य ॥सूत्र ७॥

से किं तं खाओवसमियं ? खाओवसमियं दुण्हं, तं जहा—मणुस्साण य, पंचेंदिय-तिरिक्खजोणियाण य ।

को हेऊ खाओवसमियं ? खाओवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं, अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुप्पज्जइ ॥सूत्र ८॥

अहवा—गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ, तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—आणुगामियं १. अणाणुगामियं २. वड्ढमाणयं ३. हीयमाणयं ४. पडिवाइयं ५. अप्पडिवाइयं ६ ।।सूत्र ९।।

से किं तं आणुगामियं ओहिनाणं ? आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंतगयं च मज्झगयं च ।

से किं तं अंतगयं ? अंतगयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—पुरओ अंतगयं, मग्गओ अंतगयं, पासओ अंतगयं ।

से किं तं पुरओ अंतगयं ? पुरओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे—उक्कं वा, चडुलियं वा, अलायं वा, मणिं वा, पईवं वा, जोइं वा, पुरओ काउं पणुल्लेमाणे पणुल्लेमाणे गच्छेज्जा, से त्तं पुरओ अंतगयं ।

से किं तं मग्गओ अंतगयं ? मग्गओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे—उक्कं वा, चडुलियं वा, अलायं वा, मणिं वा, पईवं वा, जोइं वा, मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छिज्जा, से त्तं मग्गओ अंतगयं ।

से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे—उक्कं वा, चडुलियं वा, अलायं वा, मणिं वा. पईवं वा, जोइं वा, पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा, से त्तं पासओ अंतगयं, से त्तं अंतगयं ।

से किं तं मज्झगयं ? मज्झगयं से जहानामए केइ पुरिसे—उक्कं वा, चडुलियं वा, अलायं वा, मणिं वा, पईवं वा, जोइं वा, मत्थए काउं समुव्वहमाणे समुव्वहमाणे गच्छिज्जा, से त्तं मज्झगयं ।

अंतगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो ? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखिज्जाणि वा, असंखिज्जाणि वा, जोयणाइं जाणइ, पासइ ।

मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखिज्जाणि वा, असंखिज्जाणि वा, जोयणाइं जाणइ, पासइ ।

पासओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पासओ चेव संखिज्जाणि वा, असंखिज्जाणि वा, जोयणाइं जाणइ, पासइ ।

मज्झगएणं ओहिनाणेणं सव्वओ समंता संखिज्जाणि वा, असंज्जिाणि वा, जोयणाइं जाणइ पासइ । से त्तं आणुगामियं ओहिनाणं ।।सूत्र १०।।

से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ? अणाणुगामियं ओहिनाणं से जहा-

से किं तं पडिवाइ ओहिनाणं ? पडिवाइ ओहिनाणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखिज्जइ भागं वा संखिज्जइ भागं वा, वालग्गं वा वालग्गपुहुत्तं वा, लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा, जूयं वा जूयपुहुत्तं वा, जवं वा जवपुहुत्तं वा, अंगुलं वा, अंगुलपुहुत्तं वा, पायंवा पायपुहुत्तं वा, विहत्थिं वा विहत्थिपुहुत्तं वा रयणिं वा, रयणिपुहुत्तं वा, कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा, धणुं वा, धणुपुहुत्तं वा, गाउअं वा गाउयपुहुत्तं वा, जोयणं वा, जोयणपुहुत्तं वा, जोयणसयं वा जोयणसयपुहुत्तं वा, जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहुत्तं वा, जोयणलक्खं वा जोयणलक्खपुहुत्तं वा, जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहुत्तं वा, जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोडाकोडिपुहुत्तं वा, जोयणसंखेज्जं वा जोयणसंखेज्जपुहुत्तं वा, जोयणअसंखेज्जं वा जोयणअसंखेज्जपुहुत्तं वा, उक्कोसेणं लोगं वा पासित्ताणं पडिवइज्जा। से त्तं पडिवाइ ओहिनाणं ।।सूत्र १४।।

से किं तं अपडिवाइ ओहिनाणं ? अपडिवाइ ओहिनाणं जेणं अलोगस्स एगमवि आगासपएसं जाणइ, पासइ, तेण परं अपडिवाइ ओहिनाणं । से त्तं अपडिवाइ ओहिनाणं ।।सूत्र १५।।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओ णं—ओहिनाणी जहन्नेणंअणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ, पासइ। उक्कोसेणं-सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ, पासइ ।

खित्तओ णं—ओहिनाणी जहन्नेणं-अंगुलस्स असंखिज्जइभागं जाणइ, पासइ। उक्कोसेणं—असंखिज्जाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ, पासइ ।

कालओ णं—ओहिनाणी जहन्नेणं आवलियाए असंखिज्जइभागं जाणइ, पासइ। उक्कोसेणं—असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ, पासइ ।

भावओणं—ओहिनाणी जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ, पासइ । उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ, पासइ ।।सूत्र १६।।

ओही भवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वण्णिओ दुविहो ।
तस्स य वहू विगप्पा, दव्वे खित्ते य काले य ।।६३।।
नेरइयदेवतित्थंकरा य, ओहिस्सऽवाहिरा हुंति ।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ।।६४।।

से त्तं ओहिनाणपच्चक्खं ।

से किं तं मणपज्जवनाणं ? मणपज्जवनाणे णं भंते ! किं मणुस्साणं उपज्जइ अमणुस्साणं ? गोयमा ! मणुस्साणं, नो अमणुस्साणं ।

जइ मणुस्साणं किंस मुच्छिममणुस्साणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! नो समुच्छिममणुस्साणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं उप्पज्जइ ।

जइ गब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो अकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं । नो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ।

जइ कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संखिज्जवासाउय-कम्भूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंखिज्जवासाउयकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! संखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ।

जइ संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं पज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं,अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमियगब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ।

जइ पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिय-गब्भ-वक्कंतियमणुस्साणं, किं सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जावसाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, मिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो मिच्छदिट्ठिपजत्त-गसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतियणुस्साणं ।

जइ सम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं,किं संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमियगब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं असंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, संजयासंजय-सम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भव

क्कंतियमणुस्साणं? गोयमा ! संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो असंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासासाउय-कम्मभूमिय गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो संजयासंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं।

जइ संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं,किं पमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, अपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! अपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भक्कंतिय-मणुस्साणं, नो पमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउयकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्सणं।

जइ अपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तसंग-खेज्ज-वासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं इड्ढीपत्त-अपमत्तसंजय-सम्मदिट्ठिपज्जत्त-गसंखेज्जवासाउय-कम्मभू-मिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, अणिड्ढीपत्त-अपमत्तसंजय-सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! इड्ढीपत्तअपमत्त - संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग- संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय - मणुस्साणं, नो अणिड्ढीपत्त -अपमत्तसंजय-सम्मदिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं मणपज्जवनाणं समुप्पज्जइ ॥ सूत्र १७ ॥

तं च दुविहं उप्पज्जइ, तं जहा—उज्जुमई य, विउलमई य।

तं समसाओ चउव्विहं पन्नत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओ णं—उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ, पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ, पासइ। खेत्तओ णं उज्जुमई य जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं—अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डगपयरे, उड्ढं जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरसमु, कम्मभूमिसु, तीसाए अकम्मभूमिसु, छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु सन्निपंचेंदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ, पासइ।

ते चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिमंगुलेहिं अब्भहियतरं, विउलतरं, विसुद्धतरं, वितिमिरतरागं, खेत्तं जाणइ, पासइ।

कालग्रो णं—उज्जुमई जहन्नेणं पलिग्रोवमस्स ग्रसंखिज्जइ भागं, उक्कोसेणं वि पलिग्रोवमस्स ग्रसंखिज्जइभागं ग्रतीयमणागयं वा कालं जाणइ, पासइ। तं चेव विउलमई ग्रब्भहियतरागं, विउलतरागं, विसुद्धतरागं, वितिमिरतरागं कालं जाणइ,पासइ ।

भावग्रो णं—उज्जुमई ग्रणंते भावे जाणइ, पासइ। सव्वभावाणं ग्रणंतभागं जाणइ, पासइ। तं चेव विउलमई ग्रब्भहियतरागं, विउलतरागं विसुद्धतरागं, वितिमिरतरागं जाणइ, पासइ ।

मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिंचितियत्थपागडणं ।
माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवग्रो ॥६५॥

से त्तं मणपज्जवनाणं ॥ सूत्र १८ ॥

से किं तं केवलनाणं ? केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—भवत्थकेवलनाणं च, सिद्धकेवलनाणं च ।

से किं तं भवत्थकेवलनाणं ? भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—सजोगिभवत्थकेवलनाणं च ग्रजोगिभवत्थकेवलनाणं च ।

से किं तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं ? सजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च ग्रपढम-समयसजोगिभवत्थकेवल-नाणं च । ग्रहवा—चरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च ग्रचरमसमय-सजोगि-भवत्थकेवलनाणं च । से त्तं सजोगिभवत्थ-केवलनाणं ।

से किं तं ग्रजोगिभवत्थकेवलनाणं ? ग्रजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा—पढमसमय-ग्रजोगिभवत्थकेवलनाणं च ग्रपढमसमय-ग्रजोगिभवत्थकेवल-नाणं च । ग्रहवा—चरमसमय-ग्रजोगिभवत्थकेवलनाणं च ग्रचरमसमय-ग्रजोगि-भवत्थकेवलनाणं च । से त्तं ग्रजोगिभवत्थकेवलनाणं, से त्तं भवत्थकेवलनाणं ॥ सूत्र १६ ॥

से किं तं सिद्धकेवलनाणं ? सिद्धकेवलनाणं दुविहं, पण्णत्तं तंजहा—ग्रणन्त-रसिद्धकेवलनाणं च परंपरसिद्धकेवलनाणं च ॥ सूत्र २० ॥

से किं तं ग्रणंतरसिद्धकेवलनाणं ? ग्रणन्तरसिद्धकेवलनाणं पन्नरसविहं पण्णत्तं, तंजहा—तित्थसिद्धा १ ग्रतित्थसिद्धा २, तित्थयरसिद्धा ३, ग्रतित्थयर-

सिद्धा ४, सयंबुद्धसिद्धा ५, पत्तेयबुद्धसिद्धा ६, बुद्धबोहियसिद्धा ७, इत्थिलिंगसिद्धा ८, पुरिसलिंगसिद्धा ९, नपुंसगलिंगसिद्धा १०, सलिंगसिद्धा ११, अन्नलिंगसिद्धा १२, गिहिलिंगसिद्धा १३, एगसिद्धा १४, अणेगसिद्धा १५, से त्तं अणंतरसिद्ध-केवलनाणं ॥ सूत्र २१ ॥

से किं तं परंपरसिद्ध केवलनाणं ? परंपरसिद्ध केवलनाणं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—अपढमसमयसिद्धा, दुसमयसिद्धा, तिसमयसिद्धा, चउसमयसिद्धा, जाव दससमयसिद्धा, संखिज्जसमयसिद्धा असंखिज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा, से त्तं परंपरसिद्ध केवलनाणं, से त्तं सिद्धकेवलनाणं ।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ भावओ । तत्थ दव्वओ णं—केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ ।

खित्तओ णं—केवलनाणी सव्वं खित्तं जाणइ, पासइ ।
कालओ णं—केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ, पासइ ।
भावओ णं—केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ, पासइ ।
अह सव्व दव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं ॥६६। सूत्र २२॥
केवलनाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पण्णवणजोगे ।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुयं हवइ सेसं ॥६७॥

से त्तं केवलनाणं, से त्तं नोइंदियपच्चक्खं, से त्तं पच्चक्खनाणं ॥सूत्र २३॥

से किं तं परोक्खनाणं ? परोक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा—आभिणिबोहियनाणपरोक्खं च, सुयनाणपरोक्खं च, जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं, दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं, तहवि पुण इत्थ आयरिया नाणत्तं पण्णवयंति—अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाणं, सुणेइ त्ति सुयं, मइपुव्वं जेण सुयं, न मई सुयपुव्विया ॥सूत्र २४॥

अविसेसिया मई, मईनाणं च, मइअन्नाणं च । विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं मिच्छदिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं । अविसेसियं सुयं, सुयनाणं च सुय-अन्नाणं च । विसेसियं सुयं, सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं ॥सूत्र २५॥

से किं तं आभिणिबोहियनाणं ? आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—सुयनिस्सियं च, अस्सुयनिस्सियं च ।

से किं तं असुयनिस्सियं ? असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—

१ उप्पत्तिया २ वेणइया ३ कम्मिया ४ परिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ ॥६८॥

पुव्वमदिट्ठमस्सुयमवेइय-तक्खणविसुद्धगहियत्था ।
अव्वाहय फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम ॥६९॥

१ भरहसिल २ मिंढ ३ कुक्कुड, ४ तिल ५ वालुय ६ हत्थि ७ अगड ८ वणसंडे ।
९ पायस १० अइया ११ पत्ते, १२ खाडहिला १३ पंचपिअरो य ॥७०॥

१ भरहसिल २ पणिय ३ रुक्खे, ४ खुड्डग ५ पड ६ सरड ७ काय ८ उच्चारे।
९ गय १० घयण ११ गोल १२ खंभे, १३ खुड्डग १४ मग्गि १५ त्थि १६ पइ १७ पुत्ते ॥७१॥

१८ महुसित्थ १९ मुद्दि २० अंके, २१ नाणए २२ भिक्खु २३ चेडगनिहाणे ।
२४ सिक्खा २५ य अत्थसत्थे, २६ इच्छा य महं २७ सयसहस्से ॥७२॥

भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला ।
उभओलोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥७३॥

१ निमित्ते २ अत्थसत्थे य, ३ लेहे ४ गणिए य ५ कूव ६ अस्से य ।
७ गद्दभ ८ लक्खण ९ गंठी, १० अगए ११ रहिए य १२ गणिया य ॥७४॥

सीया साडी दीहं, च तणं अवसव्वयं च कुंचस्स १३ ।
निव्वोदए य १४ गोणे, घोडगपडणं च रुक्खाओ १५ ॥७५॥

उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलण विसाला ।
साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥७६॥

१ हेरण्णिए २ करिसए ३ कोलिय ४ डोवे य ५ मुत्ति ६ घय ७ पवए ।
८ तुन्नाए ९ वड्ढइ य, १० पूयइ ११ घड १२ चित्तकारे य ॥७७॥

सिद्धा ४, सयंबुद्धसिद्धा ५, पत्तेयबुद्धसिद्धा ६, बुद्धबोहियसिद्धा ७, इत्थिलिंगसिद्धा ८, पुरिसलिंगसिद्धा ९, नपुंसगलिंगसिद्धा १०, सलिंगसिद्धा ११, अन्नलिंगसिद्धा १२, गिहिलिंगसिद्धा १३, एगसिद्धा १४, अणेगसिद्धा १५, से त्तं अणंतरसिद्ध-केवलनाणं ॥ सूत्र २१ ॥

से किं तं परंपरसिद्ध केवलनाणं ? परंपरसिद्ध केवलनाणं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—अपढमसमयसिद्धा, दुसमयसिद्धा, तिसमयसिद्धा, चउसमयसिद्धा, जाव दससमयसिद्धा, संखिज्जसमयसिद्धा असंखिज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा, से त्तं परंपरसिद्ध केवलनाणं, से त्तं सिद्धकेवलनाणं।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं—केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ।

खित्तओ णं—केवलनाणी सव्वं खित्तं जाणइ, पासइ।
कालओ णं—केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ, पासइ।
भावओ णं—केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ, पासइ।
अह सव्व दव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं ॥६६। सूत्र २२॥
केवलनाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पण्णवणजोगे।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुयं हवइ सेसं ॥६७॥

से त्तं केवलनाणं, से त्तं नोइंदियपच्चक्खं, से त्तं पच्चक्खनाणं ॥सूत्र २३॥

से किं तं परोक्खनाणं ? परोक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा—आभिणि-बोहियनाणपरोक्खं च, सुयनाणपरोक्खं च, जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं, दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं, तहवि पुण इत्थ आयरिया नाणत्तं पण्णवयंति—अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणि-बोहियनाणं, सुणेइ त्ति सुयं, मइपुव्वं जेण सुयं, न मई सुयपुव्विया ॥सूत्र २४॥

अविसेसिया मई, मईनाणं च, मइअन्नाणं च। विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं मिच्छदिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं। अविसेसियं सुयं, सुयनाणं च सुय-अन्नाणं च। विसेसियं सुयं, सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं ॥सूत्र २५॥

से किं तं आभिणिबोहियनाणं ? आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—सुयनिस्सियं च, अस्सुयनिस्सियं च ।

से किं तं असुयनिस्सियं ? असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—

१ उप्पत्तिया २ वेणइया ३ कम्मिया ४ परिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ ॥६८॥

पुव्वमदिट्ठमस्सुयमवेइय-तक्खणविसुद्धगहियत्था ।
अव्वाहय फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम ॥६९॥

१ भरहसिल २ मिंढ ३ कुक्कुड, ४ तिल ५ वालुय ६ हत्थि ७ अगड ८ वणसंडे ।
९ पायस १० अइया ११ पत्ते, १२ खाडहिला १३ पंचपिअरो य ॥७०॥

१ भरहसिल २ पणिय ३ रुक्खे, ४ खुड्डग ५ पड ६ सरड ७ काय ८ उच्चारे ।
९ गय १० घयण ११ गोल १२ खंभे, १३ खुड्डग १४ मग्गि १५ त्थि १६ पइ १७ पुत्ते ॥७१॥

१८ महुसित्थ १९ मुद्दि २० अंके, २१ नाणए २२ भिक्खु २३ चेडगनिहाणे ।
२४ सिक्खा २५ य अत्थसत्थे, २६ इच्छा य महं २७ सयसहस्से ॥७२॥

भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला ।
उभओलोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥७३॥

१ निमित्ते २ अत्थसत्थे य, ३ लेहे ४ गणिए य ५ कूव ६ अस्से य ।
७ गद्दभ ८ लक्खण ९ गंठी, १० अगए ११ रहिए य १२ गणिया य ॥७४॥

सीया साडी दीहं, च तणं अवसव्वयं च कुंचस्स १३ ।
निव्वोदए य १४ गोणे, घोडगपडणं च रुक्खाओ १५ ॥७५॥

उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलण विसाला ।
साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥७६॥

१ हेरण्णिए २ करिसए ३ कोलिय, ४ डोवे य ५ मुत्ति ६ घय ७ पवए ।
८ तुन्नाए ९ वड्ढइ य, १० पूयइ ११ घड १२ चित्तकारे य ॥७७॥

अणुमाण हेउ-दिट्ठंत, साहिया वयविवाग परिणामा ।
हियनिस्सेयसफलवई, बुद्धी परिणामिया नाम ॥७८॥

१ अभए २ सिट्ठि ३ कुमारे, ४ देवी ५ उ दिग्रोदए हवइ राया ।
साहू य नंदिसेणे ६, ७ धणदत्ते ८ सावग ९ अमच्चे ॥७९॥

१० खमए ११ अमच्चपुत्ते, १२ चाणक्के १३ चेव थूलभद्दे य ।
नासिक्कसुंदरिनंदे, १४ वइरे १५ परिणामिया बुद्धी ॥८०॥

१६ चलणाहण १७ आमंडे, १८ मणी १९ य सप्पे २० य खग्गि २१ थूभिंदे ।
परिणामियबुद्धीए, एवमाई उदाहरणा ॥८१॥

से त्तं असुयनिस्सियं ।

से किं तं सुयनिस्सियं ? सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—१ उग्गहे २ ईहा ३ अवाओ ४ धारणा ॥सूत्र २६॥

से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य ॥सूत्र २७॥

से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—सोइंदियवंजणुग्गहे, घाणिंदियवंजणुग्गहे, जिब्भिंदियवंजणुग्गहे, फासिंदियवंजणुग्गहे, से त्तं वंजणुग्गहे ॥सूत्र २८॥

से किं तं अत्थुग्गहे ? अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—सोइंदियअत्थुग्गहे, चक्खिंदिय अत्थुग्गहे, घाणिंदिय अत्थुग्गहे, जिब्भिंदिय अत्थुग्गहे, फासिंदिय-अत्थुग्गहे, नोइंदियअत्थुग्गहे ॥सूत्र २९॥

तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तंजहा—ओगेण्हणया, उवधारणया, सवणया, अवलंबणया, मेहा । से त्तं उग्गहे ॥सूत्र ३० ॥

से किं तं ईहा ? ईहा छव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—सोइंदियईहा, चक्खिंदियईहा, घाणिंदियईहा, जिब्भिंदियईहा, फासिंदियईहा, नोइंदियईहा । तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तंजहा—आभोगणया, मग्गणया, गवेसणया चिंता, वीमंसा, से त्तं ईहा ॥सूत्र ३१॥

से किं तं अवाए ? अवाए छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—सोइंदियअवाए, चक्खिंदियअवाए, घाणिंदियअवाए, जिब्भिंदियअवाए, फासिंदियअवाए, नोइंदियअवाए, तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवन्ति, तंजहा—आउट्टणया, पच्चाउट्टणया, अवाए, बुद्धी, विण्णाणे, से त्तं अवाए ॥सूत्र ३२॥

से किं तं धारणा ? धारणा छव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—सोइंदियधारणा, चक्खिंदियधारणा, घाणिंदियधारणा, जिब्भिंदियधारणा, फासिंदियधारणा, नोइंदियधारणा, तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तंजहा—धरणा, धारणा, ठवणा, पइट्ठा, कोट्ठे । से त्तं धारणा ॥सूत्र ३३ ॥

उग्गहे इक्कसमइए, अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं ॥सूत्र ३४॥

एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि पडिबोहगदिट्ठंतेण, मल्लगदिट्ठंतेण य ।

से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ? पडिबोहगदिट्ठंणं—से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा, अमुगा अमुग त्ति । तत्थ चोयगे पण्णवगं एवं वयासी—किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? दुसमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? एवं वयंतं चोयगं पण्णवए एवं वयासी नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति । से त्तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ।

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं ? मल्लगदिट्ठतेणं,—से जहानामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खेविज्जा से नट्ठे, अण्णेऽवि पक्खित्ते सेऽवि नट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू, जे णं

तं मल्लगं रावेहिइ त्ति, होही से उदगबिंदू, जे णं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू, जे णं तं मल्लगं पवाहेहिति, एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरियं होइ, ताहे 'हुं' ति करेइ। नो चेव णं जाणइ 'के वेस सद्दाइ ?' तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा, तेणं 'सद्दो' 'त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस सद्दाइ' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा, तेणं 'रूव त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस रूव त्ति' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस रूवे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं आग्घाइज्जा, तेणं 'गंध' त्ति उग्गहिए, नो चेवणं जाणइ 'के वेस गंधे त्ति' तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस गंधे ? तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा, तेणं 'रसो त्ति उग्गहिए' नो चेव णं जाणइं, 'के वेस रसो त्ति' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस रसे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा, तेणं 'फासे' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस फासओ त्ति' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस फासे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पा
उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस सुमिणे त्ति,' तओ
अमुगे एस सुमिणे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं
सइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा का
तेणं ॥ सूत्र ३५ ॥

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्व
भावओ। तत्थ—

पव्वओ णं—आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं
खेत्तओ णं—आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं
कालओ णं—आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं
भावओ णं—आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे

उग्गह ईहाऽवाओ, य धारणा एव हुंति
आभिणिबोहियनाणस्स, भेयवत्थू स
अत्थाणं उग्गहणम्मि उग्गहो तह वियाल
ववसायम्मि अवाओ, धरणं पुण धारण
उग्गह इक्कं समयं, ईहावाया मुहुत्त
कालमसंखं संखं, च धारणा होइ
पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठ
गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वि
भासा समसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसियं
वीसेढी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पर
ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य ग
सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणि

से त्तं आभिणिवोहियनाणपरोक्खं, से त्तं मइना
से किं तं सुयनाणपरोक्खं ? ...

से किं तं अक्खरसुयं ? अक्खरसुयं तिविहं पण्णत्तं, तंजहा—सन्नक्खरं, वंजणक्खरं, लद्धिअक्खरं।

से किं तं सन्नक्खरं ? सन्नक्खरं अक्खरस्स संठाणागिई, से त्तं सन्नक्खरं।

से किं तं वंजणक्खरं? वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो, से त्तं वंजणक्खरं।

से किं तं लद्धिअक्खरं ? लद्धिअक्खरं-अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तंजहा—सोइंदियलद्धिअक्खरं, चक्खिंदियलद्धिअक्खरं, घाणिंदियलद्धिअक्खरं, रसणिंदियलद्धिअक्खरं, फासिंदियलद्धिअक्खरं, नोइंदियलद्धिअक्खरं। से त्तं लद्धिअक्खरं, से त्तं अक्खरसुयं।

से किं तं अणक्खरसुयं ? अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—

ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं ॥८८॥

से त्तं अणक्खरसुयं ॥सूत्र ३८ ॥

से किं तं सण्णिसुयं ? सण्णिसुयं तिविहं पण्णत्तं, तंजहा—कालिओवएसेणं, हेऊवएसेणं, दिट्ठिवाओवएसेणं।

से किं तं कालिओवएसेणं ? कालिओवएसेणं—जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, विमंसा, से णं सण्णीत्ति लब्भइ। जस्स णं नत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता वीमंसा, से णं असण्णीत्ति लब्भइ। से त्तं कालिओवएसेणं।

से किं तं हेऊवएसेणं ? हेऊवएसेणं—जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती, से णं सण्णीत्ति लब्भइ। जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती, से णं असण्णीत्ति लब्भइ, से त्तं हेऊवएसेणं।

से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं ? दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुयस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भइ, असण्णिसुयस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ। से त्तं दिट्ठिवाओवएसेणं, से त्तं सण्णिसुयं। से त्तं असण्णिसुयं ॥ सूत्र ३९ ॥

से किं तं सम्मसुयं ? सम्मसुयं—जं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्ण-

नाणदंसणधरेहिं, तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं, तीयपडुप्पण्णमणागयजाणएहिं, सव्वण्णूहिं सव्वदरसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तंजहा—आयारो १, सूयगडो, २, ठाणं, ३, समवाओ, ४, विवाहपण्णत्ती, ५, नायाधम्म-कहाओ, ६, उवासगदसाओ, ७, अंतगडदसाओ, ८, अणुत्तरोववाइयदसाओ, ९, पण्हावागरणाइं, १० विवागसुयं, ११ दिट्ठिवाओ १२ ।

इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं, अभिण्ण दस-पुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णेसु भयणा, से त्तं सम्मसुयं ॥ सूत्र ४० ॥

से किं तं मिच्छासुयं ? मिच्छासुयं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठि-एहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं, तंजहा—भारहं, रामायणं, भीमासुरुक्खं (क्कं) कोडिल्लयं, सगडभद्दियाओ, खोड (घोडग) मुहं, कप्पासियं, नागसुहुमं, कणग-सत्तरी, वइसेसियं, बुद्धवयणं, तेरासियं, काविलियं, लोगाययं, सट्ठितंतं, माढरं पुराणं, वागरणं, भागवयं, पायंजली, पुस्सदेवयं, लेहं, गणियं, सउणरुयं, नाडयाइं ।

अहवा—बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेया संगोवंगा, एयाइं मिच्छा-दिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरि-ग्गहियाइं सम्मसुयं, अहवा—मिच्छदिट्ठिस्स वि एयाइं चेव सम्मसुयं, कम्हा ?' सम्मत्तहेउत्तणओ । जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केई सपक्खदिट्ठीओ चयंति, से त्तं मिच्छासुयं ॥ सूत्र ४१ ॥

से किं तं साइयं सपज्जवसियं, अणाइयं अपज्जवसियं च ? इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइयं सपज्जवसियं, अवुच्छित्तिनय-ट्ठयाए अणाइयं अपज्जवसियं, तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ ।

तत्थ दव्वओ णं—सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, वहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं । खेत्तओ णं—पंच भरहाइं पंचेरवयाइं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं । कालओ णं—उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, नो उस्सप्पिणिं नो ओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं । भावओ

णं—जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, तया ते भावे पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाइयं अप्पज्जवसियं। अहवा—भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसियं अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं च। सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ। सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो, निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा, "सुट्ठुवि मेहसमुदए, होइ पभा चन्दसूराणं" से त्तं साइयं सपज्जवसियं, से त्तं अणाइयं अपज्जवसियं ॥सूत्र ४२॥

से किं तं गमियं? गमियं दिट्ठिवाओ। से त्तं गमियं।

से किं तं अगमियं? अगमियं कालियं सुयं। से त्तं अगमियं। अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।

से किं तं अंगबाहिरं? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं तंजहा—आवस्सयं च, आवस्सयवइरित्तं च।

से किं तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं, से त्तं आवस्सयं।

से किं तं आवस्सयवइरित्तं? आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा-कालियं च, उक्कालियं च।

से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसवेयालियं, कप्पियाकप्पियं, चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं, उववाइयं, रायपसेणियं, जीवाभिगमो, पण्णवणा, महापण्णवणा, पमायप्पमायं, नन्दी, अणुओगदाराइं, देविंदत्थओ, तंदुलवेयालियं चन्दाविज्झयं, सूरपण्णत्ती, पोरिसिमंडलं, मण्डलपवेसो, विज्जा-चरणविणिच्छओ, गणिविज्जा, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, वीयरागसुयं, संलेहणासुयं, विहारकप्पो, चरणविही, आउरपच्चक्खाणं, महापच्चक्खाणं, एवमाइ, से त्तं उक्कालियं।

से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—उत्तरज्झयणाइं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीहं, इसिभासियाइं, जम्बूदीव-

पन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती, चन्दपन्नत्ती, खुड्डियाविमाणप्पविभत्ती, महल्लियाविमाणप्पविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, विवाहचूलिया, अरुणोववाए, वरुणाववाए, गरुलोववाए, धरणोववाए, वेसमणोववाए, वेलंधरोववाए, देविंदोववाए, उट्ठाणसुयं, समुट्ठाणसुयं, नागपरियावणियाओ, निरयावलियाओ, कप्पियाओ, कप्पवडंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हीदसाओ, आसीविसभावणाणं, दिट्ठिविसभावणाणं, सुमिणभावणाणं। महासुमिणभावणाणं, तेअग्गिनिसग्गाणं। एवमाइयाइं चउरासीइ पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स, तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं। चोद्दस पइन्नगसहस्साइं भगवओ वद्धमाणसामिस्स। अहवा—जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए, वेणइयाए, कम्मयाए, पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया-तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं। पत्तेयबुद्धावि ततिया चेव, से त्तं कालियं, से त्तं आवस्सयवइरित्तं, से त्तं अणंगपविट्ठं ॥सूत्र ४३॥

से किं तं अंगपविट्ठं ? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तंजहा—आयारो १, सूयगडो २, ठाणं ३, समवाओ ४, विवाहपन्नत्ती ५, नायाधम्मकहाओ ६, उवासगदसाओ ७, अंतगडदसाओ ८, अणुत्तरोववाइयदसाओ ९, पण्हावागरणाइं १०, विवागसुयं ११, दिट्ठिवाओ १२ ॥सूत्र ४४॥

से किं त्तं आयारे ? आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयारगोयरविणयवेणइयसिक्खा भासा अभासा चरणकरणजायामायावित्तीओ आघविज्जंति। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—नाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे।

आयारे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे, दो सुयक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीइ उद्देसणकाला, पंचासीइ समुद्देसण काला, अट्ठारसपयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-

कडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पन्नविज्जन्ति परूवि-ज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरण परूवणा आघ-विज्जइ। से त्तं आयारे ।। सूत्र ४५।।

से किं तं सूयगडे ? सूयगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोया-लोए सूइज्जइ, जीवा सूइज्जंति, अजीवा सूइज्जंति, जीवाजीवा सूइज्जंति, सस-मए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमयपरसमए सूइज्जइ ।

सूयगडे णं असीयस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीइए अकिरियावाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं, बत्तीसाए वेणइयवाईणं, तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिय-सयाणं बूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ ।

सूयगडे णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढ़ा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे, दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा, तित्तीसं उसद्देणकाला, तितीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय कडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति, परूवि-ज्जंति दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवइंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरण परूवणा आघ-विज्जइ, से त्तं सूयगडे ।।सूत्र ४६।।

से किं तं ठाणे ? ठाणे णं जीवा ठाविज्जन्ति, अजीवा ठाविज्जन्ति, जीवाजीवा ठाविज्जन्ति, ससमए ठाविज्जइ, परसमए ठाविज्जइ, ससमयपरसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोयालोए ठाविज्जइ ।

ठाणे णं टंका, कूडा, सेला, सिहरिणो, पब्भारा, कुंडाइं, गुहाओ, आगरा, दहा, नईओ, आघविज्जन्ति, ठाणे णं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्ढीए दसट्ठाणग विवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ ।

ठाणे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढ़ा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, एगवीसं उद्देसणकाला, एगवीसं समुद्देसणकाला, बावत्तरिपयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणन्ता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्ध निकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जन्ति, पन्नविज्जन्ति परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से त्तं ठाणे ॥सूत्र ४७॥

से किं तं समवाए ? समवाए णं जीवा समासिज्जन्ति, अजीवा समासिज्जन्ति, जीवाजीवा समासिज्जन्ति, ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमयपरसमए समासिज्जइ, लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोयालोए समासिज्जइ ।

समवाए णं एगाइयाणं एगुत्तरियाणं ठाणसयविवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ । दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गो समासिज्जइ, समवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढ़ा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे अज्झयणे, एगे उद्देसणकाले एगे समुद्देसणकाले, एगे चोयाले सयसहस्से पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणन्ता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ से त्तं समवाए ॥सूत्र ४८॥

से किं तं विवाहे ? विवाहे णं जीवा विश्राहिज्जन्ति, अजीवा विश्राहिज्जन्ति, जीवाजीवा विश्राहिज्जन्ति, ससमए विश्राहिज्जइ, परसमए विश्राहिज्जइ, ससमयपरसमए विश्राहिज्जइ, लोए विश्राहिज्जइ, अलोए विश्राहिज्जइ, लोयालोए विश्राहिज्जइ, विवाहस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे साइरेगे अज्झयणसए, दस उद्देसगसहस्साइं, दस समुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, दो लक्खा अट्ठासीइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणन्ता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया, जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति, परूविज्जंति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति, ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया। एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ से त्तं विवाहे ॥सूत्र ४६॥

से किं तं नायाधम्मकहाओ ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआया, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चायाइओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरियाओ य आघविज्जंति।

दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं—एगमेगाए धम्मकहाए पंच-पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच-पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच-पंच अक्खाइयउवक्खाइयासयाइं। एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति समक्खायं।

नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे. दो सुयक्खंधा, एगूणवीसं अज्झयणा, एगूणवीसं उद्देसणकाला. एगूणवीसं समुद्देणकाला. संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं. संखेज्जा अक्खरा. अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति. परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति. उदंसिज्जंति ।

से एवं आया. एवं नाया. एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से त्तं नायाधम्मकहाओ ॥सूत्र ५०॥

से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासु णं समणोवासयाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववास—पडिवज्जणया, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ, पुण बोहिलाभा, अंतकिरियाओ य आघविज्जिंति ।

उवासगदसा णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणन्ता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पन्नविज्जन्ति, परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से त्तं उवासगदसाओ ॥ सूत्र ५१ ॥

से किं तं अंतगडदसाओ ? अंतगडदसासु णं अन्तगडाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ,

परिश्रागा, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाश्रो, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाश्रोवगमणाइं, अन्तकिरियायो आघविज्जंति ।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, अट्ठ वग्गा, अट्ठ उद्देसणकाला, अट्ठ समुद्देसणकाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जन्ति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया । एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से त्तं अन्तगडदसाओ ।। सूत्र ५२ ।।

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइयाइं वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइयपरलोइया इड्डिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिश्रागा, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरोववाइयत्ते उववत्ती, सुकुल पच्चायाईओ, पुण वोहिलाभा, अंतकिरियाओ, आघविज्जंति । अणुत्तरोववाइयदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदरा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, तिन्नि वग्गा, तिन्नि उद्देसणकाला, तिन्नि समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणन्ता गमा, अणन्ता पज्जवा, परित्ता तसा, अणन्ता थावरा, सासयकडनिवद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से त्तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ।। सूत्र ५३ ।।

विवागसुयस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पन्नविज्जन्ति, परूविज्जंति दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से त्तं विवागसुयं ।। सूत्र ५५ ।।

से किं तं दिट्ठिवाए ? दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ । से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा—१ परिकम्मे, २ सुत्ताइं, ३ पुव्वगए, ४ अणुओगे, ५ चूलिया ।

से किं तं परिकम्मे ? परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते, तंजहा—१ सिद्धसेणिया परिकम्मे, २ मणुस्ससेणियापरिकम्मे ३ पुट्ठसेणियापरिकम्मे, ४ ओगाढसेणियापरिकम्मे, ५ उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे, ६ विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ७ चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ।

से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? सिद्धसेणियापरिकम्मे चउद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा—१ माउगापयाइं, २ एगट्ठियपयाइं, ३ अट्ठपयाइं, ४ पाढोआगासपयाइं, ५ केउभूयं, ६ रासिबद्धं, ७ एगगुणं, ८ दुगुणं ९ तिगुणं, १० केउभूयं, ११ पडिग्गहो, १२ संसारपडिग्गहो, १३ नंदावत्तं, १४ सिद्धावत्तं, से त्तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ।१।

से किं तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ? मणुस्ससेणियापरिकम्मे चउद्दसविहे पण्णत्ते, तंजहा—१ माउगापयाइं, २ एगट्ठियपयाइं, अट्ठपयाइं, ४ पाढोआगासपयाइं, ५ केउभूयं, रासिबद्धं, ७ एगगुणं, ८ दुगुणं, ९ तिगुणं १० केउभूयं ११ पडिग्गहो, १२ संसारपडिग्गहो, १३ नंदावत्त, १४ मणुस्सावत्तं, से त्तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ।२।

से किं तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ? पुट्ठसेणियापरिकम्मे इक्का
पण्णत्ते, तं जहा—१ पाढोआगासपयाइं, २ केउभूयं, ३ रासिबद्धं, ४ एग
दुगुणं, ६ तिगुणं, ७ केउभूयं, ८ पडिग्गहो, ९ संसारपडिग्गहो, १९ नंदाव
पुट्ठावत्तं, से त्तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ।३।

से किं तं ओगाढसेणिया परिकम्मे ? ओगाढसेणियापरिकम्मे
सविहे पण्णत्ते, तंजहा—१ पाढोआगासपयाइं, २ केउभूयं, ३ रासि
एगगुणं, ५ दुगुणं, ६ तिगुणं, ७ केउभूयं, ८ पडिग्गहो ९ संसारपडिग्ग
नंदावत्तं, ओगाढावत्तं, से तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ।४।

से किं तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ? उवसंपज्जणसेणियाप
इक्कारसविहे पण्णत्ते, तंजहा—१ पाढोआगासपयाइं, २ केउभूयं, ३ र
४ एगगुणं, ५ दुगुणं, ६ तिगुणं, ७ केउभूयं, ८ पडिग्गहो, ९ संसारप
१० नन्दावत्तं, ११ उवसंपज्जणावत्तं, से त्तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे

से किं तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ? विप्पजहणसेणियापरिकम्मे
रसविहे पण्णत्ते, तं जहा—१ पाढोआगासपयाइं, २ केउभूयं, ३ र
४ एगगुणं, ५ दुगुणं, ६ तिगुणं, ७ केउभूयं, ८ पडिग्गहो, ९ संसारप
१० नंदावत्तं, ११ विप्पजहणावत्तं, से त्तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ॥६

से किं तं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ? चुयाचुयसेणियापरिकम्मे
सविहे पन्नत्ते, तं जहा—१ पाढोआगासपयाइं, २ केउभूयं, ३ रासि
एगगुणं, ५ दुगुणं, ६ तिगुणं, ७ केउभूयं, ८ पडिग्गहो, ९ संसारपडिग्ग
नंदावत्तं, ११ चुयाचुयवत्तं, से त्तं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ।७।

छ चउक्कनइयाइं, सत्त तेरासियाइं, से त्तं परिकम्मे ॥१॥

से किं तं सुत्ताइं ? सुत्ताइं बावीसं पन्नत्ताइं, तं जहा—१ उज्जु
परिणयापरिणयं, ३ बहुभंगियं, ४ विजयचरियं, ५ अणन्तरं, ६
७ आसाणं, ८ संजूहं, ९ संभिण्णं, १० आहव्वायं, ११ सोवत्थियाव
नंदावत्तं, १३ बहुलं, १४ पुट्ठापुट्ठं, १५ वियावत्तं, १६ एवंभूयं, १७ दुयाव

इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेयनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए।
इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेयनइयाणि आजीवियसुत्त परिवाडीए।

इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं तिगनइयाणि तेरासियसुत्तपरिवाडीए।
इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठासीइ सुत्ताइं भवंति त्ति मक्खायं, से त्तं सुत्ताइं ॥२॥

से किं तं पुव्वगए ? पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१ उप्पायपुव्वं, २ अग्गाणीयं, ३ वीरियं, ४ अत्थिनत्थिप्पवायं, ५ नाणप्पवायं, ६ सच्चप्पवायं, ७ आयप्पवायं, ८ कम्मप्पवायं, ९ पच्चक्खाणप्पवायं १० विज्जाणुप्पवायं, ११ अवंझं, १२ पाणाऊ, १३ किरियाविसालं, १४ लोकबिंदुसारं।

उप्पायपुव्वस्स णं दस वत्थू, चत्तारि चूलियावत्थू पण्णत्ता। अग्गाणीयपुव्वस्स णं चोद्दस वत्थू, दुवालस चूलियावत्थू पण्णत्ता।

वीरियपुव्वस णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता। अत्थिनत्थिप्पवायपुव्वस्स णं अट्ठारस वत्थू, दस चूलियावत्थू पण्णत्ता। नाणप्पवायपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता। सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता। आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता। कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता। पच्चक्खाणपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता। विज्जाणुप्पवायपुव्वस्स णं पन्नरस वत्थू पण्णत्ता। अवंझपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता। पाणाऊपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता। किरियाविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता। लोकबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता।

दस चोद्दस अट्ठ अट्ठारसेव, बारस दुवे य वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥८९॥

बारस इक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पणवीसाओ ॥९०॥

चत्तारि दुवालस, अट्ठ चेव दस चेव चूल्लवत्थूणि।
आइल्लाणं चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥९१॥

से त्तं पुव्वगए ॥३॥

से किं तं अणुओगे ? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा —मूलपढमाणुओगे, गंडियाणुओगे य ।

से किं तं मूलपढमाणुओगे । मूलपढमाणुओगे णं अरहन्ताणं, भगवंताणं पुव्वभवा, देवलोगगमणाइं, आउं, चवणाइं, जम्मणाणि, अभिसेया, रायवरसिरीओ, पव्वज्जाओ, तवाइं य उग्गा, केवलनाणुप्पयाओ, तित्थपवत्तणाणि य, सीसा, गणा, गणहरा, अज्जा, पवत्तिणीओ, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं, जिणमणपज्जवओहिनाणी, सम्मत्तसुयनाणिणो य, वाई, अणुत्तरगई य, उत्तरवेउव्विणो य मुणिणो, जत्तिया सिद्धा, सिद्धिपहो जह देसिओ, जच्चिरं च कालं पाओवगया, जे जहिं जत्तियाइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता अंतगडे, मुणिवरुत्तमे, तिमिरओघविप्पमुक्के, मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्ते, एवमन्ने य एवमाई भावा मूलपढमाणुओगे कहिया, से त्तं मूलपढमाणुओगे ।

से किं तं गंडियाणुओगे ? गंडियाणुओगे—कुलगरगंडियाओ, तित्थयरगंडियाओ, चक्कवट्टिगंडियाओ, दसारगंडियाओ, बलदेवगंडियाओ, वासुदेवगंडियाओ, गणधरगंडियाओ, भद्दबाहुगंडियाओ, तवोकम्मगंडियाओ, हरिवंसगंडियाओ, उस्सप्पिणीगंडियाओ, ओसप्पिणीगंडियाओ, चित्तंतरगंडियाओ, अमरनरतिरियनिरयगइगमणविविहपरियट्टणाणुओगेसु एवमाइयाओ गंडियाओ आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति, से त्तं गंडियाणुओगे, से त्तं अणुओगे ॥४॥

से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं, से त्तं चूलियाओ ॥५॥

दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ ।

से णं अंगट्ठयाए वारसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, चोद्दस पुव्वाइं, संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चूलवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडियाओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडियाओ, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयक-

डनिबद्धनिकाइया जिणपन्नता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जन्ति, से तं दिट्ठिवाए ॥सूत्र ५६॥

इच्चेइयंमि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा, अणंता अभावा, अणंता हेऊ अणंता अहेऊ, अणंता कारणा, अणंता अकारणा, अणंता जीवा, अणंता अजीवा, अणंता भवसिद्धिया, अणंता अभवसिद्धिया, अणंता सिद्धा, अणंता असिद्धा पण्णत्ता।

भावमभावा हेऊमहेऊ कारणमकारणे चेव ।
जीवाजीवा भवियमभविया सिद्धा असिद्धा य ॥६२॥

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टिसु । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसार-कंतारं अणुपरियट्टंति । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टिस्संति ।

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयंति। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसार-कंतारं वीईवइस्संति ।

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे ।

से जहानामए पंचत्थिकाए, न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे ।

एवामेव दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयइ नत्थि, न कयाइ

न भविस्सइ, भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे ।

से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, तत्थ—

दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते—सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ ।

खित्तओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ, पासइ ।

कालओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ, पासइ ।

भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते—सव्वे भावे जाणइ, पासइ ॥सूत्र ५७॥

अक्खर सन्नी सम्मं, साइयं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥९३॥

आगम सत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं ।
बिंति सुयनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥९४॥

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ सुणइ, गिण्हइ य ईहए यावि ।
ततो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥[illegible]॥

मूअं हुंकारं वा, बाढक्कारं पडिपुच्छइ वीमंसा ।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठ [illegible]

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ [illegible] ।
तइओ निरवसेसो, एस विही [illegible] ॥[illegible]॥

से त्तं अंगपविट्ठं, से त्तं सुयनाणं, [illegible] ॥

अनुक्रमणिका

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

नन्दीसूत्रम्

अर्हत्स्तुति

मूलम्—जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥१॥

छाया—जयति जगज्जीवयोनि-विज्ञायको जगद्गुरुर्जगदानन्दः ।
जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जयति जगत्पितामहो भगवान् ॥१॥

पदार्थ—जग-जीव-जोणी-वियाणओ—संसार के सभी प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान को जानने वाले, जगगुरू—प्राणिजगत् के गुरु, जगाणंदो—संसार के प्राणियों को आनन्द देने वाले, जयइ—जोकि गुणों से सर्वोपरि हैं, जगणाहो—चराचर विश्व के स्वामी, जगबन्धू—विश्वमात्र के बन्धु, जगप्पियामहो—प्राणी-मात्र के पितामह, भयवं—समग्र ऐश्वर्ययुक्त भगवान्, जयइ—सदा जययुक्त हैं अर्थात् जिन्हें कुछ भी जीतना शेष नहीं रहा ।

भावार्थ—धर्मास्तिकायादि रूप संसार को तथा जीवों के उत्पत्ति-स्थान को जानने वाले, जगद्गुरु, भव्यजीवों को आनन्ददायक, स्थावर-जंगम प्राणियों के नाथ, समस्त जगत् के बन्धु, लोक में धर्म की उत्पत्ति भगवान् करते हैं और धर्म संसारी आत्माओं का पिता है, इस प्रकार संसार के पितामह अर्हद् भगवान् सदा जयशील हैं, क्योंकि अब उन्हें कुछ भी जीतना शेष नहीं रहा ।

टीका—इस गाथा में स्तुतिकार ने सर्वप्रथम शासन-नायक अरिहंत भगवान् की तथा सामान्य केवली भगवान् की मंगलाचरण के रूप में स्तुति की है । स्तुति दो प्रकार से की जाती है, जैसे कि—प्रणाम-रूप और असाधारण गुणोत्कीर्तनरूप, इस गाथा में दोनों प्रकार की स्तुतियों का अन्तर्भाव हो जाता है । क्योंकि इस गाथा में जो 'जयइ' क्रिया है, वही सिद्ध करती है कि—इन्द्रिय, विषय, कषाय, घातिकर्म, परीषह उपसर्गादि शत्रु-समुदाय का सर्वथा उन्मूलन करने से ही अरिहंत-पद प्राप्त होता है । अतः ॥ मनीषियों के लिए जिनेन्द्र भगवान् ही प्रणाम के योग्य तथा असाधारण स्तुति के योग्य होते

जो घातिकर्मों को क्षय करके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर चुके हैं, वे ही अरिहन्त तथा तीर्थंकर कहलाते हैं, उनके आयु-कर्म की सत्ता होने से वेदनीय, नाम, और गोत्र ये चार अघाति कर्म शेष रहते हैं। अतः स्तुतिकार ने दोनों को लक्ष्य में रखकर 'जयइ' पद देकर जिन भगवान् की स्तुति की है। जिन विशेषणों से स्तुतिकार ने भगवान् की स्तुति की है, अब उनका विवेचन करते हैं—

जग—इस पद से यह सिद्ध किया गया है, कि—जगत् पंचास्तिकाय रूप है, जो द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य तथा वह जगत् अनन्त पर्यायों के धारण करने वाला है।

जीव—इस पद से चराचर अनन्त आत्माओं का बोध होता है और नास्तिक मत का निषेध किया गया है। क्योंकि आत्मा संसार में अनन्तानन्त हैं, उनका अस्तित्व सदा काल-भावी है अर्थात् पहले था, अब है और अनागत काल में भी रहेगा।

जोणी—इस पद से जन्म लेने वाले जीवों का उत्पत्ति-स्थान सिद्ध किया है। सिद्धात्मा जन्म-मरण से रहित होने के कारण अयोनिक होते हैं, उनका अन्तर्भाव इस पद में नहीं होता। जो संसारी जीव हैं, वे कर्म और शरीर से युक्त होने से नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते रहते हैं।

वियाणओ—विज्ञायक इस पद से स्तुतिकार अरिहन्त भगवान् में केवल ज्ञान की सत्ता सिद्ध करते हैं, जिससे वे अपने ज्ञान के द्वारा जगत् जीवों के जन्म-स्थान को जानते हैं। उपलक्षण से भव्यात्माओं में केवल ज्ञान की सत्ता विद्यमान है, इसे भी स्वीकार किया है। वृत्तिकार ने योनि शब्द की व्युत्पत्ति निम्न-लिखित की है, जैसेकि—

"योनय इति युक् मिश्रणे, युवन्ति तैजस-कार्मण-शरीरवन्तः सन्त—औदारिकशरीरेण वैक्रियशरीरेण वाऽऽस्विति योनयो—जीवानामेवोत्पत्तिस्थानानि, ताश्च सचित्तादिभेदभिन्ना अनेकप्रकाराः, उक्तञ्च-सचित्त-शीतसंवृत्तेतरमिश्रास्तद् योनयः।[1] [सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः] इति, जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीवयोनयः तासां विविधम्-अनेकप्रकारमुत्पादाद्यनन्तधर्मात्मकतया जानातीति विज्ञायको जगज्जीवयोनिविज्ञायकः, अनेन केवलज्ञानप्रतिपादनात्।"

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि तैजस् और कार्मण शरीर युक्त जीव ही एक से दूसरी योनि में प्रविष्ट होते हैं, सिद्धात्मा नहीं।

जगगुरू—इस पद से यह सिद्ध किया गया है कि भगवान् शिष्यों को या जनता को पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझाते हैं एतदर्थ वे जगद्गुरु कहलाते हैं, जैसे कि—"जगद् गृणाति—यथावस्थितं प्रति-पादयति शिष्येभ्य इति जगद्गुरुः यथावस्थितप्रतिपादक इत्यर्थः।" इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि आप्तवाक्य ही प्रमाण कोटि में माना जा सकता है तथा इस पद से अपौरुषेयवाद का स्वयं निषेध हो जाता है। क्योंकि जिसके शरीर का सर्वथा अभाव है, उसके मुख का अभाव भी अवश्यंभावी है; जब मुखादि अवयवों का अभाव अवश्यंभावी है, तब शब्द की उत्पत्ति का अभाव स्वयंसिद्ध है।

जगाणंदो—इस पद से उन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का ग्रहण किया है जो श्री अरिहन्त भगवान् के दर्शन करते हैं, उपदेश सुनते हैं। वे समनस्क जीव, परमानन्द को प्राप्त होते हैं, उनकी अतीव प्रसन्नता में अरिहन्त भगवान् निमित्त हैं, जगत् नैमित्तिक है। क्योंकि जगत् भगवान् के दर्शन और उपदेश से आनन्द-

---

१. तत्त्वार्थसूत्रम् अ० २, सूत्र ३२

विभोर हो रहा है। अतः कारण में कार्य का उपचार करके जगदानन्द निमित्तरूप अरिहन्त भगवान् का विशेषण बन गया है। जैसे कि कहा भी है—"जगतां-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाममृतस्यन्दिमूर्तिदर्शनमात्रतो निःश्रेयसाभ्युदयसाधकधर्मोपदेशद्वारेण चानन्दहेतुत्वादैहिकामुष्मिक प्रमोद-कारणत्वाज्जगदानन्दः।"

जगणाहो—इस विशेषण से सर्व जीवों का योग-क्षेमकारी होने से श्री भगवान् का नाम जगन्नाथ कहा जाता है। क्योंकि अप्राप्त का प्राप्त करना 'योग' कहलाता है और प्राप्त की रक्षा करना 'क्षेम'। इस दृष्टि से जिस में दोनों गुण हों, उसे नाथ कहते हैं। देवाधिदेव के निमित्त से भव्य प्राणी मिथ्यात्व के गाढ अन्धकार से निकल कर सन्मार्ग में आते हैं और जो सन्मार्ग से स्खलित हो रहे हैं, उन्हे धर्म में स्थिर करते हैं, जैसे कि कहा भी है—

"जगन्नाथ इहजगच्छब्देन सकलचराचरपरिग्रहः नाथशब्देन च योगक्षेमकृदभिधीयते, 'योग-क्षेमकृद् नाथ' इति विद्वत्प्रवादात्, ततश्च जगतः—सकलचराचरस्वरूपस्य यथावस्थित-स्वरूप-प्ररूपणा द्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाच्च नाथ इव नाथो जगन्नाथः।"

जगबन्धू—अरिहन्तदेव अहिंसा के उपदेशक हैं, क्योंकि वे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी, जीव, सत्व की स्वयं रक्षा करते हैं और इनका हनन मत करो, ऐसा उपदेश करते हैं। अतः वे सहोदर बन्धु की तरह जगद्बन्धु कहे जाते हैं। जैसे कि कहा है—"जगतः-सकल प्राणिसमुदायरूपस्या-व्यापादनोपदेशप्रणयनेन सुखस्थापकत्वाद्बन्धुरिव बन्धुर्जगद्बन्धुः, तथा चाचारसूत्रं—"सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावियव्वा, न परिघेत्तव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, धुवे, नीए, सासए, समेच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।"

जगप्पियामहो—धर्म पितृतुल्य जगत् की रक्षा करता है। अतः धर्म जगत् का पिता है। उस धर्म का प्रभव अरिहन्तदेव से हुआ है। अतः सिद्ध हुआ, अरिहन्तदेव जगत्पितामह हैं। जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को सुगति में स्थापन करता है, उसी को धर्म कहते हैं। वह धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। जैसे कि कहा भी है—सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्मः, स हि दुर्गतौ-प्रपततो जन्तून् रक्षति, शुभे च निःश्रेयसादौ स्थाने स्थापयति, तथाचोक्तं निरुक्तिशास्त्रवेदिभिः—

"दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद् धारयते ततः।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः।"

ततः सकलस्यापि प्राणिगणस्य पितृतुल्यः, तस्यापि च पिता भगवान् अर्थतस्तेन प्रणीतत्वात्, ततो भगवान् जगत्पितामहः।"

इस कथन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि धर्म का यथार्थ उपदेशक होने से श्रीभगवान् जगत्पितामह कहे जाते हैं।

भयवं—यह शब्द भगवान् के अतिशय को सूचित करता है। क्योंकि 'भग' शब्द छह अर्थों में व्यवहृत होता है—समग्र ऐश्वर्य, त्रिलोकातिशायीरूप, त्रिलोकव्यापी यश, तीन लोक को चकाचौन्ध करने वाली श्री, अखण्ड धर्म और सम्पूर्ण प्रयत्न। ये सब जिसमें पूर्णतया पाए जाएँ, उसे भगवान् कहते हैं।

भगवानिति भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, आह च—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना॥"

मतुप् प्रत्ययान्त होने से भगवान् शब्द बनता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'जयइ' क्रिया दो बार आने से पुनरुक्ति दोष क्यों न माना जाए ?

इसका समाधान यह है कि स्वाध्याय, ध्यान, तप, औषध, उपदेश, स्तुति, दान और सद्गुणोत्कीर्तन, इनमें पुनरुक्ति का दोष नहीं माना जाता, जैसे कि कहा भी है—

"सज्झाय, झाण, तव ओसहेसु उवएस-थुइ-पयाणेसु।
संतगुणकित्तणेसु यन्न होंति पुणरुत्तदोसा उ॥"

उपर्युक्त अर्थों में पुनरुक्त दोष नहीं होता। इस प्रकार इस गाथा में आए हुए पदों के अर्थों को हृदयंगम करना चाहिए। इस गाथा में आस्तिकवाद, जीवसत्ता, सर्वज्ञवाद इत्यादि विषय वर्णन किए गए हैं। इन वादों का विस्तृत वर्णन जिज्ञासुगण मलयगिरिसूरिजी की वृत्ति में देख सकते हैं।

महावीर-स्तुति

मूलम्—जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो॥२॥

छाया—जयति श्रुतानां प्रभवः, तीर्थंकराणामपश्चिमो जयति।
जयति गुरुर्लोकानां, जयति महात्मा महावीरः॥२॥

पदार्थ—जयइ सुआणं पभवो—समग्र श्रुतज्ञान के मूलस्रोत जयवन्त हैं, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ—२४ तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर जयशील हैं, जयइ गुरू लोगाणं—जयवन्त होने से ही लोकमात्र के गुरु हैं, जयइ महप्पा महावीरो—महात्मा महावीर अपने आत्मगुणों से सर्वोत्कृष्ट हैं, अतः जयवन्त हैं।

भावार्थ—समस्त श्रुतज्ञान के मूलस्रोत, चालू अवसर्पिणीकाल के २४ तीर्थंकरों में सब से अन्तिम तीर्थंकर जो लोकमात्र के गुरु हैं। क्योंकि निःस्वार्थ भाव से हितशिक्षा देने वाले ही गुरु होते हैं। इन विशेषणों से सम्पन्न महात्मा महावीर सदा जयवन्त हैं। जिन्हें कोई विकार जीतना शेष नहीं रहा, वे ही जयवन्त हो सकते हैं।

टीका—इस गाथा में भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। जितना भी द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुत है, उसका उद्भव श्री महावीर से ही हुआ है। भगवान् महावीर ने ३० वर्ष तक केवल ज्ञान की पर्याय में विचर कर जनता को जो धर्मोपदेश, संवाद और शिक्षाएँ दीं, वे सब के सब श्रुतज्ञान के रूप में परिणत हो गए। श्रोताओं तथा जिज्ञासुओं में जैसा-जैसा क्षयोपशम था, वैसा-वैसा ही उनमें श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ। किन्तु उस श्रुतज्ञान के उत्पादक भगवान् महावीर स्वामी ही हैं।

जो अन्ययूथिक के शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, क्षमा, मार्दव, संतोष, आध्यात्मिकवाद इत्यादि आंशिक रूपेण धर्म और आस्तिकवाद दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब भगवान् की दी

हुई श्रुत ज्ञान की बूंदें हैं। जिस प्रकार महासमुद्र से वाष्प के रूप में उठा हुआ जल गगन-मण्डल में घूमता रहता है। कालान्तर में वही जल मेघ बनकर बरसने लग जाता है, उससे रूक्ष भूमि भी सरसब्ज हो जाती है। अथवा कुशाग्र में, पत्तों में, तथा फूलों की पांखुड़ियों में जो प्रातः जल की बूंदें नजर आती हैं, उन बिन्दुओं का उद्भव स्थान महासमुद्र ही है। कहा भी है—हे भगवन् ! जो भी अन्य ग्रंथ-शास्त्रों में, दर्शनों में, सुभाषित सम्पदाएँ सम्यग्दृष्टि के द्वारा प्रतीत होती हैं, वे सब वाक्य-बिन्दु आपके पूर्व-महार्णव से ही आये हुए हैं, इसमें जगत् ही प्रमाण है। एक स्तुतिकार ने बहुत सुन्दर शैली से भगवान् की स्तुति की है :—

"सुनिश्चितं नः परतंत्र-युक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्ति-सम्पदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिन ! वाक्यविप्रुषः ॥१॥"

इस श्लोक का भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है। अतः श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भगवान् महावीर ही कारण हैं। कारण कि उनके उपदेश किए हुए अर्थ को लेकर ही सर्व शास्त्रों एवं आगमों की प्रवृत्ति हुई है। जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—**"श्रुतानां-स्वदर्शनानुगत-सकल-शास्त्राणां प्रभवन्ति सर्वाणि शास्त्राण्यस्मादिति प्रभवः—प्रथममुत्पत्तिकारणं तदुपदिष्टमर्थमुपजीव्य सर्वेषां शास्त्राणां प्रवर्त्तनात्।"** इस कथन से अपौरुषेयवाद का स्वयं खण्डन हो जाता है। स्तुतिकार ने भगवान् महावीर स्वामी के लिए विशेषण दिया है—

तित्थयराणं अपच्छिमो—जो इस अवसर्पिणी काल में तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर हुए। तीर्थंकर शब्द का अर्थ होता है—भावतीर्थ की स्थापना करने वाले। जिससे संसार तैरा जाए, उसे भाव-तीर्थ कहते हैं, जैसे— **तीर्यते संसारो ऽनेनेति तीर्थः**—यहां द्रव्य-तीर्थ का आशय नहीं, भावतीर्थ से है। भावतीर्थ चार प्रकार के होते हैं, जैसे—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इन चार तीर्थों की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं। 'अपच्छिम' शब्द सूचित करता है कि इनके पश्चात् अन्य तीर्थंकर [illegible] अवसर्पिणीकाल में नहीं होंगे। अतः भगवान् महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर हुए हैं, [illegible] भी है—**"—तीर्थंकराः, तेषां तीर्थंकराणाम्-अस्मिन् भारते वर्षेऽधिकृतायामवसर्पिण्यां न [illegible]ऽस्मादित्यपश्चिमः—सर्वान्तिमः, पश्चिम इति नोक्तम्, अधिक्षेपसूचकत्वात्पश्चिम[illegible]** [illegible] अमंगल होने से उसका प्रयोग नहीं किया]।

गुरू लोगाणं—स्तुतिकार ने तीसरा विशेषण दिया है—'[illegible]' [illegible] संप्रदाय के गुरु नहीं अपितु, लोक के गुरु। क्योंकि उन्होंने [illegible] निःस्वार्थ तथा परमार्थ भाव से धर्मोपदेश सुनाया है। [illegible] गए। इस का भाव वृत्तिकार ने निम्न प्रकार से [illegible] **लोकानां-सत्त्वानां गृणाति प्रवचनार्थमिति गुरुः,** [illegible]

जयइ महप्पा महावीरो—[illegible] कहा है। जिसने अपने आप को [illegible] जिसका स्वभाव अचिन्त्य [illegible]

हैं—"महान्-अविचिन्त्य शक्त्युपेत आत्मस्वभावो यस्य स महात्मा।" महावीर शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने निम्नलिखित की है—"शूर वीर विक्रान्तौ, वीरयति स्मेति वीरो विक्रान्तः, महान्—कषायोपसर्ग-परीषहेन्द्रियादिशत्रुगणजयादतिशायी विक्रान्तो महावीरः, अथवा ईर् गति-प्रेरणयोः विशेषेण ईरयति गमयति, स्फेटयति कर्म प्रापयति वा शिवमिति वीरः, अथवा '(ऋ) गतौ' विशेषेण-अपुनर्भावेन इयर्ति स्म, याति स्म शिवमिति वीरः, महांश्चासौ वीरश्चेति महावीरः।"

इस वृत्ति का भाव है—मन, इन्द्रिय, कषाय, परीषह, प्रमाद आदि आभ्यान्तरिक शत्रुओं के जीतने से वीर ही नहीं, अपितु उसे महावीर कहा जाता है। अथवा जो निर्वाण-पद को प्राप्त करता है, जहां से पुनः लौटकर संसार में न आना पड़े, उसे वीर कहते हैं। जो सर्व वीरों में परम वीर हो, उसे महावीर कहते हैं। कामदेव संसार में सबसे बड़ा योद्धा है, जिस ने देव-दानव और मानव को भी पछाड़ दिया है। इस दृष्टि से कामदेव वीर है, किन्तु वर्धमानजी ने उसे भी जीत लिया है अतएव उन्हें 'महावीर' कहते हैं। अर्थात् जिसे जीतना कोई शेष नहीं रह गया, उसे महावीर कहते हैं।

इस गाथा में 'जयइ' क्रिया गाथा के प्रत्येक चरण के साथ चार बार आई है, इसका समाधान पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

प्रस्तुत गाथा में श्रुतज्ञान के प्रथम उत्पत्ति कारण और उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकर देव, जीवों के हितशिक्षा देने से लोकगुरु, अपौरुषेयवाद का निषेध, तथा महात्मा महावीर, इनका सविस्तर विवेचन किया गया है।

अपश्चिम शब्द से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि एक अवसर्पिणीकाल में चौवीस ही तीर्थंकर होते हैं। और इस गाथा में संक्षिप्त रूप से ज्ञानातिशय का भी वर्णन किया गया है।

अब स्तुतिकार भगवान् महावीर की स्तुति के अनन्तर उनके अतिशयों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

मूलम्—भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स, भद्दं जिणस्स वीरस्स।
भद्दं सुरासुरनमंसियस्स, भद्दं धूयरयस्स॥३॥

छाया—भद्रं सर्वजगदुद्योतकस्य, भद्रं जिनस्य वीरस्य।
भद्रं सुरासुरनमस्यितस्य, भद्रं धूतरजसः॥३॥

पदार्थ—भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स—समस्त जगत् में ज्ञान के प्रकाश करने वाले का कल्याण हो, भद्दं जिणस्स वीरस्स—रागद्वेपरहित परमविजयी जिन महावीर का भद्र हो, भद्दं सुरासुर-नमंसियस्स—देव-असुरों के द्वारा वन्दित का भद्र हो, भद्दं धूयरयस्स—अष्टविध कर्मरज को सर्वथा नष्ट करने वाले का भद्र हो।

भावार्थ—विश्व को ज्ञानालोक से आलोकित करनेवाले, रागद्वेष रूप कर्म-शत्रुओं पर विजय पाने वाले वीर जिन का तथा देव-दानवों से वन्दित, कर्मरज से सर्वथा मुक्ति पाने वाले महात्मा महावीर का सदैव भद्र हो।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सर्वप्रथम ज्ञान अतिशय का वर्णन किया है, जैसे कि सर्वजगत् के उद्योत करने वाले अर्थात् केवल ज्ञानालोक से लोकालोक को प्रकाशित करने वाले श्रीभगवान् का कल्याण हो।

सव्वजगुज्जोयगस्स—इस पद से भगवान् की सर्वज्ञता सिद्ध की गई है। जिनकी मान्यता है, 'जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता' इसका स्पष्ट रूप से निराकरण किया गया है।

भद्र का अर्थ कल्याण होता है। स्तुतिकार का आशय यह नहीं है कि वे भगवान् को आशीर्वाद के रूप में कह रहे हों कि आपका कल्याण हो, बल्कि उनका आशय यह है कि भगवान् में मुख्यतया चार अतिशय होते हैं, प्रत्येक अतिशय कल्याणप्रद ही होता है। ज्ञानातिशय वाले का कल्याण अवश्यंभावी है।

भद्दं जिणस्स वीरस्स—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, रागद्वेष आदि शत्रुओं पर जिसने पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली, उसे जिन कहते हैं। इस से अपाय-अपगम अतिशय का लाभ हुआ, इस से भी कल्याण का होना अनिवार्य है।

भद्दं सुरासुरनमंसियस्स—इस पद से पूजातिशय का वर्णन किया गया है, क्योंकि श्रीतीर्थंकर भगवान् ही अष्ट महाप्रातिहार्य लक्षण रूप पूजा के योग्य होते हैं। वे अष्ट महाप्रातिहार्य ये हैं—

"अशोक-वृक्षः, सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥१॥"

घातिकर्मों के विलय करने से अपायापगमातिशय, तत्पश्चात् कैवल्य प्राप्त हुआ है, इससे ज्ञानातिशय का लाभ हुआ, तदनु धर्मोपदेश दिया और सत्य सिद्धान्त स्थापित किया, इससे वागतिशय का लाभ हुआ, तदनन्तर देवेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्रों के पूज्य बने हैं, इससे भगवान् पूजातिशायी बने।

भद्दं धूयरयस्स—इस विशेषण के द्वारा कर्मरज से पृथक् होना सिद्ध किया गया है, अर्थात् महावीर का कर्मरज से रहित होने पर ही कल्याण हुआ है।

केवल ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति कर्मरज से रहित होने पर ही होती है। क्योंकि कर्मरज ही जीव को संसार में जन्म, जरा-मरण करवाता है। जब जीव निर्वाण-पद की प्राप्ति कर लेता है, तब वह 'योग' स्पन्दन-क्रिया के अभाव से अबन्धक दशा को प्राप्त होता है। जब तक जीव स्पन्दन-क्रिया युक्त है, तब तक अबन्धक नहीं हो सकता, जैसे कि आगमों में कहा है—"जाव णं एस जीवे एयइ, वेयइ, चलइ, फन्दइ, घट्टइ, खुब्भइ, उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ, ताव णं अट्ठविहबन्धए वा, सत्तविह बन्धए वा, छव्विह बन्धए वा, एगविह बन्धए वा, नो चेव णं अबन्धए सिया।" अर्थात् जब जीव योग-शक्ति से कंपन करता है, हिलता है, चलता है, स्पन्दन करता है, चेष्टा करता है, क्षुब्ध होता है, उदीरणा करता है, तत् तत् पर्याय में परिणत होता है, तब आठ, या सात, या छह, या एक कर्म का अवश्य बन्ध करता है, किन्तु अबन्धक नहीं होता। मिश्र गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध नहीं होता १-२-४-५-६ इन गुणस्थानों में आठ कर्मों का बन्ध हो सकता है। ७वें गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध यदि छट्ठे गुण-स्थान में प्रारम्भ कर दिया, तत्पश्चात् बन्ध करते २ सातवें में जा पहुँचा, तो वहाँ आयु कर्म का जो बन्ध चालू था, उसे पूर्ण कर सकता है, किन्तु सातवें गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध प्रारम्भ नहीं करता। ८वें और ९वें गुणस्थान में आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों का ही बन्ध होता है। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में आयु और मोह को छोड़कर छह कर्मों का बन्ध होता है। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली

गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है। केवल अयोगी केवली ही अबन्धक होते हैं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित गाथाएँ हैं—

"सत्तविह बन्धगा होन्ति, पाणिणो आउ वज्जगाणं तु।
तह सुहुम संपराया छव्विह बन्धा विणिद्दिट्ठा ॥१॥

मोह-आउ-वज्जाणं पगडीणं ते उ बन्धगा भणिया।
उवसन्त-खीण-मोहा, केवलिणो एगविह बन्धगा ॥२॥

तं पुण समय ठिइस्स बन्धगा, न उण संपरायस्स।
सेलेसी पडिवण्णा अबन्धगा होन्ति, विण्णेया ॥३॥"

इन गाथाओं का भाव ऊपर दिया जा चुका है। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीमहावीर भगवान्, संसारातीत होने से कल्याणरूप हैं।

इस गाथा में वीर के साथ चार विशेषण दिये हुए हैं जो चारों षष्ठयन्त हैं, चारों चरणों में चार बार 'भद्दं' का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है—चारों में से किसी एक में भी कल्याण है, किं पुनः यदि चारों ही विशेषण जीवन में घटित हो जाएँ तब तो सोने में सुगन्धि की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। यथार्थ स्तुति करने से भक्तजनों का कल्याण भी सुनिश्चित ही है।

संघनगर-स्तुति

मूलम्—गुण-भवण-गहण ! सुयरयण-भरिय ! दंसणविसुद्धरत्थागा।
संघनगर ! भद्दं ते, अखण्ड—चारित्त—पागारा ॥४॥

छाया—गुणभवन-गहन ! श्रुतरत्न-भृत ! दर्शन-विशुद्धरथ्याक !
संघनगर ! भद्रं ते, अखण्ड—चारित्र—प्राकार ! ॥४॥

पदार्थ—संघनगर ! भद्दं ते—हे संघनगर ! तेरा भद्र-कल्याण हो, गुण-भवण-गहण—संघनगर उत्तर-गुण भव्य-भवनों से गहन है, सुयरयणभरिय जो कि श्रुतरत्नों से परिपूर्ण है, दंसणविसुद्धरत्थागा—विशुद्ध सम्यक्त्व ही स्वच्छ राजमार्ग एवं वीथियों से सुशोभित है, अखण्ड चारित्त-पागारा—अखण्ड चारित्र ही चारों ओर अभेद्य प्रकोटा है, ऐसा संघनगर ही कल्याण-प्रद हो सकता है।

भावार्थ—पिण्ड विशुद्धि, समिति, भावना, तप आदि भव्य-भवनों से संघनगर व्याप्त है। श्रुत-शास्त्र रत्नों से भरा हुआ है, विशुद्ध सम्यक्त्व ही स्वच्छ वीथियां हैं, निरतिचार मूलगुण रूप चारित्र ही जिसके चारों ओर प्रकोटा है, इन विशेषताओं से युक्त हे संघनगर! तेरा भद्र हो।

टीका—इस गाथा में श्रीसंघ को नगर से उपमित किया है, जैसे—नगर में प्रचुर और गगनचुंबी भवन होते हैं। गली एवं बाजार व्यवस्थित होते हैं। वहां समाज सुशिक्षित, सभ्य और पुण्यशाली मानव

रहते हैं और रक्षा का पूर्णतया प्रवन्ध होता है। भवन नाना प्रकार के मणिरत्नों से भरे हुए होते हैं। और वे उद्यानों से सुशोभित होते हैं। नगर के चारों ओर प्रकोटा होता है। आने-जाने के लिए चारों दिशाओं में चार महाद्वार होते हैं। नगर, व्यापार का केन्द्र होता है। नगर में चारों वर्णों के लोग सुख-पूर्वक रहते हैं, जो कि न्याय नीतिमान राजा के शासन से शासित होता है। जिस में अमीर-गरीब सब तरह के व्यक्ति रहते हैं, किन्तु उस में आततायियों का निवास नहीं हो सकता। नगर में लोग आनन्द-पूर्वक जीवन यापन करते हैं, इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट वह नगर सदा सुख-प्रद होता है। यहां नगर उपमान है और संघ उपमेय है।

ऐसे ही संघनगर में भी उत्तरगुण रूप प्रचुर तथा विशाल गहन भवन हैं। उत्तरगुण में आहार की विशुद्धि, पांच समितिएं, बारह भावनाएं, बारह प्रकार का तप, बारह भिक्षु की प्रतिमाएं, अभिग्रह आदि ग्रहण किए जाते हैं, जैसे कि कहा भी है—

"पिण्डस्स जा विसोही समिइओ भावणा तवो दुविहो।
पडिमा अभिग्गहावि य उत्तरगुणा इय विजाणाहि ॥"

अतः संघनगर उत्तरगुण रूप गहन भवनों से सुशोभित है। वे भवन श्रुतरत्नों से भरे हुए हैं। श्रुतरत्न निरुपम सुख के हेतु हैं। संघनगर में विशुद्ध दर्शन रूप गली एवं बाजार हैं। विशुद्ध दर्शन में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये लक्षण पाए जाते हैं।

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। दर्शनमोहनीय ३ और अनन्तानुबन्धीकषाय चतुष्क, इन सात प्रकृतियों के क्षय करने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इन सात प्रकृतियों में प्रबल प्रकृतियों को क्षय करने से और शेष प्रकृतियों को उपशम करने से क्षायो-पशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। और सातों प्रकृतियों को उपशम करने से औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अतः संघनगर की गलियां मिथ्यात्व, कषाय आदि कचवर से रहित हैं। जहां चातुर्वर्णरूप चार तीर्थ रहते हैं। संघनगर अखण्ड मूलगुण चारित्र से प्रकोटे की तरह वेष्टित है। जो कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि डाकू चोरों से सुरक्षित है, जिस पर ३६ गुणोपेत आचार्य प्रवर का शान्तिपूर्ण शासन है और जिसमें सभी प्रकार के कुल एवं जाति के साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविकाएं रहती हैं तथा जिसमें रहने के लिए देवता लोग भी आशा लगाए बैठे हैं। जो कि विशुद्ध जीवन रूपी उद्यान से सुशोभित है, तथा जिसमें मैत्री, प्रमोद, करुणा, मध्यस्थता ये चार द्वार हैं। इस प्रकार समृद्ध संघनगर को सम्बोधित करते हुए स्तुतिकार कह रहे हैं—

हे संघनगर! हे गुणभवन गहन! हे श्रुतरत्नभृत! हे दर्शन विशुद्धरथ्याक! हे अखण्ड-चारित्रप्राकार! तेरा भद्र अर्थात् तेरा कल्याण हो!! यहां स्तुतिकार ने संघ के प्रति उत्कट विनय प्रदर्शित किया है। इस से यह सिद्ध होता है कि उन स्तुतिकार के मन में संघ के प्रति कितनी सहानुभूति, वात्सल्य, श्रद्धा और भक्ति थी। यही मार्ग हमारा है, 'महाजनो येन गतः स पंथाः।'

संघचक्र-स्तुति

मूलम्—संजम-तव-तुंबारयस्स, नमो सम्मत्तपारियल्लस्स ।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स ।।५।।

छाया—संयम-तपस्तुम्बारकाय, नमः सम्यक्त्वपारियल्लाय ।
अप्रतिचक्रस्य जयो भवतु, सदा संघचक्रस्य ।।५।।

पदार्थ—**संजम-तव-तुंबारयस्स**—संयम ही तुम्ब—नाभि है, छः प्रकार बाह्य तप और छः प्रकार आभ्यन्तर, इस प्रकार तप के बारह भेद ही जिस में चारों ओर लगे हुए १२ आरे हैं, **सम्मत्तपारियल्लस्स**—सम्यक्त्व ही जिसका बाह्य परिकर है अर्थात् परिधि है, **नमो**—ऐसे भावचक्र को नमस्कार हो, **अप्पडिचक्कस्स**—जिस के सदृश विश्व में अन्य कोई चक्र नहीं है अर्थात् अद्वितीय है, ऐसे **संघचक्कस्स**—संघचक्र की **सया जओ होउ**—सर्वकाल जय हो, वह अन्य किसी संघ से जीता नहीं जा सकता । अतः वह सदा सर्वदा जयशील है, इसी कारण से वह नमस्करणीय है ।

भावार्थ—सत्तरह प्रकार का संयम ही जिस संघचक्र का तुम्ब-नाभि है और बाह्य-आभ्यन्तर तप ही बारह आरक हैं, तथा सम्यक्त्व ही जिस चक्र का घेरा-परिधि है, ऐसे भावचक्र को नमस्कार हो, जिसके तुल्य अन्य कोई चक्र नहीं है, उस संघ-चक्र की सदा जय हो । यह संघ-चक्र या भावचक्र संसार-भव तथा कर्मों का सर्वथा उच्छेद करने वाला है ।

टीका—इस गाथा में स्तुतिकार ने श्रीसंघ को चक्र की उपमा से उपमित किया है और साथ ही चक्र निर्माण की सूचना भी दी गई है । चक्र का तुम्ब-मध्यभाग चारों ओर आरों से युक्त होता है, और साथ ही वह परिकर से भी युक्त होता है ।

चक्र की उपयोगिता

सभी मशीनरियों का आद्य कारण चक्र है । ऐसी कोई मशीनरी नहीं है जोकि चक्रविहीन हो। चक्र वैज्ञानिक साधनों का मूल कारण है । दुश्मनों का नाश करने वाला भी प्राचीन युग में सब से बड़ा अस्त्र चक्र था जोकि अर्धचक्री के पास होता है । इसी से वासुदेव प्रतिवासुदेव को मारता है । चक्र ही चक्रवर्ती का दिग्विजय करते समय मार्गप्रदर्शन करता है, और जब तक छः खण्ड स्वाधीन न हो जाएं तब तक वह चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वह देवाधिष्ठित होता है । वह सुदर्शन चक्ररत्न जिसके अधीन में होता है, उसके राज्य में ईति-भीति आदि उपद्रव नहीं होते । प्रजा शान्ति एवं चैन से जीवन यापन करती है । इत्यादि अनेक गुणों से चक्र संपन्न होता है । यह है उसकी विलक्षणता ।

ठीक इसी प्रकार श्रीसंघ-चक्र भी अपने असाधारण कारणों से अलौकिक ही है । पांच आस्रवों से निवृत्ति, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों का जय, और दण्डत्रय से विरति, इनके समुदाय को संयम कहते हैं ।[1]

---

१. पंचाश्रवाद्विरमणं पंचेन्द्रिय-निग्रहः कषायजयः ।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदश भेदः ।।१।।

संघरथ-स्तुति

मूलम्—भद्दं सीलपडागूसियस्स, तवनियमतुरयजुत्तस्स ।
संघरहस्स भगवओ, सज्झायसुनंदिघोसस्स ॥६॥

छाया—भद्रं शीलपताकोच्छ्रितस्य, तपनियमतुरगयुक्तस्य ।
संघरथस्य भगवतः, स्वाध्याय सुनन्दिघोषस्य ॥६॥

पदार्थ—'सील-पडागूसियस्स'—अट्ठारह हजार शीलांगरूप पताकाएं जिस पर फहरा रही हैं, 'तवनियम-तुरयजुत्तस्स'—तप और नियम-संयम जिसमें घोड़े जुते हुए हैं, सज्झाय, सुनंदिघोसस्स—तथा वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा पांच प्रकार का स्वाध्याय ही जिसका श्रुतिसुख मंगलघोष है, इस प्रकार के संघरथ भगवान् का, भद्द'—भद्र-कल्याण हो ।

भावार्थ—अट्ठारह हजार शीलांग रूप पताकाएं जिस पर फरफरा रही हैं, जिसमें संयम-तपरूप सुन्दर अश्व जुते हुए हैं, जिसमें से पांच प्रकार के स्वाध्याय का मंगलमय मधुरघोष (ध्वनि) निकल रहा है। इस प्रकार के संघरथ रूप भगवान् का कल्याण हो । यहां संघ को मार्गगामी होने के कारण रथ से उपमित किया है । जो संघ सुसज्जित रथ की तरह मार्ग-गामी हो, उसे संघरथ कहते हैं ।

टीका—इस गाथा में श्रीसंघ को रथ से उपमित किया गया है । जैसे एक सर्वोत्तम रथ है, उसमें उत्तम जाति के घोड़े जोते हुए हैं । वैसे ही संघरथ सर्वोत्तम रथ है, जिसमें तप और नियम के घोड़े जोते हुए हैं । जिस के शिखर पर अष्टादश सहस्र शीलाङ्ग ध्वजा और पताकाएं फरफरा रही हैं । जिस प्रकार रथ में १२ प्रकार के तूरी आदि के नन्दिघोष मांगलिक बाजे बजते रहते हैं । उसी प्रकार संघरथ में भी वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा, अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय के मङ्गल नन्दिघोष बाजे बज रहे हैं, उन्हें सुन कर मन आनन्द-विभोर हो जाता है, ऐसे संघरथ भगवान् का कल्याण हो । इस गाथा में सीलपडागू-सियस्स की छाया बनती है—शीलोच्छ्रितपताकस्य—इस पद में उच्छ्रित शब्द पर-निपात प्राकृतशैली से हुआ है । क्योंकि प्राकृत भाषा में विशेषण पूर्वापर निपात का नियम नहीं है । जैसे कि कहा भी है—'नहि प्राकृते विशेषणपूर्वापर-निपातनियमोऽस्ति, यथा कथंचित् पूर्वर्षि प्रणीतेषु वाक्येषु विशेषण-निपात दर्शनात् ।' तथा किसी-किसी प्रति में 'सज्झायसुनेमिघोसस्स' इस प्रकार का भी पाठ है । इस का भाव यह है कि स्वाध्याय ही सुन्दर नेमिघोष है ।

तवनियमतुरयजुत्तस्स इस पद का भाव यह है—शीलाङ्गरथ के कथन से ही तप-नियम ये दोनों गुण आ जाते हैं । किन्तु फिर भी तप और नियम की प्रधानता बतलाने के लिए ही इन का पृथक् कथन किया है । क्योंकि सामान्य कथन करने पर भी प्रधानता दिखाने के लिए विशेष कथन किया जाता है, जैसे किसी ने कहा—'ब्राह्मण आ गए हैं', इससे सिद्ध हुआ कि अन्य लोग भी आ गए हैं । "यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्टोऽप्यायातः" ।

तप शब्द से बारह प्रकार का तप जानना चाहिए। नियम शब्द से अभिग्रह विशेष अथवा कुछ समय के लिए इच्छाओं का रोकना तप है और आजीवन इच्छाओं का निरोध करना नियम है। अतः इन दोनों को स्तुतिकार ने अश्व की उपमा से उपमित किया है।

श्रीसंघ-रथ के ये दोनों तप-नियम अश्व रूप होने से मोक्ष पथ में शीघ्रता से गमन कर रहे हैं।

संघ रहस्स भगवओ—संघरथ भगवान् का भद्र हो। इस कथन से संघरथ ऐश्वर्ययुक्त होने से भगवान् शब्द से उपमित किया गया है। पताका, अश्व और नन्दिघोष, इन तीनों को क्रमशः शील, तप-नियम और स्वाध्याय से उपमित किया गया है।

मोक्ष-पथ का जो राही हो, उसे नियमेन संघरथ पर आरूढ होना ही चाहिए। जब तक मंजिल दूर होती है तब तक उसे पाने के लिए राही ऐसे साधन का सहयोग लेता है जो कि शीघ्र, निर्विघ्न और आनन्दपूर्वक पहुंचा दे। मोक्ष में जाने के लिए भी सर्वोत्तम साधन श्रीसंघ रथ ही है। अतः श्रीसंघ के सदस्यों को चाहिए कि वे अपने कर्त्तव्य की ओर विशेष ध्यान दें।

संघपद्म-स्तुति

मूलम्—कम्मरय-जलोहविणिग्गयस्स, सुयरयण-दीहनालस्स।
पंच-महव्वय थिरकन्नियस्स, गुणकेसरालस्स ॥७॥
सावग-जण-महुअरिपरिवुडस्स, जिणसूरतेयवुद्धस्स।
संघपउमस्स भद्दं, समणगण-सहस्स-पत्तस्स ॥८॥

छाया—कर्मरजो-जलौघ-विनिर्गतस्य, श्रुतरत्न-दीर्घ-नालस्य।
पञ्च-महाव्रत-स्थिर-कर्णिकस्य, गुणकेसरवतः ॥७॥
श्रावक-मधुकरि-परिवृतस्य, जिन-सूर्य-तेजो-वुद्धस्य।
संघ-पद्मस्य भद्रं, श्रमण-गण-सहस्र-पत्रस्य ॥८॥

पदार्थ—कम्मरय-जलोह-विणिग्गयस्स—जो संघपद्म कर्मरूप रज तथा जल-प्रवाह से बाहिर निकला हुआ है, सुयरयण-दीहनालस्स—जिस की श्रुतरत्नमय लंबी नाल है, पंच महव्वय थिरकन्नियस्स—जिस की पांच महाव्रत ही स्थिर कर्णिकाएं हैं, गुणकेसरालस्स—उत्तरगुण-क्षमा-मार्दव-आर्जव-संतोष आदि जिस के पराग हैं, सावग-जण-महुअरि-परिवुडस्स—जो संघपद्म सुश्रावक जन-भ्रमरों से परिवृत्त-घिरा हुआ है, जिणसूर-तेयवुद्धस्स—जो तीर्थंकर रूप सूर्य के केवलज्ञानालोक से विकसित है, समणगणसहस्सपत्तस्स—श्रमण समूह रूप हजार पत्रवाले, संघपउमस्स भद्दं—इस प्रकार के विशेषणों से युक्त, उस संघपद्म का भद्र हो।

भावार्थ—जो संघपद्म कर्मरज-कर्दम तथा जल-प्रवाह दोनों से बाहिर निकला हुआ है—अलिप्त है। जिस का आधार ही श्रुत-रत्नमय लम्बी नाल है, पांच महाव्रत ही

जिस की दृढ़ कर्णिकाएँ हैं। उत्तरगुण ही जिस के पराग हैं, श्रावकजन-भ्रमरों से जो सेवित तथा घिरा हुआ है। तीर्थंकरसूर्य के केवलज्ञान के तेज से विकास पाए हुए और श्रमण गण रूप हजार पंखुड़ी वाले उस संघपद्म का सदा कल्याण हो।

टीका—उक्त दोनों गाथाओं में श्रीसंघ को पद्मवर से उपमित किया है। पद्मवर सरोवर की शोभा बढ़ाने वाला होता है, श्रीसंघ भी मनुष्यलोक की शोभा बढ़ाता है। पद्मवर दीर्घनाल वाला होता है, श्रीसंघ श्रुतरत्न दीर्घनाल युक्त है। पद्म स्थिरकर्णिका वाला होता है तो श्रीसंघ पद्म भी पञ्चमहाव्रत रूप स्थिर कर्णिका वाला है। पद्म सौरभ्य, पीतपराग तथा मकरन्द के कारण भ्रमर समूह से सेव्य होता है, श्रीसंघ पद्म-मूलगुण सौरभ्य से, उत्तरगुण-पीतपराग से, आध्यात्मिक रस एवं धर्मप्रवचनजन्य आनन्दरस रूप मकरन्द से युक्त है। वह श्रावक भ्रमरों से परिवृत्त रहता है, विशिष्ट मुनिपुंगवों के मुखारविन्द से धर्म प्रवचनरूप मकरन्द का आकण्ठ पान करके आनन्द विभोर हो श्रावक-मधुकर के स्तुति के रूप में गुंजार कर रहे हैं।

पद्म सूर्योदय के निमित्त से विकसित होता है तथा श्रीसंघपद्म तीर्थंकर-सूर्य भगवान् के निमित्त से पूर्णतया विकसित होता है। पद्म जल एवं कर्दम से सदा अलिप्त रहता है, श्रीसंघ पद्म—अनिष्टकर्मरज तथा काम-भोगों से अलिप्त, संसार जलौघ से बाहिर उत्तमगुणस्थानों में रहता है। पद्मवर सहस्र पत्रों वाला होता है, श्रीसंघ पद्म श्रमणगण रूप सहस्र पत्रों से सुशोभित है। इत्यादि गुणोपेत श्रीसंघ-पद्म का कल्याण हो। गुणकेसरालस्स—इस पद में 'मतुप्' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में 'आल' प्रत्यय ग्रहण किया गया है, कहा भी है—मतुवत्थम्मि मुणिज्जइ आलं इल्लं मणं तह य—आचार्य हेमचन्द्र कृत प्राकृत-व्याकरण में आलिवल्लोल्लालवन्त मन्तेत्तरमणा मतोः, ८।२। १५६। इस सूत्र से आल प्रत्यय जोड़ देने से 'गुणकेसराल' शब्द बनता है।

श्रावक किसे कहते हैं? जो प्रतिदिन श्रमण निर्ग्रन्थों के दर्शन करता है और उनके मुखारविन्द से श्रद्धापूर्वक जिनवाणी को सुनता है, उसे श्रावक कहते हैं, जैसे कि कहा भी है—

"संपत्त दंसणाइ पइदिवहं, जइजण सुणेइ य।
समायारि परमं जो, खलु तं सावगं विन्ति॥"

जिणसूरतेयबुद्धस्स—वृत्तिकार ने इस पद की व्याख्या निम्नलिखित की है—जिन एव सकल जगत्प्रकाशकतया सूर्य इव भास्कर इव जिनसूर्यस्तस्य तेजो संवेदनप्रभवा धर्मदेशना तेन बुद्धस्य।

गाथा में श्रमण शब्द आया है जिस का अर्थ होता है, श्राम्यन्तीति श्रमणा नन्द्यादिभ्योऽनः ४।३।८६॥ इस सूत्र से कर्त्ता में अनप्रत्यय हुआ। जिस दिन से साधक मोक्षमार्ग का पथिक होने के लिए दीक्षित होता है, उसी क्षण से लेकर पूर्णतया सावद्य योग से निवृत्ति पाकर जो अपना जीवन संयम और तप से यापन करता है, जिसका जीवन समाज के लिए भाररूप नहीं है, जो बाह्य और आन्तरिक तप में अपने आपको सन्तुलित रखता है। 'जर जोरू जमीन' के त्याग के साथ-साथ विषय-कषायों से भी अपने को पृथक् रखता है वह 'श्रमण' कहलाता है, जैसे कि कहा भी है—

"यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः॥"

पद्म में सौन्दर्य्य, सौरभ्य, अलिप्तता, और मकरन्द ये विशिष्टगुण पाए जाते हैं। श्रीसंघ-पद्म में मूलगुण, उत्तरगुण, अनासक्ति, आध्यात्मिकरस, जिनवाणी के श्रवण-मनन-चिन्तन अनुप्रेक्षा, निदिध्यासन-जन्य आनन्द, ये विशिष्टगुण हैं। इस प्रकार संघ-पद्मवर विश्व में अनुपम है। जिसकी सुगन्ध तीन लोक में व्याप्त है।

संघचन्द्र-स्तुति

मूलम्—तवसंजम-मयलंछण ! अकिरियराहुमुहदुद्धरिस ! निच्चं।
जय संघचन्द ! निम्मल-सम्मत्तविसुद्धजोण्हागा ! ॥६॥

छाया—तपःसंयममृगलाञ्छन ! अक्रियराहुमुखदुर्धृष्य ! नित्यम्।
जय संघचन्द्र ! निर्मल-सम्यक्त्व-विशुद्धज्योत्स्नाक ! ॥६॥

पदार्थ—तवसंजम-मयलंछण—जिसके तप-संयम ही मृगचिह्न हैं, अकिरियराहुमुहदुद्धरिस—अक्रियावाद अर्थात् नास्तिकवाद रूप राहुमुख से सदैव दुर्द्धर्ष है, निम्मल सम्मत्त विसुद्धजोण्हागा—निर्मल सम्यक्त्व रूप स्वच्छ चांदनी वाले, संघचन्द—हे संघचन्द्र ! निच्चं जय—सर्वकाल अतिशयवान् हो।

भावार्थ—हे तप-प्रधान संयम रूप मृगलांछन वाले ! जिन-प्रवचन चंद्र को ग्रसने में परायण अक्रियावादी ऐसे राहुमुख से सदा दुष्प्रधृष्य ! निरतिचार सम्यक्त्व रूप स्वच्छ चांदनी वाले हे संघचन्द्र ! आप सदा जय को प्राप्त हों अर्थात् अन्यदर्शनियों से अतिशय-वान हो। संघ-चन्द्र कलंक-पंक से रहित है जिस पर कभी ग्रहण नहीं लगता।

टीका—इस गाथा में श्रीसंघ को चन्द्र की उपमा से अलंकृत किया गया है, जैसे कि—

तवसंजम-मयलंछण—जैसे चन्द्र मृगचिह्न से अङ्कित है, वैसे ही श्रीसंघ भी तप-संयम से अङ्कित है। जैसे चन्द्र तीन काल में भी उस मृगचिह्न से अलग नहीं हो सकता, वैसे ही श्रीसंघ भी तप-संयम से कदाचिद् भी पृथक् नहीं हो सकता।

अकिरिय-राहुमुहदुद्धरिस—इस पद से यह ध्वनित होता है—इस श्रीसंघ-चन्द्र को नास्तिक, चार्वाक, मिथ्यादृष्टि, एकान्तवादियों का राहु कदाचिदपि ग्रस नहीं सकता। बादल, कुहरा तथा आंधी, ये सब किसी भी प्रकार से मलिन नहीं कर सकते। अतः यह संघचन्द्र गगनचन्द्र से विशिष्ट महत्व रखता है।

निम्मल-सम्मत्त-विसुद्ध जोण्हागा—श्रीसंघचन्द्र, मिथ्यात्व-मल से रहित, स्वच्छ, निर्मल सम्यक्त्व-रूपी चांदनी वाला है, जिसकी ज्योत्स्ना दिग्दिगन्तर में व्याप्त है, जोकि अविवेकी, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि चोरों को अच्छी नहीं लगती। इसलिए हे निर्मल सम्यक्त्व-ज्योत्स्नायुक्त चन्द्र ! आपकी सदा जय-विजय हो।

इस गाथा में 'जय' और 'निच्चं' ये दो पद विशेष महत्व रखते हैं। जैसे चन्द्रमा असंख्य ग्रह, नक्षत्र और तारों में सदाकाल ही अतिशायी एवं जयवन्त होता है, वैसे ही श्रीसंघ चाँद भी अन्य यूथिकों से सदैव अपना विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण अस्तित्व रखता है। अतएव जयवन्त है। जैसे चन्द्र सदैव सौम्य रहता है, वैसे ही श्रीसंघ भी सदा-सर्वदा सौम्य है। इसी कारण जयवन्त है। चन्द्र सौम्य-गुणयुक्त है और उसका विमान मृगचिह्न से अंकित है, इसका उल्लेख आगम में निम्नलिखित है—**"से केणट्ठेणं भन्ते! एवं वुच्चइ चन्दे ससी ससी? गोयमा! चन्दस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरण्णो मियंके विमाणे, कंता देवा, कंताओ देवीओ, कंताइं आसण-सयण-खंभ-भण्ड-मत्तोवगरणाइं, अप्पणो वि य णं चंदे जोइसिंदे जोइसराया सोमे, कंते, सुभगे, पियदंसणे, सुरूवे, से तेणट्ठेणं जाव ससी।"**[1]

—सूत्र ४-५४, व्या० प्र० श० १२, उ० ६।

इस पाठ का यह भाव है कि चन्द्र का विमान मृगांक से अंकित है और चन्द्र उस विमान में रहने वाले देव हैं तथा देवियां सौम्य, कान्त, सुभग, प्रियदर्शन, सुरूप इत्यादि गुणयुक्त होने से चन्द्र को स-श्री होने से शशी कहा जाता है। 'चन्द्र' सौम्यगुण, स्वच्छज्योत्स्ना, नित्यगतिशील इत्यादि अनेक गुणयुक्त होने से श्रीसंघ को भी चन्द्र से उपमित किया है।

संघसूर्य-स्तुति

मूलम्—परतित्थियगहपहनासगस्स, तवतेयदित्तलेसस्स।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघसूरस्स ॥१०॥

छाया—परतीर्थिक-ग्रहप्रभानाशकस्य, तपस्तेजोदीप्तलेश्यस्य।
ज्ञानोद्योतस्य जगति, भद्रं दमसंघसूरस्य ॥१०॥

पदार्थ—**परतित्थियगहपहनासगस्स**—एकान्तवाद को ग्रहण किए हुए परवादी ग्रहों की प्रभा को नष्ट करने वाला, **तवतेयदित्तलेसस्स**—तप-तेज से जो देदीप्यमान है, **नाणुज्जोयस्स**—जो सदा सम्यग्ज्ञान का प्रकाशक है, **दमसंघसूरस्स**—ऐसे उपशम प्रधान संघसूर्य का, **जए भद्दं**—जगत् में कल्याण हो।

भावार्थ—एकान्तवाद, दुर्नय का आश्रय लेने वाले परवादी रूप ग्रहों की प्रभा को नष्ट करनेवाला, तप-तेज से जो सदा देदीप्यमान है, सम्यग्ज्ञान का ही सदा प्रकाश करने वाला है, इन विशेषणों से युक्त उपशमप्रधान संघसूर्य का विश्व में कल्याण हो।

---

१. 'से केणट्ठेणं' मित्यादि मियंके त्ति मृगचिह्नत्वात् मृगांके विमानेऽधिकरणभूते सोमे त्ति सौम्य अरौद्राकारो नीरोगो वा, कन्ते त्ति कान्तियोगात्, सुभए सुभगः सौभाग्ययुक्तत्वाद् वल्लभो जनस्य, पियदंसणे त्ति प्रेमकारिदर्शनः कस्मादेवं? अत आह सुरूपः से तेणट्ठे मित्यादि। अथ तेन कारणेनोच्यते, ससी त्ति सहश्रिया इति सश्रीः तदीयदेव्यादीनां स्वस्य च कान्त्यादि युक्तत्वादिति, प्राकृतभाषापेक्षया च ससी त्ति सिद्धम्।

टीका—इस गाथा में स्तुतिकार ने श्रीसंघ को सूर्य से उपमित किया है। जैसे सूर्य अन्य सभी ग्रहों की प्रभा को छिपा देता है, वैसे ही श्रीसंघसूर्य भी कपिल, कणाद, अक्षपाद, चार्वाक आदि दर्शनकार जो कि एकान्तवाद को लेकर चले हैं, उनकी प्रभा को निस्तेज करता है। क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, उसमें से एक धर्म को लेकर शेष धर्मों का निषेध करना, इसे दुर्नय कहते हैं और जो दर्शन वस्तु में रहे हुए अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता, उसे नय कहते हैं। अतः इन परवादियों के दुर्नय के ग्रहण करने से जो उनमें पदार्थों के कथन करने की प्रभा है, उस एकान्तवादिता रूप प्रभा को नष्ट करने वाला श्रीसंघ-सूर्य है। जो कि अपनी सम्यग् अनेकान्तवाद की सहस्र रश्मियों के द्वारा स्वयं अकेला ही जगमगाता हुआ संसार को प्रकाशित करता है।

जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से तेजस्वी है, उसी प्रकार श्रीसंघसूर्य भी तप-तेज से देदीप्यमान है। विश्व में सूर्य से बढ़कर अन्य कोई द्रव्य प्रकाशक नहीं, श्रीसंघ भी ज्ञान प्रकाश से अद्वितीय प्रकाशक है क्योंकि श्रीसंघ में एक से एक बढ़कर तेजस्वी मुनिवर हैं, जोकि भव्य आत्माओं को ज्ञान का प्रकाश देते हैं। अतः स्तुतिकर्ता कहते हैं—हे दमसंघ सूर्य ! आपका सदा कल्याण हो और सदा जयवन्त हो।

स्तुतिकार ने प्रत्येक पद में षष्ठी का प्रयोग किया है—इससे यह भली-भान्ति सिद्ध हो जाता है कि परवादियों का ज्ञान-विकास ग्रहों की प्रभा से उपमित किया है। यद्यपि ग्रह अपने मंद प्रकाश से पदार्थों को यत्किंचित् रूपेण प्रकाश करने में कुछ सफल हो जाते हैं, तदपि सूर्य के सामने उनका प्रकाश नगण्य है। इसी प्रकार एकान्तवादियों का ज्ञानप्रकाश तब तक ही रह सकता है, जबतक कि श्रीसंघसूर्य अपने स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय एवं प्रमाणवाद इत्यादि किरणों से भासित नहीं होता।

संघसूर्य के आदि में 'दम' शब्द जोड़ देने से संघ का महत्व कुछ और भी अधिक बढ़ जाता है, जो मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाला संघ होता है, उसका ज्ञान प्रकाश भी समुज्ज्वल एवं तेजस्वी होता है।

यद्यपि किसी समय राहु, बादल, कुहरा, आन्धी आदि सूर्य की प्रभा को कुछ काल तक आच्छादित कर देते हैं, तदपि वह सदा के लिए नहीं। वैसे तो वह अपने आप में पूर्ण प्रकाशमान है, उसमें अन्धकार का सर्वथा अभाव ही है और न उसे कोई आच्छादित ही कर सकता है, फिर भी व्यवहार में ऐसा कहा जाता है—'राहु ने या बादलों ने सूर्य को ढक दिया !' अन्ततो गत्वा-सूर्य अपनी भास्वर किरणों से उसी प्रकार प्रकाश करता है जिस प्रकार राहु के लगने से पूर्व प्रकाश करता था। श्रीसंघसूर्य भी दुःषमकाल के प्रभाव से जबकि मिथ्यादृष्टियों का बोलबाला बढ़ जाता है, तब कोई वादी अनभिज्ञ जनता के समक्ष कहता है—कि मैंने स्याद्वाद सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक खण्डन कर दिया; वह किया हुआ खण्डन अनभिज्ञ लोगों के अन्तःकरण में तब तक ठहर सकता है जबतक कि उन्होंने अनेकान्तवाद को नहीं सुना। जैसे सूर्य के उदय होते ही अंधकार लुप्त हो जाता है, वैसे ही अनेकान्तवाद को श्रद्धापूर्वक सुनकर अन्तःकरण का दुर्नय, प्रमाणाभास रूप अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इसी कारण दमसंघसूर्य सदैव कल्याणकारी है।

जैसे सूर्य के उदय होने से पूर्व ही उल्लू, चमगादड़, वन्य श्वापद कहीं पर छिप जाते हैं तथा इतस्ततः परिभ्रमण नहीं करते, वैसे ही श्रीसंघसूर्य के उदयकाल में मुमुक्षुओं को विषय-कषाय आदि प्रभावित नहीं कर सकते। अतः साधक जीवों को चतुर्विध श्रीसंघसूर्य से दूर नहीं रहना चाहिए। फिर अविद्या, अज्ञानता, मिथ्यात्व का अन्धकार जीवन को कभी भी प्रभावित नहीं कर सकता। अतः यह संघ-सूर्य कल्याण करनेवाला है।

संघ-समुद्र-स्तुति

मूलम्—भद्दं धिई-वेला-परिगयस्स, सज्झाय-जोग-मगरस्स ।
अक्खोहस्स भगवओ, संघ-समुद्दस्स रुंदस्स ॥११॥

छाया—भद्रं धृति-वेलापरिगतस्य, स्वाध्याय-योग-मकरस्य ।
अक्षोभस्य भगवतः, संघसमुद्रस्य रुन्दस्य ॥११॥

पदार्थ—धिई-वेलापरिगयस्स—जो धृति-मूलगुण तथा उत्तरगुण विषयक वर्द्धमान आत्मिक परिणाम रूप वेला से घिरा हुआ है, **सज्झाय-जोग-मगरस्स**—स्वाध्याय तथा शुभयोग जहाँ मगर हैं, **अक्खोहस्स**—परीषह और उपसर्गों से जो अक्षुब्ध है, **रुंदस्स**—सब प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त तथा विस्तृत है, ऐसे **संघसमुद्दस्स भगवओ**—संघ-समुद्र भगवान का, **भद्दं**—कल्याण हो ।

भावार्थ—मूलगुण और उत्तरगुणों के विषय में बढ़ते हुए आत्मिक परिणाम रूप जल-वृद्धि वेला से व्याप्त है, जिसमें स्वाध्याय और शुभयोग रूप कर्मविदारण करने में महाशक्ति वाले मकर हैं, जो परीषह-उपसर्ग होने पर भी निष्प्रकम्प है तथा समग्र ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं अतिविस्तृत है, ऐसे संघ-समुद्र का भद्र हो ।

टीका—इस गाथा में श्री संघ को समुद्र से उपमित किया है । जलवृद्धि से समुद्र में निरन्तर लहरें बढ़ती ही रहती हैं, उसमें मच्छ-कच्छप, मगर, गाहा, नक्र आदि जल-जन्तु भी रहते हैं फिर भी वह अपनी मर्यादा में ही रहता है । वह महावात से क्षुब्ध होकर कभी भी वेला का उल्लंघन नहीं करता । वह अनेक प्रकार के रत्नों से रत्नाकर कहलाता है, सब जलाशयों में वह महान् होता है तथा जो नियत समय और तिथियों में चन्द्रमा की ओर बढ़ता है । वह गहराई में गम्भीर होता है, उसमें सहस्रशः नदियों का समावेश हो जाता है और जल सदैव शीत ही रहता है ।

श्रीसंघ भी समुद्र के तुल्य ही है क्योंकि चतुर्विध श्रीसंघ में श्रद्धा, धृति, संवेग, निर्वेद, उत्साह की लहरें बढ़ती ही रहती हैं अर्थात् मूलगुण-उत्तरगुणरूप जो आत्मा के शुद्धपरिणाम हैं, उनसे सदा वर्धमान है । समुद्र में मगरमच्छादि अन्य जीवों का संहार करते हैं, श्रीसंघ भी स्वाध्याय से कर्मों का संहार करता रहता है । समुद्र महावात से भी क्षुब्ध नहीं होता, श्रीसंघ भी अनेक परीषह-उपसर्गों के होने पर भी लक्ष्यबिन्दु से विचलित नहीं होता । समुद्र में विविध रत्न हैं, श्रीसंघ में अनेक प्रकार के संयमी रत्न हैं । समुद्र अपनी मर्यादा में रहता है, श्रीसंघ संयम की मर्यादा में रहता है । समुद्र महान् होता है, श्रीसंघ आत्मिक गुणों से महान् है । समुद्र चन्द्रमा की ओर बढ़ता है, श्रीसंघ मोक्ष की ओर अग्रसर होता है । समुद्र अथाह जल से गम्भीर है, श्रीसंघ अनन्तगुणों से गम्भीर है । समुद्र में सब नदियों का समावेश होता है,—विश्व में जितने दर्शन एवं पंथ व सम्प्रदाय हैं, उनमें जो अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह, क्षमा, नम्रता, ऋजुता, निर्लोभता है, इन सबका अन्तर्भाव श्रीसंघ में हो जाता है । जिसमें सदा-सर्वदा शांतरस का ही अनुभव किया जाता है, ऐसे भगवान् श्रीसंघ-समुद्र का कल्याण हो । इस गाथा में संघसमुद्र को भगवान कहा है । जैसे कि—भगवओ संघसमुद्दस्स रुंदस्स—इस कथन से यह सिद्ध होता

संवरवर-जलप्रगलितो,—ज्झरप्रविराजमानहा(धा)रस्य।
श्रावकजन - प्रचुर - रवन्नृत्यन्मयूरकुहरस्य ॥१५॥
विनय-नय-प्रवरमुनिवर,—स्फुरद्विद्युज्ज्वलच्छिखरस्य।
विविध - गुणकल्प - वृक्षक—फलभरकुसुमाकुलवनस्य ॥१६॥
ज्ञानवर-रत्नदीप्यमान, — कान्तवैडूर्यविमलचूडस्य।
वन्दे ! विनय-प्रणतः, संघमहामन्दरगिरिम् ॥१७॥

पदार्थ—**सम्मद्दंसण-वरवइर-दढ-रूढ-गाढ-अवगाढ-पेढस्स**—जैसे मेरुगिरि श्रेष्ठ वज्रमय-निष्प्रकम्प-चिरन्तन-ठोस-गहरे भूपीठ [आधारशिला] वाला है, वैसे ही श्रीसंघ का आधार भी उत्तम सम्यग्-दर्शन है, **धम्मवररयण-मंडिय-चामीयर-मेहलागस्स**—जिस तरह मेरुपर्वत उत्तम-उत्तम रत्नों से युक्त स्वर्ण मेखला से मण्डित है, वैसे ही संघमेरु की मूलगुणरूप धर्म की स्वर्णिम मेखला भी उत्तरगुण रूप रत्नों से मण्डित है।

नियमूसियकणय-सिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स—संघमेरु के इन्द्रिय, नोइन्द्रिय दमन रूप नियम ही कनक शिलातल हैं, उनपर उज्ज्वल, चमकीले उदात्त चित्त ही प्रोन्नत कूट हैं,—**नंदणवण मणहरसुरभिसीलगंधुद्धुमायस्स**—उस संघमेरु का सन्तोष रूप मनोहर नन्दनवन शीलरूप सुरभि गन्ध से परिव्याप्त है।

जीवदयासुन्दरकंदरुद्दरियमुणिवरमइंदइन्नस्स—संघमेरु में जीवदया ही सुन्दर कन्दराएँ हैं, वे कर्म-शत्रुओं को परास्त करने वाले अथवा अन्ययूथिक मृगों को पराजित करनेवाले, ऐसे दुर्धर्ष तेजस्वी मुनिवर सिंहों से आकीर्ण हैं। **हेउसयधाउ-पगलंतरयणदित्तोसहिगुहस्स**—संघमेरु में शतशः अन्वय-व्यतिरेक हेतु ही उत्तम-उत्तम निष्यन्दमान धातुएं हैं और उसकी व्याख्यानशाला रूप गुफाओं में विशिष्ट क्षयोपशमभाव से झर रहे श्रुतरत्न तथा आमर्श आदि औषधियाँ ही जाज्वल्यमान रत्न हैं।

संवरवरजलपगलियउज्झरप्पविरायमाणहारस्स—संघमेरु में आश्रवों का निरोध ही श्रेष्ठजल है और संवर की सातत्य प्रवहमान प्रशम आदि विचारधारा अथवा संवर-जल का निर्झर-प्रवाह ही शोभायमान हार है। **सावगजण पउररवंतमोरनच्चंतकुहरस्स**—उस संघमेरु के धर्मस्थानरूप कुहर प्रचुर आनन्द विभोर श्रावक जन मयूरों के परमेष्ठी की स्तुति व स्वाध्याय के मधुर शब्दों से गुञ्जायमान हैं।

विणयनय-प्पवरमुणिवरफुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स—विनय से विनम्र या विनय और नयमें प्रवीण प्रवर मुनिवर तथा संयम यशः कीतिरूप दामिनी की चमक से संघमेरु के आचार्य-उपाध्याय रूप शिखर सुशोभित हो रहे हैं। **विविह गुणकप्प-रुक्खग-फलभर-कुसुमाउलवणस्स**—संघमेरु में विविध मूलगुण तथा उत्तरगुण सम्पन्न मुनिवर ही कल्पवृक्ष हैं, वे धर्मरूप फलों से लदे हुए हैं और ऋद्धि-रूप पुष्पों से सम्पन्न, ऐसे मुनियों से गच्छरूप वन व्याप्त है।

नाणवररयण-दिप्पंत कंतवेरुलिय-विमलचूलस्स—सम्यग्ज्ञानरूप श्रेष्ठरत्न ही, देदीप्यमान मनोहर विमल वैडूर्यमयी चूलिका है। **वंदामि विणयपणओ संघ-महामंदर-गिरिस्स**—उस चतुर्विध संघरूप महामन्दर गिरि के माहात्म्य को विनय से प्रणत मैं (देववाचक) वन्दन करता हूँ।

महामेरु गिरि को या उसके दिव्य माहात्म्य को विनय से प्रणत होता हुआ मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ द्वितीया अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया हुआ है।

टीका—इन गाथाओं में स्तुतिकार ने श्रीसंघ को मेरुपर्वत से उपमित किया है। जिसका विस्तृत वर्णन पदार्थ में तथा भावार्थ में लिखा जा चुका है, किन्तु यहां विशिष्ट शब्दों पर ही विचार करना है। जैन साहित्य, वैदिक साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में मेरुपर्वत और नन्दनवन का उल्लेख मिलता है। वर्णन-शैली यद्यपि निःसंदेह भिन्न-भिन्न है तदपि उनकी महिमा और नामों में कोई अन्तर नहीं है, इस विषय में तीनों परम्पराएं समन्वित हैं। मेरुपर्वत इस जम्बूद्वीप के ठीक मध्यभाग में अवस्थित है जोकि एक हजार योजन गहरा, निन्यानवें हजार योजन ऊंचा है। मूलमें उसका व्यास दस हजार योजन है। उसपर क्रमशः चार वन हैं, जिनके नाम—भद्रशाल, सौमनस, नन्दनवन और पाण्डुकवन हैं। उसमें रजतमय, स्वर्णमय, और विविध रत्नमय ये तीन कण्डक हैं। चालीस योजन की चूलिका है। यह पर्वत विश्व में सब पर्वतों से ऊँचा है, उसमें जो-जो विशेषताएं हैं, अब उनका वर्णन करते हैं—

मेरुपर्वत की वज्रमय पीठिका है, स्वर्णमय मेखला है, कनकमय अनेक शिलाएं हैं, चमकते हुए उज्ज्वल ऊंचे-ऊंचे कूट हैं, नन्दनवन सब वनों से विलक्षण एवं मनोहारी है, वह अनेक कन्दराओं से सुशोभित है, और कन्दराएं मृगेन्द्रों से आकीर्ण हैं। वह पर्वत विविध प्रकार के धातुओं से परिपूर्ण है, विशिष्ट रत्नों का स्रोत है, विविध औषधियों से व्याप्त है। कुहरों में हर्षान्वित हो मयूर नृत्य करते हैं। केकारव से वे कुहरें गुंजायमान हो रही हैं। ऊंचे-ऊचे शिखरों पर दामिनी दमक रही है, वनविभाग विविध कल्पवृक्षोंसे सुशोभित है जोकि फल और फूलों से अलंकृत हो रहे हैं। सब से ऊपरी भाग में चूलिका है, वह अपनी अनुपम छटा से मानों स्वर्गीय देवताओं को भी अपनी ओर आह्वान कर रही हों, इत्यादि विशेपताओंसे से वह मेरुपर्वत विराजमान है, उसके तुल्य अन्य कोई पर्वत नहीं है।

सम्मदंसण-वरवइर—इत्यादि सम्यग्—अविपरीतं दर्शनं दृष्टिरिति सम्यग्दर्शनम्। दृष्टि का सम्यक् होना ही सम्यग् दर्शन कहलाता है अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, वही सम्यग्-दर्शन श्रीसंघमेरुकी वज्रमय पीठिका है, जोकि मोक्षका प्रथम सोपान है।

धम्मवररयणमण्डिय—इत्यादि श्रीसंघमेरु स्वाख्यात धर्मरत्न से मंडित स्वर्णमेखला से युक्त है। धर्म मूलगुण और उत्तरगुणों में विभाजित है, दोनों प्रकार के धर्मो से श्रीसंघमेरु सुशोभायमान है।

इन्द्रिय और मन दमन रूप नियमों की कनक-शिलाओं से संघ सुमेरु अलंकृत है, विशुद्ध एवं ऊँचे अध्यवसाय ही श्रीसंघमेरु के चमकते हुए ऊँचे कूट हैं, जो कि प्रति समय कर्ममल दूर होने से प्रकाशमान हो रहे हैं। विधिपूर्वक आगमों का अध्ययन, संतोप, शील इत्यादि अपूर्व सौंदर्य और सौरम्य आदि गुणरूप नन्दनवन से श्रीसंघमेरु परिवृत हो रहा है, जो कि महामानव और देवों को सदा आनन्दित कर रहा है। क्योंकि नन्दनवन में रहकर देव भी प्रसन्न होते हैं, जैसे वृत्तिकार लिखते हैं—

"नन्दन्ति सुरासुरविद्याधरादयो यत्र तन्नन्दनवनम्। अशोक-सहकारादि पादपवृन्दम्, नन्दनं च तद्वनं च नन्दनवनं, लता वितानगतविविध फल-पुष्प-प्रवाल-संकुलतया मनोहरतीति मनोहरं, लिहादिभ्य इत्यच प्रत्ययः, नन्दनवनं च तन्मनोहरं च तस्य सुरभिस्वभावो यो गन्धस्तेन उद्धुमायः, आपूर्णः उद्धुमायः शब्द आपूर्ण पर्यायः, यत उक्तमभिमान चिन्हेन—"पडिहत्थमुद्धुमायं अहिरे (य) इयं च जाण आउण्णं।" तस्य

संघमन्दरगिरि पक्षे तु नन्दनं—सन्तोषः, तथाहि तत्र स्थिताः साधवो नंदंति, तच्च विविधामर्षौषध्यादि लब्धिसंकुलतया मनोहरं तस्य सुरभिः शीलमेव गन्धः, तेन व्याप्तस्य, अथवा मनोहरत्वं सुरभिशीलगंध-विशेषणं द्रष्टव्यम्।"

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि श्रीसंघसुमेरु सन्तोषरूप नन्दनवन, लब्धिरूप शक्तियों से मनोहर एवं शील की सुगंध से व्याप्त हो रहा है। जीवदया से यह प्राणीमात्र का आवास स्थान बना हुआ है। श्रीसंघ सुमेरु वादियों को पराजित करनेवाले अनगार-सिंहों से व्याप्त है।

हेउसयधाउपगलन्त इत्यादि—इसका भाव यह है कि श्रीसंघमेरु पक्ष में अन्वय-व्यतिरेक लक्षणवाले सैकड़ों हेतुओं से वादियों की कुयुक्ति तथा असद्वाद का निराकरणरूप विविध उत्तम धातुओं से सुशोभित है। और विचित्र प्रकार के श्रुतज्ञानरूपी रत्नों से वह श्रीसंघमेरु प्रकाशमान है। वह आमर्ष आदि २८ लब्धिरूप औषधियों से व्याप्त हो रहा है। गुहा शब्द से—धर्मव्याख्यानों से व्याख्यानशालाएं सुन्दरता को प्राप्त हो रही हैं।

संवरवर जलपगलिय—इत्यादि गाथा में दिये गये पदों का आशय है—पांच आश्रवों के निरोध को संवर कहते हैं, वह संवर कर्ममल को धोने के लिए विशुद्ध जल है। जिसके सेवन करने से सांसारिक तृष्णाएं सदा के लिए शांत हो जाती हैं। ऐसे विशुद्ध जल के झरने जहां निरन्तर बह रहे हैं। वे झरने मानों श्रीसंघमेरु के गले को सुशोभित करने के लिए हार बने हुए हैं। स्तुतिकार ने—गाथा में—सावगजणपउर-रवन्तमोरनच्चंत कुहरस्स—यह पद दिया है, वृत्तिकार ने इस पद का आशय निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया है—

"श्रावकजना एव स्तुति-स्तोत्र-स्वाध्याय-विधान-मुखरतया प्रचुरा रवन्तो मयूरास्तैर्नृत्यन्तीव कुहराणि व्याख्यानशालासु यस्य स तथा तस्य।"

इसका भाव यह है, जैसे मेरु की कन्दराओं में मेघ की गम्भीर गर्जना को सुनकर प्रसन्नचित्त मोर नाच उठते हैं, वैसे ही श्रावक लोग व्याख्यानशालाओं में जिनवाणी के गम्भीर एवं मधुर घोष को सुन कर प्रसन्नचित्त से स्तुति-स्तोत्र, पाठ-जाप, स्वाध्याय करते हुए मस्ती में झूमते हैं, मानो नृत्य की भांति अपने अन्तर्गत प्रसन्न भावों को प्रकट कर रहे हों। न कि मोर की तरह सचमुच नाचते हैं। इस गाथा में उपमा अलंकार से उक्त विषय को प्रकट किया है।

विनय-नय-पवरमुणिवर—इत्यादि इस पद का अर्थ है—विनयधर्म और विविध नय-सरणि रूप दामिनी की चमचमाहट से श्रीसंघमेरु जगमगा रहा है। शिखर के तुल्य प्रमुख मुनिवर तथा आचार्य आदि समझने चाहिए।

विविहगुण-कप्परुक्खग-फलभरकुसुमाउलवणस्स—अर्थात् जो मुनिवर मूलोत्तर गुणों से सम्पन्न हैं, वे कल्पवृक्ष के तुल्य हैं। क्योंकि वे सुख के हेतु तथा धर्मफल के देने वाले हैं तथा नाना प्रकार के योगजन्य लब्धिरूप सुपारिजात पुष्पों से व्याप्त हैं। गच्छ नन्दनवन के तुल्य हैं। इस प्रकार अपनी अलौकिक कांति से श्रीसंघसुमेरु देदीप्यमान हो रहा है।

नाणवर-रयणदिप्पंत इत्यादि—इस गाथा में बताया है कि मेरुपर्वत की चूलिका वैडूर्य रत्नमयी है, जो कि अत्यन्त स्वच्छ एवं निर्मल है, श्रीसंघमेरु की चूलिका भी अत्यन्त स्वच्छ एवं निर्मल सम्यग्ज्ञान-आदि रत्नों से सुशोभित हो रही है।

"संघमन्दरपक्षे तु कान्ता भव्यजनमनोहारित्वाद् विमला, यथावस्थित जीवादि पदार्थ स्वरूपोपलंभात्मकत्वात्"—अतः संघमेरु वंद्य एवं स्तुत्य है। इस गाथा में वंदामि और विणय-पणओ ये दो पद देकर स्तुतिकार ने श्रीसंघमेरु का माहात्म्य दिखाया है।

मेरुपर्वत अचल होने से कल्पान्तकाल के महावात से भी कम्पित नहीं होता, श्रीसंघमेरु भी मिथ्यादृष्टियों के द्वारा दिये गये प्राणान्त परीषह-उपसर्गों से कभी भी विचलित नहीं होता। पर्वत प्रायः दूर से ही रम्य प्रतीत होते हैं। जब कि मेरु ने इस उक्तिको निराधार प्रमाणित किया है। वह दूर की अपेक्षा निकटतम में अधिक रमणीक लगता है, किन्तु श्रीसंघमेरु दूर और निकटतम दोनों अवस्थाओं में रमणीक ही है।

प्रकारान्तर से संघमेरु की स्तुति

मूलम्—गुण-रयणुज्जलकडयं, सीलसुगंधितव-मंडिउद्देसं।
सूय-बारसंग-सिहरं, संघमहामन्दरं वंदे ॥१८॥

छाया—गुणरत्नोज्ज्वल-कटकं, शीलसुगंधितपोमण्डितोद्देशं।
श्रुतद्वादशांग-शिखरं, संघमहामन्दरं वन्दे ॥१८॥

पदार्थ—गुणरयणुज्जलकडयं—ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणरूप रत्नों से संघमेरु का मध्यभाग समुज्ज्वल है, सीलसुगंधि-तवमंडिउद्देसं—जिसकी उपत्यकाएं पंचशील से सुरभित हैं और तप से सुशोभित हैं। सुयबारसंगसिहरं—द्वादशांग श्रुतरूप ही जिसका शिखर है, ऐसे विशेषणों से युक्त संघमहामंदरं वंदे—संघ महामन्दरगिरि को मैं वन्दन करता हूं।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप अनुपम गुणरत्नों से संघमेरुका मध्यभाग समुज्ज्वल है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन्हें शील कहते हैं। संघमेरु की उपत्यकाएँ शील की सुगंध से सुगंधित हैं और वे तप से सुशोभित हो रही हैं। द्वादशांगश्रुत ही उत्तुंग शिखर हैं, अन्य संघ से अतिशयवान संघमहामन्दर को मैं अभिवन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में संघमेरु को शेष उपमाओं से उपमित किया गया है। जिसकी उपत्यका उज्ज्वल गुणरत्नों से प्रकाशित हो रही है तथा शीलसुगन्धि से सुवासित और तप से सुसज्जित हो रही है। उपत्यका के स्थानीय श्रीसंघ के आसपास रहनेवाले मार्गानुसारी जीव हैं। द्वादशांग गणिपिटक रूपी श्रुतज्ञान ही जिस श्रीसंघमेरु का शिखर है, ऐसे महामंदर को मैं वंदना करता हूँ।

इस गाथा में गुण, शील, तप और श्रुत ये चार गुण ही संघमहामेरु को पूज्य बना रहे हैं। यहाँ गुण शब्द से मूलगुण और उत्तरगुण जानने चाहिए।

शील शब्द से सदाचार, तप शब्द से १२ प्रकार का तप जानना चाहिए तथा श्रुतशब्द से आध्यात्मिक श्रुत, ये ही संघमेरु की विशेषताएं हैं।

संघ-स्तुति विषयक उपसंहार

मूलम्—नगर-रह-चक्क-पउमे, चंदे-सूरे-समुद्द-मेरुम्मि।
जो उवमिज्जइ सययं, तं संघ-गुणायरं वंदे ॥१६॥

छाया—नगर-रथ-चक्र-पद्मे, चन्द्रे सूर्ये समुद्रे मेरौ।
य उपमीयते सततं, तं संघ-गुणाकरं वन्दे ॥१६॥

पदार्थ—**नगर-रह-चक्क-पउमे**—नगर-रथ-चक्र और पद्म में **चंदे-सूरे समुद्दे मेरुम्मि**—चन्द्र, सूर्य, समुद्र और मेरु में **जो उवमिज्जइ सययं**—जो सतत उपमित किया जाता है **तं संघ-गुणायरं वंदे**—गुणों के अक्षयनिधि, उस संघ को स्तुतिपूर्वक वन्दना करता हूं।

भावार्थ—नगर, रथ, चक्र, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र तथा मेरु इनमें जो अतिशायी गुण होते हैं तदनुरूप संघ में भी अद्भुत दिव्य लोकोत्तरिक अतिशायी गुण हैं। अतः संघ को सदैव इनसे उपमित किया जाता है। जो संघ अनंत-अनंत गुणों की खान है, ऐसे विशिष्ट संघ को वन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में नगर, रथ, चक्र, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र और मेरु इन आठ उपमाओं से श्रीसंघ को उपमित करके संघस्तुति का उपसंहार किया है। स्तुतिकार ने गाथा के अन्तिम चरण में श्रद्धा से नतमस्तक हो श्रीसंघ को नमस्कार किया है। तथा च **तं संघ-गुणायरं वंदे** इस पद से सूचित किया है कि श्रीसंघ गुणों का आकर (खान) है। उस संघ को मैं वन्दना करता हूँ, वह मेरा ही नहीं अपितु विश्ववन्द्य है। इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि नाम, स्थापना और द्रव्यरूप निक्षेप को छोडकर केवल भावनिक्षेप ही वन्दनीय है। क्योंकि जो गुणाकार है वही भावनिक्षेप है।

वृत्तिकारने उपर्युक्त दोनों गाथाएं ग्रहण नहीं कीं, किन्तु टिप्पणी में "अधिकमिदं युगमन्यत्र" ऐसा उल्लेख किया गया है। ये दो गाथाएं बहुत-सी प्राचीन प्रतियों में देखी जाती हैं, इसी कारण ये दोनों गाथाएं यहां लिखी गई हैं और इनका प्रस्तुत प्रकरण में विरोध भी नहीं झलकता।

चतुर्विंशति जिन-स्तुति

मूलम्—(वंदे) उसभं अजियं संभवमभिनंदण-सुमइं सुप्पभं सुपासं।
ससि-पुप्फदंत-सीयल सिज्जंसं वासुपुज्जं च ॥२०॥
विमलमणंतं य धम्मं संतिं कुंथुं अरं च मल्लिं च।
मुणिसुव्वयं नमि नेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥२१॥

छाया—(वन्दे) ऋषभमजितं सम्भवमभिनंदनसुमतिसुप्रभसुपार्श्वम् ।
शशि - पुष्पदंत - शीतल-श्रेयांसं - वासुपूज्यं च ।।२०।।
विमलमनन्तं च धर्मं शांतिं कुंथुमरं च मल्लिं च ।
मुनिसुव्रत-नमि-नेमिं, पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ।।२१।।

भावार्थ—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, सुप्रभ, पद्मप्रभ, शशी-चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि-अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्द्धमान-श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करता हूँ ।

टीका—उपर्युक्त प्रस्तुत दो गाथाओं में तीर्थंकरों के नामों का कीर्तन किया गया है । पांच भरत तथा पांच ऐरावत, इन दस क्षेत्रों में अनादि कालचक्र का ह्रास-विकास चल रहा है । छः आरे अवसर्पिणी के और छः आरे उत्सर्पिणी के, दोनों को मिलाकर एक कालचक्र होता है । अवसर्पिणी में ह्रास होता है और उत्सर्पिणी में विकास । प्रत्येक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव नव वासुदेव तथा नव प्रति-वासुदेव, इस प्रकार त्रिषष्टि शलाका पुरुष होते हैं । ऋषभदेव भगवान् और उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती तीसरे आरे में हुए हैं । शेष सब महापुरुष चौथे आरे में हुए हैं । आजकल अवसर्पिणी काल का पांचवां आरा चल रहा है । उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में तेइस तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव और नव प्रतिवासुदेव होते हैं । उसके चौथे आरे में चौवीस तीर्थंकर और बारह चक्रवर्ती होने का अनादि नियम है । तीर्थंकरपद विश्व में सर्वोत्तम पद माना जाता है । तीर्थंकर देव धर्मनीति के महान् प्रवर्तक होते हैं । भगवान् महावीर चौवीसवें तीर्थंकर हुए हैं । सभी तीर्थंकर साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप भावतीर्थ की स्थापना करते हैं । वे किसी पन्थ की बुनियाद नहीं डालते बल्कि धर्म का मार्ग बतलाते हैं । वे स्वयं तीन लोक के पूज्य एवं वंद्य होते हैं । उनके कोई गुरु नहीं होते, उनकी साधना में न कोई सहायक होता है और न कोई मार्ग-प्रदर्शक, वे घर में ही तीन ज्ञान के धारक होते हैं । चारित्र लेते ही उन्हें विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान हो जाता है । घाति-कर्मों के सर्वथा विलय होते ही उन्हें केवल ज्ञान हो जाता है । तत्पश्चात् धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं । इसी कारण उन्हें तीर्थंकर कहते हैं । पद्मप्रभजी का अपर नाम यहां सुप्रभ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । चन्द्रप्रभ का अपर नाम शशी, और सुविधि जी का अपर नाम पुष्पदन्त है ।

गणधरावलि

मूलम्—पढमित्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति ।
तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे य ।।२२।।
मंडिय-मोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य ।
मेयज्जे य पहासे, गणहरा हुन्ति वीरस्स ।।२३।।

छाया—प्रथमोऽत्र इन्द्रभूति-र्द्वितीयः पुनर्भवत्यग्निभूतिरिति ।
तृतीयश्च वायुभूति,—स्ततो व्यक्तः सुधर्मा च ॥२२॥
मण्डित-मौर्यपुत्रा, — वकम्पितश्चैवाचलभ्राता च ।
मैतार्यश्च प्रभासो, गणधराः सन्ति वीरस्य ॥२३॥

भावार्थ—भगवान् महावीर के गण-व्यवस्थापक ग्यारह गणधर हुए हैं जोकि उनके मुख्य शिष्य थे। उनके पवित्र नाम—१ इन्द्रभूति उनका अपर नाम गौतम हैं, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ये तीनों सहोदर भ्राता थे, ४ श्रीव्यक्त, ५ सुधर्मा, ६ मण्डितपुत्र, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पित, ९ अचलभ्राता, १० मैतार्य, ११ प्रभास। ये सब जन्म से ब्राह्मण थे।

टीका—उपर्युक्त दो गाथाओं में ग्यारह गणधरों के नामोत्कीर्तन किए गए हैं, ये सभी श्रमण भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य थे। इनमें अग्रगण्य गणधर इन्द्रभूति जी, गौतम गोत्र से अधिक प्रसिद्ध थे। वैशाख शुक्ला दशमी को श्रीमहावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। उधर मध्यापापा नगरी में सोमिल नामा एक समृद्ध ब्राह्मण ने अपने यज्ञ-समारोह को सफल बनाने के लिये ग्यारह महा-महोपाध्यायों को, उनके छात्रों सहित आमन्त्रित किया। वे भी अपने-अपने छात्रसंघ के साथ उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आए।

उसी नगरी के बाहिर यज्ञ-भूमि से नातिदूर ईशानकोण में महासेन नामा एक उद्यान था। वहां केवलज्ञानालोक से आलोकित श्रमण भगवान् महावीर समवसरण में देशना दे रहे थे। जनता यज्ञ-भूमि की अपेक्षा समवसरण की ओर अधिक आकृष्ट हो रही थी। इन्द्रभूतिजी के मन में प्रतिद्वन्द्वता से विचार-तरंग उठी, वह कौन मायावी है जिसने चारों ओर से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रखा है और हमारी यज्ञ-भूमि में कोई भी आने के लिए तैयार नहीं होता? अहंकार और कोपावेश से अपने छात्रों सहित इन्द्रभूतिजी समवसरण की ओर चल पड़े। इधर सर्वज्ञ महावीर ने सन्मुख आते ही उन्हें नाम और गोत्र से सम्बोधित किया और उनके हृदय के अन्तस्तल में रही शंका व प्रश्न को व्यक्त किया तथा साथ ही युक्तिसंगत प्रमाणों से वचन के द्वारा समाधान किया। इससे इन्द्रभूति जी अत्यन्त प्रभावित हुए और छात्रों सहित दीक्षित हुए। इसी प्रकार अन्य महामहोपाध्यायों ने भी सर्वज्ञता की परीक्षा लेने के लिए मन से ही प्रश्न किए और भगवान् ने वचन से उनके सभी प्रश्नों का समाधान किया। इस अतिशय-पूर्ण ज्ञान से वे सभी प्रभावित होकर भगवान् महावीर के कर-कमलों से दीक्षित हुए। जो पहले वैदिक परम्परा में महामहोपाध्याय थे, वे ही भगवान् महावीर के गणधर बने। गणधर का अर्थ है जो गण को धारण करे अर्थात् अपने आश्रित मुनिगण को सिखाना, पढ़ाना, उन्हें संयम में स्थिर करना, प्रतिबोध देना, भटके हुए साधकों को मोक्ष-पथ के पथिक बनाना, तीर्थंकर के प्रवचनों को सूत्र रूप में गुंफन करना और अपने कल्याण के साथ दूसरों का भी कल्याण करना। गण-गच्छ का कार्यभार गणधरों के दृढ़ कन्धों पर होता है। भगवान् से अर्थ सुनकर द्वादशांग-गणिपिटक की रचना गणधर ही करते हैं। उनका वह प्रवचन आज भी उपकार कर रहा है। जैसे कि कहा भी है—

"एते च गणभृतः सर्वेऽपि तथाकल्पत्वाद् भगवदुपदिष्टं उप्पन्नेइ वेत्यादि मातृकापदत्रयमधि-

गम्य सूत्रतः सकलमपि प्रवचनं दृब्धवन्तः, तच्च प्रवचनं सकल-सत्त्वानामुपकारकं विशेषत इदानीन्तन-जनानाम् ।"

इस वृत्ति का भाव यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रुव इन तीन पदों से अर्थों को जानकर सूत्र रूप से सकल प्रवचन की रचना की । वह प्रवचन आज पर्यन्त सांसारिक जीवों पर महान् उपकार कर रहा है । अतः गणधरदेव परोपकारी महापुरुष हुए हैं ।

वीर-शासन की महिमा

मूलम्—निव्वुइ-पह-सासणयं, जयइ सया सव्व-भाव-देसणयं ।
कुसमय-मय-नासणयं, जिणिंदवर-वीर-सासणयं ॥२४॥

छाया—निर्वृत्ति-पथ-शासनकं, जयति सदा सर्वभावदेशनकं ।
कुसमय-मद-नाशनकं, जिनेन्द्रवर-वीर-शासनकम् ॥२४॥

पदार्थ—निव्वुइ-पह-सासणयं—निर्वाणपथका शासक, सव्वभाव-देसणयं—सर्वभावोंका प्ररूपक, कुसमय-मय-नासणयं—अन्ययूथिकों के मद को नष्ट करनेवाला जिणिंदवर-वीर-सासणयं—वीर जिनेन्द्र का श्रेष्ठ शासन, जयइ सया—सर्वदा सर्वोत्कृष्ट अतिशयवान है ।

भावार्थ—सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षपदका प्रदर्शक, जीव-अजीव आदि पदार्थों का प्रतिपादक, और कुदर्शन के अभिमान का मर्दक, जिनेन्द्र भगवान महावीर का शासन-प्रवचन सदा जयवन्त है ।

टीका—इस गाथामें जिन प्रवचन तथा जिन-शासनकी स्तुति की गई है, जैसेकि—१. वह जिन-शासन निर्वृत्ति-पथका शासक है । शासन शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य लिखते हैं—निर्वृत्ति-पथस्य शासनं, शिष्यतेऽनेनेति शासनम्-प्रतिपादकं निर्वृत्तिशासनम् । २. जिन प्रवचन सर्वभावों का प्रकाशक है, क्योंकि निर्मल स्वच्छ श्रुतज्ञान के प्रकाश से सर्व पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं । ३. यह जिनशासन कुसमय-मद का नाशक है, जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही जिनशासन कुत्सित मान्यताओं का नाशक है । अतः यह शासन प्राणिमात्र का हितैषी होनेसे सदैव उपादेय है और मुमुक्षुओंके द्वारा ग्राह्य है, इसी कारण यह जिनशासन सर्वोत्कृष्ट है । जयति—क्रिया का अर्थ है—सर्वोत्कर्षेण वर्तते—जो विश्व में सर्वोपरि अतिशयवान हो, उसी के लिए 'जयति' का प्रयोग किया जाता है ।

युग-प्रधान स्थविरावलि-वन्दन

मूलम्—सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबू नामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥२५॥

छाया—सुधर्माणमग्निवेश्यायनं, जम्बूनामानं च काश्यपं।
प्रभवं कात्यायनं वन्दे, वात्स्यं शय्यंभवं तथा ॥२५॥

पदार्थ—**सुहम्मं अग्गिवेसाणं**—अग्निवेश्यानगोत्रीय श्रीसुधर्मा स्वामीजी को, **जंबू नामं च कासवं**—काश्यपगोत्रीय श्रीजम्बूस्वामीजी को, **पभवं कच्चायणं**—कात्यायनगोत्रीय प्रभव स्वामीजी को, **वच्छं सिज्जंभवं तहा**—तथा वत्सगोत्रीय श्रीशय्यम्भवजी को, **वंदे**—इन युगप्रधान आचार्य-प्रवरों को मैं वन्दन करता हूँ।

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी के पंचम गणधर श्रीसुधर्मा स्वामीजी, श्रीजम्बू स्वामीजी, प्रभव स्वामीजी, तथा आचार्य शय्यम्भव स्वामीजी। मैं (देववाचक) इन सबका अभिवादन करता हूँ।

टीका—उक्त गाथा में भगवान् महावीर के निर्वाणपद प्राप्त करने के पश्चात् गणाधिपति होनेके नाते श्रीसुधर्मा स्वामी से लेकर कतिपय पट्टधर आचार्यों का क्रमशः नामोल्लेख करके वर्णन किया है। भगवान् महावीर के पश्चात् युगप्रधान आचार्य श्रीसुधर्मा स्वामीजी हुए हैं। श्रीसुधर्मा स्वामीजी पंचम गणधर हुए हैं। तीर्थंकर के होते हुए ही गणधरपद होता है। भगवान के निर्वाण के बाद यदि उन गणधरों की छद्मस्थ अवस्था व्यतीत हो रही हो, तो वे आचार्य बन सकते हैं, वह भी तब, जब कि उनके आगे शिष्य-परम्परा का आरम्भ हो जाए। ग्यारह गणधरों में सुधर्माजी के ही शिष्य हुए हैं। अन्य दस गणधरों की कोई शिष्य-परम्परा नहीं चली तथा आगम में कहा भी है—तित्थं च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा—

(१) सुधर्मा स्वामी का गोत्र अग्निवेश्यायन था उनके शिष्य—
(२) जम्बू स्वामी काश्यप गोत्रवाले थे। उनके शिष्य—
(३) प्रभव स्वामी कात्यायन गोत्रवाले थे। उनके शिष्य—
(४) शय्यम्भव स्वामी वात्स्यगोत्रवाले थे।

सुधर्मा स्वामी ५० वर्ष गृहस्थावस्था में रहे, तीस वर्ष पर्यन्त गणधर पदवी में रहे, बारह वर्ष तक आचार्य बनकर शासन को दिपाया और आठ वर्ष कैवल्य-पर्याय में रहे। इस प्रकार सर्व आयु सौ वर्ष की पूर्ण कर निर्वाण हुए।

उनके पट्टधर श्रीजम्बू स्वामीजी हुए हैं। वे राजगृह नगर के निवासी सेठ ऋषभदत्त के सुपुत्र, धारणी नामवाली सेठानी के अंगज थे। आपने निन्यानवें (९९) करोड़ स्वर्ण मुद्राएं तथा देवांगना-सदृश आठ स्त्रियों के सुख, मोह-ममता को छोड़कर भगवती दीक्षा ग्रहण की। आप १६ वर्ष गृहस्थवास में रहे और बारह वर्ष गुरु की सेवा में रहकर शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। ८ वर्ष आचार्य बनकर श्रीसंघ की दत्तचित्त होकर

सेवा की। ४४ वर्ष कैवल्य-पर्याय में रहकर निर्वाण-पद को प्राप्त किया अर्थात् श्रीजम्बूस्वामीजी भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् चौंसठवें वर्ष में मोक्ष पधारे।

श्रीजम्बूस्वामीजी के पट्टधर शिष्य प्रभव स्वामीजी हुए, जो राजकुमार थे। जीवन की किसी विशेष घटना के कारण उन्हें चोरी का व्यसन लग गया। आप एक दिन पांच सौ (५००) चोरों को साथ लेकर राजगृह नगर में जम्बूकुमारजी की सम्पत्ति को लूटने के लिए आए। उस समय जम्बूकुमारजी ने आपको प्रतिबोध दिया क्योंकि जो स्वयं वैराग्य-रंग से अनुरंजित होते हैं, वे ही दूसरों को अपने जैसा बना सकते हैं। तब प्रभव स्वामीजी अपने साथी ५०० चोरों सहित जम्बूकुमारजी के साथ ही दीक्षित हुए अर्थात् मुनिव्रत को धारण किया। आप तीस वर्ष तक गृहस्थावस्था में रहे। जो व्यक्ति गृहवास में चोरों के अधिनायक रहे हैं, सत्संग के प्रभाव से वे ही महापुरुष मुनियों के तथा श्रीसंघ के अधिनायक बने। श्रीमहावीर के निर्वाण के ७५ वर्ष पश्चात् स्वर्ग में पधारे।

श्रीप्रभव स्वामी के पट्टधर शिष्य श्रीशय्यंभव स्वामी हुए हैं, जिन्होंने अपने सुपुत्र तथा सुशिष्य मनक अनगार के लिए श्रीदशवैकालिक सूत्र की रचना की। आप २८ वर्ष गृहवास में रहे। ग्यारह वर्ष सामान्य साधु-पर्याय में, तथा तेइस वर्ष युगप्रधान आचार्यपद में रहकर आपने श्रीसंघ की सेवा की। सर्वायु बासठ वर्ष की भोगकर वीर निर्वाण सं० ९८ वर्ष पश्चात् स्वर्गवासी हुए।

उक्त गाथा में गोत्रों का उल्लेख आया है, जिनकी व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने व्याकरण के अनुसार निम्नलिखित की है, जैसेकि—"अग्निवेशस्यापत्यं वृद्धं आग्निवेश्यो, 'गर्गादिर्यञिति' यञ् प्रत्ययः तस्याप्यपत्यमाग्निवेश्यायनः, कश्यपस्यापत्यं काश्यपः 'विदादेर्वृद्धः' इत्यञ् प्रत्ययः, कतस्यापत्यं कात्यः 'गर्गादेर्यञिति' यञ् प्रत्ययः तस्यापत्यं कात्यायनः, वत्सस्यापत्यं वात्स्यो गर्गादेर्यञिति यञ् प्रत्ययः।"

मूलम्—जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥२६॥

छाया—यशोभद्रं तुंगिकं वन्दे, संभूतं चैव माढरम्।
भद्रबाहुं च प्राचीनं, स्थूलभद्रं च गौतमम् ॥२६॥

पदार्थ—जसभद्दं तुङ्गियं—तुंगिक-गोत्रीय यशोभद्रजी को संभूयं चेव माढरं—और माढरगोत्रीय संभूतविजयजी को, भद्दबाहुं च पाइन्नं—प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहुजी को, थूलभद्दं च गोयमं—गौतमगोत्रीय स्थूलभद्रजी को, वंदे—मैं वन्दन करता हूं।

भावार्थ—आचार्य यशोभद्रजी, संभूतविजयजी, भद्रबाहुजी और गौतमगोत्रीय स्थूलभद्रजी, इनको अभिवादन करता हूँ।

टीका—उक्त गाथा में तुंगिकगोत्री यशोभद्रजी, माढर गोत्रवाले सम्भूतविजयजी, प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहुस्वामीजी, और गौतमगोत्रीय स्थूलभद्रजी इत्यादि आचार्यप्रवरों को वन्दना-नमस्कार किया है। ये गुरुशिष्य और आचार्य से सम्बन्ध रखते हैं।

(५) यशोभद्र स्वामी आचार्य श्रीशय्यम्भव स्वामी के शिष्य और उन्हीं के पट्टधर थे। २२ वर्ष गृहस्थ में, १४ वर्ष संयम-पर्याय में और ५० वर्ष युगप्रधान आचार्यपद में रहे हैं। इस प्रकार कुल ८६ वर्ष की आयु में संयम और संघ सेवा की साधना पूर्ण करके स्वर्गवासी हुए। इनका देवलोक वीर निर्वाण सं० १४८ वर्ष पश्चात् हुआ। आचार्य यशोभद्र स्वामीजी के—

(६) संभूतविजय और भद्रबाहु ये दो शिष्य हुए और दोनों क्रमशः पट्टधर हुए हैं। संभूतविजयजी ४२ वर्ष गृहवास में रहे हैं। ४० वर्ष श्रुत, संयम, और तप की आराधना में लगे रहे तथा ८ वर्ष युगप्रवर्तक आचार्य पदवी को शोभित करते रहे। सर्वायु ९० वर्ष समाप्त करके देवलोक के अतिथि बने। तत्पश्चात् उन्हीं के गुरुभ्राता—

(७) भद्रबाहु स्वामी पट्टधर हुए हैं। आप ४५ वर्ष गृहवास में रहे। १७ वर्ष संयम, तप तथा १४ पूर्वों के अध्ययन में लगे रहे। १४ वर्ष युगप्रधान होकर आचार्यपद को विभूषित करके श्रीसंघ की सेवा की। आपने श्रुतज्ञान का अत्यन्त प्रचार किया। महाराजा चन्द्रगुप्त आपका अनन्य सेवक रहा है। आप सर्वायु ७६ वर्ष की समाप्त कर देवलोक सिधारे। वीर निर्वाण सं० १७० वर्ष पश्चात् भद्रबाहुजी स्वामी का देवलोक हुआ।

(८) स्थूलभद्रजी युगप्रधान आचार्य हुए हैं। आप २० वर्ष गृहवास में रहे हैं। २४ वर्ष साधना में लगे रहे और ४५ वर्ष आचार्य बनकर श्रीसंघ की सेवा की। आपने पूर्वों की विद्या आचार्य श्री भद्रबाहु से प्राप्त की। सर्वायु ९९ वर्ष की पूर्ण की। वीर सं० २१५ वर्ष पश्चात् स्वर्ग के वासी हुए। आप अपने युग में कामविजेता हुए हैं। आचार्य प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र स्वामी ये ६ आचार्य १४ पूर्वों के वेत्ता थे।

मूलम्—एलावच्च सगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो-कोसिअ-गोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥२७॥

छाया—एलापत्य-सगोत्रं, वन्दे महागिरिं सुहस्तिनञ्च।
ततः कौशिकगोत्रं, बहुलस्य सदृग्वयसं वन्दे ॥२७॥

पदार्थ—एलावच्च-सगोत्तं—एलापत्य गोत्रवाले महागिरिं सुहत्थिं च—महागिरि और सुहस्ति को वंदामि—वन्दन करता हूं। तत्तो—तत्पश्चात् कोसियगोत्तं—कौशिक-गोत्रीय बहुलस्स—बहुल के सरिव्वयं—समान वय वाले बलिस्सह—को वन्दे—वन्दन करता हूं।

भावार्थ—एलापत्य-गोत्रीय आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्तीजी को वन्दन करता हूं। ये दोनों स्थूलभद्रजी के शिष्य हुए हैं। कौशिक-गोत्रीय बहुलमुनि के समान वय वाले बलिस्सह को भी मैं (देववाचक) वन्दन करता हूं।

टीका—कामविजेता श्रीस्थूलभद्रजी के सुशिष्य एलापत्य गोत्रवाले क्रमशः—

(९—१०) महागिरि और सुहस्ती पट्टधर आचार्य हुए हैं। सुहस्ती आचार्य से लेकर सुस्थित

सुप्रतिबुद्ध आदि आवलिका क्रमशः निकली, इसकी विशेष जानकारी जिज्ञासुओं को दशाश्रुतस्कन्ध की टीका से करनी चाहिये। क्योंकि यहां पर इस विषय का अधिकार नहीं है। इस स्थान पर महागिरि स्थविरावली का अधिकार है। इस पर वृत्तिकार ने लिखा है कि—

"तत्र सुहस्तिन आरभ्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध आदि क्रमेणावलिका विनिर्गता सा यथा दशाश्रुतस्कन्धे तथैव द्रष्टव्या, न च तयेहाधिकारः, तस्यामावालिकायां प्रस्तुताध्ययनकारकस्य देववाचकस्याभावात्, तत इह महागिरि—आवलिकयाधिकारः।"

महागिरि आचार्य के दो शिष्य हुए हैं—बहुल और बलिस्सह—ये दोनों यमल भ्राता और कौशिक गोत्रवाले थे, किन्तु दोनों में से—

(११) बलिस्सह तद्युग के प्रधान आचार्य हुए हैं। दोनों यमलभ्राता तथा गुरुभ्राता होने से स्तुतिकार ने उन्हें बड़ी श्रद्धा से नमस्कार किया है।

मूलम्—हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वंदे कोसिय-गोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२८॥

छाया—हारीतगोत्रं स्वातिं च वन्दे हारीतं च श्यामार्यम्।
वन्दे कौशिकगोत्रं शाण्डिल्यमार्यजीतधरम् ॥२८॥

पदार्थ—**हारियगुत्तं साइं**—हारीत-गोत्री स्वाति को **च**—और **हारियं च सामज्जं**—हारीत-गोत्री श्यामार्य को **वन्दे**—वन्दन करता हूं, **कोसिय-गोत्तं संडिल्लं**—कौशिक-गोत्री शाण्डिल्य **अज्जजीयधरं**—आर्यजीतधर को **वन्दे**—वन्दन करता हूं।

भावार्थ—आचार्य स्वाति, श्यामार्य, आचार्य शाण्डिल्य, इन सबको मैं वन्दन करता हूं।

टीका—इस गाथा में भी देववाचकजी ने श्रद्धास्पद युगप्रधान आचार्य-प्रवरों का परिचय देकर वन्दना की है।

(१२) हारीतगोत्रीय श्रीस्वातिजी।

(१३) हारीतगोत्रीय श्रीश्यामार्यजी।

(१४) कौशिकगोत्रीय आर्यजीतधर शाण्डिल्यजी।

आर्यजीतधर यह शाण्डिल्य आचार्य का विशेषण है। 'आर्य' का अर्थ होता है जो सभी प्रकार के त्यागने योग्य धर्मों से दूर निकल गए हैं, उन्हें आर्य कहते हैं। 'जीत' शब्द का अर्थ होता है—शास्त्रीय मर्यादा, जिसे 'कल्प' भी कहते हैं। उस मर्यादा का धारण करनेवाले को 'आर्य जीतधर' कहते हैं। वृत्तिकार ने आर्य जीतधर शाण्डिल्य आचार्य का विशेषण स्वीकृत किया है, किन्तु अन्य किन्हीं के विचार में आर्य जीतधरजी के शाण्डिल्य आचार्य शिष्य हुए और युग-प्रधान आचार्य भी। अतः उनको भी देववाचकजी ने वन्दन किया है। वृत्तिकार के इस विषय में निम्नलिखित शब्द हैं—

"शाण्डिल्यं,—शाण्डिल्यनामानं वन्दे, किम्भूतमित्याह—'आर्यजीतधरं' आरात्—सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाग् यातम्-आर्यः। 'जीत' मिति सूत्रमुच्यते, जीतं स्थितिः कल्पो मर्यादा व्यवस्थेति हि पर्यायाः, मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते, तथा 'धृङ् धारणे' ध्रियते धारयतीति धरः, 'लिहादिभ्य' इत्यच् प्रत्ययः, आर्यजीतस्य धरः आर्यजीतधरस्तम्, अन्ये तु व्याचक्षते—शाण्डिल्यस्यापि आर्यगोत्रो शिष्य जीतधरनामा सूरिरासीत्, तं वन्दे-इति।"

मूलम्—ति-समुद्द-खाय-कित्तिं, दीव-समुद्देसु गहिय-पेयालं।
वंदे अज्ज-समुद्दं, अक्खुभिय-समुद्द-गंभीरं ॥२९॥

छाया—त्रि-समुद्र-ख्यात-कीर्ति, द्वीप-समुद्रेषु गृहीत-पेयालम्।
वन्दे-आर्यसमुद्रं, अक्षुभित-समुद्र-गम्भीरम् ॥२९॥

पदार्थ—ति-समुद्द-खाय-कित्तिं—तीन समुद्रों पर्यन्त प्रख्यात कीर्तिवाले दीव-समुद्देसु गहियपेयालं—विविध द्वीप और समुद्रों में प्रामाणिकता प्राप्त करनेवाले अथवा द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के विशिष्ट विद्वान्, अक्खुभियसमुद्द-गंभीरं—क्षोभ रहित समुद्र की तरह गंभीर, अज्ज-समुद्दं—आर्यसमुद्र को वन्दन करता हूँ।

भावार्थ—पूर्व, दक्षिण और पश्चिम तीनों दिशाओं में लवणसमुद्र पर्यन्त ख्यातिप्राप्त, विविध द्वीप-समुद्रों में, प्रमाण प्राप्त अथवा 'द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के विद्वान' क्षोभरहित समुद्र के तुल्य गम्भीर आचार्य आर्यसमुद्रजी भी, देववाचकजी के हृदय-सिंहासन पर आसीन थे, इसीलिए उन्हें वन्दन किया गया है।

टीका—इस गाथा में आचार्य शाण्डिल्य के उत्तरवर्ती—

(१५) श्रीआर्यसमुद्र नामक आचार्य को वन्दन किया गया है। साथ ही आचार्य की महत्ता और विद्वत्ता का परिचय भी दिया गया है जैसे कि—

तिसमुद्दखायकित्तिं—पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशा में जिनकी कीर्ति समुद्र-पर्यन्त व्याप्त हो रही है। क्योंकि इस भरतक्षेत्र की सीमा तीन दिशाओं में समुद्र-पर्यन्त है तथा उत्तर दिशा में वैताढ्य एवं हिमवान् पर्वत है, अतः वे अपनी शुभ्र कीर्ति द्वारा भरतक्षेत्र में प्रसिद्ध हो रहे थे। दूसरे चरण में यह कथन किया गया है कि—

दीवसमुद्देसु गहिय पेयालं—इससे सिद्ध होता है कि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों के वे पूर्ण ज्ञाता होने से लोकवाद में प्रामाणिक माने जाते थे। तीसरे चरण में उन्हें वन्दना की गई है तथा चतुर्थ पद में उनकी गम्भीरता का समुद्र के तुल्य दिग्दर्शन कराया गया है, जैसे कि—

अक्खुभियसमुद्द-गम्भीरं—अक्षुभित-समुद्रवत् गंभीरम्—इनका भाव यह है कि प्रत्येक विषय में जिनकी समुद्र के समान गम्भीरता है, कारण कि उक्त गुणवाला ही अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकता है। स्तुतिकर्ता ने अज्जसमुद्दं—पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी कीर्ति और विज्ञान प्रायः आर्य पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। अतः आर्य पद युक्तिसंगत ही है। पेयालं—शब्द प्रमाण अर्थ में आया हुआ जानना चाहिए।

त्रिसमुद्रख्यात-कीर्ति—इस पद से यह भी ध्वनित होता है कि भारतवर्ष की सीमा तीन दिशाओं में समुद्र-पर्यन्त है।

मूलम्—भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सूयसागरपारगं धीरं ॥३०॥

छाया—भाणकं-कारकं ध्यातारं, प्रभावकं ज्ञानदर्शनगुणानाम्।
वन्दे आर्यमंगुं, श्रुतसागरपारगं धीरम् ॥३०॥

पदार्थ—**भणगं**—कालिक सूत्रों के अध्ययन करनेवाले, **करगं**—सूत्रानुसार क्रिया-काण्ड करनेवाले, **झरगं**—धर्म-ध्यान के ध्याता, **णाण-दंसणगुणाणं**—ज्ञान-दर्शन और चारित्र के गुणों का, **पभावगं**—उद्योत करनेवाले, और **सूयसागरपारगं**—श्रुतसागर के पारगामी, **धीरं**—धैर्य आदि गुण-सम्पन्न, **अज्जं मंगुं**—आर्यमंगुजी को, **वंदामि**—वन्दन करता हूँ।

भावार्थ—सदैव कालिक आदि सूत्रों का स्वाध्याय करने वाले, शास्त्रानुसार क्रिया-कलाप करने वाले, धर्म-ध्यान ध्याने वाले, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि रत्नत्रय के गुणों को दिपानेवाले तथा श्रुतरूप सागर के पारगामी तथा धीरता आदि गुणों के आकर आचार्य श्री आर्यमंगुजी महाराज को नमस्कार करता हूँ।

टीका—इस गाथा में स्तुतिकार ने आचार्य समुद्र के पश्चात्—

(१६) श्री आर्य मंगुजी स्वामी के गुणों का दिग्दर्शन कराया है। कालिक, उत्कालिक, मूल, छेद आदि, सूत्र तथा अर्थ के अध्ययन और अध्यापन करनेवाले, आगमोक्त क्रिया-कलाप करनेवाले, धर्मध्यान के ध्याता, सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणों से युक्त श्रुतसागर के पारगामी इत्यादि गुणों से युक्त आर्यमंगु आचार्य को स्तुतिकार ने भावभीनी वंदना की है। इसका फलितार्थ यह हुआ है कि वन्दना और स्तुति गुणों की होती है। जैनधर्म में व्यक्ति की पूजा नहीं अपितु गुणों की पूजा होती है। **भणगं**—इस पद से वाचना आदि स्वाध्याय को सूचित किया है। **करगं**—इस विशेषण से सूत्रोक्त क्रिया-कलाप के करने की सूचना दी गई है। **झरगं—ध्यातारं**—इस कथन से, ध्यान शब्द की सिद्धि की गई है, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने का मुख्य साधन ध्यान ही है। **पभावगं णाणदंसणगुणाणं**—इस पद से सिद्ध होता है कि वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों गुणों के दिपाने और प्रवचन-प्रभावना करने में सिद्धहस्त थे। ज्ञान-दर्शन ये आत्मा के निजी गुण हैं, इन पर भी प्रकाश डाला गया है। **सुयसागरपारगं**—इस विशेषण से उन्हें आगमों के लौकिक तथा लोकोत्तरिक श्रुत के प्रखर विद्वान् सूचित किया गया है। **धीरं**—धीर पद से 'धिया राजत इति धीरः'—उन्हें बुद्धिमान् और समय के ज्ञाता सिद्ध किया गया है।

मूलम्—वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च।
तत्तो य अज्जवइरं, तव-नियम-गुणेहिं वइरसमं ॥३१॥

छाया—वन्दे आर्यधर्मं, ततो वन्दे च भद्रगुप्तं च ।
ततश्चार्यवज्रं, तपोनियमगुणैर्वज्रसमम् ॥३१॥

पदार्थ—पुनः अज्जधम्मं—आर्य धर्माचार्य को, अ—और, तत्तो—फिर, भद्दगुत्तं—श्रीभद्रगुप्तजी को, वंदामि—वन्दना करता हूँ। च—और तत्तो—उसके बाद तव—तप नियम—नियम आदि, गुणेहिं—गुणों से, वइर—वज्र के, समं—समान, अज्जवइरं—आर्यवज्र स्वामीजी को वन्दन करता हूं।

भावार्थ—तत्पश्चात् आचार्य श्री आर्यधर्मजी महाराज को और उनके पश्चात् आचार्य श्रीभद्रगुप्तजी महाराज को वन्दन करता हूं। उसके बाद तप-नियम आदि गुणों से सम्पन्न, वज्र के समान दृढ़ आचार्य श्रीआर्यवज्रस्वामीजी महाराज को नमन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में युगप्रधान तीन आचार्यों का क्रमशः परिचय दिया गया है—

(१७, १८, १९) आर्यधर्म, भद्रगुप्त और आर्य वज्रस्वामी ये तीनों आचार्य तप-नियम और गुणों से समृद्ध थे। चतुर्विध श्रीसंघ के लिए आचार्य श्रद्धास्पद होते हैं। वे स्व-कल्याण के साथ-साथ दूसरोंका भी कल्याण करते हैं। वे श्रीसंघ या विश्व के लिए मार्ग-प्रदर्शन के रूप में प्रकाश-स्तम्भ होते हैं। आचार्य तीर्थंकर के पदचिन्हों पर चलते हैं तथा उनका अनुसरण श्रीसंघ करता है।

जनता पर जैसे न्यायनीतिमान राजा शासन करता है, वैसे ही आध्यात्मिक साधकों पर आचार्यदेव का न्याय-नीति-सम्पन्न शासन होता है। वे मार्ग-प्रदर्शक और श्रीसंघ के रक्षक होते हैं। आर्यधर्मजी मूर्तिमान धर्म थे। श्रीभद्रगुप्त ने अपने को बुराइयों से भली-भांति गुप्त रखा हुआ था। आर्य वज्रस्वामीजी का तप-नियम और गुणों से वज्र के समान महत्त्वपूर्ण जीवन था। आर्यवज्रस्वामीजी वीर निर्वाण सं० छठी शती में देवगति को प्राप्त हुए।

यह गाथा वृत्तिकार ने प्रक्षेपक मानकर ग्रहण नहीं की, किन्तु प्राचीन प्रतियों में यह गाथा उपलब्ध होती है।

मूलम्—वंदामि अज्जरक्खिय-खवणे, रक्खिय-चारित्तसव्वस्से ।
रयण-करंडग-भूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥३२॥

छाया—वन्दे आर्यरक्षित-क्षपणान्, रक्षितचारित्रसर्वस्वान् ।
रत्न-करण्डकभूतो-ऽनुयोगो रक्षितो यैः ॥३२॥

पदार्थ—जेहिं—जिन्हों ने चारित्तसव्वस्से—स्व तथा सभी संयमियों के चारित्र-सर्वस्व की रक्खिय—रक्षा की तथा जिन्हों ने रयण-करंडगभूओ—रत्नों की पेटी के समान अणुओगो—अनुयोग की रक्खिय—रक्षा की, उन खवण—क्षपण-तपस्वीराट् अज्जरक्खिय—आर्यरक्षित जी को वंदामि—वन्दना करता हूं।

भावार्थ—जिन्होंने तत्कालीन सभी संयमीमुनियों और अपने सर्वस्व चारित्र-संयम की रक्षा की, और जिन्होंने रत्नों की पेटी के सदृश अनुयोग की रक्षा की। उन तपस्वीराट् आचार्य श्रीआर्यरक्षितजी को वन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में आचार्य आर्यरक्षितजी को वन्दन किया गया है—

(२०) आर्यरक्षित तपस्वीराज होते हुए भी विद्वत्ता में बहुत आगे बढ़े हुए थे। बुद्धि स्वच्छ एवं निर्मल होने से आप ने नव पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। उनके दीक्षागुरु तोसली आचार्य हुए हैं। आर्यरक्षितजी का जीवन विशुद्ध चारित्र से समुज्ज्वल हो रहा था। जैसे गृहस्थ रत्नों के डिब्बे की रक्षा सतर्कता एवं सावधानी से करते हैं, वैसे ही उन्होंने अनुयोग की रक्षा की। इसके विषय में शीलांकाचार्य अपनी सूत्रकृतांग की वृत्ति में लिखते हैं कि—

"आगमश्च द्वादशांगादिरूपः सोऽप्यार्यरक्षितमिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरण-करण-द्रव्य धर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा व्यवस्थापितः।"

अर्थात्-आगम-द्वादश अंगस्वरूप हैं, किन्तु आर्यरक्षितजी ने आजकल के पुरुषों पर, उपकार की बुद्धि से, उसे चरण-करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग इस प्रकार से आगमों को चार भेदों में विभक्त कर दिया है। अतः यह आचार्य श्रुतज्ञान के वेत्ता होने से आगमों की रक्षा करने में दत्त-चित्त थे। इसलिए गाथाकार ने गाथा के उत्तरार्ध में ये पद दिए हैं, जैसे कि—**रयण-करण्डगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं**—जिन्होने रत्नकरण्ड (रत्नों की पेटी) के समान अनुयोग की रक्षा की। जिसकी जैसी योग्यता, जिज्ञासा और बुद्धिवल हो, उसे पहले उसी अनुयोग का अध्ययन करना चाहिए और अध्यापन भी तथा उपदेश एवं शिक्षा भी तदनुरूप ही देनी चाहिए। इससे गुरु-शिष्य दोनों को सुविधा रहती है।

आजकल के विद्वानों का यह भी अभिमत है कि अनुयोगद्वार सूत्र के रचयिता आर्यरक्षितजी हुए हैं। अतः उन्हें श्रद्धावनत होकर वन्दन किया है।

मूलम्—णाणम्मि दंसणम्मि य, तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जं नंदिल-खवणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं ॥३३॥

छाया—ज्ञाने दर्शने च, तपो—विनये नित्यकालमुद्युक्तम्।
आर्य नन्दिल-क्षपणं, शिरसा वन्दे प्रसन्न-मनसम् ॥३३॥

पदार्थ—**णाणम्मि**—ज्ञान में, **दंसणम्मि**—दर्शन में **य**—और **तवविणए**—तप और विनय में **णिच्चकालं**—नित्यकाल-प्रतिक्षण **उज्जुत्तं**—उद्युक्त-तत्पर तथा **पसन्नमणं**—राग द्वेष न होने से प्रसन्नचित्त रहने वाले **अज्जं नंदिल खवणं**—आर्य नंदिल क्षपण को **सिरसा वंदे**—मस्तक से वन्दन करता हूं।

भावार्थ—जो ज्ञान-दर्शन में और तपश्चरण में तथा विनयादि गुणों में सर्वदा अप्रमादी थे, समाहितचित थे, ऐसे गुणों से सम्पन्न आर्य नन्दिल क्षपण को सिर झुका कर वन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में आर्य नन्दिल क्षपण के विषय में वर्णन किया है, जैसे कि—

(२१) आर्यनन्दिलक्षपण सदैव ज्ञान, दर्शन, तप, विनय, और चारित्र-पालन में उद्यत रहते थे, जिनका मन सदा प्रसन्न रहता था, इसलिए गाथाकार ने पसन्नमणं पद दिया है। जो मुनि निश्चय पूर्वक व्यवहार

धर्म में नित्य उद्यमशील रहते हैं, उन्हीं के मन में सदैव प्रसन्नता रहती है। जैसे तीन लोक में सुदुर्लभ चिन्तामणि रत्न मिलने से अर्थार्थी अतीव प्रसन्न होता है, वैसे ही चारित्र भी सर्व प्राणियों के लिए अतीव दुर्लभ है, उसे प्राप्त कर किसको प्रसन्नता नहीं होती ? जो प्राणी उसे प्राप्त करके अरति, रति, भय, शोक, जुगुप्सा, वासना, कषाय इत्यादि विकारों का शिकार बन जाता है, तो समझना चाहिए कि उससे बढ़कर भाग्यहीन संसार में कोई नहीं है। प्रसन्नचित्त का होना भी साधुता का लक्षण है।

'निच्चकालमुज्जुत्तं' अर्थात् नित्यकालं-सर्वकालमुद्युक्तम्—अप्रमादिकम्—यह शिक्षा हर मुनि को ग्रहण करनी चाहिए कि मन की प्रसन्नता और अप्रमत्त भाव ये दोनों आत्म-विकास के लिए परमावश्यक है।

मूलम्—वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्ज-नागहत्थीणं।
वागरण-करण-भंगिय-कम्म-प्पयडी पहाणाणं ॥३४॥

छाया—वर्द्धतां वाचकवंशो, यशोवंश आर्यनागहस्तिनाम्।
व्याकरण-करण-भाङ्गिक-कर्मप्रकृति- प्रधानानाम् ॥३४॥

पदार्थ—वागरण—व्याकरण अथवा प्रश्नव्याकरण करण—पिण्डविशुद्धि आदि, भंगिय—भांगों के ज्ञाता, कम्मप्पयडी—कर्मप्रकृति प्ररूपणा करने में पहाणाणं—प्रधान, ऐसे अज्जनागहत्थीणं—आर्यनागहस्ती का वायगवंसो—वाचकवंश जसवंसो—यशवंश की तरह वड्ढउ—बढ़े।

भावार्थ—जो व्याकरण—प्रश्नव्याकरण अथवा संस्कृत एवं प्राकृत शब्दानुशासन में निष्णात, पिण्ड विशुद्धियों और भांगों के विशिष्टज्ञाता तथा कर्मप्रकृति-श्रुतरचना से या उनकी विशेष प्रकार से प्ररूपणा करने में प्रधान, ऐसे आचार्य नन्दिलक्षपण के पट्टधर शिष्य आचार्य श्री आर्यनागहस्तीजीका वाचकवंश मूर्त्तिमान् यशोवंश की भांति वृद्धि को प्राप्त हो।

टीका—इस गाथा से हमें आर्य नागहस्तीजीका जीवन-परिचय स्पष्टतया मिलता है—

(२२) आर्य नागहस्तीजी, उस युग के अनुयोगधरों में धुरन्धर विद्वान् थे। उनका यशस्वी वाचक-वंश वृद्धि को प्राप्त हो, ऐसा कहकर देववाचकजी ने अपनी मंगल कामना व्यक्त की है। हो सकता है, वाचक वंश का उद्भव आर्य नागहस्तीजी से ही हुआ हो। क्योंकि देववाचक ने इनसे पहले अन्य किसी वाचक का नामोल्लेख नहीं किया। जो शिष्यों को शास्त्राध्ययन कराते हैं, उन्हें वाचक कहते हैं। वाचक उपाध्याय पद का प्रतीक है। जसवंसो वड्ढउ—इस पद का आशय है—जो वंश समुज्ज्वल यशप्रधान हो, उसी वंश की वृद्धि होती है। गाथा के उत्तरार्द्ध में उनकी विद्वत्ता का परिचय दिया है। वागरण—वे संस्कृतव्याकरण, प्राकृतव्याकरण तथा प्रश्नव्याकरण आदि विषय और भाषा के मर्मवेत्ता थे। करण-[1]

---

१. पिंडविसोही, समिई, भावणा, पडिमा य इंदिय-निरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु॥

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, भिक्षु की प्रतिमाएं, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखन, गुप्ति और अभिग्रह इन सबके समुदाय को 'करण' कहते हैं। वाचक नागहस्तीजी इन सब के वेत्ता, साधक और आराधक थे। भंगिय—सप्तभंगी, प्रमाणभंगी, नयभंगी, गांगेय अनगार के भंग तथा अन्य प्रकार के जितने भी भंग हैं, उन सब में वाचकजी की गति थी। कम्मप्पयडी-पहाणाणं—कर्मप्रकृति के विशेषज्ञ थे। समुज्ज्वल चारित्र और विद्वत्ता से आर्य नागहस्तीजी वाचक बने। इस गाथा में वंदन नहीं किया गया है, वल्कि यशस्वी वाचकवंश में होनेवाली परम्परा वृद्धि को प्राप्त हो, ऐसी मंगल-कामना प्रकट की गई है।

मूलम्—जच्चंजण-धाउ समप्पहाणं, मुद्दिय-कुवलय-निहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइ नक्खत्त-नामाणं ॥३५॥

छाया—जात्यांजन-धातुसमप्रभाणां, मृद्विका-कुवलयनिभानाम्।
वर्द्धतां वाचकवंशो, रेवतिनक्षत्रनाम्नाम् ॥३५॥

पदार्थ—जच्चंजण-धाउ-समप्पहाणं—जाति अंजन धातु के समान प्रभावाले तथा मुद्दिय-कुवलय-निहाणं—द्राक्षा व कुवलय कमल के समान नील कांतिवाले, रेवइ-नक्खत्त नामाणं—रेवति नक्षत्र नामक मुनिप्रवर का वायगवंसो—वाचक वंश, वड्ढउ—वृद्धि प्राप्त करे।

भावार्थ—उत्तम जाति के अंजन धातु के तुल्य कांतिवाले तथा पकी हुई द्राक्षा और नीलकमल अथवा नीलमणि के समान कांतिवाले, आर्य रेवतिनक्षत्र का वाचकवंश वृद्धि प्राप्त करे।

टीका—इस गाथा में आचार्य नागहस्ति के शिष्य आचार्य रेवतिनक्षत्र का उल्लेख किया गया है—

(२३) आचार्य रेवतिनक्षत्र जाति-सम्पन्न होने पर भी इनके शरीर की दीप्ति अंजन धातु के सदृश थी। अंजन आंखों में ठंडक पैदा करता है और चक्षुरोग को दूर करता है, इसी प्रकार इनके दर्शनों से भी भव्य-प्राणियों के नेत्रों में शीतलता प्राप्त होती थी। अतः स्तुतिकार ने शरीर-कान्ति के विषय में लिखा है—मुद्दियकुवलयनिहाणं'—इसका आशय है, जैसे परिपक्व द्राक्षाफल तथा नीलोत्पल कमल का वर्ण कमनीय होता है, उसके समान उनके देह की कान्ति थी। वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि: किसी आचार्य का अभिमत है कि कुवलय शब्द से मणि विशेष जाना चाहिए। जैसे कि: मृद्विकाकुवलय-निभानां परिपाकगतरसद्राक्षया नीलोत्पलं च समं प्रभाणाम्, अपरे पुनराहु कुवलयमिति मणिविशेषस्त-त्राप्यविरोधः। स्तुतिकार ने इनको भी वाचक वंश में मानकर वाचक वंश की वृद्धि का आशीर्वाद दिया है। जैसे कि—वड्ढउ वायगवंसो—वाचकानां वंशो वर्द्धताम्—संभव है, उनके जन्म समय या दीक्षा के समय रेवती नक्षत्र का योग लगा हुआ हो, इसी कारण उनका नाम रेवतिनक्षत्र रखा गया हो।

मूलम्—अयलपुरा णिक्खंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे ।
बंभद्दीवग-सीहे, वायग-पय-मुत्तमं पत्ते ॥३६॥

छाया—अचलपुरान्निष्क्रान्तान्, कालिकश्रुताऽनुयोगिकान् धीरान् ।
ब्रह्मद्वीपिकसिंहान्, वाचक-पद-मुत्तमं प्राप्तान् ॥३६॥

पदार्थ—अयलपुरा—अचलपुर से जो निक्खंते—दीक्षित हुए, कालिय-सुयआणुओगिए—कालिक-सूत्रों के व्याख्याता तथा धीरे—धीर, वायगपय-मुत्तमं—उत्तमवाचक पद को पत्ते—प्राप्त करनेवाले बंभद्दीवगसीहे—ब्रह्मद्वीपिक शाखा में सिंह के समान श्री सिंहाचार्य को वन्दन—करता हूं ।

भावार्थ—जो अचलपुर में दीक्षित हुए और कालिक श्रुत की व्याख्या करने में निपुण तथा धीर थे, जो उत्तम वाचक पद को प्राप्त हुए, ऐसे ब्रह्मद्वीपक शाखा से उपलक्षित श्रीसिंहाचार्य को वन्दन करता हूँ ।

टीका—इस गाथा में रेवति नक्षत्र के शिष्य आचार्यसिंह का वर्णन किया गया है—

(२४) आचार्य सिंह ने अचलपुर में दीक्षा ग्रहण की थी, वे कालिकश्रुत की व्याख्या व व्याख्यान में अन्य आचार्यों से वढ़कर थे तथा ब्रह्मद्वीपिक शाखा से उपलक्षित हो रहे थे । इन्हीं कारणों से उन्होंने उत्तमवाचक पद प्राप्त किया । आचार्य सिंह युगप्रधान आचार्यों में अद्वितीय थे ।

इस गाथा से तीन विषय प्रकट होते हैं, जैसे कि कालिकश्रुतानुयोग, ब्रह्मद्वीपिकशाखा और उत्तमवाचक पद की प्राप्ति । कालिकश्रुतानुयोग से उनकी विद्वत्ता सिद्ध होती है । ब्रह्मद्वीपिकशाखा से यह जाना जाता है कि उस समय में कतिपय आचार्य शाखाओं के नाम से प्रसिद्ध हो रहे थे । वाचकपद के साथ उत्तम पद लगाने से सिद्ध होता है, उस समय में अनेक वाचक होने पर भी, उन सब वाचकों में ये प्रधान वाचक थे । अयलपुरा—अचलपुरात्—पद देने का यह अभिप्राय ज्ञात होता है कि संभव है, उस समय यह नगर अति सुप्रसिद्ध होगा । धीरे—इस पद से सिद्ध होता है कि ये आचार्य बुद्धिमान् और धैर्यवान् थे, यथा धिया राजन्त इति धीरा—परम बुद्धिवान् और धैर्यवान् होने से सिंह आचार्य श्रीसंघ में सुशोभित हो रहे थे । अतः आचार्य सिंह वन्दनीय हैं । इस गाथा में णिक्खंते—आदि पद-द्वितीयान्त दिखाए गए हैं ।

मूलम्—जेसिं इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढ-भरहम्मि ।
बहु-नयर-निग्गय-जसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥३७॥

छाया—येषामयमनुयोगः, प्रचरत्यद्याप्यर्द्ध भरते ।
बहुनगरनिर्गतयशः, तान् वन्दे स्कन्दिलाचार्यान् ॥३७॥

पदार्थ—जेसिं—जिनका इमो—यह अणुओगो—अनुयोग अज्जावि अड्ढ-भरहम्मि—आज भी अर्द्धभरत क्षेत्र में पयरइ—प्रचलित है । बहु-नयर-निग्गय-जसे—बहुत नगरों में जिनका यश प्रसृत है, उन खंदिलायरिए—स्कन्दिलाचार्य को वंदे—वंदन करता हूं ।

भावार्थ—जिनका वर्तमान में उपलब्ध यह अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्धभरत क्षेत्र में प्रचलित है तथा बहुत से नगरों में जिनकी यशः कीर्ति फैल चुकी है, उन स्कन्दिलाचार्यजी महाराज को वन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में महामनीषी, बहुश्रुत, युगप्रधान अनुयोगरक्षक—

(२५) श्री स्कन्दिलाचार्य ने अपने जीवन में क्या विशेष कार्य किया, इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आचार्य स्कन्दिल ने संकटकाल में भी अनुयोग की रक्षा की। आज इस अर्द्धभरत क्षेत्र में जो अनुयोग प्रचलित है, यह उनके परिश्रम का ही मधुर फल है।

जब भरत क्षेत्र में दूसरा बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा, उसमें बहुत-से अनुयोगधर मुनि देवलोक हो गए। दुर्भिक्ष के हट जाने पर उन्होंने मथुरापुरी में अनुयोग की प्रवृत्ति की, इसलिए वर्तमानकाल में अनुयोग को माथुरी-वाचना भी कहते हैं। कतिपय आचार्यों का यह अभिमत है कि स्कन्दिलाचार्य के समय में एतावन्मात्र ही अनुयोग रह गया था, उसी का उन्होंने संग्रह किया। तथा कतिपय आचार्यों की मान्यता है कि दुर्भिक्ष के पश्चात् सुभिक्ष होने पर मथुरापुरी में स्कन्दिलाचार्य प्रमुख श्रमण-संघ ने मिलकर जो, जिस की स्मृति में था, वह सर्वश्रुत एकत्रित करके उसका अनुसंधान किया। वृत्तिकार ने इस विषय को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। जिज्ञासुओं के जानने के लिए हम अक्षरशः इस स्थान पर वृत्ति उद्धृत करते हैं—

"येषामयं—श्रवणप्रत्यक्षत उपलभ्यमानोऽनुयोगोऽद्यापि अर्द्धभरतवैताढ्यादर्वाक् 'प्रचरति' व्याप्रियते तान् स्कन्दिलाचार्यान् सिंहवाचकसूरिशिष्यान् बहुषु नगरेषु निर्गतं—प्रसृतं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसस्तान् वन्दे। अथायमनुयोगोऽर्द्धभरते व्याप्रियमाणः कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां सम्बन्धी? उच्यते—इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ दुषमसुषमाप्रतिपन्थिन्याः तद्गतसकलशुभभावग्रसनैकसमारम्भायाः दुःषमायाः साहायकमाधातुं परमसुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षमुदपादि, तत्रचैवंरूपे महातिदुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासंभवादवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थस्मरणश्रुतपरावर्त्तनानि मूलत एवापजग्मुः श्रुतमपिचातिशायि प्रभूतमनेशत्, अंगोपांगदिगतमपि भावतो विप्रनष्टम्, तत्परावर्त्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत्स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतं पूर्वगतं च किंचिदनुसन्धाय घटितं, यतश्चैतन्मथुरापुरि संघटितमत इयं वाचना माथुरीत्यभिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधानानां, स्कन्दिलाचार्याणामभिमता, तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापितेति, तदनुयोगस्तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते।

अपरे पुनरेवमाहुः—न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात् अनेशत् किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्त्तते स्म, केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधरास्ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म, ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्त्तित, इति वाचना माथुरीति व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति।"

इसका सारांश पहले लिखा जा चुका है।

मूलम्—तत्तो हिमवंत-महंत-विक्कमे धिइ-परक्कम-मणंते ।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३८॥

छाया—ततो हिमवन्महाविक्रमान्, अनन्तधृति-पराक्रमान् ।
अनन्त-स्वाध्यायधरान्, हिमवतो वन्दे शिरसा ॥३८॥

पदार्थ—तत्तो—स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् हिमवंत—हिमवान् की तरह महंत—महान् विक्कमे—विक्रमशाली, धिइ-परक्कम-मणंते—अनन्त धैर्य व पराक्रम वाले और सज्झाय-मणंतधरे—अनन्त स्वाध्याय के धर्ता, हिमवंते—हिमवान् आचार्य को सिरसा—नतमस्तक वंदिमो—वन्दना करता हूं ।

भावार्थ—श्रीस्कन्दिल आचार्य के पश्चात् हिमालय की भांति विस्तृत क्षेत्र में विचरण करने वाले, अथवा महान् विक्रमशाली, तथा असीम धैर्ययुक्त और पराक्रमी, भाव की अपेक्षा से अनन्त स्वाध्याय के धारक आचार्य श्री स्कन्दिल के सुशिष्य आचार्य हिमवान् को मस्तक नमाकर वन्दन करता हूँ ।

टीका—इस गाथा में महामना: प्रतिभाशाली, धर्मनायक, प्रवचनप्रभावक—

(२६) हिमवान्नामक आचार्य को वन्दन किया है । और उनके साथ निम्नलिखित विशेषण भी दिये गए हैं, जैसे कि—

हिमवंत-महंत-विक्कमे—वे हिमवान् पर्वत की भांति बहुक्षेत्र व्यापी विहार करने वाले थे, जो कि अनेक देशों में विचरते हुए उपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को सन्मार्ग में लगाते हुए जिनमार्ग को दिपाते थे ।

धिइपरक्कममणन्ते—इस पद का आशय है, कि जो अपरिमित धैर्य और पराक्रम से कर्मशत्रुओं का सफाया कर रहे थे । आचार्य व श्रमणों में अनन्त बल होना चाहिए, तभी वे अपना उद्देश्य पूरा कर सकते है । यहां अनन्त शब्द अपरिमित अर्थ का द्योतक है ।

सज्झायमणंतधरे—तीसरे पद में स्वाध्याय अनन्त पर्यायात्मक होने से अनन्त स्वाध्याय कहा है क्योंकि सूत्र अनन्त अर्थ वाला होता है, पर्यालोचन करने से द्रव्यों का अनन्त पर्यायात्मक होना स्वयमेव सिद्ध हो जाता है । ये आचार्य दोनों गुणों से युक्त थे । इस गाथा में से प्रत्येक जिज्ञासु को शिक्षा लेनी चाहिए कि अनन्तधृति और अनन्त स्वाध्याय करने से ही आत्मविकास तथा अभीष्ट कार्यों की सिद्धि हो सकती है । अनन्त शब्द, पर-निपात और "म" कार अलाक्षणिक है, जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—

"प्राकृतशैल्याऽनन्तशब्दस्य परनिपातो मकारस्त्वलाक्षणिकः" आचार्य हिमवान को हिमवान पर्वत से उपमा देने का यह अभिप्राय है कि वे हिमालय की भांति अपनी मर्यादा, प्रतिज्ञा और संयम में अचल एवं दृढ़ थे ।

भावार्थ—जिनका वर्तमान में उपलब्ध यह अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्धभरत क्षेत्र में प्रचलित है तथा बहुत से नगरों में जिनकी यशः कीर्ति फैल चुकी है, उन स्कन्दिलाचार्यजी महाराज को वन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में महामनीषी, बहुश्रुत, युगप्रधान अनुयोगरक्षक—

(२५) श्री स्कन्दिलाचार्य ने अपने जीवन में क्या विशेष कार्य किया, इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आचार्य स्कन्दिल ने संकटकाल में भी अनुयोग की रक्षा की। आज इस अर्द्धभरत क्षेत्र में जो अनुयोग प्रचलित है, यह उनके परिश्रम का ही मधुर फल है।

जब भरत क्षेत्र में दूसरा बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा, उसमें बहुत-से अनुयोगधर मुनि देवलोक हो गए। दुर्भिक्ष के हट जाने पर उन्होंने मथुरापुरी में अनुयोग की प्रवृत्ति की, इसलिए वर्तमानकाल में अनुयोग को माथुरी-वाचना भी कहते हैं। कतिपय आचार्यों का यह अभिमत है कि स्कन्दिलाचार्य के समय में एतावन्मात्र ही अनुयोग रह गया था, उसी का उन्होंने संग्रह किया। तथा कतिपय आचार्यों की मान्यता है कि दुर्भिक्ष के पश्चात् सुभिक्ष होने पर मथुरापुरी में स्कन्दिलाचार्य प्रमुख श्रमण-संघ ने मिलकर जो, जिस की स्मृति में था, वह सर्वश्रुत एकत्रित करके उसका अनुसंधान किया। वृत्तिकार ने इस विषय को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। जिज्ञासुओं के जानने के लिए हम अक्षरशः इस स्थान पर वृत्ति उद्धृत करते हैं—

"येषामयं—श्रवणप्रत्यक्षत उपलभ्यमानोऽनुयोगोऽद्यापि अर्द्धभरतवैताढ्यादर्वाक् 'प्रचरति' व्याप्रियते तान् स्कन्दिलाचार्यान् सिंहवाचकसूरिशिष्यान् बहुषु नगरेषु निर्गतं—प्रसृतं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गत-यशसस्तान् वन्दे। अथायमनुयोगोऽर्द्धभरते व्याप्रियमाणः कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां सम्बन्धी? उच्यते—इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ दुषमसुषमाप्रतिपन्थिन्याः तद्गतसकलशुभभावग्रसनैकसमारम्भायाः दुःषमायाः साहायकमाधातुं परमसुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षमुदपादि, तत्रचैवंरूपे महातिदुर्भिक्षे भिक्षालाभ-स्यासंभवादवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थस्मरणश्रुतपरावर्त्तनानि मूलत एवापजग्मुः श्रुतमपिचातिशायि प्रभूतमनेशत्, अंगोपांगदिगतमपि भावतो विप्रनष्टम्, तत्परावर्त्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तर-मुत्पन्ने सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत्स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतं पूर्वगतं च किंचिदनुसन्धाय घटितं, यतश्चैतन्मथुरापुरि संघटितमत इयं वाचना माथुरीत्य-भिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधानानां, स्कन्दिलाचार्याणामभिमता, तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापितेति, तदनुयोगस्तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते।

अपरे पुनरेवमाहुः—न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात् अनेशत् किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्त्तते स्म, केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधरास्ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म, ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्त्तित, इति वाचना माथुरीति व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषा-माचार्याणामिति।"

इसका सारांश पहले लिखा जा चुका है।

मूलम्—तत्तो हिमवंत-महंत-विक्कमे
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते

छाया—ततो हिमवन्महाविक्रमान्,
अनन्त-स्वाध्यायधरान्, हिमवतो

पदार्थ—तत्तो—स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् हिमवं
विक्रमशाली, धिइ-परक्कम-मणंते—अनन्त धैर्य व परा
के धर्ता, हिमवंते—हिमवान् आचार्य को सिरसा—नतम

भावार्थ—श्रीस्कन्दिल आचार्य के पश्चात्
करने वाले, अथवा महान् विक्रमशाली, तथा अस
से अनन्त स्वाध्याय के धारक आचार्य श्री स्कन्
नमाकर वन्दन करता हूँ।

टीका—इस गाथा में महामना: प्रतिभाशाली,
(२६) हिमवान्नामक आचार्य को वन्दन कि
दिये गए हैं, जैसे कि—

हिमवंत-महंत-विक्कमे—वे हिमवान् पर्वत की
अनेक देशों में विचरते हुए उपदेश देकर अनेक भव्य
दिपाते थे।

धिइपरक्कममणन्ते—इस पद का आशय है, कि
सफाया कर रहे थे। आचार्य व श्रमणों में अनन्त बल
सकते हैं। यहाँ अनन्त शब्द अपरिमित अर्थ का द्योतक

सज्झायमणंतधरे—तीसरे पद में स्वाध्याय अनन्त
सूत्र अनन्त अर्थ वाला होता है, पर्यालोचन करने से द्र
जाता है। ये आचार्य दोनों गुणों से युक्त थे। इस गाथ
अनन्तधृति और अनन्त स्वाध्याय करने से ही आत्मवि

मूलम्—कालिय-सुय-अणुओगस्स धारए, धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंत-खमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥३९॥

छाया—कालिक-श्रुताऽनुयोगस्य धारकान्, धारकाँश्च पूर्वाणाम् ।
हिमवतः क्षमाश्रमणान्, वन्दे नागार्जुनाचार्यान् ॥३९॥

पदार्थ—पुनः **कालिय-सुय-अणुओगस्स**—कालिक-श्रुत सम्बन्धी अनुयोग के **धारए**—धारक **य**—और **पुव्वाणं**—उत्पाद आदि पूर्वों के **धारए**—धारण करने वाले, ऐसे **हिमवंत-खमासमणे**—आचार्य हिमवान क्षमाश्रमण, के सदृश **णागज्जुणायरिए**—श्री नागार्जुन आचार्य को **वंदे**—नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ—पुनः क्रमागत महापुरुषों की स्तुति करते हुए स्तुतिकार कहते हैं कि जो कालिक सूत्रों सम्बन्धी अनुयोग को धारण करने वाले थे और जो उत्पाद आदि पूर्वों के धर्ता थे, ऐसे विशिष्ट ज्ञानी हिमवन्त क्षमाश्रमण के सदृश श्रीनागार्जुनाचार्य को वन्दन करता हूँ ।

टीका—इस गाथा में आचार्यवर्य हिमवान के शिष्यरत्न, पूर्वधर श्रीसंघ के नेता आचार्य नागार्जुन का वर्णन है—

(२७) आचार्य नागार्जुन स्वयं कालिक श्रुतानुयोग के धारक थे तथा उत्पाद आदि पूर्वों के भी धारक थे । वे हिमवंत गुरु या पर्वत के तुल्य क्षमावान श्रमण थे । अतः स्तुतिकार ने उन्हें वन्दना की है । कुछ एक प्रकाशित और लिखित प्रतियों में इसी गाथा में हिमवान क्षमाश्रमण और नागार्जुन आचार्य दोनों, को वंदना की है । ऐसा लिखते हैं, परन्तु यह शैली हृदयंगम नहीं होती क्योंकि आचार्य हिमवान को तो ३८ वीं गाथा में स्तुतिकार वंदना कर चुके हैं, पुनः उन्हींको दूसरी गाथा में वन्दना करने का क्या अर्थ है ?इसका कोई उत्तर नहीं ।

वास्तव में 'हिमवंतखमासमणे' यह विशेशण नागार्जुन का ही है क्योंकि वे हिमवंत गुरु या हिमवन्त पर्वत के तुल्य क्षमाश्रमण थे । यहाँ लुप्त उपमा अलंकार है ।

गाथा में जो "पुव्वाणं" यह पद दिया है, वह आगम में सर्वनाम इतर के प्रकरण में आता है, जैसे कि "पूर्वाणाम्" "जैनागमप्रसिद्धपूर्वशब्दस्य सर्वनामेतरस्य रूपम्" अन्यथा पूर्वेषाम्" ऐसा रूप बनना चाहिए था ।

मूलम्—मिउ-मद्दव-सम्पन्ने, आणुपुव्वि-वायगत्तणं पत्ते ।
ओह-सुय-समायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥४०॥

छाया—मृदु-मार्दव-सम्पन्नान्, आनुपूर्व्या वाचकत्वं प्राप्तान् ।
ओघ-श्रुत-समाचारान्(चारकान्), नागार्जुनवाचकान् वन्दे ॥४०॥

पदार्थ—**मिउ-मद्दव-सम्पन्ने**—मृदु-मार्दव आदि भावों से सम्पन्न, **आणुपुव्वि**—क्रम से **वायगत्तणं**—

भावार्थ—अनुयोग की विपुल धारणा रखने वालों में तथा सर्वदा क्षमा और दया आदि गुणों की प्ररूपणा करने में इन्द्र के लिये भी दुर्लभ, ऐसे श्री गोविन्द आचार्य को नमस्कार हो ।

और तत्पश्चात् तप-संयम की आराधना, पालना में प्राणान्त कष्ट या उपसर्ग होने पर भी जो खेद नहीं मानते थे । पण्डित जनों से सम्मानित, संयम विधि—उत्सर्ग और अपवाद के विशेषज्ञ इत्यादि गुणोपेत आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूं ।

टीका—उक्त दो गाथाओंमें जितेन्द्रिय, निःशल्यव्रती, श्रीसंघ के शास्ता एवं सन्मार्ग प्रदर्शक आचार्य प्रवर—

(२९-३०) श्री गोविन्द और भूतदिन्न, इन दोनों आचार्यों की गुणनिष्पन्न विशेषणों से स्तुति करते हुए वन्दना की गई है, जैसे–सर्व देवों में इन्द्र प्रधान होता है, वैसे ही तत्कालीन अनुयोगधर आचार्यों में गोविन्दजी भी इन्द्र के समान प्रमुख थे । गोपेन्द्र शब्द का प्राकृत में "गोविन्द" वनता है ।

णिच्चं खंति-दयाणं—इस पद से, उनकी नित्य क्षमाप्रधान दया सूचित की गई है, क्योंकि अहिंसा की आराधना क्षमाशील व्यक्ति ही कर सकता है । दयालु ही क्षमाशील हो सकता है । अतः क्षान्ति और दया, ये दोनों पद परस्पर अन्योऽन्य आश्रयी हैं, एक के बिना दूसरे का भी अभाव है । समग्र आगमवेत्ता होने से, इनकी व्याख्या एवं व्याख्यानशैली अद्वितीय थी ।

इनके पश्चात् आचार्य भूतदिन्न हुए हैं । इनमें यह विशेषता थी, कि तप-संयम की आराधना, साधना में भीषण कष्ट होने पर भी खेद नहीं मानते थे । इसके अतिरिक्त वे विद्वज्जनों से सम्मानित एवं सेवित थे और साथ ही संयमविधि के विशेषज्ञ थे ।

उपर्युक्त गाथाओं में निम्नलिखित पाठान्तरभेद देखे जाते हैं :—

(१) 'धारणिंदाणं' के स्थान पर 'धारिणंदाणं' ।
(२) 'दयाणं' के स्थान पर 'जुयाणं' ।
(३) 'दुल्लभिंदाणं' के स्थान पर 'दुल्लभिंदाणि' ।
(४) सम्माणं के स्थान पर सम्माण्णं ।
(५) 'वंदामो' के स्थान पर 'वंदामि' ।

इन्द्र शब्द का पर-निपात प्राकृत के कारण जानना चाहिए ।

मूलम्—वर-कणग-तविय चंपग-विमउल-वर-कमल-गब्भसरिवन्ने ।
भविय-जण-हियय-दइए, दयागुण-विसारए धीरे ॥४३॥
अड्ढभरहप्पहाणे, वहुविह सज्झाय-सुमुणिय-पहाणे ।
अणुओगिए-वरवसभे, नाइलकुल - वंस नंदिकरे ॥४४॥
भूयहियप्पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
भव-भय-वुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥४५॥

छाया—वर-तप्त-कनक-चम्पक- विमुकुल-वरकमलगर्भ-सदृग्वर्णान् ।
भविक-जन-हृदय-दयितान्, दयागुण-विशारदान् धीरान् ॥४३॥
अर्द्धभरत-प्रधानान्, सुविज्ञातबहुविध-स्वाध्यायप्रधानान् ।
अनुयोजितवर-वृषभान्, नागेन्द्र-कुल-वंश नंदिकरान् ॥४४॥
भूतहितप्रगल्भान्, वन्देऽहं भूतदिन्नाचार्यान् ।
भव-भय- व्युच्छेदकरान्, शिष्यान् नागार्जुनर्षीणाम् ॥४५॥

पदार्थ—वर-कणग-तविय—तपाए हुए विशुद्ध स्वर्ण के समान, चंपग—स्वर्णिम चम्पक पुष्प के तुल्य विमउल-वर-कमल-गब्भसरिवन्ने—विकसित उत्तम कमल के गर्भ सदृश वर्णवाले और भविय-जण-हियय-दइए—भव्यजनों के हृदयदयित दयागुणविसारए—क्रूर हृदयी लोगों के मन में दयागुण उत्पन्न करने में अतिनिष्णात धीरे—और जो विशिष्ट बुद्धि से सुशोभित अड्ढभरहप्पहाणे—तत्कालीन दक्षिणार्द्ध भरत के युगप्रधान बहुविह सज्झाय-सुमुणियपहाणे—स्वाध्याय के विभिन्न प्रकार के श्रेष्ठ विज्ञाता, अणुओगिय वर-वसभे—अनेक श्रेष्ठ मुनिवरों को स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त कराने वाले नाइल कुलवंसनंदिकरे—नागेन्द्र कुल तथा वंश को प्रसन्न करने वाले, भूयहियप्पगब्भे—प्राणिमात्र को हितोपदेश करने में समर्थ, भवभय-वुच्छेयकरे—संसारभय को नष्ट करने वाले, सीसे नागज्जुणरिसीणं—नागार्जुन ऋषि के सुशिष्य वंदेऽहं-भूयदिन्नमायरिए—भूतदिन्न आचार्य को मैं वंदन करता हूँ।

भावार्थ—जिनके शरीर का वर्ण तपाए हुए उत्तम स्वर्ण के समान या स्वर्णिम वर्ण वाले चम्पक पुष्प के तुल्य अथवा खिले हुए उत्तम जातिवाले कमल के गर्भ-पराग के तुल्य पीत-वर्णयुक्त है, जो भव्य प्राणियों के हृदय-वल्लभ, जनता में दयागुण उत्पन्न करने में विशारद, धैर्यगुण-युक्त, तत्कालीन दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में युगप्रधान, बहुविध स्वाध्याय के परमविज्ञाता, सुयोग्य साधुओं को यथोचित स्वाध्याय, ध्यान और वैयावृत्य आदि शुभकार्यों में नियुक्त करने वाले तथा नागेन्द्र (नाइल) कुल की परम्परा को बढ़ानेवाले, प्राणिमात्र को उपदेश करने में सुनिष्णात, भवभीति को नष्ट करने वाले आचार्य श्री नागार्जुन ऋषि के शिष्य भूतदिन्न आचार्य को मैं वन्दल करता हूं।

टीका—उपर्युक्त तीन गाथाओं में देववाचकजी ने आचार्य भूतदिन्न के शरीर का, गुणों का, लोकप्रियता का, गुरु का, कुल और वंश का और यशःकीर्ति का परिचय दिया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि देववाचकजी उनके परम श्रद्धालु बने हुए थे, वैसे तो पूर्वोक्त सभी आचार्य महान् तत्त्ववेत्ता और चारित्रवान थे, परन्तु इनके प्रति उनके हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उनके विशिष्ट गुणों का दिग्दर्शन कराना ही वास्तविक रूप में स्तुति कहलाती है। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए अब उनके विशिष्ट गुणों का वर्णन किया जाता है, जैसे कि—

धीरे—जो परीषह उपसर्गों को सहन करने में धैर्यवान थे।

दयागुण-विसारिए—वे अहिंसा का प्रचार केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, बल्कि भव्यप्राणियों के

हृदय में दयागुण के उत्पादक तथा हिंसक को अहिंसक बनाने में निष्णात एवं दक्ष भी थे, उन्होंने अनेक हिंसक प्राणियों को दयालु बनाया था।

पहाणे—वे अङ्गशास्त्रों तथा अङ्गबाह्य शास्त्रों के स्वाध्याय करने में अग्रगण्य युगप्रवर्तक आचार्य थे।

अणुओगिए वरवसभे—इस पद से सिद्ध होता है कि उनकी आज्ञा को चतुर्विधसंघ भली-प्रकार से मानता था। इसी कारण उन्हें आज्ञा की प्रवृत्ति कराने में वरवृषभ विशेषण दिया है।

नाइल-कुल-वंस-नंदिकरे—इस पद से यह सिद्ध होता है कि—जिस प्रकार पूर्व गाथाओं में "शाखाओं" का वर्णन किया गया है, इसी प्रकार यह आचार्य भी नागेन्द्र-कुल वंशीय थे। वे सब तरह के भयों का सर्वथा उच्छेद करने वाले और हितोपदेश करने में पूर्णतया समर्थ थे, इन विशेषणों से युक्त आचार्य भूतदिन्न को स्तुतिपूर्वक वन्दन किया गया है। यहां प्रत्येक पद अनुभव करने योग्य है।

किसी २ प्रति में 'भूय-हियप्पगब्भे' के स्थानपर 'भूय-हियअप्पगब्भे' पद भी है। 'भूयदिन्न-मायरिए' इस पद में 'म' कार अलाक्षणिक है।

मूलम्—सुमुणिय-णिच्चाणिच्चं, सुमुणिय-सुत्तत्थ-धारयं वंदे।
सब्भावुब्भावणया, तत्थं लोहिच्चणामाणं ॥४६॥

छाया—सुज्ञात-नित्यानित्यं, सुज्ञात-सूत्रार्थ-धारकं वन्दे।
सद्भावोद्भावनया, तथ्यं लोहित्यनामानम् ॥४६॥

पदार्थ—णिच्चाणिच्चं—नित्य-अनित्य रूपसे द्रव्यों को **सुमुणिय**—अच्छी तरह जानने वाले, **सुमुणिय**—भली प्रकार समझे हुए सुत्तत्थं—सूत्रार्थ को धारयं—धारण करने वाले सब्भावुब्भावणया तत्थं—यथावस्थित भावों को सम्यक् प्रकार से प्ररूपण करने वाले, लोहिच्चणामाणं—लोहित्य नामक आचार्य को वंदे—वन्दना करता हूँ।

भावार्थ—नित्य और अनित्य रूप से वस्तुतत्त्व को सम्यक्तया जानने वाले अर्थात् न्याय-शास्त्र के गणमान्य पण्डित, सुविज्ञात सूत्रार्थ को धारण करनेवाले तथा भगवत् प्ररूपित सद्भावों का यथातथ्य प्रकाश करने वाले, ऐसे श्री लोहित्य नाम वाले आचार्य को प्रणाम करता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आचार्य गोविन्द और भूतदिन्न के पश्चात्—

(३१) लोहित्य नामा आचार्य का जीवन-परिचय देकर, उन्हें वन्दना की गई है। वैसे तो सभी आचार्य महान् तत्त्ववेत्ता और पंडित थे, परन्तु उनमें तीन गुण विशिष्ट थे, जैसे—

सुमुणिय णिच्चाणिच्चं—वे पदार्थों के स्वरूप को भलीभाँति जानते थे, सर्व पदार्थ द्रव्यतः नित्य हैं और पर्याय से अनित्य। जैनधर्म न किसी पदार्थ को एकान्त नित्य मानता है और न अनित्य ही, पदार्थों का स्वरूप ही नित्यानित्य है।

सुमुणिय-सुत्तत्थधारयं—वे अपने समय में सूत्र और अर्थ के विशेषज्ञ थे, क्योंकि जीवनोत्थान मन:संयम, वाक्संयम और कायसंयम तथा आगमों का अध्ययन, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन करने से ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

सब्भावुब्भावणया—वे पदार्थों के यथावस्थित प्रकाशन में पूर्ण दक्ष थे अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर उनकी व्याख्या करते थे। वह व्याख्या अविसंवादी, सत्य एवं सम्यक् होने से सर्वमान्य होती थी।

इस कथन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि साधक सूत्र और अर्थ को गुरुमुख से श्रवण करे और उसे श्रद्धा के साथ हृदय में धारण करे। तत्पश्चात् स्याद्वाद शैली से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करे, तव ही जनता में धर्मोपदेश का प्रभाव पड़ सकता है।

'मुणिय'—पद 'ज्ञा' धातु को 'मुण' आदेश करने से होता है, जैसे कि—'ज्ञो जाणमुणावति प्राकृत-लक्षणाज्जानातेर्मुण आदेश:'।

मूलम्—अत्थ-महत्थ-क्खाणिं, सुसमण-वक्खाण-कहण-निव्वाणिं।
पयईए महुरवाणिं, पयओ पणमामि दूसगणिं ॥४७॥

छाया—अर्थ-महार्थ-खनिं, सुश्रमण-व्याख्यान-कथन-निर्वृत्तिम्।
प्रकृत्या मधुरवाणिकं, प्रयतः प्रणमामि दूष्यगणिनम् ॥४७॥

पदार्थ—जो अत्थ-महत्थ-क्खाणिं—शास्त्रों के अर्थ व महार्थ की खान के समान तथा [illegible]—मूलोत्तर गुणसम्पन्न सुश्रमणों के लिए **वक्खाण**—आगमों का व्याख्यान करने पर और [illegible] विषयों के कथन पर **निव्वाणिं**—शान्ति अनुभव करने वाले, जो **पयईए**—प्रकृति से [illegible] वाणी वाले, उन **दूसगणिं**—दूष्यगणीजी को **पयओ**—प्रयत्नपूर्वक **पणमामि**—प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ—जो शास्त्रों के अर्थ और महार्थ की खान के [illegible] वार्तिका आदि से अनुयोग की व्याख्या करने में कुशल हैं, [illegible] वाचना अर्थात् ज्ञानदान देने में और शिष्यों द्वारा पूछे हुए [illegible] का अनुभव करते हैं, जो प्रकृति से मधुरभाषी हैं, [illegible] पूर्वक प्रणाम करता हूँ।

टीका—उक्त गाथा में आचार्य लोहित्य [illegible]—

(३२) श्री दूष्यगणीजी की स्तुति [illegible]
अनुयोग, नय और सप्तभंगी आदि के द्वारा [illegible]
महत्थक्खाणिं—इस पद से यह [illegible]

महान् होते हैं जैसे—खान--आकर से खनिज पदार्थ निकालते २ वह कभी क्षीण नहीं होती, वैसे ही दूष्यगणीजी भी अर्थ-महार्थ की खान के तुल्य थे। वे विशिष्ट मूलगुण और उत्तरगुणसम्पन्न मुनिवरों के सम्मुख सूत्र की अपूर्व शैली से व्याख्या करते थे, धर्मोपदेश करने में दक्ष थे। श्रुतज्ञान विषयक प्रश्न पूछने-पर उनका पूर्णतया समाधान करते थे। स्वभाव से मधुरभाषी होने के कारण जब कोई शिष्य लक्ष्यबिन्दु से प्रमादादि के कारण स्खलित होता, तब उसे मधुर वचनों से ऐसी शिक्षा देते, जिससे पुनः वैसी भूल अपने जीवन में नहीं होने देता। उनका शासन और प्रशिक्षण शान्त एवं व्यवस्थितरूप से चल रहा था, क्योंकि हितपूर्वक मधुर वचन कोप को उत्पन्न नहीं करता, कहा भी है—

"धम्ममइएहिं अइसुन्दरेहिं, कारण-गुणोवणीएहिं।
पल्हायंतो य मणं सीसं, चोएइ आयरिओ"॥

अर्थात्—कषायों को शान्त करने वाले, संयम गुणों की वृद्धि करनेवाले, ऐसे धर्ममय अतिसुन्दर वचनों से शिष्य के मन को प्रसन्न करते हुए आचार्य उसे संयम में सावधान करते हैं। जो स्वयं प्रशान्त होता है, वही दूसरों को शान्त एवं सन्मार्ग में लगा सकता है।

सुसमण-वक्खाण-कहण-णिव्वाणिं—इस पद से यह भी सूचित होता है कि—सुशिष्यों को शिक्षा-प्रदान करने से गुरु को समाधि प्राप्त हो सकती है, न कि कुशिष्यों को।

पयईए महुरवाणिं—इस पद से शिक्षा मिलती है कि—प्रत्येक साधक को प्रकृति से ही मधुर-भाषी होना चाहिए, न तु कपट से। आचार्य श्री दूष्यगणीजी के गुणोत्कीर्तन करके तथा उनकी विशेषता बताने के अनन्तर चतुर्थ पदमें उनको भावभीनी वन्दना की गई है।

मूलम्—तव-नियम-सच्च-संजम, विणयज्जव-खंति-मद्दव-रयाणं।
सीलगुण-गद्दियाणं, अणुओग-जुगप्पहाणाणं॥४८॥

छाया—तपो नियम सत्य-संयम, विनयार्जव-शान्ति-मार्दव-रतानाम्।
शीलगुण-गर्दितानाम्, अनुयोगयुग-प्रधानानाम्॥४८॥

पदार्थ—तव-नियम-सच्च-संजम-विणयज्जव-खंति-मद्दव रयाणं—तप, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव, क्षान्ति, मार्दव आदि गुणों में रत-तत्पर रहने वाले सीलगुण-गद्दियाणं—शील आदि गुणों में ख्याति-प्राप्त, अणुओग-जुगप्पहाणाणं—जो अनुयोग की व्याख्या करने में युगप्रधान थे।

भावार्थ—तपस्या, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव-सरलता, क्षमा, मार्दव-नम्रता आदि श्रमणधर्म में संलग्न, तथा शीलगुणों से विख्यात और तत्कालीन युग में अनुयोग की शैली से व्याख्यान करने में युगप्रधान इत्यादि विशेषताओं से युक्त (श्री दूष्यगणि जी की प्रशंसा की गयी है।)

टीका—इस गाथा में पुनः दूष्यगणी के गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है। असाधारण गुणों की स्तुति ही वस्तुतः स्तुति कहलाती है। वे जिन गुणों से अधिक विभूषित थे, यहाँ उन्हीं गुणों का वर्णन

करते हैं। वे द्वादश प्रकार का तप, अभिग्रह आदि नियम, दस प्रकार का श्रमणधर्म, दस प्रकार का सत्य, सतरह प्रकार का संयम, सात प्रकार का विनय, क्षमा, सुकोमलता, सरलता तथा शील आदि गुणों से विख्यात थे। उस युग में यावन्मात्र अनुयोग-आचार्य थे, उनमें वे प्रधान थे। इस गाथा में मुख्यतया ज्ञान और चारित्र की सिद्धि की गई है। श्रुतज्ञान में अनुयोग पद और चारित्र में उक्त गाथा के तीन पदों में वर्णित किए गए गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है। यह गाथा प्रत्येक आचार्य के लिये मननीय एवं अनुकरणीय है। उक्त गाथा में क्रिया न होने से ऐसा लगता है कि—४९ की गाथा से सम्बन्धित है। वृत्ति और चूर्णि में इस गाथा का कोई उल्लेख नहीं है।

मूलम्—सुकुमाल कोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खण पसत्थे।
पाए पावयणीणं, पडिच्छय-सएहिं पणिवइए ॥४९॥

छाया—सुकुमार-कोमलतलान्, तेषां प्रणमामि लक्षणप्रशस्तान्।
पादान् प्रावचनिकानां, प्रातीच्छिकशतैः प्रणिपतितान् ॥४९॥

पदार्थ—तेसिं पावयणीणं—पूर्वोक्त गुणसम्पन्न उन प्रावचनिकों के लक्खणपसत्थे—प्रशस्त लक्षणों से युक्त सुकुमाल कोमलतले—सुकुमार सुन्दर तलवेवाले—पडिच्छय सएहिं पणिवइए—और जो सैंकड़ों प्रतीच्छकों के द्वारा प्रणामप्राप्त हैं, ऐसे विशेषणों से युक्त पाए—चरणों को पणमामि—प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणों से युक्त उन युगप्रधान प्रवचनकारों के प्रशस्त लक्षणोपेत सुकुमार सुन्दर तलवेवाले, सैंकड़ों प्रतीच्छकों-शिष्यों द्वारा प्रणाम किए गए पूज्य चरणों को मैं प्रणाम करता हूँ।

टीका—इस गाथा में पुनः दूष्यगणी के विशिष्ट गुणों का तथा पादपद्मों का उल्लेख किया गया है। जिनके चरण कमल शंख, चक्र, अंकुश आदि शुभलक्षणों से सुशोभित थे। उनके चरणतल कमल की भांति सुकुमार एवं सुन्दर थे। वाणी में माधुर्य, मन में स्वच्छता, बुद्धि में स्फुरण, प्रवचन प्रभावना में अद्वितीय, चारित्र में समुज्ज्वलता, दृष्टि में समता, कर कमलों में संविभागता, इत्यादि गुणों से वे सम्पन्न थे।

पडिच्छय सएहिं पणिवइए—सैंकड़ों प्रतीच्छिकों द्वारा जिनके चरणकमल सेवित एवं वंदनीय थे। जो मुनिवर विशेष श्रुताभ्यास के लिए अपने-अपने आचार्य की आज्ञा प्राप्त करके अन्य गण से आकर विशिष्ट वाचकों से वाचना लेते हैं या उसी गण के जिज्ञासु वाचना ग्रहण करते हैं, वे प्रातीच्छिक कहलाते हैं, जैसे—

पडिच्छय सएहिं—वृत्तिकारने इस पद की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—"प्रातीच्छिकशतैः प्रणिपतितान् इह ये गच्छान्तरवासिनः स्वाचार्यं पृष्ट्वा गच्छान्तरेऽनुयोगश्रवणाय समागच्छन्ति अनुयोगाचार्येण च, प्रतीच्छयन्ते—अनुमन्यन्ते, ते प्रातीच्छिका उच्यन्ते, स्वाचार्यानुज्ञापुरःसरमनुयोगाचार्यप्रतीच्छया चरन्तीति प्रातीच्छिका इति व्युत्पत्तेः, तेषां शतैः प्रणिपतितान्—नमस्कृतान् 'प्रणिपतामि' नमस्करोमि"।

भगवद्वाणी के रहस्यों को जो अपने प्रतीच्छकों के लिए वितरण करते हैं, ऐसे अनुयोग आचार्य

दूष्यगणी के चरणों में शतशः वन्दन किया जाता है। दूष्यगणीजी आसन्नोपकारी होने से उन्हें देववाचक जी ने पूर्वापेक्षया अधिक भावभीनी वन्दना की है।

मूलम्—जे अन्ने भगवंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥५०॥

छाया—येऽन्ये भगवन्तः, कालिकश्रुता-नुयोगिनो धीराः।
तान् प्रणम्य शिरसा, ज्ञानस्य प्ररूपणां वक्ष्ये ॥५०॥

पदार्थ—अन्ने अन्य—जो—जो कालिय-सुय-आणुओगिए—कालिक श्रुत तथा अनुयोग के वेत्ता हैं धीरे—धीर भगवंते—विशेष श्रुतधर भगवन्त हैं, ते—उन्हें सिरसा—मस्तक से पणमिऊण—प्रणाम करके नाणस्स—ज्ञान की परूवणं—प्ररूपणा वोच्छं—कहूंगा

भावार्थ—इन युगप्रधान आचार्यों के अतिरिक्त अन्य जो भी कालिक सूत्रों के ज्ञाता और अनुयोगधर धीर आचार्य भगवन्त हुए हैं, उन्हें प्रणाम करके (मैं देववाचक) भगवान् ने जो ज्ञान की प्ररूपणा की है, उसे कहूँगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जिन अनुयोगधर स्थविरों की नामावली, स्तुति और वन्दन के विषय में लिखा जा चुका है, उनके अतिरिक्त अन्य जो आचार्य कालिक-श्रुत एवं अनुयोग के धारण करने वाले हैं, उन सभी को नतमस्तक हो प्रणाम करने के अनन्तर मैं देववाचक ज्ञान की प्ररूपणा करूंगा।

इस गाथा में देववाचकजी ने कालिकश्रुतानुयोग के धर्त्ता प्राचीन एवं तद्युगीन अन्य आचार्यों को जिनका कि नामोल्लेख नहीं किया गया, उन्हें भी विनयावनत श्रद्धा से वन्दन करके ज्ञान की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की है। इससे यह फलितार्थ निकलता है कि अंगश्रुत और कालिकश्रुत धर्त्ता आचार्य उद्भट विद्वान थे। अतः गाथा में धीरे पद दिया है, जैसे कि—विशिष्ट धिया राजमानस्तान्—जो विशिष्ट बुद्धि से सुशोभित हैं तथा भगवंते—जो श्रुतरत्न राशि से परिपूर्ण हैं अथवा समग्र ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न हैं, इतना ही नहीं, जो-जो कालिक श्रुतानुयोगी हैं, उन सबको नमस्कार किया गया है।

गाथा में जो परूवणं पद दिया है, वह वक्ष्यमाण ज्ञान के भेद-उपभेद के कथन करने वाले सूत्र से अभिप्रेत है। देववाचक जी ने अंगश्रुत, कालिकश्रुत तथा 'ज्ञानप्रवाद' पूर्व रूप महोदधि से संकलन करके ज्ञान के विषय को लेकर इस सूत्र की रचना की है। जिसका विशेष वर्णन यथास्थान प्रदर्शित किया जाएगा।

देववाचक कौन हुए हैं? इसका उत्तर वृत्तिकार अपनी वृत्ति में लिखते हैं—दूष्यगणिशिष्यो देववाचकः इति अर्थात् देववाचक जी दूष्यगणी के शिष्य हुए हैं।

—इति अर्हदादि स्तुति—

श्रोता के चौदह दृष्टान्त

शास्त्र के आरम्भ करने से पूर्व विघ्न-शमन के लिए मंगल-स्वरूप अर्हत् आदि की स्तुति करने के पश्चात् शास्त्रीय ज्ञान को ग्रहण करने योग्य कौन-सा श्रोता होता है ? और कौनसी परिषद् योग्य होती है ? इस दृष्टि को समक्ष रखते हुए पहिले १४ दृष्टान्तों द्वारा श्रोताओं का अधिकार वर्णन करते हुए सूत्रकार कथन करते हैं—

मूलम्—सेलघण-कुडग-चालिणी, परिपुण्णग-हंस-महिस-मेसे य ।
मसग-जलूग-विराली, जाहग-गो-भेरि-आभीरी ॥५१॥

छाया—शैल-घन-कुटक-चालनी, परिपूर्णक-हंस-महिष-मेषाश्च ।
मशक-जलौक-विडाली— जाहक-गो-भेर्याऽऽभीर्यः ॥५१॥

भावार्थ—१ शैल-चिकना गोल पत्थर और पुष्करावर्त मेघ २, कुटक-घड़ा, ३ चालनी, ४ परिपूर्णक, ५ हंस, ६ महिष, ७ मेष, ८ मशक, ९ जलौका-जोक, १० बिडाली-बिल्ली, ११ जाहक (चूहे की एक जाति-विशेष), १२ गौ, १३ भेरी और १४ आभीरी, इनके समान श्रोताजन होते हैं ।

टीका—अब सूत्रकर्त्ता श्रोताओं के विषय में चर्चा करते हैं । कोई भी उत्तम वस्तु अधिकारी को दी जाती है, अनधिकारी को नहीं । जो निर्विद्य है, अभिमानी है, वित्तैषणा और भोगैषणा में लुब्ध है, इन्द्रियों का दास है, अविनीत है, असंवद्धभाषी है, क्रोधी है, प्रमादी है, आलस्ययुक्त एवं विकथारत है, लापरवाह है, गलियार बैल की तरह हठीला है, वह श्रुतज्ञान का अनधिकारी है अथवा दुष्ट, मूढ और हठी ये सब श्रुतज्ञान के अनधिकारी हैं ।

श्रुतज्ञान के अधिकारी कौन हो सकते हैं ? इसके उत्तर में कहा जाता है—जो उपहास नहीं करता, जो सदा जितेन्द्रिय बना रहता है, किसी के मर्म को, रहस्य को जनता में प्रकाशित नहीं करता, जो विशुद्ध चारित्र पालन करता है, जो व्रतों में अतिचार नहीं लगाता, अखण्डचारित्री, जो रसगृद्धी नहीं, जो कभी कुपित नहीं होता, क्षमाशील है, सत्यप्रिय-सत्यरत इत्यादि गुणों से सम्पन्न है, वह शिक्षाशील एवं श्रुतज्ञान का अधिकारी है । जो उपर्युक्त गुणों से परिपूर्ण है, वह सुपात्र है । यदि कुछ न्यूनता है तो वह पात्र है । यदि दुष्ट, मूढ़ एवं हठी है तो वह कुपात्र है । जिसे सूत्ररुचि बिलकुल नहीं, आभिग्रहिक तथा आभिनिवेशिक एवं मिथ्या-दृष्टि है, वह कुपात्र ही नहीं अपितु अपात्र है । यहाँ सूत्रकर्त्ता ने श्रोताओं को चौदह उपमाओं से उपमित किया, है जैसे—

(१) **शैल-घन**—शैल का अर्थ चिकना गोल पत्थर है तथा घन पुष्करावर्त्त मेघ को कहते हैं । मुद्गशैल नामक पत्थर पर सात रात्रिदिन पर्यंत निरन्तर मूसलाधार वर्षा पड़ने पर भी वह अन्दर से बिल्कुल नहीं भीगता, प्रत्युत शुष्क ही रहता है । वह पत्थर चाहे सहस्रों वर्ष पानी में पड़ा रहे, फिर भी उसके अन्दर आर्द्रता नहीं पहुंचती । इसी प्रकार जिन आत्माओं को तीर्थंकर अथवा गणधर आदि भी उप-

देश द्वारा सन्मार्ग में लाने के लिये असमर्थ हैं, उन्हें सामान्य आचार्य कैसे ला सकते हैं ? गौशालक-आजीवक और जमाली निह्नव को महावीर स्वामी भी न समझा सके तथा देवदत्त को गौतम बुद्ध, और दुर्योधन को कृष्ण और रावण को राम भी सन्मार्ग पर लानेमें सर्वथा असफल रहे। ऐसी स्थिति में यदि कोई चाहे कि मैं किसी दुराग्रही को समझा दूं तो यह कभी हो नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति श्रुत-ज्ञान के सर्वथा अनधिकारी हैं। अत: परिवर्जनीय हैं।

(२) कुडग—संस्कृत में इसे कुटक कहते हैं, इसका अर्थ होता है घट-घड़ा। वे दो प्रकार के होते हैं, कच्चे और पक्के। इनमें जो अग्नि के द्वारा नहीं पकाए गए केवल धूपसे ही सूखे हुए हैं, वे घट पानी भरने के सर्वथा अयोग्य हैं। इसी प्रकार जो स्तनन्धेय अबोध शिशु है, वह भी कच्चे घड़े की तरह श्रुतज्ञान के अयोग्य है, अर्थात् वह अभी शास्त्रीय ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ है।

पक्के घट दो प्रकार के होते हैं—नवीन और पुराने। इनमें नवीन घट सर्वथा श्रेष्ठ हैं, उनमें जो भी उत्तम पदार्थ डाले जाते हैं, वे सुरक्षित, ज्यों के त्यों, रहते हैं। उनमें जल्दी विकृति नहीं आती। ग्रीष्म ऋतु में डाला हुआ गर्म पानी भी कुछ घण्टों में शीतल हो जाता है। वैसे ही लघुवय में दीक्षित हुए मुनि को जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, वह उसे उसी प्रकार ग्रहण करता है, क्योंकि पात्र नवीन है।

पुराने घट दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिनमें अभी तक पानी भी नहीं डाला बिल्कुल कोरे ही हैं। दूसरे वे जो अन्य वस्तुओं से वासित हो चुके हैं। इसी प्रकार कुछ एक श्रोता ऐसे होते हैं, जिन्होंने युवावस्था में अभी कदम रक्खे ही हैं, फिर भी मिथ्यात्व के कलंकपंक से सर्वथा अलिप्त हैं, तथा विषय कषायों से भी दूर हैं, ऐसे व्यक्ति श्रुतज्ञान के सुपात्र ही हैं, कुपात्र नहीं।

जो घट अन्य वस्तुओं से वासित हो गए हैं, वे भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो रूह-केवड़ा रूहगुलाब इत्यादि सुरभित पदार्थों से वासित हैं और दूसरे वे जो सुरा, मद्य, घासलेट (मिट्टी का तेल) इत्यादि वस्तुओं से दुर्गन्धित हो रहे हैं, वे दुर्वासित कहलाते हैं। इनमें जो श्रोता सम्यक्त्व-सम्यग्ज्ञान आदि सद्गुणों से सुवासित हैं, वे श्रुतज्ञान के सर्वथा योग्य हैं। दुर्वासित घट दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिन्होंने प्रयोग से या कालान्तर में स्वत: ही दुर्गन्ध को छोड़ दिया है, अब उनमें कोई दुर्गंध नहीं आती। दूसरे वे जिन्होंने प्रयोग से या स्वत: दुर्गंध को नहीं छोड़ा, दुर्गन्धपूर्ण ही हैं, इसी प्रकार जिन श्रोताओं ने मिथ्यात्व, विषय, कषाय के संस्कारों को छोड़ दिया है, वे श्रुतज्ञान के अधिकारी हैं, जिन्होंने कुसंस्कारों को नहीं छोड़ा, वे अनधिकारी हैं।

(३) चालनी—जिन श्रोताओं की धारणाशक्ति इतनी कृश है, जो कि उत्तम-उत्तम शिक्षाएं, उपदेश, श्रुतज्ञान सुनने का समागम बनने पर भी एक ओर सुनते जाते हैं और दूसरी ओर भूलते जाते हैं, वे चालनी के तुल्य होते हैं। चालनी को जैसे ही पानी में डाला, वह भरी हुई नज़र आती है। परन्तु उठा देने से तुरन्त रिक्त नज़र आती है। इस प्रकार के श्रोता श्रुतज्ञान के अयोग्य हैं। अथवा—चालनी सार सार को छोड़ देती है, असार को अपने अन्दर रखती है, वैसे ही जो श्रोता गुणों को छोड़कर अव-गुणों को धारण किए रहते हैं, वे भी चालनी के तुल्य होते हैं।

(४) परिपूर्णक—जिससे घृत, दूध, पानी आदि पदार्थ छाने जाते हैं, वह छन्ना (पोना) कहलाता है। उसमें से सार-सार निकल जाता है, कूड़ा-कचरा उसमें ठहर जाता है, इसी प्रकार जो श्रोता गुणों को छोड़ कर अवगुणों को अपने में धारण करते हैं, वे परिपूर्णक के तुल्य होते हैं और श्रुत के अनधिकारी हैं।

(५) हंस—पक्षियों में हंस श्रेष्ठ माना जाता है। यह पक्षी प्रायः जलाशय, सरोवर या गंगा के किनारे रहता है। इसमें सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि—शुद्ध दूध में से भी केवल दुग्धांश को ही ग्रहण करता है और जलीयांश को छोड़ देता है। ठीक इसी प्रकार कुछ एक श्रोता शास्त्र-श्रवण के बाद केवल सत्यांश को ग्रहण करने वाले होते हैं, असत्यांश को बिल्कुल ग्रहण नहीं करते। जो केवल गुणग्राही होते हैं, वे श्रोता हंस के तुल्य होते हैं और श्रुतज्ञानके अधिकारी होते हैं।

(६) महिष—जिस प्रकार भैंसा जलाशय में घुसकर स्वच्छ पानी को मलिन बना देता है और पानी में मूत्र-गोबर कर देता है, न वह स्वच्छ पानी स्वयं पीता है और न अपने साथियों को निर्मल जल पीने देता है, यह भैंस या भैंसों का स्वभाव है। इसी प्रकार कुछ एक श्रोता या शिष्य भैंसे के तुल्य होते हैं, जब गुरु अथवा आचार्य-भगवान उपदेश सुना रहे हों या शास्त्र-वाचना दे रहे हों, उस समय न एकाग्रता से स्वयं सुनना और न दूसरों को सुनने देना, हंसी-मश्करी करना, परस्पर कानाफूसी, छेड़-छाड़ करते रहना, अप्रासंगिक और असम्बद्ध प्रश्न करना, कुतर्क तथा वितण्डावाद में पड़कर अमूल्य समय नष्ट करना, ये सब अनधिकार चेष्टाएँ हैं। अतः ऐसे श्रोता अथवा शिष्य भी शास्त्र-श्रवण एवं श्रुतज्ञान के अधिकारी नहीं होते।

(७) मेष—जैसे मेंढा या बकरी आदि का स्वभाव अगले दोनों घुटनों को टेककर स्वच्छ जल पीने का है और वे पानी को मलिन नहीं करते, इसी प्रकार एकाग्रचित्त से उपदेश तथा शास्त्र-श्रवण करने वाले शिष्य और श्रोता श्रुतज्ञान के अधिकारी होते हैं। चक्षु गुरु के मुख की ओर, श्रोत्रेन्द्रिय वाणी सुनने में, मनमें एकाग्रता, बुद्धि सत् और असत् की कांट-छांट में, धारणा सत्य विषय को धारण करने में लगी हुई हो, ऐसे शिष्य आगम-शास्त्रों को श्रवण करने के अधिकारी एवं सुपात्र होते हैं।

(८) मशक—डाँस-मच्छर-खटमल वगैरा शरीर पर बैठते ही डंक मारना प्रारम्भ कर देते हैं और कष्ट देकर रक्तपान करते हैं, उनका स्वभाव गुणग्राही नहीं होता। वैसे ही जो श्रोता या शिष्य गुरु की कोई सेवा नहीं करते, प्रत्युत कष्ट देकर ही शिक्षा प्राप्त करते हैं, ऐसे श्रोता या शिष्य अविनीत होते हैं, वे श्रुतज्ञान के अनधिकारी हैं। उन्हें श्रुतज्ञान देना सूत्र की आशातना है।

(९) जलौका—जैसे गाय या भैंस के स्तनों में लगी हुई जोक दूध न पीकर रक्त को ही पीती है, वैसे ही जो शिष्य आचार्य, उपाध्याय में रहे हुए गुणों को तथा आगमज्ञान को तो ग्रहण नहीं करते, परन्तु अवगुणों को ही ग्रहण करते हैं, वे जोक के समान हैं तथा श्रुतज्ञान के अनधिकारी हैं।

(१०) बिडाली—बिल्ली की आदत है, यदि खाने-पीने की वस्तु छींके पर रखी हुई हो तो [illegible] मारकर बर्तन को नीचे गिरा देती है। बर्तन फूट जाता है, फिर धूलि में मिले हुए दूध, दही, [illegible] पदार्थों को चाटकर खा जाती है। इससे वस्तु बेकार हो जाती है, किसी के काम नहीं [illegible] धूलि युक्त पदार्थ का आहार करती है। इसी प्रकार कुछ एक श्रोता या शिष्य अभिमान [illegible] गुरु के निकट उपदेश नहीं सुनते, शास्त्र-वाचना नहीं लेते। परन्तु जो सुनकर आए हैं, [illegible] एक से सुनते हैं, बुद्धि की मन्दता से वह जैसे सुनकर आया है, वैसा सुना [illegible] पूछता है, कभी किसी से सुनता है, कभी किसी से पढ़ता है। परन्तु जो [illegible] से सुन कर प्राप्त हो सकता है, वह अन्य किसी मन्दमति से सुनकर [illegible] श्रोता बिडाली के तुल्य हैं, वे भी श्रुज्ञान के पात्र नहीं हैं।

(११) जाहक—सेह या चूहे जैसा एक प्राणी होता है, उसका स्वभाव है कि—दूध, दही आदि खाद्य पदार्थ जहाँ हैं वहीं पहुँचकर थोड़ा-थोड़ा पीता है और उस बर्तन के आसपास लगे हुए लेप को चाटता है, इस क्रमसे शुद्ध वस्तु को ग्रहण तो करता है, किन्तु उसे खराब नहीं करता। इसी प्रकार जो श्रोता या शिष्य गुरु के निकट बैठकर विनय से श्रुतज्ञान प्राप्त करता है। फिर मनन-चिन्तन करता है। पहली ली हुई वाचना को समझता रहता है और आगे पाठ लेता रहता है, नहीं समझने पर गुरु से पूछता रहता है, ऐसा शिष्य या श्रोता आगमज्ञान का अधिकारी है।

(१२) गौ—किसी यजमान ने चार ब्राह्मणों को पहले भोजन खिलाकर यथाशक्ति उन्हें दक्षिणा दी और एक प्रसूता गौ भी दी जो चारों के लिए सांझी थी और उनसे कह दिया गया कि—चारों बारी-बारी से दूध दोह लिया करें। अर्थात् जिसकी बारी हो उस दिन वही उसकी सेवा तथा दोहन करे। ऐसा समझाकर उन्हें विदा किया। ब्राह्मण स्वार्थी थे। अत: उन्होंने परस्पर बैठकर अपने दिन निश्चित कर लिए। प्रथम दिन वाले ब्राह्मण ने अपना समय देखकर दूध निकाला और विचारने लगा—यदि मैं खाना-दाना आदि देकर गाय की सेवा करूंगा तो इसका दूध दूसरा दोह लेगा, मेरा खिलाया-पिलाया व्यर्थ जाएगा। ऐसा विचार कर गाय को खाना आदि कुछ न दिया और छोड़ दिया। क्रमश: सभी ने दूध तो निकाला परन्तु सेवा न की। परिणामस्वरूप गाय दूध से भाग गई और भूख-प्यास से पीड़ित होकर कुछ ही दिनों में मर गई, जिसका ब्राह्मणों को कुछ भी दु:ख न हुआ। क्योंकि वह मूल्य से तो खरीदी नहीं थी, दान में आयी थी। ब्राह्मणों की इस निर्दयता और मूर्खता से जनता में अपवाद होने लगा और उन्हें गांव छोड़ कर अन्यत्र कहीं जाना पड़ा। इसी प्रकार जो शिष्य अथवा श्रोता गुरु की सेवा-भक्ति नहीं करता और आहार-पानी आदि भी लाकर नहीं देता, और सूत्र-ज्ञान प्राप्त करने के लिए बैठ जाता है, वह भी शास्त्रीय ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

इसके विपरीत किसी सेठ ने चार ब्राह्मणों को गाय का संकल्प किया। वे चारों गाय की तन-मन से सेवा करते। उन सबका मुख्य उद्देश्य गाय की सेवा का था, दूध का नहीं। वे चारों क्रमश: गाय की खूब सेवा करते और दोनों समय पर्याप्त मात्रा में दूध भी दोहते तथा बछड़े को भी पर्याप्त मात्रा में पिलाते। अधिक क्या ? गो-सेवक की भांति अपना कर्त्तव्य-पालन करके अभीष्ट फल प्राप्त करते। इससे ब्राह्मण भी सन्तुष्ट थे और गाय भी पुष्ट थी तथा दूध भी खूब देती। इसी प्रकार सुशिष्य या श्रोता विचार करे कि यदि मैं आचार्य या गुरु की अच्छी तरह सेवा करूंगा, आहार, वस्त्र, स्थान, औषधोपचार से साता उपजाऊंगा तो गुरुदेव दीर्घ काल तक नीरोग रहकर हमें ज्ञानदान देते रहेंगे तथा दूसरे गणसे आए हुए साधुओं को भी ज्ञानदान देते रहेंगे। इस प्रकार शिष्यों को वैयावृत्य करते देखकर अन्य गण से आए साधु भी विचार करेंगे कि, ये शिष्य इनकी इतनी विनय, भक्ति सेवा करते हैं, हमें भी सेवा में हाथ बटाना चाहिए। वाचनाचार्य जितने प्रसन्न रहेंगे उतना ही हमें आगम-ज्ञान से समृद्ध बनाएंगे। इनको साता पहुँचाने से तथा नीरोग एवं सन्तुष्ट रखने से ज्ञानरूपी दुग्ध निरन्तर मिलता रहेगा। ऐसे शिष्य ही शास्त्रीय-ज्ञान के अधिकारी तथा रत्नत्रय की आराधना करके अजर-अमर हो सकते हैं।

१३ भेरी—एक बार सौधर्माधिपति शक्रेन्द्र ने अपनी महापरिषद् में देव-देवियों के सम्मुख महाराजा कृष्ण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की कि—उनमें दो गुण विशेष हैं—एक गुणग्राहिकता और दूसरा नीचयुद्ध से दूर रहना। एक देव शक्रेन्द्र के वचनों पर श्रद्धा न करता हुआ परीक्षा लेने के लिए मध्यलोक में

द्वारवती नगरी के बाहर राजमार्ग के एक ओर कुत्ते का रूपधारण करके लेट गया। कुत्ते का रंग काला था, शरीर में कीड़े पड़े हुए थे, दुर्गन्ध से आसपास का क्षेत्र व्याप्त था। देखने वालों को ऐसा प्रतीत होता था जैसे कुत्ते का कलेवर पड़ा हुआ हो। मुख खुला हुआ था, दांत बाहर स्पष्टतया दीख रहे थे।

ऐसे समय में इधर से कृष्णजी बड़े समारोह से अरिष्टनेमि भगवान के दर्शनार्थ उसी मार्ग से निकले। कुत्ते की उस महादुर्गन्ध से सारी सेना घबरा उठी। कोई मुंह ढांककर, कोई नाक पकड़कर, कोई प्राणायाम से, कोई द्रुत गति से, कोई उन्मार्ग से जाने लगे। कृष्ण वासुदेव जी ने वस्तु स्थिति को समझा—औदारिक शरीर की असारता जानते हुए तथा किंचिन्मात्र भी घृणा न करते हुए उस कुत्ते के सन्निकट पहुँचे और कहने लगे कि–इस कुत्ते की दन्तश्रेणी ऐसी प्रतीत होती है, जैसे कि मोतियों की चमकती हुई श्रेणी। यह सुनते ही देवता आश्चर्यान्वित हुआ और सोचने लगा कि मेरे इस बिभत्स शरीर तथा असह्य दुर्गन्ध के कारण समीप आने का कोई भी प्रयास नहीं करता था, सभी थू-थू करते हुए दूर से ही निकल जाते थे, किन्तु कृष्णजी ही समीप आए फिर भी गुण ही ग्रहण किया है। जहाँ बिभत्स रस की अनुभूति होती हो वहाँ से भी गुण ग्रहण करना, यह इन्हीं में विशेषगुण देखने में आया है। तत्पश्चात् कृष्णजी द्वारका नगरी के बाहिर उद्यान में ठहरे हुए अरिष्टनेमि भगवान के पास दर्शनार्थ चले गये।

कालान्तर में वही देव फिर परीक्षा लेने के लिए आया और कृष्णजी के विशिष्ट घोड़े को लेकर भाग गया। सैनिकों ने पीछा किया, किन्तु वह किसी के हाथ नहीं आया। तब कृष्ण वासुदेव स्वयं उसके मुकाबले पर घोड़ा छुड़ाने के लिए गए। वह देवता बोला–आप मेरे साथ युद्ध करके घोड़ा ले जा सकते हैं, जो जीतेगा घोड़ा उसीका होगा। तब कृष्णजी ने कहा—युद्ध अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे कि—मल्ल-युद्ध, मुष्ठियुद्ध, दृष्टियुद्ध इत्यादि युद्धों में कौनसा युद्ध तुम पसन्द करते हो? देव मनुष्याकृति में बोला—मैं पीठ से युद्ध करना चाहता हूँ, आपकी भी पीठ और मेरी भी पीठ हो। इसका उत्तर देते हुए कृष्णजी ने कहा कि–मैं ऐसा निर्लज्ज युद्ध करके अश्व प्राप्त करूं यह मेरी शान से विरुद्ध है। यह सुनकर देव हर्षान्वित होकर अपने असली रूप में वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर कृष्णजी के सम्मुख प्रकट होकर चरण-कमलों में मस्तक झुकाकर कहने लगा—आपकी प्रशंसा देवसभा में इन्द्रने की थी। कुत्ते का रूप भी मैंने ही धारण किया था। दो गुण आपमें विशिष्ट हैं, यह मैंने प्रत्यक्ष देख लिया। प्रशंसा करके देव कहने लगा—वरदान के रूप में आपको मैं यह दिव्य भेरी देना चाहता हूँ, छः महीने के बाद एक दिन इसे बजाया जाय तो आपके राज्य में यदि छः महीने की रोग-महामारी हो, वह शान्त हो जायेगी और अनागत काल छः महीने तक कोई बीमारी नहीं फैलेगी। जो इसकी आवाज़ को सुनेगा वह भले ही असाध्य रोग से ग्रस्त हो, तुरन्त स्वस्थ हो जायेगा। इसके साथ ही यह भी शर्त है कि छः मास की समाप्ति से पहले इसे न बजाया जाए।

देव ने कृष्णजी को भेरी अर्पण करते समय कहा—इसमें यह विशिष्ट द्रव्य लगा हुआ है, इसीके प्रभाव से इसमें रोग को नष्ट करने की शक्ति है, इसके अभाव में साधारण भेरियों के तुल्य ही है। यह कहकर देव अपने स्थान को चला गया।

श्रीकृष्णजी ने भेरी अपने विश्वास पात्र सेवक को सौंप दी तथा भेरी के विषय में भी सब कुछ बतला दिया। उसी समय द्वारिका में विशेष रोग उत्पन्न हो गया जिससे जनता पीड़ित होनी लगी। श्री-कृष्णजी की आज्ञा से भेरी बजायी गई। उसका शब्द जहां तक पहुँच सका, वहाँ तक सभी प्रकार के रोगी

स्वस्थ हो गये। भेरी की महिमा सुनकर दूर-दूर से रोगी आने लगे। उन्होंने भेरीवादक से प्रार्थना की कि हमारे पर अनुग्रह करते हुए भेरी बजाई जाये। परन्तु श्रीकृष्णजी की आज्ञा के अनुसार उसने भेरी बजाने से इन्कार कर दिया। रोगियों ने घूंस देकर भेरीवादक को सहमत कर लिया। भेरीवादक ने कहा—यदि मैं कृष्णजी की आज्ञा के विरुद्ध भेरी बजाऊँगा तो उसका शब्द सुनकर कृष्णजी कुपित होकर मुझे दण्ड देंगे। अतः आप के रोग की शान्ति के लिए इसमें प्रयुक्त द्रव्य देता हूँ, इसीसे रोग शान्त हो जाते हैं। यह कहकर भेरी में लगे द्रव्य में से उतार कर थोड़ा-सा उन्हें दिया। रोगी उसके प्रयोग से स्वस्थ हो गये। यह देखकर अन्य रोगी आने लगे। भेरीवादक उनसे रिश्वत लेकर भेरी का मसाला उतार-उतार कर देने लगा और इस प्रकार देने से भेरी का सारा दिव्य-द्रव्य समाप्त हो गया। छह महीने के पीछे भेरी बजाई। परन्तु उससे किसी का रोग शमन न हो सका। कृष्णजी को जब सारा रहस्य ज्ञात हुआ तो उस भेरी-वादक की भर्त्सना करके उसे अपने राज्य से निकाल दिया। जनहित और परोपकार की दृष्टि से श्री कृष्णजी ने पुनः अष्टम भक्त कर उस देव की आराधना की। प्रसन्न हो देव ने भेरी को पूर्ववत् कर दिया। तत्पश्चात् श्री कृष्णजी ने प्रामाणिक व्यक्तियों के पास भेरी दी और वे यथाज्ञा छह महीने पीछे बजाकर भेरी से लाभान्वित होने लगे। भेरीवादक के पास असमय में भेरी बजाने के लिए रोगी आते, प्रलोभन देते, किन्तु वे कृष्णजी की आज्ञा अनुसार ही कार्य करते जिससे कृष्णजी ने प्रसन्न होकर उन्हें पारितोषिक दिया और पदोन्नति भी की।

इस दृष्टान्त का भावार्थ यह है—आर्य क्षेत्ररूप द्वारिका नगरी है, तीर्थंकर रूप कृष्णवासुदेव हैं, पुण्यरूप देवता है, जिनवाणी भेरी तुल्य है, भेरीवादक तुल्य साधु और कर्म रूप रोग। इसी प्रकार जो शिष्य आचार्य द्वारा प्रदत्त सूत्रार्थ को छिपाते हैं, बदलते हैं, पहले पाठ को निकाल कर नए शब्द अपने मत की पुष्टि के लिए प्रक्षेप करते हैं, ऋद्धि, रस, साता में गृद्ध होकर सूत्रों की तथा अर्थों की मिथ्या प्ररूपणा करते हैं। स्वार्थपूर्ति के हेतु स्वेच्छानुसार जिनवाणी में मिथ्याश्रुत का प्रक्षेप करते हैं, वे शिष्य आगमज्ञान के अयोग्य एवं अनधिकारी हैं। ऐसे श्रोता या शिष्य अनन्त संसारी होते हैं, संसार के आवर्त में फंसते हैं, और अनन्त दुःखों के भागी बनते हैं। तथा जो जिनवाणी में किसी भी प्रकार का संमिश्रण नहीं करता, शुद्ध जिनवाणी की रक्षा करता है, वह मोक्ष तथा सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करता है, श्रुत-ज्ञान का आराधक बनता है तथा जिनवाणी पर शुद्ध श्रद्धान करता है, शुद्ध प्ररूपणा करता है और शुद्ध स्पर्शन करता है, वह संसार में नहीं भटकता, भगवदाज्ञा का आराधक बन कर शीघ्र ही संसार-अटवी को पार कर जाता है। ऐसे श्रोता या शिष्य श्रुताधिकारी है।

१४—अहीर-दम्पति—दूध-घी बेचने वाले एक अहीर जाति के पति-पत्नी घी बेचने के लिए घी के घट भरकर बैलगाड़ी तैयार करके दूसरे नगर की ओर प्रस्थान कर गए। नगर में जहाँ घी की मंडी थी, वहाँ बैलगाड़ी को रोका। अहीर ने गाड़ी से घड़े उतारने शुरू किए और अहीरनी नीचे लेने लगी। दोनों की असावधानी से अकस्मात् घृतघट गिर पड़ा। जिससे अधिकतर घी जमीन में मिट्टी से लिप्त हो गया। इस पर दोनों झगड़ने लगे। अहीर कहने लगा कि—तूने ठीक तरह से घड़ा क्यों नहीं पकड़ा? उसकी पत्नी कहने लगी—मैं तो घड़े को लेने वाली थी, घड़ा अभी तक पकड़ा ही नहीं था, इतने में आपने छोड़ दिया, इससे घड़ा गिर पड़ा। इस तरह दोनों में वाद-विवाद बहुत देर तक होता रहा। सारा घी अग्राह्य हो गया और जानवर चट कर गए। कुछ कलह में, कुछ घी के बिकने में अधिक विलंब

जे—जो इह—यहाँ गुरु-गुण-समिद्धा—प्रधान गुणों से समृद्ध दोसे विवज्जंति—दोषों को छो
तं—उसे जाणिया—ज्ञायिका परिसं—परिषद् जाणसु—समझो ।

भावार्थ—वह परिषत् संक्षेप से तीन प्रकार की कही गई है, जैसे—वि
अविज्ञसभा और दुर्विदग्धसभा ।

ज्ञायिका परिषद्, जैसे—

जिस प्रकार उत्तम जाति के हंस पानी को छोड़कर दूध का पान करते
प्रकार जिस परिषद् में गुणसम्पन्न व्यक्ति होते हैं, वे दोषों को छोड़ देते हैं और
ग्रहण करते हैं, उसी को हे शिष्य ! तू ज्ञायिका—सम्यग्ज्ञान वाली परिषद् जान ।

मूलम्—अजाणिया जहा—

जा होइ पगइमहुरा, मियछावय-सीह-कुक्कुडयभूआ ।
रयणमिव असंठविआ, अजाणिया सा भवे परिसा ॥ ५

छाया—अज्ञायिका यथा—

या भवति प्रकृतिमधुरा, मृग-सिंह-कुर्कुटशावकभूता ।
रत्नमिवाऽसंस्थापिता, अज्ञायिका सा भवेत् पर्षद् ॥ ५

पदार्थ—अजाणिया—अज्ञायिका जहा—जैसे—

जा—जो मियछावय—मृगशावक, सीह—सिंह और कुक्कुडयभूआ—कुर्कुट के शावक
पगइमहुरा—प्रकृति से मधुर भवइ—होती है, तथा रयणमिव—रत्न की तरह असंठविआ—
अर्थात् असंस्कृत होती है, सा—वह अजाणिया—अज्ञायिका परिसा—परिषद् भवे—होती है ।

भावार्थ—अज्ञायिका परिषद्, जैसे—

जो श्रोता मृग, शेर और कुर्कुट के अबोध बच्चों के समान स्वभाव से
भोले-भाले होते हैं, उन्हें जिस प्रकार से शिक्षा दी जाए, वे उसी प्रकार उसे ग्रहण
हैं तथा जो रत्न की तरह असंस्कृत होते हैं, उन रत्नों को जैसे चाहें, उसी तरह ब
सकता है, ऐसे ही अनभिज्ञ श्रोताओं की सभा को हे शिष्य ! तुम अज्ञायिका परिषद्

मूलम्—दुव्विअड्ढा जहा—

न य कत्थइ निम्माओ, न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेणं ।
वत्थिव्व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लय विअड्ढो ॥

छाया—दुर्विदग्धा यथा—

न च कुत्राऽपि निर्मातः, न च पृच्छति परिभवस्य दोषेण ।
वस्तिरिव वातपूर्णः, स्फुटति ग्रामेयको विदग्धः ॥ ५

पदार्थ—दुव्विअड्ढा—दुर्विदग्धा सभा, जहा—जैसे—गामिल्लो—ग्रामीण विअड्ढो—पंडित कत्थइ—किसी विषय में निम्माओ—पूर्ण न य—नहीं है और न य—न ही परिभवस्स—तिरस्कार के दोसेण—दोष अर्थात् भय से पुच्छइ—किसी से पूछता है, किन्तु वायपुण्णो—वातपूर्ण वत्थिव्व—मशक की भांति फुट्टइ—फूला हुआ रहता है।

भावार्थ—दुर्विदग्धा सभा, जैसे—

जिस प्रकार कोई ग्रामीण पण्डित किसी भी शास्त्र अथवा विषय में संपूर्ण नहीं है, न वह अपने अनादर के भय से किसी विद्वान् से पूछता ही है, और अपनी प्रशंसा सुनकर मिथ्याभिमान से वस्ति-मशक की तरह फूला हुआ रहता है। इस प्रकार के जो लोग हैं, उनकी सभा को हे शिष्य ! तुम दुर्विदग्धा सभा समझो।

टीका—इन गाथाओं में सूत्रकार ने अनुयोग के योग्य परिषद् के विषय में वर्णन किया है। श्रोताओं के समूह को परिषद् कहते हैं। शास्त्र की व्याख्या करते समय अनुयोगाचार्य को पहले परिषद् की परख करनी चाहिए, क्योंकि श्रोता विभिन्न प्रकृति के होते हैं। इस लिए परिषद् के तीन भेद किए हैं—

१. जिस परिषद् में तत्वजिज्ञासु, सम्यग्दृष्टि, बुद्धिमान, गुणग्राही, विवेकशील, विनीत, शांत, प्रतिभाशाली, सुशिक्षित, श्रद्धालु, आत्मान्वेषी, परित्तसंसारी, शुक्लपक्षी, शम-संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा और आस्था आदि गुणसम्पन्न श्रोता हों, उनकी परिषद् को विज्ञ-परिषद् कहते हैं। यह परिषद् सर्वथा उचित है। जैसे उत्तम हंस, पानी को छोड़कर दूध का सेवन करते हैं। घोंघे छोड़कर मोती खाते हैं, वैसे ही गुणसम्पन्न श्रोता दोष-अवगुणों को छोड़कर केवल गुणों को ही ग्रहण करते हैं। यहाँ परिषद् के प्रकरण में विज्ञ परिषद् ही सर्वोत्तम परिषद् है।

२. जो श्रोता पशु-पक्षी के वच्चे के समान प्रकृति से मुग्ध होते हैं, उन्हें इच्छानुसार भद्र या क्रूर जैसे भी बनाना चाहें बना सकते हैं। ऐसे भी पशु-पक्षी होते हैं, जिनकी कला देखकर इन्सान आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। इसी प्रकार जिनका हृदय मत-मतान्तरों की कलुषित वासनाओं से अलिप्त है, उन्हें सन्मार्ग में लाना मोक्ष पथ के पथिक बनाना, आगमके उद्भट विद्वान्, संयमी, विनीत, शांत तथा अनुयोगा-चार्य बनाना सुगम है। क्योंकि वे कुसंस्कारों से रहित हैं। जिस प्रकार खान से तत्काल निकले हुए असंस्कृत रत्नों को कारीगर जैसा चाहे सुधार कर मुकुट, हार तथा अंगूठी आदि भूषणों में जड़ सकता है। इसी प्रकार जो किसी भी मार्ग या स्थान में लगाए जा सकें। ऐसे श्रोताओं की परिषद् को अविज्ञ परिषद् कहते हैं।

३. कषाय एवं विषय लम्पट, मूढ़, हठीले, कृतघ्न अविनीत, क्रोधी, विकथाओं में अनुरक्त, अभि-मानी, स्वच्छन्दाचारी असंवृत्त, श्रद्धा विहीन, मिथ्यादृष्टि, नास्तिक, उन्मार्गगामी, तत्वविरोधी आदि अव-गुणयुक्त जो अपने को पंडित समझते हैं, वे सब दुर्विदग्ध हैं। विदग्ध पंडित को कहते हैं। जो पंडित न होते हुए भी अपने को पंडित कहता है, उसे दुर्विदग्ध कहते हैं। जैसे कोई ग्रामीण पंडित किसी भी विषय में या शास्त्रों में विद्वत्ता नहीं रखता और न अनादर के भय से किसी विद्वान् से ही पूछता है, किन्तु केवल वायु से पूरित दृति (मशक) के तुल्य लोगों से अपने पांडित्य के प्रवाद को सुनकर फूला हुआ रहता

जे—जो इह—यहाँ गुरु-गुण-समिद्धा—प्रधान गुणों से समृद्ध दोसे चिवज्जंति—दोषों को छोड़ देते हैं तं—उसे जाणिया—ज्ञायिका परिसं—परिषद् जाणसु—समझो ।

भावार्थ—वह परिषत् संक्षेप से तीन प्रकार की कही गई है, जैसे—विज्ञसभा, अविज्ञसभा और दुर्विदग्धसभा ।

ज्ञायिका परिषद्, जैसे—

जिस प्रकार उत्तम जाति के हंस पानी को छोड़कर दूध का पान करते हैं, उसी प्रकार जिस परिषद् में गुणसम्पन्न व्यक्ति होते हैं, वे दोषों को छोड़ देते हैं और गुणों को ग्रहण करते हैं, उसी को हे शिष्य ! तू ज्ञायिका—सम्यग्ज्ञान वाली परिषद् जान।

मूलम्—अजाणिया जहा—

जा होइ पगइमहुरा, मियछावय-सीह-कुक्कुडयभूआ ।
रयणमिव असंठविआ, अजाणिया सा भवे परिसा ।। ५३ ।।

छाया—अज्ञायिका यथा—

या भवति प्रकृतिमधुरा, मृग-सिंह-कुर्कुटशावकभूता ।
रत्नमिवाऽसंस्थापिता, अज्ञायिका सा भवेत् पर्षद् ।। ५३ ।।

पदार्थ—अजाणिया—अज्ञायिका जहा—जैसे—

जा—जो मियछावय—मृगशावक, सीह—सिंह और कुक्कुडयभूआ—कुर्कुट के शावक की भांति पगइमहुरा—प्रकृति से मधुर भवइ—होती है, तथा रयणमिव—रत्न की तरह असंठविआ—असंस्थापित अर्थात् असंस्कृत होती है, सा—वह अजाणिया—अज्ञायिका परिसा—परिषद् भवे—होती है ।

भावार्थ—अज्ञायिका परिषद्, जैसे—

जो श्रोता मृग, शेर और कुर्कुट के अबोध बच्चों के समान स्वभाव से मधुर—भोले-भाले होते हैं, उन्हें जिस प्रकार से शिक्षा दी जाए, वे उसी प्रकार उसे ग्रहण कर लेते हैं तथा जो रत्न की तरह असंस्कृत होते हैं, उन रत्नों को जैसे चाहें, उसी तरह बनाया जा सकता है, ऐसे ही अनभिज्ञ श्रोताओं की सभा को हे शिष्य ! तुम अज्ञायिका परिषद् जानो ।

मूलम्—दुव्विअड्ढा जहा—

न य कत्थइ निम्माओ, न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेणं ।
वत्थिव्व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लय विअड्ढो ।। ५४ ।।

छाया—दुर्विदग्धा यथा—

न च कुत्राऽपि निर्मातः, न च पृच्छति परिभवस्य दोषेण ।
वस्तिरिव वातपूर्णः, स्फुटति ग्रामेयको विदग्धः ।। ५४ ।।

पदार्थ—दुव्विअड्डा—दुर्विदग्धा सभा, जहा—जैसे—गामिल्लो—ग्रामीण विअड्डो—पंडित कत्थइ—किसी विषय में निम्माओ—पूर्ण न य—नहीं है और न य—न ही परिभवस्स—तिरस्कार के दोसेण—दोष अर्थात् भय से पुच्छइ—किसी से पूछता है, किन्तु वायपुण्णो—वातपूर्ण वत्थिव्व—मशक की भांति फुट्टइ—फूला हुआ रहता है।

भावार्थ—दुर्विदग्धा सभा, जैसे—

जिस प्रकार कोई ग्रामीण पण्डित किसी भी शास्त्र अथवा विषय में संपूर्ण नहीं है, न वह अपने अनादर के भय से किसी विद्वान् से पूछता ही है, और अपनी प्रशंसा सुनकर मिथ्याभिमान से वस्ति-मशक की तरह फूला हुआ रहता है। इस प्रकार के जो लोग हैं, उनकी सभा को हे शिष्य ! तुम दुर्विदग्धा सभा समझो।

टीका—इन गाथाओं में सूत्रकार ने अनुयोग के योग्य परिषद् के विषय में वर्णन किया है। श्रोताओं के समूह को परिषद् कहते हैं। शास्त्र की व्याख्या करते समय अनुयोगाचार्य को पहले परिषद् की परख करनी चाहिए, क्योंकि श्रोता विभिन्न प्रकृति के होते हैं। इस लिए परिषद् के तीन भेद किए हैं—

१. जिस परिषद् में तत्वजिज्ञासु, सम्यग्दृष्टि, बुद्धिमान, गुणग्राही, विवेकशील, विनीत, शांत, प्रतिभाशाली, सुशिक्षित, श्रद्धालु, आत्मान्वेषी, परित्तसंसारी, शुक्लपक्षी, शम-संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा और आस्था आदि गुणसम्पन्न श्रोता हों, उनकी परिषद् को विज्ञ-परिषद् कहते हैं। यह परिषद् सर्वथा उचित है। जैसे उत्तम हंस, पानी को छोड़कर दूध का सेवन करते हैं। घोंवे छोड़कर मोती खाते हैं, वैसे ही गुणसम्पन्न श्रोता दोष-अवगुणों को छोड़कर केवल गुणों को ही ग्रहण करते हैं। यहाँ परिषद् के प्रकरण में विज्ञ परिषद् ही सर्वोत्तम परिषद् है।

२. जो श्रोता पशु-पक्षी के बच्चे के समान प्रकृति से मुग्ध होते हैं, उन्हें इच्छानुसार भद्र या क्रूर जैसे भी बनाना चाहें बना सकते हैं। ऐसे भी पशु-पक्षी होते हैं, जिनकी कला देखकर इन्सान आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। इसी प्रकार जिनका हृदय मत-मतान्तरों की कलुषित वासनाओं से अलिप्त है, उन्हें सन्मार्ग में लाना मोक्ष पथ के पथिक बनाना, आगमके उद्भट विद्वान्, संयमी, विनीत, शांत तथा अनुयोगाचार्य बनाना सुगम है। क्योंकि वे कुसंस्कारों से रहित हैं। जिस प्रकार खान से तत्काल निकले हुए असंस्कृत रत्नों को कारीगर जैसा चाहे सुधार कर मुकुट, हार तथा अंगूठी आदि भूषणों में जड़ सकता है। इसी प्रकार जो किसी भी मार्ग या स्थान में लगाए जा सकें। ऐसे श्रोताओं की परिषद् को अविज्ञ परिषद् कहते हैं।

३. कषाय एवं विषय लम्पट, मूढ़, हठीले, कृतघ्न अविनीत, क्रोधी, विकथाओं में अनुरक्त, अभिमानी, स्वच्छन्दाचारी असंवृत्त, श्रद्धा विहीन, मिथ्यादृष्टि, नास्तिक, उन्मार्गगामी, तत्वविरोधी आदि अवगुणयुक्त जो अपने को पंडित समझते हैं, वे सब दुर्विदग्ध हैं। विदग्ध पंडित को कहते हैं। जो पंडित न होते हुए भी अपने को पंडित कहता है, उसे दुर्विदग्ध कहते हैं। जैसे कोई ग्रामीण पंडित किसी भी विषय में या शास्त्रों में विद्वत्ता नहीं रखता और न अनादर के भय से किसी विद्वान् से ही पूछता है, किन्तु केवल वायु से पूरित दृति (मशक) के तुल्य लोगों से अपने पांडित्य के प्रवाद को सुनकर फूला हुआ रहता

है। ऐसे लोगों की परिषद् को दुर्विदग्धा परिषद् कहते हैं। दुर्विदग्ध तीन प्रकार के होते हैं—किंचिन्मात्र-ग्राही, पल्लवग्राही, और त्वरितग्राही। इनमें से कोई भी हो, वह दुर्विदग्ध है।

उपर्युक्त परिषदों में पहली विज्ञ परिषद् अनुयोग के सर्वथा उचित है। दूसरी अविज्ञ परिषद् भी कथंचित् उचित ही है। क्योंकि आगमों की व्याख्या समझाने में विलंब तो अवश्य होता है, किन्तु समयान्तर में सफलीभूत होने में संदेह नहीं। तीसरी दुर्विदग्धा तो शास्त्रीय ज्ञान के सर्वथा अयोग्य है।

इसी बात को दृष्टि में रखते हुए देववाचक ने शास्त्रीय ज्ञान के श्रोताओं की परिषदों का पहिले वर्णन किया है।
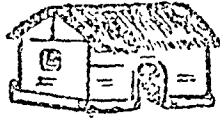
ज्ञान के पांच भेद

मूलम्—नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. आभिणिबोहियनाणं, २. सुयनाणं, ३. ओहिनाणं, ४. मण-पज्जवनाणं, ५. केवलनाणं ॥सूत्र१॥

छाया—ज्ञानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. आभिनिबोधिकज्ञानं, २. श्रुतज्ञानम्, ३. अवधिज्ञानं, ४. मनःपर्यवज्ञानं, ५. केवलज्ञानम् ॥सू० १॥

भावार्थ—ज्ञान पांच प्रकार से प्रतिपादन किया गया है, जैसे—१. आभिनिबोधिक-ज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्यवज्ञान, और ५. केवलज्ञान ॥सूत्र १ ॥

टीका—इस सूत्र में ज्ञान और उसके भेदों का वर्णन किया गया है। यद्यपि भगवत्स्तुति, गणधरा-वलिका तथा स्थविरावलिका के द्वारा मंगलाचरण किया जा चुका है, तदपि नन्दी शास्त्र का आद्य सूत्र मंगलाचरण के रूप में प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान-नय के मत से ज्ञान भी मोक्ष का मुख्य अंग है। ज्ञान और दर्शन ये दोनों आत्मा के असाधारण गुण हैं। आत्मा विशुद्ध दशा में ज्ञाता और द्रष्टा होता है, उसी अवस्था को सिद्ध, अजर, अमर और निरुपाधिकब्रह्म कहा जाता है। साधक दशा में ज्ञान मोक्ष का साधन है और उसके पूर्ण विकास को ही मोक्ष कहते हैं। ज्ञान मंगल का कारण है। अतः ज्ञान का प्रति-पादक होने से पहला सूत्र मंगलरूप है।

अब ज्ञान शब्द का अर्थ दिया जाता है—पदार्थों को जानना ही ज्ञान है, उसे भाव साधन कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाए, अथवा जिससे जाना जाए, अथवा जिसमें जाना जाए, उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय व क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा के स्वतत्त्व बोध को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वृत्तिकार ने अनुयोगद्वार सूत्र में लिखा है—"ज्ञातिर्ज्ञानं, कृत्यल्युटो-बहुलम् (पा० ३।३।११३) इति वचनात् भावसाधनः, ज्ञायते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं, जानाति-स्वविषयं परिच्छिनत्तीति वा ज्ञानं, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमक्षयजन्यो जीवस्वतत्त्वभूतो बोध इत्यर्थः। तथा नन्दीसूत्र के वृत्तिकार ने जिज्ञासुओं के सुगम बोध के लिए ज्ञान शब्द केवल भावसाधन और करण-साधन ही स्वीकार किया है, जैसे कि—"ज्ञातिर्ज्ञानं भावे अनट् प्रत्ययः अथवा ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानं करणे अनट्, शेषास्तु व्युत्पत्तयो मन्दमतीनां सम्मोहहेतुत्वान्नोपदिश्यन्ते।"

सारांश यह है कि आत्मा को ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम व क्षय से जो स्वतत्त्व बोध होता है, वही ज्ञान है। केवल ज्ञान क्षायिक भाव में होता है और शेष चार ज्ञान क्षयोपशम जन्य हैं। अतः सूत्रकार ने **नाणं पंचविहं पण्णत्तं** 'ज्ञान पांच प्रकार से वर्णन किया है, इसी कारण यह सूत्र आदि में दिया है। **पण्णत्तं** इस पद के संस्कृत भाषा में चार रूप बनते हैं, जैसे कि—प्रज्ञप्तं-प्राज्ञाप्तं-प्राज्ञात्तं-प्रज्ञाप्तम्। इन शब्दों का अर्थ है—तीर्थंकर भगवान ने सर्वप्रथम अर्थ रूप से प्रतिपादन किया और गणधरों ने सूत्ररूप से प्ररूपण किया, यह प्रज्ञप्तं शब्द का अर्थ हुआ। जिस अर्थ को गणधरों ने तीर्थंकर से प्राप्त किया, उसे

प्राज्ञाप्तं कहते हैं। जिस अर्थ को गणधरों ने तीर्थंकर से ग्रहण किया, उसे प्राज्ञात्तं कहते हैं और जिस अर्थ को अपनी कुशाग्र बुद्धि से भव्य जीवों ने प्राप्त किया, उसे प्रज्ञाप्तं कहते हैं। क्योंकि विकल बुद्धि वाले जीव इस गहन विषय को प्राप्त नहीं कर सकते। पण्णत्तं कहकर सूत्रकार ने गुरु भक्ति और जिन भक्ति करना सिद्ध किया है और स्वबुद्धि के अभिमान का परिहार किया है। कहा भी है—

"पण्णत्तं' त्ति प्रज्ञप्तमर्थतस्तीर्थंकरैः, सूत्रतो गणधरैः प्ररूपितमित्यर्थः, अनेन सूत्रकृता आत्मनःस्वमनीषिका परिहृता भवति, अथवा प्राज्ञात् तीर्थंकराद् आप्तं-प्राप्तं गणधरैरिति प्राज्ञाप्तं, अथवा प्राज्ञैर्गणधरैस्तीर्थंकरादात्तं गृहीतमिति—प्राज्ञात्तं, प्रज्ञया वा भव्यजन्तुभिराप्तं प्राप्तं प्रज्ञाप्तं, नहि प्रज्ञाविकलैरिदमवाप्यते इति—प्रतीतमेव, ह्रस्वत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वादित्यवयवार्थः।"

इस कथन से वृत्तिकार ने भी सूत्रकार की गुरुभक्ति और आगम की प्राचीनता सिद्ध की है। ज्ञान के जो पाँच भेद वर्णित किए हैं, उनके अर्थ शब्द रूप में निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किए जाते हैं—

१. **आभिनिबोधिक ज्ञान**—सम्मुख आए हुए पदार्थों के प्रतिनियत स्वरूप, देश, काल, अवस्था-अनपेक्षी इन्द्रियों के आश्रित होकर स्व-स्व विषय जाननेवाले बोधरूप ज्ञान को आभिनिबोधिक कहते हैं, यह भावसाधन अर्थ हुआ। अथवा आत्मा द्वारा सम्मुख आए हुए पदार्थों के स्वरूप को प्रमाणपूर्वक जानना, उसे आभिनिबोधिक कहते हैं, यह कर्मसाधन अर्थ कहलाता है। वस्तु के स्वरूप को जानना यह कर्तृ-साधन अर्थ कहलाता है। सारांश इतना ही है—जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न हो, उसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। इसे मतिज्ञान भी कहते हैं।

२. **श्रुतज्ञान**—शब्द को सुनकर जिस अर्थ की उपलब्धि हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं, क्योंकि इस ज्ञान का कारण शब्द है। अतः उपचार से इस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। जैसे कि कहा भी है— **"श्रूयत इति श्रुतं शब्दः स चासौ कारणे कार्योपचाराज्ज्ञानं च श्रुतज्ञानं, शब्दो हि श्रोतुः साभिलापज्ञानस्य कारणं भवतीति सोऽपि श्रुतज्ञान मुच्यते।"** यह ज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, फिर भी श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता है। इन्द्रियां तो मात्र मूर्त को ही ग्रहण करती हैं, किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनों को ही ग्रहण करता है। वास्तव में देखा जाय तो मनन-चिन्तन मन ही करता है यथा **मननान्मनः** इंद्रियों के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय का मनन भी मन ही करता है और कभी वह स्वतन्त्र रूप से भी मनन करता है, कहा भी है—श्रुतमनिन्द्रियस्य[1]—अर्थात् श्रुतज्ञान मुख्यतया मन का विषय है।

३. **अवधिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हुआ केवल आत्मा के द्वारा रूपी एवं मूर्त पदार्थों का साक्षात् करने वाला ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है, अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अरूपी को नहीं। यही इसकी मर्यादा है। अथवा 'अव' शब्द अधो अर्थ का वाचक है, जो अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इससे आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल

१. तत्वार्थ सूत्र, अ० २, सू० २२

और भाव की मर्यादा को लेकर जो ज्ञान मूर्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। विषय बाहुल्य की अपेक्षा से ही ये विविध व्युत्पत्तियां की गई हैं। इस विषय में वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

"अव शब्दोऽधः शब्दार्थः, अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अवधिर्मर्यादा रूपीष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः अवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानम् ।"

४. मनःपर्यवज्ञान—समनस्क—संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मन:पर्यवज्ञान कहते हैं। जब मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है, तब चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियां धारण करता है। बस वे ही क्रियाएं मन की पर्याय हैं। मन और मानसिक आकार-प्रकार को प्रत्यक्ष करने की शक्ति अवधिज्ञान में भी है, किन्तु मन की क्रियाओं के पीछे जो भाव हैं, उन्हें मन:पर्यवज्ञान ही प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अवधिज्ञान नहीं।

किन्हीं विचारकों की यह धारणा बनी हुई है कि मन:पर्यवज्ञान मन और उसकी पर्यायों का प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, किन्तु उन पर्यायों के पीछे जो चिन्तक के भाव हैं, उन्हें अनुमान के द्वारा जानता है, प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि भाव या संकल्प-विकल्प अरूपी होते हैं। मन:पर्यव ज्ञान का विषय अरूपी नहीं है, अत: भावों को प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु अनुमान से जानता है। यह धारणा हृदयंगम नहीं होती, इसका समाधान क्या है ? इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर मन:पर्यव ज्ञान के प्रकरण में किया जाएगा। यहाँ पर सिर्फ मन:पर्यवज्ञान का संक्षिप्त वर्णन ही अपेक्षित है।

५. केवलज्ञान—केवल शब्द एक, असहाय, विशुद्ध, प्रतिपूर्ण, अनन्त और निरावरण अर्थों में अभीष्ट है। इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है—

१. जिसके उत्पन्न होने से क्षयोपशमजन्य चारों ज्ञान का विलीनीकरण होकर एक ही ज्ञान शेष रह जाए, उसे केवल ज्ञान कहते हैं।

२. जो ज्ञान किसी की सहायता के विना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को विषय करता है, अर्थात् इसके लिए मन और इन्द्रिय तथा देह एवं वैज्ञानिक यन्त्रों की आवश्यकता नहीं रहती। वह बिना किसी सहायता के रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेय को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है। अत: उसे केवल ज्ञान कहते हैं।

३. चार क्षायोपशमिक ज्ञान विशुद्ध भी हो सकते हैं, किन्तु वे विशुद्धतम नहीं हो सकते। जो ज्ञान विशुद्धतम है, उसे ही केवल ज्ञान कहते हैं।

४. क्षायोपशमिक ज्ञान किसी भी एक पदार्थ की सर्वपर्यायों को जानने की शक्ति नहीं रखते, किन्तु जो सभी पदार्थों के सर्व पर्यायों को जानने की शक्ति रखता है, अर्थात् सोलह कला प्रतिपूर्ण ज्ञान को ही केवलज्ञान कहते हैं।

५. जो ज्ञान इतना महान है कि जिससे बढ़कर अन्य कोई ज्ञान न हो, जो अनन्त-अनन्त पदार्थों

को जानने की शक्ति रखता है अथवा जो ज्ञान उदय होने पर कभी भी अस्त न हो, उसे केवल ज्ञान कहते हैं ।

६. जो ज्ञान निरावरण, नित्य और शाश्वत् हो, जिसका अन्त न होने वाला हो, वही केवलज्ञान है ।

७. क्षायोपशमिक ज्ञान राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह के अंश से खाली नहीं है । किन्तु इनसे सर्वथा रहित ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं ।

पांच प्रकार के ज्ञान में पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं, अन्तिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । मति शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु आभिनिबोधिक शब्द ज्ञान के लिए ही प्रयुक्त होता है, अज्ञान के लिए नहीं । इसी कारण सूत्रकार ने आभिनिबोधिक शब्द प्रयुक्त किया है ।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—१. अर्थ-श्रुत और २. सूत्र-श्रुत । अर्हन्तदेव केवलज्ञान के द्वारा जिन पदार्थों को जानकर प्रवचन करते हैं, उसे अर्थ-श्रुत कहते हैं । उसी प्रवचन को जब गणधर देव सूत्ररूप में गुम्फित करते हैं, तब उसे सूत्रश्रुत कहते हैं, क्योंकि सूत्र की प्रवृत्ति शासनहित के लिए ही होती है । जैसे कहा भी है—

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥"

तीर्थंकर भगवान अर्थ प्रतिपादन करते हैं और गणधर शासनहित, मानवहित तथा प्राणीहित को दृष्टिगोचर रखते हुए उस अर्थ को सूत्ररूप में गून्थते हैं । सूत्रागम में जो भाव या अर्थ हैं, वे गणधरों के नहीं, तीर्थंकर के हैं । 'द्वादशाङ्ग गणिपिटक' शब्द रूप में गणधरकृत है और अर्थ रूप में तीर्थंकरकृत । जो ज्ञान अक्षर के रूप में परिणत हो सके, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । ॥ सूत्र १ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण

मूलम्—तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—पच्चक्खं च परोक्खं च ॥सू० २॥

छाया—तत्समासतो द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रत्यक्षञ्च, परोक्षञ्च ॥सूत्र २॥

भावार्थ—पांच प्रकार का होने पर भी वह ज्ञान संक्षेप में दो प्रकार का वर्णित है, जैसे—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष ॥ सू० २ ॥

टीका—इस सूत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का वर्णन किया गया है । पांच ज्ञान संक्षेप से दो भागों में विभक्त किए गए हैं, जैसे कि प्रत्यक्ष और परोक्ष जो ज्ञान-आत्मा द्वारा सर्व अर्थों को व्याप्त करता है, उसे अक्ष कहते हैं । अक्ष नाम जीव का है, जो ज्ञान-बल जीव के प्रति साक्षात् रहा हुआ है, उसी को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं । जैसे कि कहा भी है—

"जीवं प्रति साक्षाद् वर्तते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्, इन्द्रियमनो निरपेक्षमात्मनः साक्षात्प्रवृत्तिमदवध्यादिकं त्रिप्रकारं, उक्तं च—

जीवो अक्खो अत्थव्वावणं, भोयणगुणन्निओ जेणं ।
तं पइ वट्टइ नाणं जं, पच्चक्खं तयं तिविहं ॥"

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान, ये दोनों देश (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं। केवल ज्ञान ही सर्वप्रत्यक्ष होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता अनपेक्षित है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय और मन से जो प्रत्यक्ष होता है, उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं। परोक्षज्ञान के विषय में निम्नलिखित गाथा में स्पष्ट किया है, जैसे कि—

"अक्खस्स पोग्गलमया जं, दव्विन्दिय मणापरा होंति।
तेहिंतो जं नाणं, परोक्खमिह तमणुमाण व्व॥"

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से उत्पन्न होता है, वह परोक्ष कहलाता है, क्योंकि इन्द्रियाँ और मन ये पुद्गलमय हैं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम इनसे जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष कहलाता है, वैसे ही इन्द्रियों एवं मन से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष होते हुए भी परोक्ष ही है, क्योंकि वह ज्ञान पराधीन है, स्वाधीन नहीं। जिज्ञासु निम्नलिखित प्रश्नोत्तर से यह जानने का प्रयास करें, जैसे कि—

"इन्द्रियमनोनिमित्ताधीनं कथं परोक्षम् ? उच्यते पराश्रयत्वात्, तथाहि पुद्गलमयत्वाद्द्रव्येन्द्रियमनां-स्यात्मनः पृथग्भूतानि, ततः तदाश्रयेणोपजायमानं ज्ञानमात्मनो न साक्षात्, किन्तु परम्परया, इतीन्द्रियमनो-निमित्तं ज्ञानं धूमादग्निज्ञानमिव परोक्षम्।"

जैसे धूमके देखने से अग्नि का ज्ञान होता है, वैसे ही परोक्ष ज्ञान के विषय में भी जानना चाहिए। ॥ सूत्र २ ॥

सांव्यावहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष

मूलम्—से किं तं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. इंदिय-पच्चक्खं, २. नोइंदियपच्चक्खं च ॥सूत्र ३॥

छाया—अथ किं तत्प्रत्यक्षं ? प्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. इन्द्रियप्रत्यक्षं २. नोइन्द्रियप्रत्यक्षञ्च ॥सूत्र ३॥

भावार्थ—शिष्य गुरु से पूछता है, भगवन् ! उस प्रत्यक्ष ज्ञान के कितने भेद हैं ? उत्तर में गुरुदेव बोले—वत्स ! प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद हैं, जैसे—
१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और २. नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ॥ सूत्र ३॥

टीका—इस सूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों का वर्णन किया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय आत्मा की वैभाविक सँज्ञा है। इन्द्रिय के दो भेद हैं, द्रव्येन्द्रय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय भी दो प्रकार की होती हैं, १. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और २. उपकरण द्रव्येन्द्रिय। निर्वृत्ति का अर्थ होता है—इन्द्रियाकार रचना। वह बाह्य और आभ्यन्तर

के भेद से दो प्रकार की है। बाह्य निर्वृत्ति से इन्द्रियाकार-पुद्गल रचना ली गई है और आभ्यन्तर निर्वृत्ति से इन्द्रियाकार आत्म प्रदेश लिए गए हैं। उपकरण का अर्थ होता है—उपकार का प्रयोजक साधन। बाह्य और आभ्यन्तर निर्वृत्ति की शक्ति विशेष को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। सारांश यह निकला कि इन्द्रिय की आकृति को निर्वृत्ति कहते हैं और उनमें विशेष प्रकार की पौद्गलिक शक्ति को उपकरण कहते हैं। द्रव्येन्द्रियों की बाह्य आकृति सर्व जीवों की भिन्न २ प्रकार की देखी जाती है, किन्तु आभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय सब जीवों की समान रूप से होती है, जैसे कि प्रज्ञापना सूत्र के १५वें पदमें लिखा है—"सोइंदिए णं भन्ते ! किं संठाण संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलंबुया संठाण संठिए पण्णत्ते। चक्खिन्दिए णं भन्ते ! किं संठाण संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! मसूर चन्द संठाण संठिए पण्णत्ते। घाणिन्दिए णं भन्ते ! किं संठाण संठिए पण्णते ? गोयमा ! अइमुत्तग संठाण संठिए पण्णत्ते। जिब्भिन्दिए भन्ते ! किं संठाण संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! खुरप्प संठाण संठिए पण्णत्ते। फासिन्दिएणं भन्ते ! किं संठाण संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! णाणा संठाण संठिए पण्णत्ते।"

इस पाठ का सारांश इतना ही है कि श्रोत्रेन्द्रिय का संस्थान कदम्बक पुष्प के समान, चक्षुरिन्द्रिय का संस्थान मसूर और चन्द्र के समान गोल, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक के समान, रसनेन्द्रिय का संस्थान क्षुरप्र के समान और स्पर्शनेन्द्रिय का संस्थान नाना प्रकार का वर्णित है। अतः आभ्यन्तर निर्वृत्ति सब के समान ही होती है। आभ्यन्तर निर्वृत्ति से उपकरणेन्द्रिय की शक्ति विशिष्ट होती है। किसी विशेष घातक कारण के उपस्थित हो जाने पर शक्ति का उपघात हो जाता है। तथा साधक-कारण (औषधि आदि) से शक्ति बढ़ जाती है, औषधि तथा विष का प्रभाव उपकरण इन्द्रिय तक ही हो सकता है।

भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की होती है, जैसे कि—लब्धि और उपयोग। मति-ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से होने वाले एक प्रकार के आत्मिक परिणाम को लब्धि कहते हैं। शब्द, रूप आदि विषयों का सामान्य तथा विशेष प्रकार से जो बोध होता है, उसे उपयोग इन्द्रिय कहते हैं। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की इन्द्रियों का ग्रहण होता है। दोनों में से एक के अभाव होने पर इन्द्रिय प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती।

नो-इन्दियपच्चक्खं—इस पद में नो शब्द सर्व निषेधवाची है। क्योंकि नोइन्द्रिय मन का नाम भी है। अतः जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय, मन तथा आलोक आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता, जिसका सीधा सम्बन्ध आत्मा और उसके विषय से हो, उसे नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का यही अर्थ सूत्रकार को अभीष्ट है, न तु मानसिक ज्ञान।

से—यह मगधदेशीय प्रसिद्ध निपात शब्द है, जिस का अर्थ, अथ होता है। अथ शब्द निम्न प्रकार के अर्थों में ग्रहण किया जाता है—"अथ, प्रक्रिया-प्रश्न-आनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेष्विति, इह चोपन्यासार्थो वेदितव्यः।

सूत्रकर्ता ने जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का कथन किया है, वह लौकिक व्यवहार की अपेक्षा से किया है, न तु परमार्थ की दृष्टि से। क्योंकि लोक में यह कहने की प्रथा है कि मैंने स्वयं आंखों से प्रत्यक्ष देखा है इत्यादि। इसीको सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, जैसे कि—

"यदिन्द्रियाश्रितमपरव्यवधानरहितं ज्ञानमुदयते, तल्लोके प्रत्यक्षमिति व्यवहृतम्, अपरधूमादिलिङ्ग-निरपेक्षतया साक्षादिन्द्रियमधिकृत्य प्रवर्तनात्" इस से भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है ।। सूत्र ३ ।।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के भेद

मूलम्—से किं तं इंदियपच्चक्खं ? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—१. सोइंदियपच्चक्खं, २. चक्खिंदियपच्चक्खं, ३. घाणिंदियपच्चक्खं, ४. जिब्भिंदियपच्चक्खं, ५. फासिंदियपच्चक्खं, से त्तं इंदियपच्चक्खं ।। सूत्र ४ ।।

छाया—अथ किं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ? इन्द्रियप्रत्यक्षं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं, २. चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्षं, ३. घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्षं, ४. जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्षं, ५. स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षं, तदेतद् इन्द्रियप्रत्यक्षम् ।। सूत्र ४ ।।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! वह इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान कितने प्रकार का है ? आचार्य उत्तर में बोले—हे भद्र ! इन्द्रियप्रत्यक्ष पांच प्रकार का है, यथा—

१. श्रोत्रेन्द्रिय–कान से होनेवाला ज्ञान—श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष,
२. चक्षु–आंख से होने वाला ज्ञान—चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष,
३. घ्राण–नासिका से होने वाला ज्ञान—घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष,
४. जिह्वा–रसना से होने वाला ज्ञान—जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष,
५. स्पर्शन–त्वचा से होने वाला ज्ञान—स्पर्शनेद्रियप्रत्यक्ष
यह हुआ इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन ।। सूत्र ४ ।।

टीका—इस सूत्र में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वर्णन किया गया है । शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है । शब्द दो प्रकार का होता है, ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक । दोनों से ही ज्ञान उत्पन्न होता है । इसी प्रकार रूप चक्षु का विषय है, गन्ध घ्राणेन्द्रिय का, रस रसनेन्द्रिय का और स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है ।

इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इस क्रम को छोड़कर श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि पाँच इन्द्रियों का निर्देश क्यों किया ? इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि एक कारण तो पूर्वानुपूर्वी और पश्चादनुपूर्वी दिखलाने के लिये उत्क्रम की पद्धति सूत्रकार ने अपनाई है । दूसरा कारण यह है कि जिस जीव में क्षयोपशम और पुण्य अधिक होता है, वह पंचेन्द्रिय बनता है, उससे न्यून हो तो चतुरिन्द्रिय बनता है, जब पुण्य और क्षयोपशम सर्वथा न्यून होता है, तब एकेन्द्रिय बनता है । जब पुण्य और क्षयोपशम को मुख्यता दी जाती है, तब उत्क्रम से इन्द्रियों की गणना प्रारंभ होती है । जब जाति की अपेक्षा से गणना की जाती है, तब पहले स्पर्शन, रसन इस क्रम को सूत्रकारों ने अपनाया

है। पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन, ये सब श्रुतज्ञान में निमित्त हैं। परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय श्रुतज्ञान में प्रधान कारण है। अतः सर्व प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय का नाम निर्देश किया है। स्वयं पढ़ने में चक्षुरिन्द्रिय भी सहयोगी है। अतः सूत्रकार ने—क्षयोपशम और पुण्योदय की प्रबलता को लक्ष्य में रखकर श्रोत्रेन्द्रिय से क्रम अपनाना अधिक उपयोगी समझा है।

मति और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से भावेन्द्रिय और शुभ नाम कर्मोदय से द्रव्येन्द्रियां प्राप्त होती हैं। वीर्य और योग से उन्हें व्यापृत किया जाता है।

यह हुआ इन्द्रियप्रत्यक्ष का वर्णन ॥ सूत्र ४ ॥

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

मूलम्—से किं तं नोइंदियपच्चक्खं? नोइंदियपच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा-१. ओहिनाणपच्चक्खं २. मणपज्जवनाणपच्चक्खं ३. केवलनाणपच्चक्खं ॥ सूत्र ५ ॥

छाया—अथ किं तन्नोइन्द्रियप्रत्यक्षं ? नोइन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. अवधिज्ञानप्रत्यक्षं, २. मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्षं, ३. केवलज्ञानप्रत्यक्षम् ॥ सूत्र ५ ॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—गुरुदेव ! नोइन्द्रिय--विना किसी इन्द्रिय, मनरूप बाहिर के निमित्त की सहायता के, साक्षात् आत्मा से होने वाला ज्ञान कितने प्रकार का है ? गुरुदेव ने उत्तर दिया—वह नोइन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान तीन प्रकार का है—१. अवधिज्ञानप्रत्यक्ष, २. मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्ष, ३. केवलज्ञानप्रत्यक्ष ॥ सूत्र ५ ॥

मूलम्—से किं तं ओहिनाणपच्चक्खं ? ओहिनाणपच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवपच्चइयं च खाओवसमियं च ॥ सूत्र ६ ॥

छाया—अथ किं तदवधिज्ञानप्रत्यक्षम् ? अवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-भवप्रत्ययिकञ्च, क्षायोपशमिकञ्च ॥ सूत्र ६ ॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—वह अवधिज्ञानप्रत्यक्ष कितने प्रकार का है ? गुरुदेव उत्तर में बोले—वत्स! अवधिज्ञान दो प्रकार का वर्णित है, जैसे कि—१. भवप्रत्ययिक और २. क्षायोपशमिक ॥ सूत्र ६ ॥

मूलम्—से किं तं भवपच्चइयं ? भवपच्चइयं दुण्हं, तंजहा—देवाण य, नेरइयाण य ॥ सूत्र ७ ॥

छाया—अथ किं तद् भवप्रत्ययिकं ? भवप्रत्ययिकं द्वयोः, तद्यथा—देवानाञ्च नैरयिकाणाञ्च ॥ सूत्र ७ ॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया–वह भवप्रत्ययिक–जन्म से होने वाला अवधिज्ञान किन को होता है ? उत्तर में गुरुदेव बोले—हे शिष्य ! वह भवप्रत्ययिक दो को होता है, जैसे कि—देवों को और नारकीय जीवों को ॥ सूत्र ७ ॥

मूलम्—से किं तं खाओवसमियं ? खाओवसमियं दुण्हं, तं जहा–मणुस्साण य, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण य। को हेऊ खाओवसमियं ? खाओवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं, अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुप्पज्जइ ॥ सूत्र ८ ॥

छाया—अथ किं तत् क्षायोपशमिकं ? क्षायोपशमिकं द्वयोः, तद्यथा—मनुष्याणाञ्च, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजानाञ्च। को हेतु क्षायोपमिकं ? क्षायोपशमिकं, तदावरणीयानां कर्मणामुदीर्णानां क्षयेण, अनुदीर्णानामुपशमेन–अवधिज्ञानं समुत्पद्यते ॥ सूत्र ८ ॥

पदार्थ—**से किं तं खाओवसमियं ?**—वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान किन को होता है ? **खाओवसमियं**—क्षायोपशमिक **दोण्हं**—दो को होता है, **तं जहा**—जैसे **मणुस्साण**—मनुष्यों को **य**—और **पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं य**—पञ्चेन्द्रयतिर्यञ्चों को, **खाओवसमियं**—क्षायोपशमिक में **को हेऊ ?**—क्या हेतु है ? **खाओवसमियं**—क्षायोपशमिक **उदिण्णाणं**—उदयप्राप्त **तयावरणिज्जाणं**—अवधिज्ञानावरणीय **कम्माणं**—कर्मों के—**खएणं** क्षय से **अणुदिण्णाणं**—अनुदीर्ण कर्मों के **उवसमेण**—उपशम से **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान **समुप्पज्जइ**—उत्पन्न होता है।

भावार्थ—शिष्य ने पुनः प्रश्न किया–गुरुदेव ! वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान किन को उत्पन्न होता है ? गुरुदेव उत्तर में बोले—

हे भद्र ! वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान दो को होता है, जैसे—मनुष्यों को और पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चों को।

शिष्य ने फिर पूछा—गुरुदेव ? क्षायोपशमिक अवधिज्ञान उत्पन्न होने में क्या हेतु है ? उत्तर में गुरुदेव बोले—जो कर्म अवधिज्ञान में आवरण—रुकावट उत्पन्न करने वाले हैं, उन में उदयप्राप्त को क्षय करने से और जो उदय को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन्हें उपशम करने से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। इस हेतु से क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहा जाता है ॥ सू० ८ ॥

टीका—इस सूत्र में नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद बताए हैं, जैसे कि अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के विना उत्पन्न होता है, उसे नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव होते हैं। अवधिज्ञान मुख्यतया दो प्रकार का होता है, भव-प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है, जिसके लिए संयम, तप आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती, उसे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं। जो संयम, नियम और व्रत आदि अनुष्ठान के बल से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। इस दृष्टि से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों को तथा क्षायोपशमिक मनुष्य और तिर्यञ्चों को होता है अर्थात् मूल तथा उत्तर गुणों की विशिष्ट साधना से जो अवधिज्ञान हो, उसे गुण-प्रत्यय भी कह सकते हैं।

इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि अवधिज्ञान क्षयोपशम भाव में होता है, किन्तु देव और नारक औदयिक भाव में कथन किए गए हैं, तो फिर इस अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कैसे कहा है ? इस का समाधान यह है—वास्तव में अवधिज्ञान क्षयोपशम भाव में ही होता है। सिर्फ वह क्षयोपशम देव और नारक भव में अवश्यंभावी होने से उसे भवप्रत्यय कहा है, जैसे कि पक्षियों की गगन उड़ान, जन्म सिद्ध गति है, किन्तु मनुष्य वायुयान से तथा जंघाचरण या विद्याचरण लब्धि से गगन में गति कर सकता है। अतः इस ज्ञान को भवप्रत्यय कहते हैं। इसी प्रकार चूर्णिकार भी लिखते हैं—

"नणु ओही खाओवसमिए भावे, नारगाइभवो से उदइय भावे तओ कहं भवपच्चइओ भण्णइ त्ति ? उच्यते, सोऽवि खाओवसमिओ चेव, किन्तु सो खओवसमो नारगदेवभवेसु अवस्सं भवइ, को दिट्ठंतो ? पक्खीणं आगास गमणं व, तओ भवपच्चइओ भन्नइ।" तथा वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

"तथा द्वयोःक्षायोपशमिकं, तद्यथा—मनुष्याणां च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजानां च, अत्रापि च शब्दौ प्रत्येकं स्वागतानेकभेदसूचकौ, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां चावधिज्ञानं नावश्यंभावि, ततः समानेऽपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययादिदं भिद्यते, परमार्थतः पुनः सकलमप्यवधिज्ञानं क्षायोपशमिकम्।"

इस का आशय उपर्युक्त है। हाँ देव नारकों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान अवश्यमेव होता है। परमार्थ से सभी प्रकार के अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में होते हैं।

सूत्र में 'च' शब्द पुनः पुनः आया है, उसका अर्थ है—यह स्वगत देव, नारकादि आश्रित दोनों भेदों का सूचक है। प्रत्यय शब्द शपथ, ज्ञान, हेतु, विश्वास और निश्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसेकि "प्रत्यय, शपथे, ज्ञाने, हेतु, विश्वास-निश्चये।" सूत्र में जो को हेऊ खाओवसमिअं ? यह पद दिया है। इस प्रश्न से ही यह निश्चित हो जाता है कि अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में है। अतः इसके उत्तर में सूत्रकार ने स्वयं ही वर्णन किया है। जैसे खाओवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं, अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणे समुप्पज्जइ—अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह—क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयानाम्—अवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणामुदीर्णानां क्षयेण, अनुदीर्णानाम्—उदयावलिकामप्राप्तानामुपशमेन—विपाकोदयं विष्कम्भणलक्षणेनावधिज्ञानमुत्पद्यते, तेन कारणेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते।"

अर्थात् अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षय व उपशम होने से अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है। केवल ज्ञान के अतिरिक्त चार ज्ञान क्षयोपशम भाव में होते हैं ॥ सूत्र ५-६-७-८ ॥

अवधिज्ञान के छः भेद

मूलम्—अहवा गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ, तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—

१. आणुगामियं, २. अणाणुगामियं, ३. वड्ढमाणयं,
४. हीयमाणयं, ५. पडिवाइयं, ६. अप्पडिवाइयं ॥ सूत्र ९ ॥

छाया—अथवा गुणप्रतिपन्नस्याऽनगारस्याऽवधिज्ञानं समुत्पद्यते, तत्समासतः षड्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. आनुगामिकम्, २. अनानुगामिकं, ३. वर्द्धमानकं,
४. हीय-मानकं, ५. प्रतिपातिकम्, ६. अप्रतिपातिकम् ॥ सूत्र ९ ॥

पदार्थ—अहवा—अथवा गुणपडिवन्नस्स—गुणप्रतिपन्न अणगारस्स—अनगार को ओहिनाणं—अवधिज्ञान समुप्पज्जइ—समुत्पन्न होता है, तंजहा—जैसे आणुगामियं—आनुगामिक अणाणुगामियं—अनानुगामिक, वड्ढमाणयं—वर्द्धमान, हीयमाणयं—हीयमान, पडिवाइयं—प्रतिपातिक, अप्पडिवाइयं—अप्रतिपातिक।

भावार्थ—अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्न मुनि को जो अवधिज्ञान समुत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक कहलाता है। वह संक्षेप से छः प्रकार का है, जैसे—

१. आनुगामिक—साथ चलने वाला, २. अनानुगामिक—साथ न चलने वाला।
३. वर्द्धमान—बढ़नेवाला, ४. हीयमान—क्षीण होने वाला।
५. प्रतिपातिक—गिरने वाला, ६. अप्रतिपातिक—न गिरने वाला।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में अवधिज्ञान के छह भेद प्रतिपादित किए गए हैं। मूलोत्तर गुणों से युक्त अनगार को यह अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, कारण कि अवधिज्ञान का पात्र गुणयुक्त होना चाहिए। क्षयोपशमभाव गुणों से ही हो सकता है। जब सर्वघाति रस-स्पर्द्धक प्रदेश देशघाति रस-स्पर्द्धक रूप में परिणत होते हैं, तब क्षयोपशमभाव से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। संक्षेप से अवधिज्ञान के वे छः भेद इस प्रकार हैं—

१. आनुगामिक—जैसे लोचन चलते हुए पुरुष के साथ ही रहते हैं तथा सूर्य के साथ आतप और चन्द्रमा के साथ चान्दनी साथ ही रहते हैं। वैसे ही आनुगामिक अवधिज्ञान भी इस भव में तथा परभव में साथ ही रहता है।

२. अनानुगामिक—जो साथ न चले, किन्तु जिस जगह पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी स्थान में स्थित होकर पदार्थों को देख सकता है, और चलने के समय साथ नहीं जाता, जैसे शृंखलाबद्ध प्रदीप से वहीं काम ले सकते हैं, किन्तु वह किसी के साथ नहीं जा सकता। इसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान

भी जहाँ पैदा होता है, वहां पर ही रहता है अन्यत्र नहीं जाता। निम्नलिखित गाथा में उक्त विषय को स्पष्ट किया गया है—

"अणुगामिओऽणुगच्छइ, गच्छन्तं लोयणं जहा पुरिसं।
इयरो उ नाणुगच्छइ ठियप्पईवो व्व गच्छन्तं॥"

३. वर्धमानक—अग्नि में जैसे २ विशिष्ट इन्धन डालते जाएँ, वैसे २ वह बढ़ती ही जाती है और उसका प्रकाश भी बढ़ता जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे २ अध्यवसाओं की विशुद्धि होती जाती है, वैसे २ अवधिज्ञान भी बढ़ता ही जाता है। इस लिए इसे वर्धमानक अवधिज्ञान कहते हैं।

४. हीयमानक—जैसे नया इन्धन न मिलने से अग्नि क्षण २ बुझती जाती है, वैसे ही उत्पत्ति के समय परिणामों की विशुद्धि होने से बहुत बड़ी मात्रा में अवधिज्ञान पैदा हुआ, किन्तु ज्यों २ संक्लिष्ट परिणाम बढ़ते जाते हैं, त्यों २ अवधिज्ञान भी हीन, हीनतर, हीनतम होता जाता है।

५. प्रतिपातिक—जिस प्रकार तेल के क्षय होने से दीपक प्रकाश देकर युगपत् बुझ जाता है, वैसे ही प्रतिपाति अवधिज्ञान भी बुझते हुए प्रदीपवत् युगपत् चला जाता है, जैसे कि कहा भी है—

"हीयमानप्रतिपातिनोः कः प्रतिविशेषः? इति चेद्—उच्यते, हीयमानकं पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासमुपगच्छदभिधीयते, यत्पुनः प्रदीप इव निर्मूलमेककालमपगच्छति तत्प्रतिपातिः।"

६. अप्रतिपातिक—जो अवधिज्ञान केवल ज्ञान होने से पहले नहीं जाता तथा जिसका स्वभाव पतनशील नहीं है, उसे अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं।

यहां शंका उत्पन्न होती है कि आनुगामिक और अनानुगामिक इन दो भेदों में ही शेष भेद अन्तर्भूत हो सकते हैं, तो फिर इन को पृथक्-पृथक् क्यों ग्रहण किया है? समाधान—यद्यपि उपर्युक्त दोनों भेदों में शेष चार भेद भी अन्तर्भूत हो सकते हैं, तदपि वर्धमानक और हीयमानक आदि विशेष भेद जानने के लिए इनका पृथक् न्यास किया गया है। क्योंकि ज्ञान के विशिष्ट भेदों को जानने के लिए ही ज्ञानी महापुरुष शास्त्रारंभ का प्रयास करते हैं। अतः जो भेद-प्रभेद दिए जाते हैं, उनमें मुख्योद्देश्य वस्तु स्वरूप को समझाने का ही होता है, न कि व्यर्थ ही ग्रंथ का कलेवर बढ़ाने का॥ सूत्र ९॥

आनुगामिक अवधिज्ञान

मूलम्—से किं तं आणुगामियं ओहिनाणं? आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंतगयं च मज्झगयं च।

से किं तं अंतगयं? अंतगयं तिविहं पण्णत्तं, तंजहा—
१. पुरओ अंतगयं २. मग्गओ, अंतगयं ३. पासओ अंतगयं।

से किं तं पुरओ अंतगयं? पुरओ अंतगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं
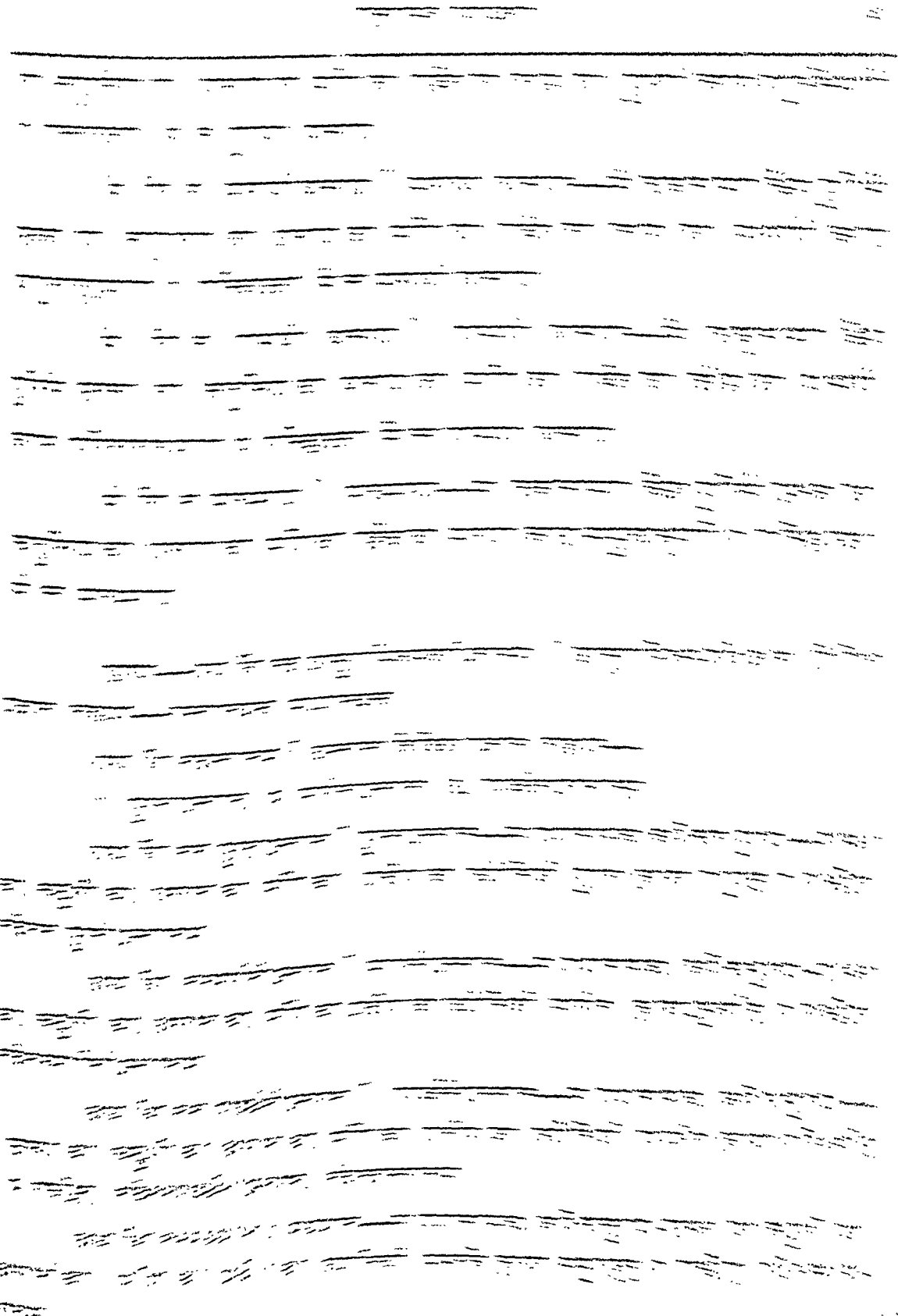
पदार्थ—से किं तं आणुगामियं ओहिनाणं ?—वह आनुगामिक अवधिज्ञान कितने प्रकार का होता है ? आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं—आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का पण्णत्तं—कहा गया है, तंजहा—जैसे—अंतगयं च—अंतगत और मज्झगयं—मध्यगत च—समुच्चयार्थ से किं तं अंतगयं ?—अथ वह अन्तगत कितने प्रकार का हैं ? अंतगयं—अन्तगत, तिविहं—तीन प्रकार का पण्णत्तं—कहा गया है, तंजहा—यथा पुरओ अंतगयं—आगे से अन्तगत, मग्गओ अंतगयं—पीछे से अन्तगत और पासओ अंतगयं—दोनों पार्श्व से अन्तगत।

से किं तं पुरओ अंतगयं ?—आगे से अन्तगत किस प्रकार है ? पुरओ अंतगयं—आगे से अन्तगत से—वह जहानामए—यथानामक केइ पुरिसे—कोई पुरुष उक्कं—उल्का वा—वा शब्द सर्वत्र विकल्पार्थ है, अथवा चडुलियं वा—तृणपूलिका अलायं वा—काठ का जलता हुआ अग्रभाग, मणिं वा—मणि, पईवं वा—प्रदीप, जोइं वा—प्याले आदि में जलती हुई अग्नि को पुरओ काउं—आगे करके पणुल्लेमाणे २—प्रेरणा करते हुए गच्छिज्जा—चले, से त्तं पुरओ अंतगयं—उसे पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान कहा जाता है।

से किं तं मग्गओ अंतगयं ?—वह मार्ग से अंतगत अवधिज्ञान किस प्रकार है ? मग्गओ अंतगयं—मार्ग से अंतगत से—वह विवक्षित जहानामए—यथानाम केइ पुरिसे—कोई पुरुष उक्कं वा—उल्का अथवा चडुलियं वा—अग्रभाग से जलती हुई तृणपूलिका, अथवा अलायं वा—अग्रभाग से जलता हुआ काठ, अथवा मणिं वा—मणि, अथवा पईवं वा—प्रदीप, अथवा जोइं वा—ज्योति को मग्गओ—मार्ग से काउं—करके अणुकड्ढेमाणे २—अनुकर्षन् करता हुआ गच्छिज्जा—जाये, से त्तं मग्गओ अंतगयं—इस प्रकार मार्ग से अन्तगत अवधिज्ञान को समझना चाहिए।

से किं तं पासओ अंतगयं ?—अथ वह दोनों पार्श्वगत अवधिज्ञान किस प्रकार से है ? पासओ अंतगयं—पार्श्वों से अन्तगत अवधिज्ञान से जहानामए—जैसे अमुक केइ पुरिसे—कोई पुरुष उक्कं वा—उल्का चडुलियं वा—अग्रभाग से जलती हुई पूलिका अलायं वा—अग्रभाग से जलता हुआ काष्ठ मणिं वा—मणि, पईवं वा—प्रदीप, जोइं वा—अथवा ज्योति को पासओ—पार्श्वों से अणुकड्ढेमाणे २—अनु-कर्षन् करता हुआ गच्छिज्जा—जाए, जैसे वह दोनों पार्श्वों में पदार्थो को देखता है, से त्तं पासओ अंतगयं—उसे पार्श्वगत-अन्तगत अवधिज्ञान कहा है, से त्तं अंतगयं—इस प्रकार अन्तगत अवधिज्ञान का वर्णन किया गया है।

से किं तं मज्झगयं ?—वह मध्यगत अवधि क्या है ? मज्झगयं—मध्यगत से जहानामए—जैसे यथानामक केइ पुरिसे—कोई व्यक्ति उक्कं वा—उल्का को, चडुलियं वा—अथवा तृण की पूलिका को अलायं वा—जलते हुए काष्ठ को, मणिं वा—मणि को पईवं वा—प्रदीप को, अथवा जोइं वा—ज्योति को मत्थए काउं—मस्तक पर रखकर समुव्वहमाणे २—वहन करता हुआ गच्छिज्जा—जावे से त्तं मज्झगयं—वह मध्यगत अवधिज्ञान है।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह आनुगामिक अवधिज्ञान कितने प्रकार का है ? गुरु ने उत्तर में कहा—हे भद्र ! आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है, जैसे—अन्तगत और मध्यगत।

शिष्य ने फिर पूछा—वह अन्तगत अवधिज्ञान कौन-सा है ?

गुरु ने उत्तर दिया—अन्तगत अवधि तीन प्रकार का है, जैसे—आगे से अन्तगत १, पीछे से अन्तगत २, और दोनों पार्श्वों से अन्तगत ३ ।

शिष्य ने फिर प्रश्न किया—गुरुवर ! वह आगे से अन्तगत अवधि किस प्रकार का है ? उत्तर देते हुए गुरुदेव बोले—जैसे कोई व्यक्ति उल्का अर्थात् दीपिका अथवा घास-फूस की पूलिका जो आगे से जल रही हो अथवा जलते हुए काष्ठ, मणि, प्रदीप, अथवा किसी भाजन विशेष में जलती हुई अग्नि को हाथ या दण्ड आदि से आगे करके अनुक्रम से यथा-गति चलता है और उक्त प्रकाशित वस्तुओं के द्वारा मार्ग में रहे हुए पदार्थों को देखता जाता है । इसी प्रकार पुरतो अन्तगत अवधिज्ञान भी आगे के प्रदेश में प्रकाश करता हुआ साथ-साथ चलता है । उसे पुरतः अन्तगत अवधि कहते हैं ।

मार्ग से अन्तगत अवधि किस प्रकार होता है ? शिष्य ने पूछा । गुरु बोले—जैसे यथानामक कोई व्यक्ति उल्का—जलती हुई तृणपूलिका, अग्रभाग गे जलते हुए काठ को, मणि को, प्रदीप अथवा ज्योति को हाथ या किसी अन्य दण्ड द्वारा पीछे करके, उक्त पदार्थों से प्रकाश करके देखता हुआ चलता है । वैसे ही जो आत्मा पीछे के प्रदेश को अवधिज्ञान से प्रकाशित करता है, उसका वह पृष्ठगामी अवधि मार्ग से अन्तगत अवधिज्ञान कहा जाता है ।

वह पार्श्व से अन्तगत अवधि क्या है ? इस पर गुरुदेव ने उत्तर दिया—पार्श्वतो अन्तगत अवधि, जिस प्रकार कोई पुरुष-दीपिका, चटुली, अग्रभाग से जलते हुए काठ को, मणि अथवा प्रदीप या अग्नि को दोनों पार्श्वों—बाजुओं से परिकर्षण करता हुआ दोनों ओर के क्षेत्र को प्रकाशित करता हुआ चलता है । ऐसे ही जिस आत्मा का अवधिज्ञान पार्श्व के पदार्थों का ज्ञान कराता हुआ साथ-साथ चलता है, उसे पार्श्वतो अन्तगत अवधि-ज्ञान कहा जाता है । इस तरह यह अन्तगत अवधिज्ञान का वर्णन है ।

शिष्यने फिर पूछा—वह मध्यगत अवधिज्ञान किस प्रकार है ? गुरुजी ने उत्तर दिया—वत्स ! मध्यगत अवधि, जैसे यथानामक कोई पुरुष-उल्का अथवा तृणों की पूलिका, अथवा अग्र भागों में जलते हुए काठ को, मणि को या प्रदीप को या शरावादि में रखी हुई अग्नि को मस्तक पर रख लेकर चलता है । जैसे वह पुरुष सर्व दिशाओं में रहे हुए पदार्थों को उपरोक्त प्रकाश के द्वारा देखता हुआ चलता है, ठीक इसी प्रकार चारों ओर के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए जो ज्ञान ज्ञाता के साथ-साथ चलता है । उस ज्ञान को मध्यगत अव-धिज्ञान कहा जाता है ।

टीका—इस सूत्र में आनुगामिक अवधिज्ञान और उसके भेदों का वर्णन किया गया है । जिस स्थान या जिस भव में किसी आत्मा को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, यदि वह स्थानान्तर या दूसरे भव

गतेनाऽवधिज्ञानेन मार्गतश्चैव संख्येयानि वा, असंख्येयानि वा योजनानि जानाति पश्यति। पार्श्वतोऽन्तगतेनाऽवधिज्ञानेन पार्श्वतश्चैव संख्येयानि वा, असंख्येयानि वा योजनानि जानाति पश्यति। मध्यगतेनाऽवधिज्ञानेन सर्वतः समन्तात् संख्येयानि वा, असंख्येयानि वा योजनानि जानाति पश्यति। तदेतदानुगामिकमवधिज्ञानम् ॥सूत्र १०॥

पदार्थ—**अंतगयस्स**—अन्तगत का **य**—और **मज्झगयस्स**—मध्यगत का **को**—क्या **पइविसेसो**—प्रति-विशेष है? **पुरओ अंतगएणं**—पुरतोऽन्तगत **ओहिनाणेणं**—अवधिज्ञान से **पुरओ चेव**—आगे से च—पुनः और **एवं**—अवधारणार्थ में है **संखिज्जाणि वा**—संख्यात अथवा **असंखिज्जाणि वा**—असंख्यात **जोयणाइं**—योजन में अवगाढ द्रव्य को **जाणइ**—विशिष्ट ज्ञानात्मा से जानता है, **पासइ**—सामान्यग्राही आत्मा से देखता है। **मग्गओ अंतगएणं**- पीछे अन्तगत **ओहिनाणेणं**—अवधिज्ञान से **मग्गओ चेव**—पीछे से ही **संखिज्जाणि वा**—संख्यात वा, **असंखिज्जाणि वा**—असंख्यात **जोयणाइं**—योजनों में स्थित द्रव्य को **जाणइ**—विशेष रूप से जानता है, **पासइ**—सामान्यरूप से देखता है, **मज्झगएणं**—मध्यगत **ओहिनाणेणं** अवधिज्ञान से **सव्वओ**—सर्वदिशा-विदिशा में **समंता**—सर्व आत्म प्रदेशों से वा—सर्वविशुद्ध स्पर्द्धकों से **संखिज्जाणि वा**—संख्यात वा **असंखिज्जाणि वा**—असंख्यात **जोयणाइं**—योजनों में स्थित द्रव्यों को **जाणइ**—विशेष रूप से जानता है, **पासइ**—सामान्यरूप से देखता है। **से त्तं आणुगामियं**—यह आनुगामिक **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान है।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान में क्या प्रति-विशेष है?

गुरुने उत्तर दिया—पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान से ज्ञाता आगे से संख्यात या असंख्यात योजनों में अवगाढ़ द्रव्यों को विशिष्ट ज्ञानात्मा से जानता है और सामान्य ग्राहक आत्मा से देखता है। मार्ग से—पीछे से अन्तगत अवधिज्ञान द्वारा पीछे ही संख्यात वा असंख्यात योजनों में स्थित द्रव्यों को विशेष रूप से जानता है और सामान्यरूप से देखता है। पार्श्व से अन्तगत अवधिज्ञान से पार्श्वगत स्थित द्रव्य को संख्यात व असंख्यात योजनों में विशेषरूप से जानता और सामान्यरूप से देखता है। मध्यगत अवधिज्ञान से सर्वदिशाओं और विदिशाओं में सर्वप्रदेशों द्वारा सर्वविशुद्ध स्पर्द्धकों से संख्यात व असंख्यात योजनों में स्थित द्रव्य को विशेषरूप से जानता है और सामान्यरूप से देखता है। इस प्रकार आनु-गामिक अवधिज्ञान का वर्णन है।

टीका—अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान में परस्पर क्या अन्तर है? इस विषय का प्रस्तुत सूत्र में सविस्तर वर्णन किया गया है। उपर्युक्त सूत्र में अन्तगत अवधिज्ञान के तीन भेद बतलाए गए हैं, जैसे कि—पुरतः मार्गतः, (पृष्ठतः) और पार्श्वतः। अन्तगत अवधिज्ञान चार दिशाओं में से किसी एक दिशा की ओर क्षेत्र को प्रकाशित करता है। जिस आत्मा को, अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह उसी दिशा की ओर संख्यात व असंख्यात योजन में स्थित रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है, किन्तु मध्यगत अवधिज्ञान से आत्मा सर्व दिशाओं और विदिशाओं में संख्यात व असंख्यात योजन पर्यन्त स्थित रूपी पदार्थों को विशेष

रूप से जानता है और सामान्यरूप से देखता है। बस, यही दोनों में अन्तर है। इस सूत्र में 'सव्वओ समंता' ये दोनों पद विशेष मननीय हैं। सव्वओ का अर्थ है—सर्व दिशाओं और विदिशाओं में और समंता का अर्थ है—सर्व आत्म प्रदेशों से अथवा विशुद्ध स्पर्द्धकों से संख्यात वा असंख्यात योजनों पर्यन्त मध्यगत अवधिज्ञानी स्पष्टरूप से क्षेत्र को जानता व देखता है। इस पर चूर्णिकार लिखते हैं—

"सव्वओत्ति सव्वासु दिसिविदिसासु, समंता इति सव्वायप्पएसेसु सव्वेसु वा विसुद्धफड्डगेसु।" यहाँ तृतीय अर्थ में सप्तमी का प्रयोग है 'समंता' का दूसरा अर्थ वृत्तिकार ने किया है—"स-मन्ता' इत्यत्र स इत्यवधिज्ञानी परामृश्यते, मन्ता इति ज्ञाता, शेषं तथैव।" वह अवधिज्ञानी सब ओर जाननेवाला ज्ञाता। शेष सब अर्थ उपरोक्त प्रकार से समझ लेना चाहिए। मध्यगत अवधिज्ञान देव, नारक और तीर्थंकर, इन तीनों को तो नियमेन होता है। तिर्यंचों को सिर्फ अन्तगत हो सकता है, किन्तु मनुष्यों को अन्तगत और मध्यगत दोनों प्रकार का आनुगामिक अवधिज्ञान हो सकता है। प्रज्ञापना सूत्र के ३३वें पद में मध्यगत अवधिज्ञानी देव और नारकों का विवेचन निम्न प्रकार से किया गया है, जैसे—"नारकी, भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक को देशतः अवधिज्ञान नहीं होता, अपितु सर्वतः होता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों को देशतः अवधिज्ञान होता है, मनुष्यों को देशतः और सर्वतः दोनों प्रकार से हो सकता है।

सूत्रकार ने 'संख्यात' व असंख्यात योजनों का जो परिमाण दिया है, इसका यह कारण है, कि अवधि-ज्ञानके अनेक भेद हैं, जिनका वर्णन यथास्थान किया जाएगा, किन्तु रत्नप्रभा के नारकों को जघन्य साढ़े तीन कोस और उत्कृष्ट चार कोस। शर्कर प्रभा में नरकों को जघन्य तीन और उत्कृष्ट साढ़े तीन कोस, वालुकाप्रभा में जघन्य अढ़ाई कोस, उत्कृष्ट तीन कोस, पंकप्रभा में जघन्य दो कोस और उत्कृष्ट ढाई कोस, धूमप्रभा में जघन्य डेढ़ कोस और उत्कृष्ट दो कोस, तमप्रभा में जघन्य एक कोस और उत्कृष्ट डेढ़ कोस तथा सातवीं तमतमा पृथ्वी के नारकियों को जघन्य आधा कोस और उत्कृष्ट एक कोस प्रमाण अवधिज्ञान होता है।

असुर कुमारों का जघन्य २५ कोस ओर उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्रों को जाननेवाला अवधिज्ञान होता है, किन्तु नाग कुमारों से लेकर स्तनित कुमारों पर्यन्त और वाणव्यन्तर देवों को जघन्य २५ योजन तथा उत्कृष्ट संख्यात द्वीप-समुद्रों को विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है। ज्योतिषी देवों का जघन्य तथा उत्कृष्ट संख्यात योजन तक विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है।

सौधर्मकल्प में रहने वाले देवों का अवधिज्ञान जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र को, उत्कृष्ट रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे के चरमान्त को विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है। वे तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप-समुद्रों को और ऊंची दिशा में अपने कल्प के विमानों की ध्वजा तक अवधिज्ञान के द्वारा जानते व देखते हैं।

शंका—जब कि सर्वतो जघन्य अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र को ही विषय करता है और इसी प्रकार का अवधिज्ञान मनुष्यों तथा तिर्यंचों को ही हो सकता है, देव और नारकियों को नहीं तब वैमानिक देवों को सर्वतो जघन्य अवधिज्ञान का होना किस अपेक्षा से कहा गया है?

इसका समाधान यह है, कि वैमानिक देवों को उपपात काल में जघन्य अवधिज्ञान सम्भव है।

उपपात के अनन्तर वह अवधिज्ञान उतना ही हो जाता है, जितना होना चाहिए अर्थात् जब जन्म स्थान में पहुँचे हुए पहिला ही समय होता है, तब उन्हें अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को विषय करने वाला अवधि होता है। कल्पना कीजिए किसी मनुष्य या तिर्यञ्च को जघन्य अवधिज्ञान पैदा हुआ, तत्पश्चात् वह मृत्यु को प्रप्त कर वैमानिक देव बना, तो उसे अपर्याप्त अवस्था में वही ज्ञान होता है जो वह मृत्यु के समय साथ ले गया था। पर्याप्त होने पर भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान ही होता है। अतः इससे सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी प्रतिपादन करते हैं, यथा—

"वेमाणियाणमंगुलभागमसंखं, जहण्णओ होइ (ओही)।
उववाए परभविओ, तब्भवजो होइ तओ पच्छा॥"

इसी प्रकार सनत्कुमार आदि देवों के विषय में जान लेना चाहिए। इसके अनन्तर अधोभाग में देखने की जो विशेषता है, उसका विवर्ण निम्न प्रकार है—

सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक के देव नीचे शर्करप्रभा पृथ्वी के चरमान्त को, ब्रह्म और लान्तक के देव वालुकाप्रभा पृथ्वी के चरमान्त को, महाशुक्र और सहस्रार के देव चौथी पृथ्वी के चरमान्त को, आणत-प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों के देव पाँचवीं के नीचे चरमान्त को, तेरहवें देवलोक से लेकर अठारहवें देवलोक के देव छठी पृथ्वी के चरमान्त को और उपरितन ग्रैवेयक के देव सातवीं पृथ्वी को, तथा अनुत्तरोपपातिक देव सम्पूर्ण लोक को अवधिज्ञान के द्वारा जानते व देखते हैं।

अवधिज्ञान का संस्थान भी अनेक प्रकार का है। भवनपति और वाणव्यन्तर देवों का अवधिज्ञान ऊंची दिशा की ओर अधिक होता है और वैमानिकों का नीचे की ओर अधिक होता है। ज्योतिषी और नारकियों का अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। मनुष्यों का अवधिज्ञान भी विचित्र प्रकार होता है। इस प्रकार यह आनुगामिक अवधिज्ञान और उसके विषय का विवेचन है॥ सूत्र१०॥

अनानुगामिक अवधिज्ञान

मूलम्—से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं? अणाणुगामियं ओहिनाणं,—से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहिं परिपेरंतेहिं, परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे, तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अन्नत्थगए न जाणइ न पासइ, एवामेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ, तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा, संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अन्नत्थगए ण पासइ, से त्तं अणाणुगामियं ओहिनाणं॥ सूत्र ११॥

छाया—अथ किं तदनानुगामिकमवधिज्ञानम्? अनानुगामिकमवधिज्ञानं—स यथानामकः कश्चित्पुरुष एकं महत्—ज्योतिःस्थानं कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थानस्य परिपर्यन्तेषु २,

परिघूर्णन् २ तदेव ज्योतिःस्थानं पश्यति, अन्यत्र गतान् न जानाति न पश्यति, एवमेवाऽनानुगामिकमवधिज्ञानं यत्रैव समुत्पद्यते तत्रैव संख्येयानि वा असंख्येयानि वा, सम्बद्धानि वासम्बद्धानि वा, योजनानि जानाति पश्यति, अन्यत्र गतान्न पश्यति, तदेतदनानुगामिकमवधिज्ञानम् ।।सूत्र ११।।

पदार्थ—**से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ?**—अथ वह अनानुगामिक अवधिज्ञान क्या है ? **अणाणुगामियं**—अनानुगामिक **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान **से जहानामए**—जैसे—यथानामक **केइ पुरिसे**—कोई पुरुष **एगं**—एक **महंतं**—महान्—बड़ा **जोइट्ठाणं**—ज्योतिःस्थान **काउं**—करके तथा **तस्सेव**—उसी **जोइट्ठाणस्स**—ज्योतिःस्थान के **परिपेरंतेहिं २**—सर्व दिशाओं के पर्यन्त में **परिघोलेमाणे**—सर्व प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ **तमेव**—उसी ज्योतिःस्थान से प्रकाशित क्षेत्र को **पासइ**—देखता है, **अन्नत्थगए**—अन्यत्रगत **न**—नहीं **जाणइ**—जानता—न ही **पासइ**—देखता, **एवामेव**—इसी प्रकार **अणाणुगामियं**—अनानुगामिक **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान **जत्थेव**—जहां **समुप्पज्जइ**—समुत्पन्न होता है, **तत्थेव**—वहाँ पर ही **संखेज्जाणि वा**—संख्यात वा **असंखेज्जाणि वा**—असंख्यात **संबद्धाणि वा**—स्वावगाढ़ क्षेत्र से सम्बन्धित अथवा **असंबद्धाणि वा**—असंबन्धित **जोयणाइं**—योजनों पर्यन्त अवगाहित द्रव्यों को **जाणइ**—जानता है, **पासइ**—देखता है, **अन्नत्थगए**—अन्यत्रगत **न पासइ**—नहीं देखता है **से त्तं**—यह **अणाणुगामियं**—अनानुगामिक **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान है ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह अनानुगामिक अवधिज्ञान किस प्रकार है ?

गुरुजी उत्तर में बोले—भद्र ! अनानुगामिक अवधिज्ञान, जैसे—यथा नामवाला कोई व्यक्ति एक बहुत बड़ा अग्नि का स्थान बनाकर उसमें अग्नि को दीप्त करके, उस आग के चारों ओर सब दिशाओं में सर्व प्रकार से घूमता हुआ, उस ज्योति से प्रकाशित क्षेत्र को ही देखता है, अन्यत्र न जानता है, न देखता है । इसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर स्थित संख्यात वा असंख्यात योजन स्वावगाढ़ क्षेत्र से सम्बन्धित अथवा असम्बन्धित योजनों पर्यंत अवगाहित द्रव्यों को जानता व देखता है, अन्यत्रगत नहीं देखता है । इसी को अनानुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं ।। सूत्र ११ ।।

टीका—प्रस्तुत सूत्रमें अनानुगामिक अवधिज्ञान का उल्लेख किया गया है । जैसे कोई व्यक्ति एक बहुत बड़े ज्योतिःस्थान के आस-पास बैठकर या उसके चारों ओर घूमता हुआ, जहां तक ज्योति का प्रकाश पड़ता है. वहां तक वह उस प्रकाश से प्रकाशित पदार्थों को भली-भांति जानता है और देखता है । यदि वह पुरुष ज्योतिःस्थान से उठ कर किसी अन्य स्थान पर चला जाए, तो वह ज्योति उसके साथ नहीं जाती । इसी कारण वह अन्यत्र गया हुआ पुरुष अन्धकार में पड़े पदार्थों को नहीं देख सकता । ठीक इसी प्रकार जिस आत्मा को अनानुगामिक अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह जिस क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ है, या जिस स्थान विशेष में उत्पन्न हुआ है, या जिस भव में उत्पन्न हुआ है, वह उस अनानुगामिक अवधिज्ञान के द्वारा उस क्षेत्र में रहते हुए अथवा उस स्थान में, या उस भव में रहते हुए संख्यात या असंख्यात योजनों तक रहे पदार्थों को जान व देख सकता है, अन्यत्र चले जाने पर जान और देख नहीं सकता ।

सूत्रकार ने सूत्र में 'सम्बद्ध' और 'असम्बद्ध' शब्दों का जो प्रयोग किया है। इसका भाव यह है कि जब स्वावगाढ़ क्षेत्र से निरन्तर जितने पदार्थों को जानता है, वे सम्बद्ध हैं और बीच में अन्तर रखकर आगे रहे हुए जो पदार्थ हैं, वे असम्बद्ध हैं। उन पदार्थों को भी वह अवधिज्ञान के द्वारा जानता है। इस विषय को व्यावहारिक विधि से समझने में सुविधा रहेगी–जैसे एक व्यक्ति प्रकाश स्तम्भ के पास खड़ा है, वह उस प्रकाश से सम भूमि में तो निरन्तर देख सकता है। यदि कुछ दूरी पर निम्न स्थल आजाए और तदनन्तर उन्नत प्रदेश आजाए, तब देखने वाले ने असंम्बद्ध रूपसे देखा, क्योंकि बीच में गर्त्त, नदी, खाई वा निम्न प्रदेश आगए। उस प्रकाश स्तम्भ का प्रकाश चारों ओर समतल भूमि और ऊंची भूमि पर तो पड़ता है, किन्तु निम्न तथा प्रतिबन्धक स्थानों पर अन्धकार ही होता है, जिससे सम्यक्तया पदार्थों को नहीं जान व देख सकता। यही आशय सम्बद्ध और असम्बद्ध शब्दों का व्यक्त किया गया है। जैसे कि कहा भी है—

"अवधिर्हि कोऽपि जायमानः स्वावगाढदेशादारभ्य निरन्तरं प्रकाशयति, कोऽपि पुनरपान्तरालेऽन्तरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, तत उच्यते—सम्बद्धान्यसम्बद्धानि वेति।"

यह पहिले लिखा जा चुका है कि अवधिज्ञान गुण प्रतिपन्न अनगार व अन्य आत्मा को भी हो सकता है, किन्तु शीलादि गुण होने पर भी स्वाध्याय, ध्यान का होना अनिवार्य है। कारण कि जो आत्मा ध्यानस्थ तथा समाधियुक्त होता है, वह जितना क्षयोपशम करता है, उतना ही अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है। अतः साधक को शील आदि गुण अवश्य ग्रहण करने चाहिएं ॥सूत्र ११॥

वर्द्धमान अवधिज्ञान

मूलम्—से किं तं वड्ढमाणयं ओहिनाणं? वड्ढमाणयं ओहिनाणं, पसत्थेसु अज्झवसायट्ठाणेसु वट्टमाणस्स वड्ढमाणचरित्तस्स, विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही वड्ढइ।

छाया—अथ किं तद् वर्द्धमानकमवधिज्ञानं? वर्द्धमानकमवधिज्ञानं-प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य वर्द्धमानचारित्रस्य, विशुद्धमानस्य विशुद्धमानचारित्रस्य सर्वतः समन्तादवधिर्वर्धते।

पदार्थ—से किं तं वड्ढमाणयं ओहिनाणं?—उस वर्द्धमान अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है? वड्ढमाणयं—वर्द्धमान ओहिनाणं—अवधिज्ञान पसत्थेसु—प्रशस्त अज्झवसायट्ठाणेसु—अध्यवसाय स्थानों में वट्टमाणस्स—वर्तते हुए के वड्ढमाणचरित्तस्स वृद्धिपाते हुए चारित्र के विसुज्झमाणस्स—विशुद्धयमान चारित्र के अर्थात् आवरणक-मलकलङ्क से रहित विसुज्झमाणचरित्तस्स—चारित्र के विशुद्धयमान होने पर उस व्यक्ति का सव्वओ—सब दिशा और विदिशाओं में समंता—सर्व प्रकार से ओही—अवधिज्ञान वड्ढइ—वृद्धि पाता है।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—गुरुदेव! वर्द्धमानक अवधिज्ञान किस प्रकार का है?

गुरुदेव बोले—वत्स ! वर्द्धमानक अवधिज्ञान–अध्यवसायों–विचारों के प्रशस्त होने पर तथा उनके विशुद्ध होने पर और पर्यायों की अपेक्षा चारित्र की वृद्धि होने पर तथा चारित्र के विशुद्धयमान होने अर्थात् आवरणक—मल-कलङ्क से रहित होने पर आत्मा का जो ज्ञान चारों ओर दिशा और विदिशाओं में बढ़ रहा है, वही वर्द्धमानक अवधिज्ञान है ।

टीका—इस सूत्र में वर्द्धमानक अवधिज्ञान का उल्लेख किया गया है । साधकों के परिणामों में उतार-चढ़ाव होता ही रहता है । जिस अवधिज्ञानी के आत्म-परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर हो रहे हैं, उसका अवधिज्ञान भी प्रतिक्षण उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, कारण की विशुद्धि के साथ-साथ कार्य की विशुद्धि का होना भी अनिवार्य है । वर्द्धमानक अवधिज्ञान चतुर्थ, पाँचवें तथा छठे गुणस्थान के स्वामी को भी हो सकता है । क्योंकि परिणामों की तथा चारित्र की विशुद्धि का होना इसमें अनिवार्य है ।

जैनधर्म बाह्य क्रिया-काण्ड को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना कि परिणामों की विशुद्धि पर बल देता है । जहाँ भावों की विशुद्धि है, वहाँ बाह्य क्रिया भी उचित रीति से हो सकती है । जहाँ निश्चय शुद्ध है, वहाँ व्यवहार भी शुद्ध होता है, किन्तु निश्चय के बिना व्यवहार भी केवल ढोंग मात्र है । यदि परिणामों में विशुद्धि नहीं है, तो बाह्य क्रिया-काण्ड चाहे कितना भी क्यों न किया जाए, वह ज्ञानियों की दृष्टि में अवस्तु है । अध्यवसायों में ज्यों-ज्यों विशुद्धि बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आवरण का क्षयोपशम भी बढ़ता ही जाता है और तदनुरूप अवधिज्ञान भी चन्द्रकला की तरह प्रतिक्षण विकसित ही होता जाता है ।

अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र

मूलम्—१. जावइआ तिसमया-हारगस्स, सुहुमस्स पणगजीवस्स ।
ओगाहणा जहन्ना, ओही खित्तं जहन्नं तु ॥ ५५ ॥

छाया—१. यावती त्रिसमया-ऽऽहारकस्य, सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य ।
अवगाहना जघन्या, अवधिक्षेत्रं जघन्यं तु ॥ ५५ ॥

पदार्थ—ति—तीन समयाहारगस्स—समय वाले आहारक सुहुमस्स—सूक्ष्म [illegible]—सूक्ष्म कर्मोदयवर्ती वनस्पति विशेष निगोदीय जीवकी जावइआ—जितनी जहन्ना—[illegible]—अवगहना होती है, एतावत्—प्रमाण ओही—अवधिज्ञान का जहन्नं तु—जघन्य [illegible] है । [illegible] एवकार अर्थ में है ।

भावार्थ—तीन समय के आहारक सूक्ष्म–निगोदीय जीव [illegible] कम अवगाहना—शरीर की लम्बाई होती है, उतने परिमाण [illegible] ज्ञान का क्षेत्र है ।

गहना वाला एक महाकाय मत्स्य है, उसने अपने जीवन में सूक्ष्मपनक शरीर के योग्य गति, जाति और आयु आदि कर्मों का बन्ध कर लिया। जब मृत्यु होने में दो समय शेष रह गए तब वह मत्स्य पहिले समय में सकल निज शरीर सम्बन्धित आत्म प्रदेशों को संकुचित करके अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण आत्मप्रदेशों की प्रतर बनाता है, और दूसरे समय आत्प्रदेशों को और भी संकुचित कर सुची परिमाण बना लेता है। मत्स्य भव की आयु परिपूर्ण होने पर वह जीव-आत्मा आत्मप्रदेशों को विशेष प्रयत्न से संकोच कर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र सूक्ष्मपनक रूप में परित्यक्त शरीर के बाहर किसी एक भाग में जा कर उत्पन्न हो जाता है। उस भव के पहिले समय में वह सर्वबन्ध करता है। दूसरे और तीसरे समय में देशबन्ध करने से उस सूक्ष्मपनक जीव की यावन्मात्र अवगहना होती है, वह अवधिज्ञान का जघन्य विषय है। इयन्मात्र पुद्गल स्कन्ध का प्रत्यक्ष अवधिज्ञानी कर सकता है।

मत्स्य का जो उदाहरण दिया गया है, उसके विषय में निम्नलिखित श्लोक मननीय हैं—

योजनसहस्रमानो मत्स्यो, मृत्वा स्वकायदेशे यः।
उत्पद्यते हि पनकः, सूक्ष्मत्वेनेह स ग्राह्यः ॥१॥
संहृत्य चाद्यसमये, स ह्यायामं करोति च प्रतरम्।
संख्यातीताख्याङ्गुल- विभाग-बाहल्यमानं तु ॥२॥
स्वकतनुपृथुत्वमात्रं, दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात्।
तमपि द्वितीयसमये, संहृत्य करोत्यसौ सुचिम् ॥३॥
संख्यातीताङ्गुलविभाग- विष्कम्भमाननिर्दिष्टाम्।
निजतणुपृथुत्वदीर्घां, तृतीय समये तु संहृत्य ॥४॥
उत्पद्यते च पनकः, स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिमाणः।
समयत्रयेण तस्यावगाहना यावती भवति ॥५॥
तावज्जघन्यमवधेरालंबनवस्तुभाजनं क्षेत्रम्।
इदमित्थमेव मुनिगण-सुसंप्रदायात्समवसेयम् ॥६॥

इन श्लोकों का भाव ऊपर लिखा जा चुका है। सूक्ष्म पनक जीव अन्य जीवों की अपेक्षा से सूक्ष्मतम अवगहना वाला होता है। अतः सूक्ष्म जीवों का शरीर ग्रहण किया गया है। यह जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र तत्त्वदर्शियों ने प्रतिपादन किया है।

अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र

मूलम्—२. सव्व-बहु-अगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु।
खित्तं सव्वदिसागं, परमोही खित्त निद्दिट्ठो ॥५६॥

छाया—२. सर्वबह्वग्निजीवाः, निरन्तरं (यावद्) भृतवन्तः।
क्षेत्रं सर्वदिक्कं, परमावधिः क्षेत्रनिर्दिष्टः ॥५६॥

पदार्थ—सव्व—सब बहु—अधिक अगणि जीवा—अग्नि के जीवों ने सव्व-दिसागं— सर्व दिशाओं में निरंतरं— अनुक्रम से जत्तियं—जितना खित्तं—क्षेत्र भरिज्जंसु भरा है, इतना खित्तं—क्षेत्र परमोही—परम अवधिज्ञान का निद्दिट्ठो—निर्दिष्ट किया है ।

भावार्थ—सब सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अग्नि के सर्वाधिक जीवों ने सब दिशाओं में अन्तररहित आकाश के जितने प्रदेशों को भरा है, उतना परमावधिज्ञान का क्षेत्र तीर्थंकर व गणधरों ने प्रतिपादन किया है ।

टीका—इस गाथा में सूत्रकार ने अवधिज्ञान का उत्कृष्ट विषय निर्दिष्ट किया है । पाँच स्थावरों में सबसे स्वल्प तेजस्कायिक जीव हैं, क्योंकि अग्नि के जीव समय क्षेत्र में ही पाए जाते हैं । सूक्ष्म सब लोक में और बादर ढाई द्वीप में । तेजस्काय के जीव भी अन्य स्थावरों की भान्ति चार प्रकार के होते हैं, १. सूक्ष्म—पर्याप्त और अपर्याप्त, २. बादर—पर्याप्त और अपर्याप्त । इन चारों में असंख्यातासंख्यात जीव प्रत्येक भेद में पाए जाते हैं । उन जीवों की उत्कृष्ट संख्या अजितनाथ भगवान के तीर्थ में हुई थी । इसलिए सूत्रकार ने गाथा में भूतकाल की क्रिया का ग्रहण किया है । कल्पना कीजिए, यदि उन जीवों में से प्रत्येक जीव को आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रखा जाए, और इस प्रकार रखते-रखते लोक जैसे असंख्यात खण्ड अलोक से लिए जाएं, इस तरह उन जीवों के द्वारा जितना क्षेत्र भर जाए, उतना क्षेत्र परम-अवधिज्ञान का विषय है । ऐसा तीर्थंकर और गणधरों ने प्रतिपादन किया है ।

अवधिज्ञान का मध्यम क्षेत्र

मूलम्—३. अंगुलमावलियाणं, भागमसंखिज्जं दोसु संखिज्जा ।
अंगुलमावलिअंतो, आवलिया अंगुल-पुहुत्तं ॥५७॥

छाया—३. अङ्गुलमावलिकयोः, भागमसंख्येयं द्वयोः संख्येयम् ।
अङ्गुलमावलिकान्तः, आवलिकामङ्गुल-पृथक्त्वम् ॥५७॥

पदार्थ—अंगुलमावलियाणं—क्षेत्र से अङ्गुल के असंखिज—असंख्यातवें भागं—भाग को देखे तो काल से भी आवलिका का असंख्यातवां भाग देखे दोसु—दोनों में अर्थात् यदि क्षेत्र से अंगुल का संखिज्जा—संख्यातवां भाग देखे तो काल से भी अंगुल का संख्यातवां भाग देखे । अंगुल—यदि अंगुल प्रमाण देखे तो काल से आवलिअंतो—आवलिकाके अन्दर-अन्दर देखे । यदि काल से आवलिया—आवलिका को देखे तो क्षेत्र से पुहुत्तं—पृथक्त्व अंगुल—अंगुल को देखे ।

भावार्थ—क्षेत्र और काल के आश्रित—अवधिज्ञानी यदि क्षेत्र से अङ्गुल-(उत्सेध या प्रमाणांगुल) के असंख्यातवें भाग को देखता है तो काल से भी आवलिका का असंख्यातवां भाग देखे । दोनों में ही अर्थात् यदि क्षेत्र से अंगुल के संख्यातवें भाग को देखता है तो

काल से भी आवलिका का संख्यातवां भाग जानता है। यदि अंगुल प्रमाण देखे तो काल से आवलिका से कुछ कम देखे और यदि सम्पूर्ण आवलिका प्रमाण देखे तो क्षेत्र से अंगुल-पृथक्त्व अर्थात् २ से लेकर ९ अङ्गुल पर्यन्त देखे।

मूलम्—४. हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउअम्मि बोद्धव्वो।
जोयण दिवसपुहुत्तं, पक्खंतो पन्नवीसाओ ॥५८॥

छाया—४. हस्ते मुहूर्तान्तो, दिवसान्तो गव्यूते-र्बोद्धव्यः।
योजनदिवसपृथक्त्वं, पक्षान्तः पञ्चविंशतिः ॥५८॥

पदार्थ—यदि **हत्थम्मि**—क्षेत्र से हस्त मात्र देखे तो काल से **मुहुत्तंतो**—मुहूर्त से न्यून देखता है, और यदि काल से **दिवसंतो**—दिवस से कुछ कम देखता है तो क्षेत्र से **गाउअम्मि**—एक योजनपर्यन्त देखता है, **बोद्धव्वो**—ऐसा जानना चाहिए, यदि क्षेत्र से **जोयण**—योजन प्रमाण देखता है तो काल से **दिवसपुहुत्तं**—दिवसपृथक्त्व देखता है, यदि काल से **पक्खंतो**—किञ्चित न्यून पक्ष को देखता है तो क्षेत्र से **पन्नवीसाओ**—पच्चीस योजन परिमाण पर्यन्त देखता है।

भावार्थ—अगर क्षेत्र से हस्त पर्यन्त देखे तो काल से मुहूर्त्त से कुछ कम देखता है और यदि काल से दिन से कुछ कम देखे तो क्षेत्र से एक गव्यूति—कोस परिमाण देखता है, ऐसा जानना चाहिए। यदि क्षेत्र से योजन—चार कोस परिमित देखता है, तो काल से दिवस पृथक्त्व—दो से नौ दिन परिमाण देखता है और यदि काल से किञ्चित् न्यून पक्ष देखता है, तो क्षेत्र से २५ योजन परिमित क्षेत्र देखता।

मूलम—५. भरहम्मि अद्धमासो, जंबूदीवम्मि साहिओ मासो ॥
वासं च मणुय लोए, वासपुहुत्तं च रुयगम्मि ॥ ५९ ॥

छाया—५. भरतेऽर्द्धमासोः जम्बूद्वीपे साधिको मासः।
वर्षञ्च मनुष्यलोके, वर्षपृथक्त्वञ्च रुचके ॥ ५९ ॥

पदार्थ—**भरहम्मि**—यदि क्षेत्र से सकल भरत क्षेत्र देखे तो काल से **अद्धमासो**—आधा मास परिमित-भूत, भविष्यत् काल की वार्ता को जानता हुआ देखता है, **जम्बूद्दीवम्मि**—यदि क्षेत्र से जम्बूद्वीप परिमाण देखता है तो काल से **साहिओ मासो**—मास से कुछ अधिक देखता है, **च**—पुनः यदि क्षेत्र से **मणुय-लोए**—मनुष्यलोक परिमाण क्षेत्र देखता है तो काल से **वासं**—एक वर्ष परिणाम भूत और भविष्य की बात को जानता है **च**—और **रुयगम्मि**—यदि क्षेत्र से रुचक क्षेत्र परिमाण देखता है, तो काल से **वासपुहुत्तं**—पृथक्त्व वर्ष परिमाण भूत और भविष्य को जानता है। उ—उकार विशेषणार्थ है।

भावार्थ—अवधिज्ञानी यदि क्षेत्र से सम्पूर्ण भरत क्षेत्र देखे, तो काल से आधा मास परिमित भूत, भविष्यत् काल की वार्ता को जानता हुआ देखता है। यदि क्षेत्र से जम्बूद्वीप

परिमाण देखे तो काल से साधिक मास और यदि क्षेत्र से मनुष्यलोक परिमित क्षेत्र देखे तो काल से एक वर्ष परिमाण भूत व भविष्यत् की वार्ता को जानता हुआ देखे और यदि क्षेत्र से रुचक क्षेत्र परिमाण देखे, तो काल से पृथक्त्व वर्ष—२ से लेकर ६ वर्ष परिमाण भूत और भविष्य को जानता है।

मूलम्—६. संखिज्जम्मि उ काले, दीवसमुद्दा वि हुंति संखिज्जा।
कालम्मि असंखिज्जे, दीवसमुद्दा उ भइयव्वा ॥ ६० ॥

छाया—६. संख्येयं तु काले, द्वीपसमुद्रा अपि भवन्ति संख्येयाः।
कालेऽसंख्येये, द्वीपसमुद्रास्तु भाज्याः ॥ ६० ॥

पदार्थ—यदि काल से **संखिज्जम्मि काले**—संख्यात काल को जाने तो **दीवसमुद्दा वि**—द्वीपसमुद्र भी **संखिज्जा**—संख्यात ही **हुंति**—होते हैं। अपि शब्द महत् और एवकारार्थ में जानना, **कालम्मि असंखिज्जे** असंख्यात काल को जानने पर **दीवसमुद्दा उ**—द्वीपसमुद्र **भइयव्वा**—भजनीय-विकल्पनीय होते हैं।

भावार्थ—यदि अवधिज्ञान द्वारा काल से संख्यात काल में हुई बात को जाने तो क्षेत्र से भी संख्यात द्वीप-समुद्र पर्यन्त जाने और असंख्यात काल जानने पर क्षेत्र से द्वीप और समुद्रों की भजना जाननी चाहिए अर्थात् संख्यात व असंख्यात दोनों होते हैं।

मूलम्—७. काले चउण्हं वुड्ढी, कालो भइअव्वु खित्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्व-पज्जव, भइयव्वा खित्तकाला उ ॥ ६१ ॥

छाया—७. काले चतुर्णां वृद्धिः, कालो भजनीयः वृद्धया (द्वौ)।
वृद्धया (द्वौ) द्रव्यपर्याययोः, भाज्यौ क्षेत्रकालौ तु ॥६१॥

पदार्थ—**काले**—काल की वृद्धि होने पर **चउण्हं वुड्ढी**—चारों—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की वृद्धि होती है, **खित्तवुड्ढीए**—क्षेत्र की वृद्धि होने पर **कालो**—काल की और **भइअव्वु**—भजना होती है, **दव्वपज्जव**—द्रव्य और पर्याय की **वुड्ढीए**—वृद्धि होने पर **खित्तकाला**—क्षेत्र और काल की **उ भइयव्वो**—भजना होती है।

भावार्थ—काल की वृद्धि होने पर चारों—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनकी वृद्धि होती है, क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल भजनीय होता है अर्थात् कदाचित् वृद्धि पाता है और कदाचित् नहीं। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल भजनीय होते हैं अर्थात् वृद्धि पाते भी हैं और नहीं भी पाते हैं।

टीका—अवधिज्ञान का जघन्य और उत्कृष्ट विषय प्रतिपादन करने के अनन्तर अब गाथाओं द्वारा सूत्रकार अवधिज्ञान का मध्यम विषय वर्णन करते हैं। यद्यपि गाथाओं का स्पष्ट अर्थ और भाव पदार्थ में तथा भावार्थ में दिया जा चुका है, तदपि यहां क्षेत्र और काल के विषय में पुनः विवेचन करना समुचित

है, जैसे कि अंगुलमात्तलियाणं इसमें अङ्गुल शब्द से प्रमाणाङ्गुल का ग्रहण करना चाहिए। किन्हीं आचार्यों के अभिमत से उत्सेधाङ्गुल का उल्लेख मिलता है, उनकी अपेक्षा प्रमाणाङ्गुल के समर्थक अधिक हैं, किन्तु आत्माङ्गुल का ग्रहण बिल्कुल नहीं करना। यद्यपि क्षेत्र गणना प्रदेश से और काल की गणना समय से आरम्भ होती है, तदपि यह गणना नैश्चयिक होने से ग्रहण नहीं की, कारण कि व्यावहारिक क्षेत्र और काल का नाप शास्त्रीय पद्धति से किया गया है। अंगुल का असंख्यातवां भाग क्षेत्र और आवलिका का असंख्यातवां भाग काल, इनसे व्यावहारिक नाप आरम्भ होता है। अंगुल, हाथ, कोस, योजन, भरत, जम्बूद्वीप, मनुष्यलोक, रुचक, द्वीप, समुद्र आदि शब्द क्षेत्र के वाचक हैं अर्थात् इनसे क्षेत्र सूचित होता है। आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये काल के द्योतक हैं, सूत्रकार ने काल की गणना इन से की है। पृथक्त्व शब्द जैन परिभाषा में २ से लेकर ९ तक की संख्या के लिए रूढ़ है, जैसे कि पृथक्त्व अंगुल, पृथक्त्व कोस, इसी प्रकार योजन और मास, वर्ष आदि जोड़ देने से उसका फलितार्थ निकल आता है।

सूत्रकार ने जो क्षेत्र शब्द का प्रयोग किया है, वह आकाश या उसके भाग या उपभाग से तात्पर्य है। कालत: अतीत-वर्तमान और अनागत से तात्पर्य है। यद्यपि क्षेत्र और काल ये दोनों अरूपी होने से अवधिज्ञान के विषय नहीं हैं, तदपि क्षेत्र और काल ये दोनों उपचार से देखना कथन किया गया है। निष्कर्ष यह निकला कि जो क्षेत्र व काल रूपी द्रव्यों से सम्बन्धित है, अवधिज्ञानी उसे जानता व देखता है। ज्यों-ज्यों अवधिज्ञानी के प्रत्यक्ष करने का काल अधिकतर होता जाता है, त्यों-त्यों द्रव्य,क्षेत्र, काल और भाव की भी अभिवृद्धि होती जाती है, क्षेत्र की वृद्धि होने पर द्रव्य और भाव की वृद्धि का होना निश्चित है, किन्तु काल की वृद्धि में भजना है। जब द्रव्यत: वृद्धि होती है, तब भाव से वृद्धि का होना भी निश्चित है, किन्तु क्षेत्र और काल में वृद्धि का होना भजना है। भाव की वृद्धि होने पर काल, क्षेत्र और द्रव्य की वृद्धि विकल्प से होती है, जैसे कि भाष्यकार ने लिखा है—

"काले पवड्ढमाणे, सव्वे दव्वादओ पवड्ढन्ति।
खेत्ते कालो भइओ, वड्ढन्ति उ दव्व-पज्जाया॥"

अर्थात् काल की वृद्धि होने पर द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि नियमेन है। क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल की भजना है, किन्तु जब द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होती है, तब क्षेत्र और काल की वृद्धि में भजना—विकल्प है।

कौन किससे सूक्ष्म है ?

मूलम्—८. सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्तं।
अंगुल सेढी मित्ते, ओसप्पिणीओ असंखिज्जा॥६२॥
से त्तं वड्ढमाणयं ओहिनाणं॥ सूत्र १२॥

छाया—८. सूक्ष्मश्च भवति कालः, ततः सूक्ष्मतरं भवति क्षेत्रम्।
अङ्गुलश्रेणिमात्रे, अवसर्पिण्योऽसंख्येयाः॥ ६२॥
तदेतद् वर्द्धमानकमवधिज्ञानम्॥ सूत्र १२॥

पदार्थ—सुहुमो य होइ कालो—काल सूक्ष्म होता है, तत्तो—और काल से खित्तं—क्षेत्र सुहुमयरं—सूक्ष्मतर भवइ—होता है, जिससे अंगुलसेढी मित्ते—अंगुल मात्र श्रेणी रूप में असंखिज्जा—असंख्यात ओसप्पिणीओ—अवसर्पिणियों के समय परिमाण प्रदेश होते हैं।

सेत्तं—इस प्रकार वड्ढमाणयं—वर्द्धमानक ओहिनाणं—अवधिज्ञान का स्वरूप है।

भावार्थ—काल सूक्ष्म होता है, उससे भी क्षेत्र सूक्ष्मतर होता है, जिससे, अङ्गुल मात्र क्षेत्र श्रेणिरूप में आकाश के प्रदेश समय की गणना से गिने जाएं तो असंख्यात अवसर्पिणियों के समय परिमाण प्रदेश होते हैं अर्थात् असंख्यात् काल-चक्र उनकी गिनती में लगते हैं। इस तरह यह वर्द्धमानक अवधिज्ञान का वर्णन है ॥ सूत्र १२ ॥

टीका—प्रस्तुत गाथा में किसकी अपेक्षा कौन सूक्ष्म है ? इसका उत्तर सूत्रकार ने स्वयं दिया है। उन्होंने कहा—काल सूक्ष्म है; किन्तु वह क्षेत्र, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से स्थूल है, क्षेत्र काल की अपेक्षा से सूक्ष्म है, क्योंकि प्रमाणाङ्गुल बाहल्य विष्कम्भ श्रेणि में आकाश प्रदेश इतने हैं, यदि उन प्रदेशों का समय-समय में अपहरण किया जाए, तो निर्लेप होने में असंख्यात अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी बीत जाएं। क्षेत्र के एक-एक आकाश प्रदेश पर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अवस्थित हैं। द्रव्य की अपेक्षा भाव सूक्ष्म है, क्योंकि उन स्कन्धों में अनन्त परमाणु हैं, प्रत्येक परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से अनन्त पर्यायें वर्त्तमान हैं। काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव ये क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर हैं और उत्क्रम से पूर्व-पूर्व स्थूल एवं स्थूलतर हैं। ये सब वस्तुतः सूक्ष्म ही हैं। इस पर वृत्तिकार के निम्न प्रकार से शब्द हैं।

"सर्ववहु—अग्निजीवा निरन्तरं यावत् क्षेत्रं सूचीभ्रमणेन सर्वदिक्कं भृतवन्तः, एतावति क्षेत्रे यान्यवस्थितानि द्रव्याणि तत्परिच्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिक्षेत्रमधिकृत्य निर्दिष्टो गणधरादिभिः, अयमिह सम्प्रदायः—सर्वबह्वग्निजीवा प्रायोऽजितस्वामितीर्थकृत् काले प्राप्यन्ते, तदारम्भकमनुष्यबाहुल्यसंभवात्, सूक्ष्माश्चोत्कृष्टपदवर्तिनस्तत्रैव विवक्ष्यन्ते, ततश्च सर्ववहवोऽनलजीवा भवन्ति।"

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह क्षेत्र कितने बड़े परिमाण में है ? इसके उत्तर में निम्नलिखित दो गाथाएं हैं—

"निययावगहणागणि—जीवसरीरावली समन्तेणं।
भामिज्जइ ओहिनाणी, देह पज्जंतओ सा य ॥१॥
अइगन्तूणमलोगे, लोगागासप्पमाणं मेत्ताइं।
ठाइ असंखेज्जाइं, इदमोहिक्खेत्तमुक्कोसं ॥२॥"

इन गाथाओं का भाव ऊपर दिया जा चुका है। यह सब सामर्थ्यमात्र वर्णन किया गया है। यदि उक्त क्षेत्र में रूपी द्रव्य हों, तो अवधिज्ञानी उन्हें भी देख सकता है। अलोक में रूपी द्रव्यों का सर्वथा अभाव है, और अवधिज्ञानी रूपी द्रव्य को ही विषय करता है, अरूपी को नहीं। कहा भी है—

"सामत्थमेत्तमुत्तं दट्ठव्वं, जइ हवेज्जा पेच्छेज्जा।
न उ तं तत्थत्थि जओ, सो रूवी निबंधणो भणिओ ॥१॥

वड्ढन्तो पुण बाहिं, लोगत्थं चेव पासइ दव्वं ।
सुहुमयरं २ परमोही जाव परमाणुं ॥२॥"

परमावधिज्ञान केवल ज्ञान होने से अन्तर्मुहूर्त्त पहिले उत्पन्न होता है, उसमें परमाणु को भी विषय करने की शक्ति है। इस प्रकार उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय वर्णन किया गया है। इस विषय को वृत्तिकार ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—प्रमाणांगुलैकमात्रे एकैकप्रदेशश्रेणिरूपे नभःखण्डे यावन्तोऽसंख्येयास्ववसर्पिणीषु समयास्तावत्प्रमाणाः प्रदेशाः वर्तन्ते, ततः सर्वत्रापि कालादसंख्येगुणं क्षेत्रं, क्षेत्रादपि चानन्तगुणितं द्रव्यं, द्रव्यादपि चावधिविषयाः पर्यायाः संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा—

खेत्तपएसेहिंतो, दव्वमणंतगुणियं पएसेहिं ।
दव्वेहिंतो भावो, संखगुणो असंखगुणिओ वा ॥"

इस प्रकार काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव को क्रमशः समझाने के लिए एक तालिका यंत्र दिया जा रहा है, जिससे जिज्ञासुओं को समझने में सुगमता रहेगी—

क्षेत्रतः	कालतः
एक अंगुल का असंख्यातवां भाग देखे ।	एक आवलिका का असंख्यातवां भाग देखे ।
अंगुल का संख्यातवां भाग देखे ।	आवलिका का संख्यातवां भाग देखे ।
एक अंगुल ।	आवलिका से कुछ न्यून ।
पृथक्त्व अंगुल ।	एक आवलिका ।
एक हस्त ।	एक मुहूर्त्त से कुछ न्यून ।
एक कोस ।	एक दिवस से कुछ न्यून ।
एक योजन ।	पृथक्त्व दिवस ।
पच्चीस योजन ।	एक पक्ष से कुछ न्यून ।
भरत क्षेत्र ।	अर्द्ध मास ।
जम्बूद्वीप प्रमाण ।	एक मास से कुछ न्यून ।
अढाई द्वीप प्रमाण ।	एक वर्ष ।
रुचक द्वीप ।	पृथक्त्व वर्ष ।
संख्यात द्वीप ।	संख्यात काल ।
संख्यात व असंख्यात द्वीप एवं द्वीप-समुद्रों का विकल्प जानना चाहिए ।	संख्यात व असंख्यात काल एवं संख्यात-असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी जानना चाहिए ।

	काल	क्षेत्र	द्रव्य	पर्याय
काल	अवधि	बहुत	बहुत	बहुत
क्षेत्र	भजना	बहुत	बहुत	बहुत
द्रव्य	भजना	भजना	बहुत	बहुत
पर्याय	भजना	भजना	भजना	बहुत

इसी प्रकार सूत्रकर्त्ता ने मध्यम अवधिज्ञान के क्षेत्र और काल से भेद बताए हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति क्षेत्र से एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र को देखता है, तो वह काल से कुछ न्यून एक आवलिका के भूत और भविष्यत् काल में होनेवाले वृत्तान्त को जानता व देखता है। एवं आगे भी जान लेना चाहिए। पृथक्त्व—'पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्य इति ।'

समयक्षेत्र से बाहिर तिर्यंचों को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह उस स्थान से लेकर संख्यात व असंख्यात योजन पर्यंत एक देश में रूपी द्रव्यों को विषय करता है ॥सूत्र १२॥

हीयमान अवधिज्ञान

मूलम्—से किं तं हीयमाणयं ओहिनाणं ? हीयमाणयं ओहिनाणं—अप्पसत्थेहिं अज्झवसायट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स, संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स, सव्वओ समंता ओही परिहायइ, से त्तं हीयमाणयं ओहिनाणं ॥सूत्र १३॥

छाया—अथ किं तद्धीयमानकमवधिज्ञानम्? हीयमानकमवधिज्ञानम्—अप्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु, वर्त्तमानस्य वर्त्तमानचारित्रस्य, संक्लिश्यमानस्य संक्लिश्यमानचारित्रस्य सर्वतः समन्तादवधिः परिहीयते, तदेतद्धीयमानकमवधिज्ञानम् ॥सूत्र १३॥

पदार्थ—से किं तं हीयमाणयं—अथ वह हीयमान ओहिनाणं ?—अवधिज्ञान क्या है ? हीयमाणयं ओहिनाणं—हीयमानक अवधिज्ञान अप्पसत्थेहिं—अप्रशस्त अज्झवसायट्ठाणेहिं—अध्यवसाय स्थानों में वट्टमाणस्स—वर्त्तमान अविरत सम्यग्दृष्टि को तथा वट्टमाणचरित्तस्स—वर्तमान देश-विरत चारित्र के विषय संकिलिस्समाणस्स—उत्तरोत्तर संक्लेश पाते हुए संकलिस्समाणचरित्तस्स—संक्लेशपाते हुए चारित्र के विषय सव्वओ—सब ओर से समंता—सब प्रकार से ओही—अवधि ज्ञान परिहायइ—पूर्वावस्था से हानि को प्राप्त होता है।

से त्तं—इस प्रकार हीयमाणयं—हानि को प्राप्त होता हुआ ओहिनाणं—अवधिज्ञान का विषय है।

भावार्थ—भगवन् ! वह हीयमान अवधिज्ञान किस प्रकार है ?

गुरुजी उत्तर में बोले—हीयमान अवधिज्ञान-अप्रशस्त—अशुभ विचारों में वर्तने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तथा वर्त्तमान देशविरत चारित्र और सर्वविरत-चारित्र—साधु जब अशुभ विचारों से संक्लेश को प्राप्त होता है और चारित्र में संक्लेश होता है तब सर्व ओर से और सर्व प्रकार से अवधिज्ञान की पूर्व अवस्था से हानि होती है। इस प्रकार यह हीयमान—हानि को प्राप्त होते हुए अवधिज्ञान का विषय है ॥ सूत्र १३ ॥

टीका—प्रस्तुत सूत्र में हीयमान अवधिज्ञान का विषय वर्णन किया गया है। जब चारित्र मोहनीय कर्मों का उदय हो जाता है, तब आत्मा में अप्रशस्त अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। जब सर्वविरति, देशविरति तथा अवरति-सम्यग्दृष्टि आत्मा संक्लिश्यमान परिणामों में वर्तने लगते हैं, उस समय आत्मा में उत्पन्न अवधिज्ञान का ह्रास होने लगता है। सूत्रकार ने संकिलिस्समाण चरित्तस्स यह पद दिया है, जिसका भाव है कि जो जीव सर्वविरति एवं देशविरति में क्लेशयुक्त होता है, उसका अवधिज्ञान सब ओर से हानि को प्राप्त हो जाता है। इस सूत्र का अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि अप्रशस्त योग और संक्लेश ये दोनों ज्ञान के एकान्त बाधक हैं। अतः प्रशस्त योग और शान्ति ये दोनों ज्ञान-वृद्धि में अमोघ साधन हैं।

'हीयमानक' शब्द से यह अर्थ लेना चाहिए कि जो अवधिज्ञान पहले उत्पन्न हो गया है, वह उपर्युक्त कारणों से प्रतिक्षण हीनता को ही प्राप्त होता है। अतः साधकों को चाहिए कि जब मोह की प्रकृतिएं उदय होने लगें, तभी से उन्हें विरोधि तत्त्वों से शमन वा क्षय कर देना चाहिए, जिससे उन प्रकृतियों को पनपने का अवसर ही न मिले ॥ सूत्र १३ ॥

प्रतिपाति अवधिज्ञान

मूलम्—से किं तं पडिवाइ ओहिनाणं? पडिवाइ-ओहिनाणं—जहण्णेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागं वा संखिज्जइभागं वा, बालग्गं वा बालग्गपुहुत्तं वा, लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा, जूयं वा जूयपुहुत्तं वा, जवं वा जवपुहुत्तं वा, अंगुलं वा, अंगुल-पुहुत्तं वा, पायं वा पायपुहुत्तं वा, विहत्थिं वा विहत्थिपुहुत्तं वा, रयणिं वा रयणि-पुहुत्तं वा, कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा, धणुं वा धणुपुहुत्तं वा, गाउयं वा गाउय-पुहुत्तं वा, जोयणं वा जोयणपुहुत्तं वा, जोणसयं वा जोयणसयपुहुत्तं वा, जोयण-सहस्सं वा जोयणसहस्सपुहुत्तं वा, जोयणलक्खं वा जोयणलक्खपुहुत्तं वा, (जोयण-कोडिं वा जोयणकोडिपुहुत्तं वा, जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोड़ाकोडिपुहुत्तं वा, जोयणसंखिज्जं वा जोयणसंखिज्जपुहुत्तं वा, जोयणअसंखेज्जं वा जोयण असंखेज्ज पुहुत्तं या) उक्कोसेणं लोगं वा पासित्ताणं पडिवइज्जा, से त्तं पडिवाइ ओहिनाणं ॥ सूत्र १४ ॥

छाया—अथ किं तत् प्रतिपाति अवधिज्ञानम् ? प्रतिपाति अवधिज्ञानं—जघन्येनाङ्गु-लस्याऽसंख्येयभागं वा संख्येयभागं वा, वालाग्रं वा बालाग्रपृथक्त्वं वा, लिक्षां वा लिक्षा-पृथक्त्वं वा, यूकां वा यूकापृथक्त्वं वा, यवं वा यवपृथक्त्वं वा, अङ्गुलं वा अङ्गुलपृथक्त्वं वा, पादं वा पादपृथक्त्वं वा, वितस्तिं वा वितस्तिपृथक्त्वं वा, रत्निं वा रत्निपृथक्त्वं वा, कुक्षिं वा कुक्षिपृथक्त्वं वा, धनुर्वा धनुःपृथक्त्वं वा, गव्यूतं वा गव्यूतपृथक्त्वं वा, योजनं वा योजन-पृथक्त्वं वा, योजनशतं वा योजनशतपृथक्त्वं वा, योजनसहस्रं वा योजनसहस्रपृथक्त्वं वा, योजनलक्षं वा योजनलक्षपृथक्त्वं वा, (योजनकोटिं वा योजनकोटिपृथक्त्वं वा, योजनकोटीकोटिं वा योजनकोटीकोटिपृथक्त्वं वा, योजनसंख्येयं वा योजनसंख्येयपृथक्त्वं वा, योजनाऽसंख्येयं वा योजनाऽसंख्येयपृथक्त्वं वा,) उत्कर्षेण लोकं वा दृष्ट्वा प्रतिपतेत्, तदेतत्प्रतिपात्यवधि-ज्ञानम् ॥सूत्र १४ ॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—गुरुदेव ! उस प्रतिपाति अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर देते हुए गुरुदेव बोले—वत्स ! प्रतिपाति अवधिज्ञान—जघन्यसे अंगुल के असंख्यातवें भाग को अथवा संख्यातवें भाग को, इसी प्रकार बालाग्र या बालाग्रपृथक्त्व, लीख या लीखपृथक्त्व, यूका—जूँ या यूकापृथक्त्व, यव—जौं या यवपृथक्त्व, अंगुल व अंगुल-पृथक्त्व, पांव या पांवपृथक्त्व, अथवा वितस्ति—१२ अंगुल परिमाण क्षेत्र या वितस्तिपृथक्त्व, रत्नि—हाथ परिमाण या रत्निपृथक्त्व, कुक्षि—दो हस्तपरिमाण या कुक्षिपृथक्त्व, धनुष—चार हाथ परिमाण या धनुषपृथक्त्व, कोस—क्रोश या कोस पृथक्त्व, योजन वा योजन-पृथक्त्व, योजनशत या योजनशतपृथक्त्व, योजन-शहस्र—एक हज़ार योजन या योजनसहस्र-पृथक्त्व, लाख योजन अथवा लाख योजनपृथक्त्व, योजनकोटि या योजनकोटिपृथक्त्व, योजन कोटिकोटि या योजन कोटिकोटिपृथक्त्व, संख्यात योजन या संख्यातपृथक्त्व योजन, असंख्यात योजन या असंख्यातपृथक्त्व योजन, उत्कृष्ट से सम्पूर्ण लोक को देख कर जो ज्ञान गिर जाता है, उसी को प्रतिपाति अवधिज्ञान कहा गया है ।। सूत्र१४ ।।

टीका—इस सूत्र में प्रतिपाति अवधिज्ञान का स्वरूप दिखाया गया है । प्रतिपाति का अर्थ है—गिरना—पतन होना । पतन तीन प्रकार से होता है—सम्यक्त्व से, चारित्र से और उत्पन्न हुए ज्ञान से । प्रतिपाति अवधिज्ञान जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भागमात्र और उत्कृष्ट लोक नाड़ी को विषय कर पतनशील हो जाता है । शेष मध्यम प्रतिपाति अवधिज्ञान के अनेक भेद हैं, जिन का वर्णन भावार्थ में लिखा जा चुका है ।

जिस उत्पन्न हुए ज्ञान का अन्तिम परिणाम प्रतिपाति है, वर्तमान में भी उस अवधिज्ञान को प्रति-पाति ही कहा जाता है । जिस प्रकार एक दीपक जगमगा रहा है, वायु का एक झोंका आता है और वह दीपक तेल और वर्त्तिका के होते हुए भी एक दम बुझ जाता है । बस यही उदाहरण प्रतिपाति अवधिज्ञान के लिए भी है । प्रतिपाति अवधिज्ञान धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त नहीं होता अपितु युगपत् ही लुप्त हो जाता है । यह ज्ञान जीवन के किसी भी क्षण में उत्पन्न हो सकता है और लुप्त भी । प्रस्तुत सूत्र में कुक्षि शब्द है—जो दो हस्त प्रमाण का वाचक है । तथा सूत्रकर्ता ने गाउअं, शब्द का प्रयोग किया है, इसका संस्कृत में "गव्यूत" बनता है, जिसका अर्थ कोस है । जैनागमों में दो हजार धनुष का कोस माना गया है । और चार कोस का योजन । शेष शब्द सुगम हैं ।।सूत्र १४ ।।

अप्रतिपाति अवधिज्ञान

मूलम्—से किं तं अपडिवाइ ओहिनाणं ? अपडिवाइ ओहिनाणं—जेणं अलो-गस्स एगमवि आगासपएसं जाणइ पासइ, तेण परं अपडिवाइ ओहिनाणं, से त्तं अपडिवाइ ओहिनाणं ।। सूत्र १५ ।।

छाया—अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ? अप्रतिपात्यवधिज्ञानं—येनाऽलोकस्यैक-मप्याकाशप्रदेशं जानाति पश्यति, तेन परमप्रतिपात्यवधिज्ञानं, तदेतदप्रतिपात्यवधि-ज्ञानम् ॥ १५ ॥

पदार्थ—**से किं तं अपडिवाइ ओहिनाणं**—अथ वह अप्रतिपाति-अवधिज्ञान किस प्रकार है ? **अप-डिवाइओहिनाणं**—अप्रतिपाति-अवधिज्ञान **जेणं**—जिससे **अलोगस्स**—अलोक के **एगमवि**—एक भी **आगास**—आकाश **पएसं**—प्रदेश को **जाणइ**—विशिष्ट रूप से जानता है, **पासइ**—सामान्य रूप से देखता है, **तेण परं**—तदुपरान्त वह **अपडिवाइ**—अप्रतिपाति **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान कहलाता है। **से त्तं अपडि-वाइ**—इस प्रकार यह अप्रतिपाति **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान का विषय है।

भावार्थ—गुरु से शिष्य ने पूछा—देव अप्रतिपाति—न गिरने वाला वह अवधिज्ञान किस प्रकार से है ?

गुरुजी उत्तर में बोले—हे भद्र ! अप्रतिपाति-अवधिज्ञान—जिस ज्ञान से ज्ञाता अलोक के एक भी आकाश प्रदेश को विशिष्टरूप से जानता है और सामान्यरूप से देखता है, तत्पश्चात् कैवल्य प्राप्ति पर्यन्त वह अप्रतिपाति-अवधिज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार यह अप्रतिपाति अवधिज्ञान का स्वरूप है ॥ सूत्र १५ ॥

टीका—इस सूत्र में अप्रतिपाति अवधिज्ञान का सविस्तर विवेचन किया गया है। जिस प्रकार कोई महापराक्रमी व्यक्ति अपने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके निष्कण्टक राज्य-श्री का उपभोग सुखपूर्वक करता है, ठीक उसी प्रकार अप्रतिपाति अवधिज्ञान के होने पर केवलज्ञानरूप राज्य-श्री का प्राप्त होना अवश्यंभावी है, कारण कि अप्रतिपाति अवधिज्ञान, इतना महान होता है, जो कि छद्मस्थ अवस्था में लुप्त तो क्या, किंचिन्मात्र भी उसका ह्रास नहीं होता, वह बारहवें गुणस्थान के चरमान्तावस्थायी होता है। तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

सूत्रकार ने अप्रतिपाति अवधिज्ञान का लक्षण बतलाते हुए कहा है—**अलोगस्स एगमवि आगास-पएसं जाणइ पासइ**—जो अलोक के एक आकाश प्रदेश को भी प्रत्यक्ष कर लेता है, वह निश्चय ही अप्रति-पाति है। 'अपि' शब्द से यह ध्वनित होता है कि अलोकाकाश के बहुत प्रदेशों का तो कहना ही क्या ? यद्यपि अलोक में आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है। अवधिज्ञान सिर्फ रूपी द्रव्यों का ही परि-च्छेदक है, जब कि अलोक में रूपी द्रव्य का नितान्त अभाव है, तदपि यह उसका मात्र सामर्थ्य ही प्रदर्शित किया है, जैसे कि कहा भी है—"एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपवर्ण्यते, नत्वलोके किंचिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्य-मस्ति।" अप्रतिपाति अवधिज्ञान जिसे हो जाता है, वह उसी भव में निश्चय ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जन्मान्तर में नहीं। जब वह ज्ञान वृद्धिपाता हुआ परमावधि ज्ञान की सीमा में पहुँच जाता है, तब निश्चय ही अन्तर्मुहूर्त में उसे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। यह हुआ अप्रतिपाति अवधिज्ञान का वर्णन। इस प्रकार अवधिज्ञान के छः भेदों का भी वर्णन समाप्त हुआ ॥ सूत्र १५ ॥

द्रव्यादि-क्रम से अवधिज्ञान का निरूपण

मूलम्—तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ।

तत्थ दव्वओ णं ओहिनाणी—जहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ।

खित्तओ णं ओहिनाणी—जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइ भागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखिज्जाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खण्डाइं जाणइ पासइ।

कालओ णं ओहिनाणी—जहन्नेणं आवलिआए असंखिज्जइ भागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ।

भावओ णं ओहिनाणी—जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणमणंत भागं जाणइ ॥ सूत्र १६ ॥

छाया—तत्समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो भावतः। तत्र द्रव्यतोऽवधिज्ञानी—जघन्येनानन्तानि रूपिद्रव्याणि जानाति पश्यति, उत्कर्षेण सर्वाणि रूपिद्रव्याणि जानाति पश्यति।

क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी—जघन्येनाङ्गुलस्याऽसंख्येयभागं जानाति पश्यति, उत्कर्षेणाऽसंख्येयान्यालोके लोकप्रमाणमात्राणि खण्डानि जानाति पश्यति।

कालतोऽवधिज्ञानी—जघन्येनाऽऽवलिकाया असंख्येयभागं जानाति पश्यति, उत्कर्षेणाऽसंख्येया उत्सर्पिणीरवसर्पिणीः—अतीतमनागतञ्च कालं जानाति पश्यति।

भावतोऽवधिज्ञानी—जघन्येनाऽनन्तान् भावान् जानाति पश्यति, उत्कर्षेणाऽपि—अनन्तान् भावान् जानाति पश्यति, सर्वभावानामनन्तभागं जानाति पश्यति ॥ सूत्र १६ ॥

पदार्थ—तं—वह समासओ—संक्षेप से चउव्विहं—चार प्रकार का पण्णत्तं—प्रतिपादन किया गया है, तं जहा—जैसे दव्वओ—द्रव्य से, खित्तओ—क्षेत्र से कालओ—काल से, भावओ—भाव से, तत्थ—उन चारों में प्रथम दव्वओ—द्रव्य से णं—वाक्यालङ्कार में ओहिनाणी—अवधिज्ञानी जहन्नेणं—जघन्य से अणंताइं—अनन्त रूविदव्वाइं—रूपी द्रव्यों को जाणइ—जानता और पासइ—देखता है, उक्कोसेणं—उत्कृष्ट से सव्वाइं—सब रूविदव्वाइं—रूपी द्रव्यों को जाणइ—जानता और पासइ—देखता है।

खित्तओ णं—क्षेत्र से ओहिनाणी—अवधिज्ञानी जहन्नेणं—जघन्य से अंगुलस्स—अङ्गुल के असंखिज्जइ—असंख्यातवें भागमात्र क्षेत्र को जाणइ—जानता और पासइ—देखता है, उक्कोसेणं—उत्कृष्ट से अलोगे—अलोक में लोगप्पमाणमित्ताइं—लोक परिमाण असंखिज्जाइं—असंख्यात खंडाइं—खण्डों को जाणइ—जानता और पासइ—देखता है।

कालओ णं—काल से ओहिनाणी—अवधिज्ञानी जहन्नेणं—जघन्य से आवलिआए—एक आवलिका के असंखिज्जइ भागं—असंख्यातवें भाग को जाणइ—जानता पासइ—देखता है, उक्कोसेणं—उत्कृष्ट से अईयमणागयं च—अतीत और अनागत कालं—काल में असंखिज्जाओ—असंख्यात उसप्पिणीओ—उत्सर्पिणियों और अवसप्पिणीओ—अवसर्पिणियों को जाणइ—जानता पासइ—देखता है।

भावओ णं—भाव से ओहिनाणी—अवधिज्ञानी जहन्नेणं—जघन्य से अणंते—अनन्त भावे—भावों को जाणइ—जानता पासइ—देखता है, उक्कोसेणं वि—उत्कृष्ट से भी अणंते—अनन्त भावे—भावों को जाणइ—जानता पासइ—देखता है, किन्तु सव्वभावाणमणंतभागं—सब भावों-पर्यायों के अनन्तवें भाग मात्र को जाणइ—जानता पासइ—देखता है।

भावार्थ—वह अवधिज्ञान संक्षेप से चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे कि—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। उन चारों में—

१. द्रव्य से—अवधिज्ञानी जघन्य—अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है, उत्कृष्ट सब रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है।

२. क्षेत्र से—अवधिज्ञानी जघन्य—अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र क्षेत्र को जानता व देखता है, उत्कृष्ट अलोक में लोक परिमित असंख्यात खण्डों को जानता व देखता है।

३. काल से—अवधिज्ञानी जघन्य—एक आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र काल को जानता व देखता है, उत्कृष्ट—अतीत और अनागत असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों परिमाण काल को जानता व देखता है।

४. भाव से—अवधिज्ञानी जघन्य—अनन्त भावों को जानता व देखता है और उत्कृष्ट भी अनन्त भावों को जानता व देखता है, किन्तु सब पर्यायों के अनन्तवें भागमात्र को जानता और देखता है॥ सूत्र १६॥

टीका—इस सूत्र में अवधिज्ञान का सविस्तर वर्णन किया गया है। इस पाठ में सभी प्रकार के अवधिज्ञान का समावेश हो जाता है। अवधिज्ञान का जघन्य विषय कितना है और उत्कृष्ट विषय कितना? इसका विवरण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किया गया है, जैसे कि—

द्रव्यतः—अवधिज्ञानी जघन्य तो अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है—चतुःस्पर्शी मनोवर्गणा और आठ स्पर्शी तैजस-वर्गणा के अन्तराल में जितने भी रूपी द्रव्य हैं, उनको और उत्कृष्ट सर्व सूक्ष्म-बादर द्रव्यों को जानता व रूपी देखता है।

क्षेत्रतः—अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र क्षेत्र को जानता व देखता है और

उत्कृष्ट अलोक में कल्पना से यदि लोक प्रमाण असंख्यात खण्ड किए जाएं तो अवधिज्ञानी, उन्हें भी जानने व देखने की शक्ति रखता है।

कालतः—अवधिज्ञानी जघन्य एक आवलिका के असंख्यातवें भागमात्र को देखता है तथा उत्कृष्ट असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण अतीत और अनागत काल को जानता व देखता है।

भावतः—अवधिज्ञानी जघन्य अनन्त भावों—पर्यायों को जानता व देखता है, उत्कृष्ट भी अनन्त पर्यायों को जानता व देखता है, किन्तु इस स्थान पर जघन्यपद से उत्कृष्ट पद अनन्तगुण अधिक जानना चाहिए, क्योंकि अनन्त के भी अनन्त भेद होते हैं। फिर भी वह एक भेद-भाग अनन्त के स्तर पर ही रहता है। इस विषय में चूर्णिकार भी लिखते हैं—"**जहण्णपदाओ उक्कोसपदं अणन्तगुणं**" किन्तु जो उत्कृष्ट पद में अनन्त पर्यायों का वर्णन किया है, वह भी सर्व भावों के अनन्तवें भागमात्र जानना चाहिए। अतः सूत्रकार ने अन्त में यह पद दिया है—**सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ**। इस सूत्र के आधार पर चूर्णिकार भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"**उक्कोसपदे वि जे भावा, ते सव्वभावाणं अणंतभागे वट्टंति।**" निष्कर्ष यह निकला कि सर्व पर्यायों के अनन्तवें भागमात्र पर्यायों को अवधिज्ञानी जानता व देखता है।

ज्ञान विशेष ग्रहणात्मक होता है और दर्शन सामान्य अर्थों का परिच्छेदक होता है। चूर्णिकार भी इसी प्रकार लिखते हैं "**जाणइ त्ति नाणं, तं च, जं विसेसग्गहणं तं नाणं—सागारमित्यर्थः, दंसेइ, इति दंसणं तं च, जं सामण्णग्गहणं तं दंसणं—अणागारमित्यर्थः।**"

यदि इस स्थान पर यह शंका की जाए कि पहले दर्शन होता है, पीछे ज्ञान, इस क्रम को छोड़कर सूत्रकार ने पहिले ज्ञान, पीछे दर्शन का क्यों ग्रहण किया ? इसके समाधान में कहा जाता है कि सर्वलब्धिएं ज्ञानोपयोग वाले जीव को होती हैं। अतः अवधिज्ञान भी लब्धि है, इस कारण पहले ज्ञान ग्रहण किया है। यह अध्ययन सम्यग्ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला है, इसीलिए सूत्रकार ने सूत्र के आरम्भ में मंगल के प्रतिपादक पाँच प्रकार के ज्ञान का ग्रहण किया है। प्रस्तुत प्रकरण में सम्यग्ज्ञान की प्रधानता है। अनाकारोपयोग तो सम्यग् और मिथ्या दोनों का सांझा है। दर्शनोपयोग को तो प्रमाण की कोटि में भी स्थान नहीं मिला। अतः दर्शन अप्रधान है। इसलिए ज्ञान का प्रथम प्रतिपादन करना युक्तिसंगत ही है।

प्रस्तुत देश-प्रत्यक्ष अवधिज्ञान की योग, ध्यान और समाधि के द्वारा ही सुगमता से प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि गुणप्रत्यय भी इस की उत्पत्ति में एक मुख्य कारण है॥ सूत्र १६॥

अवधिज्ञान-विषयक उपसंहार

मूलम्—१. ओही भवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वण्णिओ एसो (दुविहो)।
तस्स य बहू विगप्पा, दव्वे खित्ते अ काले य॥६३॥

छाया—१. अवधिर्भवप्रत्ययिको, गुणप्रत्ययिकश्च वर्णित एषः (द्विविधः)।
तस्य च बहुविकल्पा, द्रव्ये क्षेत्रे च काले च॥६३॥

पदार्थ—एसो—यह ओही—अवधिज्ञान भवपच्चइओ—भवप्रत्ययिक य—और गुणपच्चइओ—गुणप्रत्ययिक दुविहो—दो प्रकार का वण्णिओ—वर्णन किया गया है। य—और तस्स—उसके भी दव्वे—द्रव्य, खित्ते—क्षेत्र काले—काल अ—और य—भावरूप से बहू विगप्पा—बहुत विकल्प हैं।

भावार्थ—यह पूर्वोक्त अवधिज्ञान—भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक दो प्रकार का वर्णन किया गया है और उसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावविषयक बहुत से विकल्प—भेद कथन किए गए हैं।

टीका—इस संग्रह गाथा में अवधिज्ञान विषयक पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों का उल्लेख संक्षेप से किया गया है। अवधिज्ञान के भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक, इस प्रकार दो भेद प्रदर्शित किए गए हैं। गुणप्रत्ययिक के छः भेदों में प्रत्येक के अनेक विकल्पों का निर्देश किया गया है। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय का ही उल्लेख किया है। मध्यम विषय के असंख्यात भेद बनते हैं। गाथा में आए हुए 'य' शब्द से भाव अर्थात् पर्याय ग्रहण करनी चाहिए। पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, और आठ स्पर्श इनमें उतार-चढ़ाव तथा परिवर्तन को पौद्गलिक पर्याय कहते हैं। अवधिज्ञानी पुद्गल की अनन्तपर्यायों को जानता है, किन्तु सर्वपर्यायों को नहीं। वह सर्व द्रव्यों को जानता है तथा देखता भी है, परन्तु सर्वपर्याय अवधिज्ञानी का विषय नहीं है।

अबाह्य-बाह्य अवधि

मूलम्—२. नेरइय देवतित्थकरा य, ओहिस्सऽबाहिरा हुंति।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ॥६४॥
से त्तं ओहिनाणपच्चक्खं।

छाया—२. नैरयिक-देवतीर्थकराश्च, अवधेरबाह्या भवन्ति।
पश्यन्ति सर्वतः खलु, शेषा देशेन पश्यन्ति ॥६४॥
तदेतदवधिज्ञानप्रत्यक्षम्।

पदार्थ—नेरइय—नारकी देव—देवता य—और तित्थकरा—तीर्थंकर ओहिस्स—अवधिज्ञान के अबाहिरा—अबाह्य हुंति—होते हैं और ये खलु—निश्चय ही सव्वओ—सब ओर पासंति—देखते हैं। सेसा—शेष देसेण—देश से पासंति—देखते हैं। से त्तं—यही वह ओहिनाण-पच्चक्खं—अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—नारकी, देव और तीर्थंकर अवधिज्ञान के अबाह्य अर्थात् अवधिज्ञान से युक्त होते हैं और सब दिशा-विदिशा में देखते हैं, शेष अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च देश से देखते हैं। इस प्रकार यह अवधिज्ञान प्रत्यक्ष का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

टीका—इस गाथा में अवधिज्ञान के विषय का उपसंहार करते हुए शेष प्रतिपादनीय विषय का उल्लेख किया गया है। नैरयिक, देव और तीर्थंकर इनको निश्चय ही अवधिज्ञान होता है, इसलिए सूत्र-कर्त्ता ने ओहिस्सऽबाहिरा हुंति—'ये अवधिज्ञान के अबाह्य होते हैं' का कथन किया है। "नैरयिक-देव तीर्थंकरा अवधेरवधिज्ञानस्याबाह्या एव भवन्ति, बाह्या न कदाचनापि भवन्तीति भावः।" दूसरी विशेषता इनमें यह है कि उपर्युक्त तीनों को जो अवधिज्ञान है, वह सर्व दिशाओं और विदिशाओं का विषयक होता है। शेष, मनुष्य और तिर्यंच देश से प्रत्यक्ष करते हैं। पासंति सव्वओ खलु इस पद से ओहिस्सऽबाहिरा हुंति इस पद की सार्थकता हो जाती है। यह कोई नियम नहीं है कि अबाह्य अवधिज्ञानी सब ओर से ही देखते हैं, केवल उक्त तीन के लिए ही ऐसा नियम है। शेष, मनुष्य और तिर्यंच यदि अवधिज्ञान से अबाह्य हों, तो वे देश से देखते हैं, सर्व से नहीं। देव और नारकी अवधिज्ञान से आजीवन अबाह्य रहते हैं, किन्तु तीर्थंकर छद्मस्थकाल पर्यन्त ही अवधिज्ञान से अबाह्य होते हैं। जो नियमेन अवधिज्ञान वाले हैं, उन्हें अबाह्य कहते हैं। और जो अनियत अवधिज्ञान संपन्न हैं, उन्हें बाह्य कहते हैं। तीर्थंकर का अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक नहीं होता, अपितु परभव से समन्वित आगमन होता है। जिस आत्मा ने तीर्थंकर बनना हो, वह यदि २६ देवलोकों और ९ लोकान्तिक देवलोकों से च्यवकर आ रहा हो, तो वह विपुल मात्रा में अवधिज्ञान को लेकर आता है। वह यदि पहले, दूसरे और तीसरे नरक से आ रहा हो, तो अपर्याप्त अवस्था में अवधि-ज्ञान उतना ही होता है, जितना कि तत्रस्थ नारकी को, किन्तु पर्याप्त अवस्था में वह अवधिज्ञान युगपत् महान् बन जाता है। तीर्थंकरों का अवधिज्ञान अप्रतिपाति होता है। इस प्रकार अवधिज्ञान का निरूपण समाप्त हुआ।

मनःपर्यवज्ञान

मूलम्—से किं तं मणपज्जवनाणं ? मणपज्जवनाणे णं भंते ! किं मणुस्साणं उपज्जइ अमणुस्साणं ? गोयमा ! मणुस्साणं, नो अमणुस्साणं।

छाया—अथ किं तन्मनःपर्य्यवज्ञानं ? मनःपर्य्यवज्ञानं भदन्त ! किं मनुष्याणामुत्पद्यते, अमनुष्याणां (वा) ? गौतम ! मनुष्याणां, नो अमनुष्याणाम्।

पदार्थ—से किं तं—अथ वह मणपज्जवनाणं—मनःपर्य्यवज्ञान कितने प्रकार का है। ? भंते !—भगवन् ! मणपज्जवनाणे णं—मनःपर्य्यवज्ञान णं-वाक्यालंकार में है किं—क्या मणुस्साणं—मनुष्यों को उपज्जइ—उत्पन्न होता है या अमणुस्साणं—अमनुष्यों को ? गोयमा !—हे गौतम ? मणुस्साणं—मनुष्यों को होता है णो अमणुस्साणं—अमनुष्यों को नहीं।

भावार्थ—वह मनःपर्यायज्ञान कितने प्रकार का है ? हे भगवन् ! वह मनःपर्यायज्ञान क्या मनुष्यों को उत्पन्न होता है अथवा अमनुष्यों—देव, नारकी और तिर्यञ्चों को ?

भगवान् बोले—गौतम ! वह मनःपर्य्यवज्ञान मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है, अमनुष्यों को नहीं।

टीका—अवधिज्ञान के पश्चात् अब सूत्रकार मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है ? इसका विवेचन प्रश्न और उत्तर के रूप में करते हैं। इस विषय में जो प्रश्नोत्तर गौतम और महावीर स्वामी के मध्य में हुए हैं, वही प्रश्नोत्तर शैली देववाचक जी ने विषय को सुस्पष्ट और सुगम बनाने के लिए अपनायी है। मनःपर्यवज्ञान कितने प्रकार का है ? इसका उत्तर तो आगे दिया जायगा। उस ज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है, मनुष्य या देव आदि ? भगवान उत्तर देते हैं—गौतम ! मनुष्य को ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो सकता है, मनुष्येतर देव आदि को नहीं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि चतुर्दशपूर्वधर, सर्वाक्षरों के सन्निपाती, सम्भिन्नश्रोत-संपन्न, प्रवचन के प्रणेता, 'जिन नहीं पर जिन सदृश' गणधरों में प्रमुख गौतम स्वामी को यह शंका कैसे उत्पन्न हो सकती है कि मनःपर्यवज्ञान किसको उत्पन्न होता है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रश्न करने के अनेक कारण होते हैं—विवाद खड़ा करने के लिए, किसी ज्ञानी की परीक्षा के लिए, अपना पाण्डित्य सिद्ध करने के लिए, इत्यादि कारण उनके पूछने के नहीं हो सकते थे, क्योंकि गौतम स्वामी निरभिमानी एवं विनीत थे। हाँ, उनके भाव ये हो सकते हैं कि अपने जाने हुए विषय को स्पष्ट करने के लिए, नया ज्ञान सीखने के लिए, अन्य लोगों की शंका समाधान करने के लिए, दूसरों को ज्ञान कराने के लिए, उपस्थित शिष्यों का संशय दूर करने के लिए तथा जिनके मस्तिष्क में अभी यह सूझ-बूझ ही नहीं हुई, उन्हें भी अनायास ज्ञान हो जाए और साथ ही उनकी अभिरुचि संयम और तप की ओर विशेष आकृष्ट हो, इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किए हों, ऐसा संभव है।

इससे यह भी ध्वनित होता है, कि यदि ज्ञानी गुरुदेव प्रत्यक्ष में हों तो कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिए। उनके निकटस्थ शिष्य को विनीत बनकर ही ज्ञानवृद्धि के लिए पूछ-ताछ करते रहना चाहिए। प्रश्न करते हुए गौतम स्वामी अनेकान्तवाद को भूले नहीं और भगवान ने जो उत्तर दिया, वह भी अनेकान्तवाद की शैली से ही। अतः प्रश्नकार को प्रश्न करते समय और उत्तरदाता को उत्तर देते समय अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही संवाद करना चाहिए, इसी में सबका हित निहित है।

मूलम्—जइ मणुस्साणं, किं समुच्छिम-मणुस्साणं, गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! नो समुच्छिम-मणुस्साणं, गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं उपज्जइ।

छाया—यदि मनुष्याणां, किं सम्मूर्छिम-मनुष्याणां, गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां-(वा) उत्पद्यते ? गौतम ! नो सम्मूर्छिम-मनुष्याणां, गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणामुत्पद्यते।

पदार्थ—जइ—यदि मणुस्साणं—मनुष्यों को उत्पन्न होता है तो किं—क्या समुच्छिम—सम्मूर्छिम मणुस्साणं—मनुष्यों को अथवा गब्भवक्कंतिय—गर्भव्युत्क्रान्तिक मणुस्साणं—मनुष्यों को ? गोयमा ! गौतम ! नो समुच्छिम-मणुस्साणं—सम्मूर्छिम मनुष्यों को नहीं, गब्भवक्कंतिय—गर्भव्युत्क्रान्तिक मणुस्साणं—मनुष्यों को उपज्जइ—उत्पन्न होता है।

भावार्थ—यदि मनुष्यों को उत्पन्न होता है, तो क्या सम्मूर्छिम—(जो गर्भज मनुष्यों के मलादि में पैदा हों) मनुष्यों को अथवा गर्भव्युत्क्रान्तिक—(जो गर्भ से पैदा हों) मनुष्यों को ? गौतम ! सम्मूर्छिम मनुष्यों को नहीं, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों को उत्पन्न होता है।

टीका—इस गाथा में अवधिज्ञान के विषय का उपसंहार करते हुए शेष प्रतिपादनीय विषय का उल्लेख किया गया है। नैरयिक, देव और तीर्थंकर इनको निश्चय ही अवधिज्ञान होता है, इसलिए सूत्र-कर्त्ता ने ओहिस्सऽबाहिरा हुंति—'ये अवधिज्ञान के अबाह्य होते हैं' का कथन किया है। "नैरयिक-देव तीर्थंकरा अवधेरवधिज्ञानस्याबाह्या एव भवन्ति, बाह्या न कदाचनापि भवन्तीति भावः।" दूसरी विशेषता इनमें यह है कि उपर्युक्त तीनों को जो अवधिज्ञान है, वह सर्व दिशाओं और विदिशाओं का विषयक होता है। शेष, मनुष्य और तिर्यंच देश से प्रत्यक्ष करते हैं। पासंति सव्वओ खलु इस पद से ओहिस्सऽबाहिरा हुंति इस पद की सार्थकता हो जाती है। यह कोई नियम नहीं है कि अबाह्य अवधिज्ञानी सब ओर से ही देखते हैं, केवल उक्त तीन के लिए ही ऐसा नियम है। शेष, मनुष्य और तिर्यंच यदि अवधिज्ञान से अबाह्य हों, तो वे देश से देखते हैं, सर्व से नहीं। देव और नारकी अवधिज्ञान से आजीवन अबाह्य रहते हैं, किन्तु तीर्थंकर छद्मस्थकाल पर्यन्त ही अवधिज्ञान से अबाह्य होते हैं। जो नियमेन अवधिज्ञान वाले हैं, उन्हें अबाह्य कहते हैं। और जो अनियत अवधिज्ञान संपन्न हैं, उन्हें बाह्य कहते हैं। तीर्थंकर का अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक नहीं होता, अपितु परभव से समन्वित आगमन होता है। जिस आत्मा ने तीर्थंकर बनना हो, वह यदि २६ देवलोकों और ६ लोकान्तिक देवलोकों से च्यवकर आ रहा हो, तो वह विपुल मात्रा में अवधिज्ञान को लेकर आता है। वह यदि पहले, दूसरे और तीसरे नरक से आ रहा हो, तो अपर्याप्त अवस्था में अवधि-ज्ञान उतना ही होता है, जितना कि तत्रस्थ नारकी को, किन्तु पर्याप्त अवस्था में वह अवधिज्ञान युगपत् महान् बन जाता है। तीर्थंकरों का अवधिज्ञान अप्रतिपाति होता है। इस प्रकार अवधिज्ञान का निरूपण समाप्त हुआ।

मनःपर्यवज्ञान

मूलम्—से किं तं मणपज्जवनाणं ? मणपज्जवनाणे णं भंते ! किं मणुस्साणं उपज्जइ अमणुस्साणं ? गोयमा ! मणुस्साणं, नो अमणुस्साणं।

छाया—अथ किं तन्मनःपर्य्यवज्ञानं ? मनःपर्य्यवज्ञानं भदन्त ! किं मनुष्याणामुत्पद्यते, अमनुष्याणां (वा) ? गौतम ! मनुष्याणां, नो अमनुष्याणाम्।

पदार्थ—से किं तं—अथ वह मणपज्जवनाणं—मनःपर्य्यवज्ञान कितने प्रकार का है। ? भंते!—भगवन् ! मणपज्जवनाणे णं—मनःपर्य्यवज्ञान णं-वाक्यालंकार में है किं—क्या मणुस्साणं—मनुष्यों को उपज्जइ—उत्पन्न होता है या अमणुस्साणं—अमनुष्यों को ? गोयमा !—हे गौतम ? मणुस्साणं—मनुष्यों को होता है णो अमणुस्साणं—अमनुष्यों को नहीं।

भावार्थ—वह मनःपर्यायज्ञान कितने प्रकार का है ? हे भगवन् ! वह मनःपर्यायज्ञान क्या मनुष्यों को उत्पन्न होता है अथवा अमनुष्यों—देव, नारकी और तिर्यंचों को ?

भगवान् बोले—गौतम ! वह मनःपर्य्यवज्ञान मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है, अमनुष्यों को नहीं।

गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को, अकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—अकर्म-भूमिज गर्भज मनुष्यों को, अंतरदीवग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं? अन्तरद्वीपज-गर्भज मनुष्यों को गोयमा!—गौतम! कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों को, अकम्मभूमिय-गब्भ-वक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नो—नहीं, और अंतरदीवग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं अन्तरद्वीपज-गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों को नो—नहीं।

भावार्थ—यदि गर्भज मनुष्यों को मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होता है, तो क्या कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को, अकर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को अथवा अन्तरद्वीपज गर्भज मनुष्यों को? गौतम! कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को मनःपर्य्यव ज्ञान पैदा होता है, अकर्मभूमिज-गर्भज और अन्तरद्वीपज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

टीका—इस सूत्र में कर्मभूमिज गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यो को ही मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, किन्तु अकर्मभूमिज मनुष्यों को तथा अन्तरद्वीप के गर्भज मनुष्यों को नहीं, ऐसा कथन किया है। इस प्रकार विधि और निषेधरूप में भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर दिया है। इसके अनन्तर जिज्ञासु को जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कर्मभूमि और अकर्मभूमि की क्या परिभाषा है? पहले इसी को समझना आवश्यकीय है, क्योंकि पारिभाषिक शब्द ज्ञान के बिना स्वाध्याय में प्रगति नहीं होती।

कर्मभूमि और अकर्मभूमि

जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, कला, शिल्प, राजनीति विद्यमान हैं तथा—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएं, इस प्रकार चार तीर्थ स्व-स्व कर्त्तव्य पालन में प्रवृत्त हों, उसे कर्मभूमि कहते हैं। जो राजनीति और धर्मनीति प्रधान भूमि नहीं है, वह अकर्मभूमि कहलाती है। अकर्मभूमिज मानवों का जीवन यापन कल्पवृक्षों पर निर्भर है। ३० अकर्मभूमि और ५६ अन्तरद्वीप ये सब अकर्मभूमि या भोग भूमि कहलाते हैं, इनका सविस्तर वर्णन जीवाभिगमसूत्र में किया गया है। तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में भी काल के अधि-कार में युगलियों का प्रकरण जिज्ञासुओं के अध्ययन के योग्य है।

मूलम्—जइ कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं संखिज्जवासाउय—कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, असंखिज्जवासाउय-कम्मभूमिय गब्भवक्कं-तिय-मणुस्साणं? गोयमा! संखिज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणु-स्साणं, नो असंखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्, असंख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्? गौतम! संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्, नो असंख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्।

पदार्थ—जइ—यदि कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को, तो किं—

टीका—सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—मनःपर्यव ज्ञान मनुष्यों को हो सकता है, मनुष्येतर देव आदि को नहीं। जब प्रश्न विकल्प से किया जा रहा है, तब उत्तर भी विधि और निषेध रूप से दिया जा रहा है, जैसे कि प्रस्तुत सूत्र में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि मनःपर्यव ज्ञान यदि मनुष्य को ही उत्पन्न हो सकता है, तो मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, जैसे कि सम्मूर्छिम और गर्भज, इनमें से मनःपर्यव ज्ञान किसको उत्पन्न हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए प्रभु वीर ने कहा—गौतम ! गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न हो सकता है, सम्मूर्छिम मनुष्यों को नहीं। सम्मूर्छिम मनुष्य उन्हें कहते हैं, जो गर्भज मनुष्य के मल-मूत्र आदि अशुचि से उत्पन्न हों। उनका सविशेष वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद में निम्न प्रकार से किया है, जैसे कि—

"कहि णं भंते ! समुच्छिम मणुस्सा समूच्छंति ? गोयमा ! अंतोमणुस्स खेत्ते पणयालीसाए जोयण-सयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पनरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा, खेलेसु वा, सिंघाणेसु वा, वंतेसु वा, पित्तेसु वा, सुक्केसु वा, सोणिएसु वा, सोक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा, विगयजीव कलेवरेसु वा, थीपुरिससंजोएसु वा, गामनिद्धमणेसु वा, नगरनिद्धमणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु एत्थ णं समुच्छिम मणुस्सा समूच्छंति, अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए, असण्णी, मिच्छादिट्ठी, अण्णाणी, सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा, अंतमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति।" इस पाठ का यह भाव है—मनुष्य क्षेत्र ४५ लाख योजन लंबा-चौड़ा है, उसके अन्तर्गत अढाई द्वीपसमुद्रों, १५ कर्म-भूमि, ३० अकर्मभूमि, ५६ अन्तरद्वीप, इस प्रकार १०१ क्षेत्रों में गर्भज-मनुष्यों के मल, मूत्र, श्लेष्म, नाक की मैल, वमन, पित्त, रक्त-राध, वीर्य, शोणित, इनमें तथा शुष्क शुक्रपुद्गल आर्द्रित हुए में, स्त्री-पुरुष के संयोग में, शव में, नगर तथा गांव की गंदी नालियों में, और सर्व अशुचि स्थानों में सम्मूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी अवगहना अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र की होती है। वे असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, सब प्रकार की पर्याप्ति से अपर्याप्त, अन्तमुहूर्त में ही काल कर जाते हैं। अतः चारित्र का सर्वथा अभाव होने से, इनको मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण भगवान् ने कहा—गर्भज मनुष्यों को ही मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, सम्मूर्छिम मनुष्यों को नहीं।

मूलम्—जइ गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, अकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, अंतरदीवग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो अकम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मनुस्साणं, नो अंतरदीवग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, अकर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, अन्तरद्वीपज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो अकर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो अन्तर-द्वीपज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्।

पदार्थ—जइ—यदि गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों को, किं—क्या कम्मभूमिय-

संख्यातवर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, अप्पज्जत्तग—अपर्याप्त संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्ष आयुष्यक कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भवक्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को नो—नहीं उत्पन्न होता है।

भावार्थ—यदि संख्यातवर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है तो क्या पर्याप्त संख्यातवर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को या असंख्यात वर्ष आयुष्यवाले कर्म भूमिज गर्भज मनुष्यों को ? गौतम ! पर्याप्त संख्यात वर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, अपर्याप्त को नहीं।

टीका—इस सूत्र में गौतम स्वामी ने मनःपर्यवज्ञान के विषय में आगे प्रश्न किया है कि भगवन् ! संख्यातवर्ष की आयुवाले, कर्मभूमिज, गर्भजक मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त, इनमें से किन को उक्त ज्ञान हो सकता है ? इसका उत्तर भगवान ने दिया कि पर्याप्त मनुष्यों को हो सकता है, अपर्याप्त को नहीं।

पर्याप्त और अपर्याप्त

जिस कर्म प्रकृति के उदय से मनुष्य स्व-योग्य पर्याप्ति को पूर्ण करे, वह पर्याप्त और इससे विपरीत जिसके उदय से स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न कर सके, उसे अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्तियां ६ होती हैं, जैसे कि आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनः पर्याप्ति। इन का विशेष विवरण निम्न लिखित है—

(१) **आहार-पर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव आहार योग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके खल और रस रूप में बदलता है, वह आहार पर्याप्ति है।

(२) **शरीर-पर्याप्ति**—जिस शक्ति द्वारा रस-रूप में परिणत आहार को असृग्, मांस, मेधा, अस्थि, मज्जा, शुक्र-शोणित आदि धातुओं में परिणत करता है, उसे शरीर-पर्याप्ति कहते हैं।

(३) **इन्द्रिय-पर्याप्ति**—पांच इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके अनाभोग निर्वतित योग-शक्ति द्वारा उन्हें इन्द्रियपने में परिणत करने की शक्ति को इन्द्रिय-पर्याप्ति कहते हैं।

(४) **श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति**—उच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को जिस शक्ति के द्वारा ग्रहण करता और छोड़ता है, उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(५) **भाषा-पर्याप्ति**—जिस शक्ति के द्वारा आत्मा भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर भाषापने परिणत करता है, उसे भाषा-पर्याप्ति कहते हैं।

(६) **मनःपर्याप्ति**—जिस शक्ति के द्वारा आत्मा मनोवर्गणा-पुद्गलों को ग्रहणकर, उन्हें मन के रूप में परिणत करता है, उसे मनःपर्याप्ति कहते हैं। मन पुद्गलों का अवलंबन लेकर ही जीव संकल्प-विकल्प करता है।

आहार पर्याप्ति एक समय में ही हो जाती है, जैसे कि कहा है—"प्रथम आहारपर्याप्तिस्ततः शरीर-पर्याप्तिस्ततः इन्द्रियपर्याप्तिरित्यादि, । आहार पर्याप्तश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते, शेषास्तु प्रत्येकमन्त-र्मुहूर्तेन" जिस जीव में जितनी पर्याप्तियां पाई जाती हैं, वे सब हों, उसे पर्याप्त कहते हैं। एकेन्द्रिय में पहली

क्या संखिज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं-संख्यातवर्ष आयुष्क कर्मभूमिज गर्भव्युत्क्रान्ति मनुष्यों को असंखिज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?—असंख्यात वर्षायुष्क कर्मभूमि गर्भज मनुष्यों को ? गोयमा—गौतम ! संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—संख्यात वर्ष आयुष्कमनुष्यों को, असंखेज्ज-वासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—असंख्यात वर्ष आयु कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नो—नहीं होता।

भावार्थ—यदि कर्मभूमिज मनुष्यों को मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न होता है, तो क्या संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को अथवा असंख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों को ? गौतम ! संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है, असंख्यात वर्ष आयुष्य वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं।

टीका—गर्भजक मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं, संख्यात वर्ष की आयु वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले। इनमें से किस आयु वाले मनुष्य को मनःपर्यव ज्ञान हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने कहा—गौतम ! जो कर्मभूमिज, गर्भव्युत्क्रान्त संख्यात वर्ष की आयु वाले हैं, उन्हें मनःपर्यवज्ञान हो सकता है, असंख्यात वर्ष की आयु वाले को नहीं।

संख्यात वर्ष की आयु से तात्पर्य है, जिसकी आयु जघन्य ९ वर्ष की और उत्कृष्ट क्रोड़ पूर्व की हो, वह संख्यात वर्षायुष्क कहलाता है। इससे अधिक जिसकी आयु हो, उसे असंख्यात वर्ष की आयु वाला कहा जाता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाला मनुष्य मनःपर्यव ज्ञान का स्वामी नहीं हो सकता।

मूलम्—जइ संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं अप्पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो अप्पज्जत्तग-संखेज्ज-वासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्, अपर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्म-भूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्-क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो अपर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्।

पदार्थ—जइ—यदि संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—संख्यातवर्षायु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को तो किं—क्या पज्जत्तग—पर्याप्त संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कं-तिय-मणुस्साणं—संख्यात वर्ष आयु वाले कर्म भूमिज गर्भज मनुष्यों को या अप्पज्जत्तग—अपर्याप्त संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?—संख्यातवर्ष आयुवाले कर्म भूमिज गर्भज मनुष्यों को ? गोयमा ?—गौतम ! पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—

वार हो सकती है। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में पांच पर्याप्तियां हो सकतीं हैं, मन नहीं। संज्ञी मनुष्य में ६ पर्याप्तियां पाई जातीं हैं। यदि उनमें से न्यून हों, तो उसे अपर्याप्त कहते हैं। यदि ६ पर्याप्तियां पूर्ण हों, तो उसे पर्याप्त कहते हैं। प्रथम आहार पर्याप्ति को छोड़कर शेष पर्याप्तियों की समाप्ति अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाती है, जैसे कि कहा भी है—"यथा शरीरादिपर्याप्तिषु सर्वासामपि च पर्याप्तीनां परिसमाप्तिकालोऽन्तर्मुहूर्त-प्रमाणः।" इस स्थान में लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त[1] दोनों का निषेध किया गया है। अतः जो पर्याप्त हैं, वे ही मनुष्य, मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं।

मूलम्—जइ पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां नो, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्।

पदार्थ—जइ—यदि पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है तो किं—क्या सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग—सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्ष आयुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यों को मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग—मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्ष आयुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग—मिश्रदृष्टि पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ?

---

१. जिन्होंने पर्याप्त बनना ही नहीं, अपर्याप्त अवस्था में ही काल कर जाना है, उन्हें लब्धि अपर्याप्त कहते हैं और जिन्होंने नियमेन अपर्याप्त से पर्याप्त बनना है, वे करणापर्याप्त कहलाते हैं।

गोयमा !—गौतम सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग—सम्यग् दृष्टिपर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्म-भूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग—मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नो—नहीं और नो—न ही सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग—मिश्रदृष्टि पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है।

भावार्थ—यदि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है तो क्या सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्ष आयुवाले कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यों को, मिथ्या-दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को अथवा मिश्रदृष्टि पर्याप्त संख्येय वर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है ? गौतम ! सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, मिथ्यादृष्टि और मिश्र-दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

टीका—इस सूत्र में श्रमण भगवान महावीर के समक्ष गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि जो मनुष्य पर्याप्त, कर्मभूमिज, गर्भज, तथा संख्यात वर्ष की आयुवाले हैं, उनमें तीन दृष्टियाँ पाई जाती हैं—सम्यक्, मिथ्या और मिश्र, तो भगवन् ! मनःपर्यवज्ञान सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं, मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि भी प्राप्त करने में समर्थ हैं ? भगवान ने उत्तर दिया है कि उक्त विशेषणों से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही मनःपर्यवज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मिथ्यादृष्टि एवं मिश्रदृष्टि मनःपर्यवज्ञान प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

तीन दृष्टियाँ

जिसकी दृष्टि—विचारसरणी, आत्माभिमुख, सत्याभिमुख, जिनप्रणीततत्त्व के ही अभिमुख हो, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं अर्थात् जिसको तत्वों पर सम्यक् श्रद्धान हो, वही सम्यग्दृष्टि होता है। जिसकी दृष्टि उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत हो तथा विपरीत श्रद्धा हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जिसकी दृष्टि किसी पदार्थ के निर्णय करने में समर्थ न हो और न उसका निषेध ही करने में समर्थ हो, न सत्य को ग्रहण करता और न असत्य को छोड़ता ही है। जिसके लिए सत्य और असत्य दोनों समान ही हैं। जैसे मूढ़ व्यक्ति सोने और पीतल को परखने की शक्ति न होने से, दोनों को समान दृष्टि से देखता है, वैसे ही अज्ञानता से जो मोक्ष के अमोघ उपाय हैं, और जो बन्ध के हेतु हैं, दोनों को तुल्य ही समझता है। तथा जैसे कोई नाली-केर द्वीपवासी व्यक्ति, ऐसे देश में पहुँच गया जहाँ पर लोग प्रायः वासमती चावल खाते हैं। वह व्यक्ति भूख से पीड़ित हो रहा है। किसी ने उसके सम्मुख चावल आदि उत्तम पदार्थ थाली में परोस कर दिए। वह अज्ञ व्यक्ति भूख के कारण उदरपूर्ति अवश्य कर रहा है, परन्तु न तो उसकी उन पदार्थों में रुचि है और न उन पदार्थों की निन्दा ही करता है, क्योंकि उसने चावल आदि आहार पहले न देखा, न सुना और न खाया ही है। यही उदाहरण मिश्रदृष्टि पर घटित होता है मिश्रदृष्टि मनुष्य की न जीवादि पदार्थों पर श्रद्धा ही होती है और न उन की निन्दा ही करता है; दोनों को समान समझता है। अतः भगवान ने उत्तर देते हुए कहा—गौतम ! मनःपर्यवज्ञान न मिथ्यादृष्टि प्राप्त कर सकता है और न मिश्रदृष्टि, केवल सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं।

चार हो सकती है। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में पांच पर्याप्तियां हो सकतीं हैं, मन नहीं। संज्ञी मनुष्य में ६ पर्याप्तियां पाई जातीं हैं। यदि उनमें से न्यून हों, तो उसे अपर्याप्त कहते हैं। यदि ६ पर्याप्तियां पूर्ण हों, तो उसे पर्याप्त कहते हैं। प्रथम आहार पर्याप्ति को छोड़कर शेष पर्याप्तियों की समाप्ति अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाती है, जैसे कि कहा भी है—"यथा शरीरादिपर्याप्तिषु सर्वासामपि च पर्याप्तीनां परिसमाप्तिकालोऽन्तर्मुहूर्त-प्रमाणः।" इस स्थान में लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त[1] दोनों का निषेध किया गया है। अतः जो पर्याप्त हैं, वे ही मनुष्य, मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं।

मूलम्—जइ पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, सम्मा-मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भव क्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षा-युष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां नो, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्।

पदार्थ—जइ—यदि पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है तो किं—क्या सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग—सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्ष आयुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यों को मिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग— मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्ष आयुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग—मिश्रदृष्टि पर्याप्तक संखेज्ज-वासाउय—संख्यात वर्षायुष्क कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ?

---

१. जिन्होंने पर्याप्त बनना ही नहीं, अपर्याप्त अवस्था में ही काल कर जाना है, उन्हें लब्धि अपर्याप्त कहते हैं और जिन्होंने नियमेन अपर्याप्त से पर्याप्त बनना है, वे करणापर्याप्त कहलाते हैं।

भूमिज गर्भज मनुष्यों को या संयतासंयत—श्रावक सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सँख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है ? गौतम ! संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है, असंयत और संयतासंयत सम्यग्-दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

टीका—इस सूत्र में उपर्युक्त विशेषणों से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि मनुष्य मनःपर्यव ज्ञान के अधिकारी वताए हैं। इसके अनन्तर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—वे सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी तीन तरह के होते हैं, जैसे कि संयत, असंयत और संयतासंयत। इनमें से किनको मनःपर्यव ज्ञान हो सकता है ? महावीर स्वामी ने (विधि और निषेध से) उत्तर दिया, गौतम ! जो संयत हैं, उन्हीं को उक्त ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, असयत और संयतासंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य इस ज्ञान के पात्र नहीं हैं।

संयत, असंयत और संयतासंयत

जो सर्व प्रकार से विरत हैं तथा चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के कारण जिनको सर्व विरति रूप चारित्र की प्राप्ति हो गई है, उन्हें संयत कहते हैं। जिनका कोई नियम-प्रत्याख्यान नहीं है, जो चतुर्थ गुणस्थान में अवस्थित, अविरति सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें असंयत कहते हैं। यद्यपि असंयत मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि भी होते हैं, किन्तु पिछले सूत्र में उनका निषेध किया गया है। अतः यहाँ असंयत का आशय अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य से है। संयतासंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य श्रावक होते हैं। क्योंकि उनका प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों का देश (अंश) रूप से त्याग होता है, सर्वथा नहीं। संयतादि को क्रमशः विरत अविरत, विरताविरत। पण्डित, वाल, वालपण्डित, पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी भी कहते हैं। सारांश इतना ही है कि मनःपर्यव ज्ञान सर्वविरतियों को ही उत्पन्न हो सकता है, अन्य को नहीं।

मूलम्—जइ संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं, ? गोयमा ! अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं, नो पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि संयतसम्यग्दृष्टि—पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्याणाम्, अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भ-

मूलम्—जइ सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, असंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, संजयासंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो असंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो संजयासंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ।

छाया—यदि सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं संयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, असंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां? संयताऽसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाँ ? गौतम ! संयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्याणं नो संयताऽसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ।

पदार्थ—जइ—यदि सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—सँख्यात वर्ष वाले कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भवक्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को, किं—क्या संजय—संयत सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्त संखेज्जवासाउय—संख्यात वर्ष आयुवाले कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को; असंजय—असंयत सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्त संखेज्जवासाउय—संख्यात वर्ष वाले कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को, संजयासंजय—संयतासंयत सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय—सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ? गोयमा—गौतम ! संजय—संयत सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्त संखेज्जवासाउय—संख्यात वर्ष आयु वाले कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को, असंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय—आसंख्यत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष वाले कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं—कर्मभूमि गर्भज मनुष्यों को नो—नहीं होता और संजयासंजय—संयतासंयत सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग—सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संखेज्जवासाउय—संख्यात वर्ष वाले कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय— कर्मभूमिज गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को भी नो—नहीं होता ।

भावार्थ—यदि सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, तो क्या संयत—साधु सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को अथवा असंयत—असाधु सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्म-

भूमिज गर्भज मनुष्यों को या संयतासंयत—श्रावक सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सँख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है ? गौतम ! संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है, असंयत और संयतासंयत सम्यग्-दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

टीका—इस सूत्र में उपर्युक्त विशेषणों से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि मनुष्य मनःपर्यव ज्ञान के अधिकारी बताए हैं। इसके अनन्तर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—वे सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी तीन तरह के होते हैं, जैसे कि संयत, असंयत और संयतासंयत। इनमें से किनको मनःपर्यव ज्ञान हो सकता है ? महावीर स्वामी ने (विधि और निषेध से) उत्तर दिया, गौतम ! जो संयत हैं, उन्हीं को उक्त ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, असयत और संयतासंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य इस ज्ञान के पात्र नहीं हैं।

संयत, असंयत और संयतासंयत

जो सर्व प्रकार से विरत हैं तथा चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के कारण जिनको सर्व विरति रूप चारित्र की प्राप्ति हो गई है, उन्हें संयत कहते हैं। जिनका कोई नियम-प्रत्याख्यान नहीं है, जो चतुर्थ गुणस्थान में अवस्थित, अविरति सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें असंयत कहते हैं। यद्यपि असंयत मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि भी होते हैं, किन्तु पिछले सूत्र में उनका निषेध किया गया है। अतः यहाँ असंयत का आशय अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य से है। संयतासंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य श्रावक होते हैं। क्योंकि उनका प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों का देश (अंश) रूप से त्याग होता है, सर्वथा नहीं। संयतादि को क्रमशः विरत अविरत, विरताविरत। पण्डित, वाल, वालपण्डित, पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी भी कहते हैं। सारांश इतना ही है कि मनःपर्यव ज्ञान सर्वविरतियों को ही उत्पन्न हो सकता है, अन्य को नहीं।

मूलम्—जइ संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं, ? गोयमा ! अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं, नो पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

छाया—यदि संयतसम्यग्दृष्टि—पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्याणाम्, अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भ-

व्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ।

पदार्थ—जइ—यदि **संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग**—संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक **संखेज्जवासाउय**—संख्यातवर्ष आयुष्य वाले **कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय**.. कर्मभूमिज गर्भज **मणुस्साणं**—मनुष्यों को **किं**—क्या **पमत्तसंजय**—प्रमतसंयत **सम्मदिट्ठि**—सम्यगदृष्टि **पज्जत्तग**—पर्याप्त **संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय**—संख्यातवर्ष आयुष्य कर्मभूमिज **गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं**—गर्भज मनुष्यों को, **अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि**—अप्रमत्तसंयत सम्यगदृष्टि **पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय**—पर्याप्त संख्यातवर्ष आयुष्क **कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?**—कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ? **गोयमा ?**—गौतम ! **अप्पमत्तसंजय**—अप्रमत्त संयत **सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग**—सम्यगदृष्टि पर्याप्त **संखेज्जवासाउय**—संख्यातवर्षायु वाले **कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय**—कर्मभूमिज गर्भज **मणुस्साणं**—मनुष्यों को **पमत्तसंजय**—प्रमत्तसंयत **सम्मदिट्ठि**—सम्यगदृष्टि **पज्जत्तग**—पर्याप्तक **संखेज्जवासाउय**—संख्यातवर्षायु वाले **कम्मभूमिय**—कर्मभूमिज **गब्भवक्कंतिय**—गर्भज **मणुस्साणं**—मनुष्यों को **नो**—नहीं होता ।

भावार्थ—यदि संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है, तो क्या प्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्षायु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को या अप्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टिपर्याप्त संख्यातवर्ष आयुष्क कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ? गौतम ! अप्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यातवर्षायु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, प्रमत्त को नहीं ।

टीका—इस सूत्र में भगवान के समक्ष गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! यदि संयत को मन:पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, अन्य को नहीं तो संयत भी दो प्रकार के होते हैं—एक प्रमत्त और दूसरे अप्रमत्त, इनमें से उक्त ज्ञान का अधिकारी कौन है ? इसका उत्तर भी भगवान् ने पहले की तरह अस्ति-नास्ति के रूप में दिया है । अप्रमत्त संयत को मन:पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, प्रमत्त-संयत को नहीं । अर्थात् जो मनुष्य, गर्भजक, कर्मभूमिज, संख्येयवर्षायुष्क, पर्याप्त सम्यग्दृष्टि, संयत-अप्रमत्तभाव में हैं, उन्हीं को मन:पर्यव ज्ञान हो सकता है ।

अप्रमत्त और प्रमत्त

जो सातवें गुणस्थान में पहुँचा हुआ हो, जिसके परिणाम संयम के स्थानों में वृद्धि पा रहे हों । जिनकल्पी, परिहारविशुद्धिक, प्रतिमाप्रतिपन्न, कल्पातीत, इनको अप्रमत्त संयत कहते हैं । क्योंकि इनके परिणाम सदा सर्वदा संयम में ही अग्रसर होते हैं । जो मोहनीय कर्म के उदय से संज्वलन कषाय, निद्रा, विकथा, शोक, अरति, हास्य, भय, आर्त, रौद्र आदि अशुभ परिणामों में कदाचित् समय यापन करता है, उसे प्रमत्त संयत कहते हैं । उक्त ज्ञान उन्हें उत्पन्न नहीं हो सकता ।

मूलम्—जइ अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं इड्ढीपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग,

संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, अणिड्ढीपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ? गोयमा ! इड्ढीपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउयकम्म-भूमिय-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, नो अणिड्ढीपत्त-अप्पमत्त-संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिय-गब्भवक्कंति-यमणुस्साणं मणपज्जवनाणं समुप्पज्जइ ।।सूत्र १७।।

छाया—यदि अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, किं ऋद्धिप्राप्ताऽप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम्, अनृद्धिप्राप्ताऽप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येय-वर्षायुष्यक-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणाम् ? गौतम ! ऋद्धिप्राप्ताऽप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां, नो अनृद्धि-प्राप्ताऽप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां मनःपर्यवज्ञानं समुत्पद्यते ।।सूत्र १७।।

पदार्थ—जइ—यदि अप्पमत्तसंजय—अप्रमत्तसंयत सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्षायुष्क कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भवक्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को किं—क्या इड्ढीपत्त—ऋद्धिप्राप्त अप्पमत्तसंजय—अप्रमत्तसंयत सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्त संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्षायुष्क कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भवक्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को अणिड्ढीपत्त—अनृद्धिप्राप्त अप्पमत्तसंजय—अप्रमत्तसंयत सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग—सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्षायुष्य कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भवक्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को ? गोयमा—गौतम ! इड्ढीपत्त—ऋद्धिप्राप्त अप्पमत्तसंजय—अप्रमत्तसंयत सम्मदिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्षायुष्क कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भव-क्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को अणिड्ढीपत्त—अनृद्धिप्राप्त अप्पमत्तसंजय—अप्रमत्तसंयत सम्म-दिट्ठि—सम्यग्दृष्टि पज्जत्तग—पर्याप्तक संखेज्जवासाउय—संख्यातवर्षायुष्यक कम्मभूमिय—कर्मभूमिज गब्भवक्कंतिय—गर्भज मणुस्साणं—मनुष्यों को मणपज्जवनाणं—मनः पर्यायज्ञान नो—नहीं समुप्पज्जइ—समुत्पन्न होता।

भावार्थ—यदि अप्रमत्तसंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्षायुष्यवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है, तो क्या ऋद्धिप्राप्त—लब्धिधारी अप्रमत्तसंयत सम्यग्-दृष्टि पर्याप्त-संख्यातवर्षायु-कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यों को अथवा लब्धिरहित अप्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ? भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! ऋद्धिप्राप्त अप्रमादी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमि

में उत्पन्न गर्भज मनुष्यों को मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऋद्धिरहित अप्रमादी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्मभूमि में पैदा हुए गर्भज मनुष्यों को मनःपयर्याज्ञान-की प्राप्ति नहीं होती ॥ सूत्र १७ ॥

टीका—इससे पूर्व सूत्र में यह कथन किया गया है कि अप्रमत्तसंयत को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि ऐसे भी अप्रमत्त संयत हैं, जिन्हें उक्त ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इसका क्या कारण है ? इसका निराकरण करने के लिए गौतम स्वामी पुनः प्रश्न करते हैं—भगवन् ! यदि अप्रमत्तसंयत को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो वे भी दो प्रकार के होते हैं १ ऋद्धिप्राप्त और २ अनृद्धिप्राप्त। इनमें से उक्त ज्ञान का प्रादुर्भाव किन्ह में हो सकता है ? इसका उत्तर भगवान ने अन्वय और व्यतिरेक से दिया है, जो ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्तसंयत हैं, उनको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो सकता है, इतर को नहीं।

ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त

जो अप्रमत्त मुनिवर अतिशायिनी बुद्धि से सम्पन्न हैं तथा अवधिज्ञान, पूर्वगतज्ञान, आहारकलब्धि, वैक्रियलब्धि, विपुल तेजोलेश्या, विद्याचरण एवं जंघाचरण आदि लब्धि से संपन्न हैं, उन्हें ऋद्धिप्राप्त कहते हैं—जैसे कि कहा भी है—

"अवगाहते च स श्रुतजलधिं प्राप्नोति चावधिज्ञानम्।
मानसपर्यायं वा ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा ॥"

अतिशायिनी बुद्धि तीन प्रकार की होती है—१ कोष्ठकबुद्धि, २ पदानुसारिणी, ३ बीजबुद्धि। जिस प्रकार कोष्ठक में रखा हुआ धान्य सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञानी के मुखारविन्द से सुना हुआ श्रुतज्ञान जिस बुद्धि में ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है, उसे कोष्ठक बुद्धि कहते हैं। जो एक भी सूत्र-पद का निश्चय करके शेष तत्सम्बन्धित नहीं सुने हुए ज्ञान को भी तदनुरूप श्रुत का अवगाहन करती है, उसे पदानुसारिणी बुद्धि कहते हैं। जो एक अर्थपद को धारण करके शेष अश्रुत यथावस्थित प्रभूत अर्थों को ग्रहण करती है, उसे बीज बुद्धि कहते हैं। उक्त तीन बुद्धिएं परमातिशयरूप प्रवचन में कथन की गई हैं। उनसे जो संपन्न हैं, वे मुनि ऋद्धिमान कहलाते हैं। आदि पद से—आमोसही, विप्पोसही, खेलोसही, जल्लोसही, सव्वोसही लब्धियाँ ग्रहण की गयी हैं। जिनके स्पर्श करने मात्र से असाध्यरोग भी नष्ट होजाएं, ऐसी लब्धि सम्पन्न मुनिवर को आमोसही लब्धिप्राप्त कहते हैं। जिनका प्रश्रवण भी सब प्रकार के रोगों को नष्ट करने में समर्थ है, ऐसे संयत को विप्पोसही लब्धिप्राप्त कहते हैं। जिनका श्लेष्म भी महौषधि का काम करता है, ऐसे संयतों को खेलोसही लब्धिप्राप्त कहते हैं। जिनका सर्वाङ्ग शरीर ओषधिरूप हो गया है, उन संयतों को सव्वोसही लब्धिप्राप्त कहते हैं। इस प्रकार के अप्रमत्त संयतों को ऋद्धिप्राप्त कहते हैं, ऐसी विशिष्ट लब्धियाँ संयम और तप से प्राप्त होती हैं जो कि विश्वशान्ति के लिए सर्वोपरि हैं। कुछ लब्धियाँ औदयिक भाव से होती हैं और कुछ क्षयोपशमभाव से तथा कुछ क्षायिकभाव से भी।

जंघाचारण लब्धिसम्पन्न मुनिवरों को विशेष जिज्ञासा से जब कहीं यथाशीघ्र जाना होता है, तब उस लब्धि का प्रयोग करते हैं। वे बिना किसी वायुयान या राकेट के आकाश में गमन करते हैं, अपनी लब्धि से रुचकवर द्वीप तक ही जा सकते हैं। और विद्याचारण लब्धि वाले मुनिवर अधिक से अधिक नन्दीश्वर

द्वीप पर्यन्त ही जा सकते हैं। इनका पूर्ण विवरण भगवती सूत्र श० २० से जानना चाहिए। एतद् विषयक वर्णन वृत्तिकार ने निम्नलिखित पाँच गाथाओं में किया है, जैसे कि—

"अइसय-चरणसमत्था, जंघाविज्जाहि चारणा मणुओ।
जंघाहि जाइ पढमो, नीसं काउं रविकरेऽवि ॥१॥
एगुप्पाएण गओ रुयगवरम्मि उ तओ पडिनियत्तो।
बिइएणं नंदिस्सरमिह, तओ एइ तइएणं ॥२॥
पढमेण पण्डगवणं, बिइउप्पाएण नंदणं एइ।
तइउप्पाएण तओ, इह जंघाचारणो एइ ॥३॥
पढमेण माणुसोत्तरनगं, स नंदिस्सरं तु बिइएणं।
एइ तओ, तइएणं, कयचेइय वन्दणो इहयं ॥४॥
पढमेण नन्दणवणे, बिइउप्पाएण पण्डगवणम्मि।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ ॥५॥"

जिन अप्रमत्त संयतों को विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त हों, उन्हें ऋद्धिमान कहते हैं, इनसे विपरीत जो अप्रमत्त-संयत हैं, उन्हें अनृद्धिप्राप्त कहते हैं। अनृद्धिप्राप्त अप्रमत्तसंयत जीवन के किसी भी क्षण में संयम से विचलित हो सकते हैं किन्तु ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्तसंयत का जीवन के किसी भी क्षण में संयम से स्खलित होना असम्भव ही नहीं, नितान्त असम्भव है, अतः ऋद्धिमान का जीवन विश्व में महत्त्वपूर्ण होता है इसी कारण उन्हें मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त संयत भी दो भागों में विभाजित हैं, १ विशिष्ट ऋद्धिप्राप्त और २ सामान्य ऋद्धिप्राप्त। इनमें पहली कोटि के मुनिवर को प्रायः विपुलमति मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और ऋजुमति भी, किन्तु दूसरी कोटि के संयत को प्रायः ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान होता है और किसी को विपुलमति भी। विपुलमति मनःपर्यवज्ञान नियमेन अप्रतिपाति होता है, किन्तु ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान के लिए विकल्प है। इसकी पुष्टि सर्वजीवाभिगम की आठवीं प्रतिपत्ति से होती है। उसमें लिखा है कि मनःपर्यवज्ञान का अन्तर ज० अन्तर्मुहूर्त है और उ० अपार्द्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाण। यदि किसी ऋद्धिप्राप्त मुनिवर के जीवन में मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होकर लुप्त होने का प्रसंग आए तो वही ज्ञान पुनः अन्तर्मुहूर्त में उत्पन्न हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि मनःपर्यवज्ञान के उत्पन्न और लुप्त होने का प्रसंग एक ही भव में एक बार भी आ सकता है और अनेकबार भी। यह कथन ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान के विषय में समझना चाहिए, विपुलमति के विषय में नहीं।

जिस प्रकार यहां मनःपर्यवज्ञान-विषयक प्रश्नोत्तर हैं, ठीक उसी प्रकार आहारक शरीर के विषय में भी प्रश्नोत्तर लिखे गए हैं। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए यहां सारा पाठ न देकर सिर्फ भगवान का अन्तिम उत्तर ही दिया जा रहा है, जैसे कि—"गोयमा! इड्ढिपत्त-पमत्त-संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय कम्मभूमिय गब्भवक्कंतिय मणुस्सस्स आहारग सरीरं, णो अणिड्ढिपत्त पमत्त संजय सम्मदिट्ठि पज्जत्त संखेज्जवासाउय कम्मभूमिय गब्भवक्कंतिय मणुस्सस्स आहारग सरीरं।"[1] आहारक शरीर ऋद्धिप्राप्त प्रमत्त संयत को ही हो सकता है, किन्तु अप्रमत्त संयत को आहारक लब्धि नहीं होती, अपितु

---

१. देखिए प्रज्ञापना सूत्र, २१ वां पद।

मन:पर्यवज्ञान लब्धिप्राप्त अप्रमत्त संयत को ही होता है, प्रमत्त को नहीं।

आहारक लब्धि की उपलब्धि छठे गुणस्थान में होती है। उस शरीर का उद्भव और प्रयोग प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होता है। उपर्युक्त नौ शर्तें चार भागों में विभक्त हो जातीं हैं, जैसे कि पर्याप्तक, गर्भज और मनुष्य ये तीन द्रव्य में, कर्मभूमिज यह क्षेत्र में, संख्यात वर्षायुष्क यह काल में और सम्यग्दृष्टि-संयत-अप्रमत्त-लब्धिप्राप्त ये चार भाव में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री पूर्णतया प्राप्त होती है, तब मन:पर्यवज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होकर मन:-पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

मन:पर्यायज्ञान के भेद

मूलम्—तं च दुविहं उप्पज्जइ, तं जहा—उज्जुमई य विउलमई य, तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ।

तत्थ दव्वओ णं—उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ, पासइ, ते चेव-विउलमई अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ, पासइ।

खित्तओ णं—उज्जुमई य जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं, उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डगपयरे, उड्ढं जाव जोइ-सस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पन्न-रससु कम्मभूमिसु, तीसाए अकम्मभूमिसु, छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु संन्निपंचिंदि-याणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिं-मंगुलेहिं अब्भहियतरं, विउलतरं, विसुद्धतरं, वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ पासइ।

कालओ णं—उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइ भागं, उक्कोसए-णवि पलिओवमस्स असंखिज्जइ भागं—अतीयमणागयं वा कालं जाणइ, पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं, विउलतरागं, विसुद्धतरागं, वितिमिरतरागं जाणइ पासइ।

भावओ णं—उज्जुमई अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ, पासइ, तंचेव विउलमई अब्भहियतरागं, विउलतरागं, विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ, पासइ।

छाया—तच्च द्विविधमुत्पद्यते, तद्यथा—ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च, तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तः, तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो भावतः ।

तत्र द्रव्यत—ऋजुमतिरनन्तान् अनन्तप्रदेशिकान् स्कन्धान् जानाति, पश्यति, ताँश्चैव विपुलमतिरभ्यधिकतरान्, विपुलतरकान्, विशुद्धतरकान् वितिमिरतरकान् जानाति पश्यति ।

क्षेत्रत—ऋजुमतिश्च जघन्येनाऽङ्गुलस्याऽसंख्येयभागम्, उत्कर्षेणाऽधो यावदस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरितनानधस्तनान्, क्षुल्लकप्रतरान्, ऊर्ध्वं यावज्ज्योतिष्कस्योपरितनतलम्, तिर्यग्यावदन्तोमनुष्यक्षेत्रे—अर्द्धतृतीयेषु, द्वीपसमुद्रेषु, पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, त्रिंशदकर्मभूमिषु, षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपेषु, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानाँ मनोगतान् भावान् जानाति, पश्यति, तच्चैव विपुलमतिरर्द्धतृतीयैरङ्गुलैरभ्यधिकतरं, विपुलतरं, विशुद्धतरं, वितिमिरतरं क्षेत्रं जानाति पश्यति ।

कालत—ऋजुमतिर्जघन्येन पल्योपमस्याऽसंख्येयभागमुत्कर्षेणाऽपि पल्योपमस्याऽसंख्येयभागमतीतानागतं वा कालं जानाति पश्यति, तच्चैव विपुलमतिरभ्यधिकतरकं, विपुलतरकं, विशुद्धतरकं वितिमिरतरकं जानाति, पश्यति ।

भावत—ऋजुमतिरनन्तान् भावान् जानाति पश्यति, सर्वभावानामनन्तभागं जानाति, पश्यति, तच्चैव विपुलमतिरभ्यधिकतरं, विपुलतरकं, विशुद्धतरकं, वितिमिरतरकं जानाति पश्यति ।

पदार्थ—च—पुनः तं—वह ज्ञान दुविहं—दो प्रकार से उप्पज्जइ—उत्पन्न होता है, तंजहा—यथा उज्जुमई—ऋजुमति य—और विउलमई य—विपुलमति, 'च' शब्द स्वगत अनेक द्रव्य, क्षेत्रादि भेदों का सूचक है, तं—वह समासओ—संक्षेप से चउव्विहं—चार प्रकार का पन्नत्तं—प्रज्ञप्त है, तंजहा—जैसे—दव्वओ—द्रव्य से खित्तओ—क्षेत्र से कालओ—काल से भावओ—भाव से, तत्थ—उन चारों में दव्वओ णं—द्रव्य से 'णं' वाक्यालङ्कार में उज्जुमई—ऋजुमति अणंते—अनन्त अणंतपएसिए—अनन्त प्रदेशिक खंधे—स्कन्धों को जाणइ—जानता पासइ—देखता है, च—और एव—अवधारणार्थ में ते—उन स्कन्धों को विउलमई—विपुलमति अब्भियतराए—अधिकतर विउलतराए—प्रभूततर विसुद्धतराए—विशुद्धतर वितिमिरतराए—भ्रमरहित जाणइ—जानता पासइ—देखता है ।

खित्तओ णं—क्षेत्र से उज्जुमई य—ऋजुमति जहन्नेणं—जघन्य अंगुलस्स—अंगुल के असंखेज्जइ—भागं—असंख्यातवें भागमात्र उक्कोसेणं—उत्कर्ष से अहे—नीचे जाव—यावत् इमीसे—इस रयणप्पभाए—रत्नप्रभा पुढवीए—पृथ्वी के उवरिमहेट्ठिल्ले—ऊपर के नीचे खुड्डग पयरे—क्षुल्लकप्रतर को उड्ढं—ऊपर जाव—यावत् जोइसस्स—ज्योतिषचक्र के उवरिमतले—उपरितल को, तिरियं—तिर्यक् जाव—यावत् अंतोमणुस्सखित्ते—मनुष्यक्षेत्र पर्यन्त अड्ढाइज्जेसु—अढाई दीवसमुद्देसु—द्वीपसमुद्रों में पन्नरससु कम्म-

भूमिसु—पन्द्रह कर्मभूमियों में तीसाए अकम्मभूमिसु—तीस अकर्मभूमियों में छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु—छप्पन्न अन्तर द्वीपों में संन्निपंचेंदियाणं—संज्ञिपंचेन्द्रिय पज्जत्तयाणं—पर्याप्तों के मणोगए—मनोगत भावे—भावों को जाणइ—जानता पासइ—देखता है, तं चेव— उन्हीं भावों को विउलमई—विपुलमति अड्ढाइज्जेहिमगुलेहिं—अढाई अंगुल से अब्भहियतरं—अधिकतर विउलतरं—विपुलतर विसुद्धतरं—विशुद्धतर वितिमिरतरागं—वितिमिरतर खित्तं—क्षेत्र को जाणइ—जानता और पासइ—देखता है।

कालओ णं—काल से उज्जुमई—ऋजुमति जहन्नेणं—जघन्य से पलिओवमस्स—पल्योपम के असंखिज्जइ भागं—असंख्यातवें भाग को अतीयमणागयं—अतीत-अनागत वा—समुच्चयार्थ में कालं—काल को जाणइ—जानता पासइ—देखता है, तं चेव—उसी को विउलमई—विपुलमति अब्भहियतरागं कुछ अधिक विउलतरागं विपुलतर विसुद्धतरागं—विशुद्धतर वितिमिरतरागं विमितिरतर काल को जाणइ—जानता पासइ—देखता है।

भावओ णं—भाव से उज्जुमई—ऋजुमति अणंते—अनन्त भावे—भावों को जाणइ—जानता व पासइ—देखता है सव्वभावाणं सब भावों के अणंत भागं—अनन्तवें भाग को जाणइ—जानता पासइ—देखता है। तंचेव—उसी को विउलमई—विपुलमति अब्भहियतरागं—कुछ अधिक विउलतरागं—विपुलतर विसुद्धतरागं विशुद्धतर वितिमिरतरागं—वितिमिरतर भावं—भाव को जाणइ—जानता व पासइ—देखता है।

भावार्थ—और पुनः वह मनःपर्यव ज्ञान दो प्रकार से उत्पन्न होता है, यथा—ऋजुमति और विपुलमति। वह मनःपर्यवज्ञान दो प्रकार का होता हुआ भी चार प्रकार से है, यथा—

१. द्रव्यसे, २. क्षेत्र से, ३. काल से और ४. भाव से। उन चारों में भी—

१. द्रव्य से—ऋजुमति अनन्त अनन्तप्रदेशिक स्कन्धों को विशेष तथा सामान्य रूप से जानता व देखता है, विपुलमति उन्हीं स्कन्धों को कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध और तिमिर रहित जानता व देखता है।

२. क्षेत्र से—ऋजुमति जघन्य अङ्गुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को तथा उत्कर्ष से नीचे, इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्षुल्लक प्रतर को और ऊंचे ज्योतिष चक्र के उपरितल पर्यन्त, और तिर्यक्-तिरछे लोक में मनुष्यक्षेत्र के अन्दर-अढ़ाई द्वीपसमुद्र पर्यन्त—१५ कर्मभूमियों, ३० अकर्मभूमियों और ५६ अन्तर-द्वीपों में वर्त्तमान संज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मनोगत भावों को जानता व देखता है। और उन्हीं भावों को विपुलमति अढाई अंगुल से अधिक विपुल, विशुद्ध और निर्मलतर, तिमिर रहित क्षेत्र को जानता व देखता है।

३. काल से—ऋजुमति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग—भूत और भविष्यत् काल को जानता और देखता है। उसी

काल को विपुलमति उससे कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध और वितिमिर अर्थात् भ्रमरहित जानता व देखता है।

भाव की अपेक्षा—ऋजुमति अनन्त भावों को जानता और देखता है, परन्तु सब भावों के अनन्तवें भाग को जानता व देखता है। उन्हीं भावों को विपुलमति कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध और अन्धकार रहित जानता व देखता है।

टीका—इस सूत्र में 'से किं तं मणपज्जव नाणं ?' मनःपर्यवज्ञान का अधिकार प्रारम्भ होते ही प्रश्न किया कि मनःपर्यवज्ञान कितने प्रकार का है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया—'तं च दुविहं उपज्जइ, उज्जुमई य विउलमई य, मनः पर्यवज्ञान के मुख्यतया दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। यह ज्ञान किसी से सीखा या सिखाया नहीं जा सकता, वल्कि विशिष्ट साधना से स्वतः उत्पन्न होता है। यह ज्ञान गुणप्रत्ययिक ही है, अवधिज्ञान की तरह भवप्रत्ययिक नहीं। जो अपने विषय का सामान्य रूपेण प्रत्यक्ष करता है, वह ऋजुमति और जो उसी विषय को विशेष रूप से प्रत्यक्ष करता है, उसे विपुलमति मनःपर्यव ज्ञान कहते हैं। इस स्थान में सामान्य का अर्थ दर्शन से नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान सदा-सर्वदा विशेष ग्राही होता है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है। विपुलमति जितने विषय का प्रत्यक्ष करता है, उतना विषय ऋजुमति का नहीं है। उक्त ज्ञान का स्वामी कौन हो सकता है ? इसका समाधान १७ वें सूत्र में कर आए हैं। अब मनःपर्यवज्ञान का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्षेप से विषय का वर्णन सूत्रकार ने चार प्रकार से किया है, जैसे कि—

द्रव्यतः—मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशी स्कन्धों से निर्मित संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को तथा उनके द्वारा चिन्तनीय द्रव्य या वस्तु को मनःपर्यवज्ञानी स्पष्ट रूप से जानता व देखता है, वे चाहे तिर्यञ्च हों, मनुष्य या देव हों, उनके मन की क्या-क्या पर्यायें हैं ? कौन-कौन, किन्ह-किन्ह वस्तुओं का चिन्तन करता है ? इत्यादि उपयोग पूर्वक वह सब कुछ जानता व देखता है।

क्षेत्रतः—लोक के ठीक मध्य भाग में आकाश के आठ रुचक प्रदेश हैं। जहाँ से ६ दिशाएं और चार विदिशाएं प्रवृत्त होतीं हैं—पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊपर और नीचे जिन्हें विमला तथा तमा भी कहते हैं, ये छः दिशाएं कहलाती हैं। आग्नेय, नैऋत, वायव और ईशान इन्हें विदिशा-कोण भी कहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत कुण्डलाकार है, उसके अन्तर्गत अढाई द्वीप और समुद्र हैं। उसे समयक्षेत्र भी कहते हैं। उसकी लंबाई-चौड़ाई ४५ लाख योजन की है। इससे बाहर देव और तिर्यञ्च रहते हैं, मनुष्यों का अभाव है।

समय क्षेत्र में रहने वाले समनस्क जीवों के मन की पर्यायों को मनःपर्यवज्ञानी जानता व देखता है। विमला दिशा में सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र और तारों में रहने वाले देवों के तथा भद्रशाल वन में रहने वाले संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को भी मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष करते हैं। नीचे पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत ग्रामनगरों में रहे हुए संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को उपयोग पूर्वक प्रत्यक्ष करते हैं। यह मनःपर्यवज्ञान का उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र है—

वृत्तिकार इसका सविस्तर विवेचन निम्न प्रकार से लिखते हैं—

"अथ किमिदं पुष्कलावती [illegible] इति ? उच्यते, इह लोकाकाशप्रदेशा उपरितनाधस्तनप्रतरद्विकरहितया

विवक्षिता मण्डकाकारतया व्यवस्थिता: प्रतरमित्युच्यते, तत्र तिर्यग्लोकस्योर्ध्वाधोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ लघुक्षुल्लक प्रतरौ, तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकः, तत्र गोस्तनाकारश्चत्वार उपरितनाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः, एष एव रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां वा प्रवर्त्तकः, एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्यं, तौ च द्वौ सर्वलघूप्रतरावङ्गुलासंख्येयभागबाहल्यावलोकसंवर्तितौ रज्जुप्रमाणौ, तत एतयोरुपर्यन्येऽन्ये प्रतरास्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागवृद्धया वर्द्धमानास्तावद्द्रष्टव्य यावदूर्ध्वलोकमध्यं, तत्र पञ्चरज्जुप्रमाणः प्रतरः, तत उपर्यन्येऽन्ये प्रतरास्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागहान्या हीयमानास्तावदवसेया यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणः प्रतरः। इह ऊर्ध्वलोकमध्यवर्त्तिनं सर्वोत्कृष्टं पञ्चरज्जुप्रमाणं प्रतरमवधीकृत्यान्ये उपरितनाधस्तनाश्च क्रमेण हीयमानाः२ सर्वेऽपि क्षुल्लकप्रतरा इति व्यवह्रियन्ते यावल्लोकान्ते तिर्यग्लोके च रज्जुप्रमाणप्रतर इति। तथा तिर्यग्लोकमध्यवर्तिसर्वलघुक्षुल्लकप्रतरस्याधस्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागवृद्धया वर्द्धमानाः२ प्रतरास्तावद्वक्तव्या यावदधोलोकान्ते सर्वोत्कृष्टः सप्तरज्जुप्रमाणः प्रतरः, तं च सप्तरज्जुप्रमाणं प्रतरमपेक्ष्यान्ये उपरितनाः सर्वेऽपि क्रमेण हीयमानाः क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्ती सर्वलघुक्षुल्लकप्रतरः, एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा । तत्र तिर्यग्लोकमध्यवर्तिनः सर्वलघुरज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरादारभ्य यावदधो नव योजनशतानि तावदस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां ये प्रतरास्ते उपरितनक्षुल्लकप्रतरा भण्यन्ते, तेषामपि चाधस्ताद्ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्वान्तिमः प्रतरः तेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतराः, तान् यावदधः क्षेत्रत ऋजुमतिः पश्यति । अथवा अधोलोकस्योपरितनभागवर्तिनः क्षुल्लकप्रतरा उपरितना उच्यन्ते, ते चाधोलौकिकग्रामवर्त्तिप्रतरादारभ्य तावदवसेया यावत्तिर्यग्लोकस्यान्तिमोऽधस्तनप्रतरः, तथा तिर्यग्लोकस्य मध्यभागादारभ्याधो भागवर्तिनः क्षुल्लकप्रतरा अधस्तना उच्यन्ते, तत उपरितनाश्चाधस्तनाश्च उपरितनाधस्तनाः, तान् यावद् ऋजुमतिःपश्यति ।

अन्ये त्वाहुः—अधोलोकस्योपरिवर्तिन उपरितनाः, ते च सर्वतिर्यग्लोकवर्तिनो यदिवा तिर्यग्लोकस्याऽधो नवयोजनशतवर्तिनो द्रष्टव्याः, ततस्तेषामेवोपरितनानां क्षुल्लकप्रतराणां सम्बन्धिनो ये सर्वान्तिमाधस्तनाः क्षुल्लकप्रतरास्तान् यावत् पश्यति, अस्मिंश्च व्याख्याने तिर्यग्लोकं यावत्पश्यतीत्यापद्यते, तच्च न युक्तम्, अधोलौकिकग्रामवर्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्यपरिच्छेदप्रसंगात् ।

अथवा अधोलौकिकग्रामेष्वपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्याणि परिच्छिनत्ति, यत उक्तम्—

"इहाधोलौकिकान् ग्रामान्, तिर्यग्लोकविर्तिनः ।
मनोगतांस्त्वसौ भावान्, वेत्ति तद्वर्त्तिनामपि ॥"

तथा उड्ढं जाव इत्यादि–ऊर्ध्वं यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलस्तिर्यग्यावदन्तोमनुष्यक्षेत्रे मनुष्यलोकपर्यन्त इत्यर्थः।"

इस विषय में चूर्णिकार निम्न प्रकार लिखते हैं—

उवरिमहेट्ठिल्लाइं खुड्डागपयराइं इति, इमस्स भावणत्थं इमं पण्णविज्जइ—तिरियलोगस्स उड्ढाहो अट्ठारसजोयणसइयस्स बहुमज्झे एत्थ असंखेज्ज अंगुलभागमेत्ता लोगागासप्पयरा अलोगेण संवट्टिया सव्वखुड्डयरा खुड्डागपयर इति भणिया, ते य सव्वओ रज्जुप्पमाणा तेसिं जे य बहुमज्झे दो खुड्डागपयरा, तेसिं पि बहुमज्झे जम्बूद्दीवे रयणप्पभपुढवि बहुसमभूमिभागे मन्दरस्स बहुमज्झदेसे एत्थ अट्ठप्पएसो रुयगो, जत्तो दिसिविदिसिविभागो पवत्तो, एयं तिरियलोगमज्झं, एतातो तिरियलोगमज्झाओ रज्जुप्पमाण

खुड्डागप्पतरेहिन्तो उवरि तिरियं असंखेयंगुलभागवुड्ढी उवरिहिंतोऽवि अंगुलसंखेयभागारोहो चेव, एवं तिरिय-मुवरिं च अंगुल असंखेयभाग वुड्ढीए ताव लोग वुड्ढी णेयव्वा जाव उड्ढलोगमज्झं, तओ पुणो तेणेव कमेणं संवट्टो कायव्वो जाव उवरिं लोगन्तो रज्जुप्पमाणो, तओ य उड्ढलोगमज्झाओ उवरिं हेट्ठा य कमेण खुड्डा-गप्पयरा भाणियव्वा जाव रज्जुप्पमाणा खुड्डागप्पतरे त्ति, तिरियलोगमज्झरज्जुप्पमाणखुड्डागप्पतरेहिन्तोऽवि-हेट्ठा अंगुल असंखेयभागवुड्ढी तिरियं अहोवगाहेण वि अंगुलस्स असंखभागो चेव, एवं अधोलोगो वड्ढे-यव्व जाव अधोलोगन्तो सत्तरज्जुओ, सत्तरज्जुप्पयरेहिन्तो उवरुवरिं कमेण खुड्डागप्पयरा भाणियव्वा जाव तिरियलोगमज्झरज्जुप्पमाणा खुड्डागप्पयर त्ति। एवं खुड्डागपरूवणे कते इमं भण्णइ—उवरिमं ति तिरिय-लोगमज्झाओ अधो जाव णवजोयणसए ताव इमीए रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमखुड्डागप्पतर त्ति भण्णन्ति तदधो अधोलोगे जाव अहोलोइयगामवत्तिणो ते हिट्ठिम खुड्डागप्पतर त्ति भण्णन्ति, रिजुमई अधो ताव पासतीत्यर्थः। अथवा अहोलोगस्स उवरिमा खुड्डागप्पतरा, तिरियलोगस्स य हिट्ठिमा खुड्डागप्पयरा ते जाव पश्यतीत्यर्थः।

अण्णे भण्णन्ति—उवरिमत्ति अधोलोगोपरि ठिया जे ते उवरिमा, के य ते? उच्यते—सव्वतिरिय-लोग-वत्तिणो तिरियलोगस्स वा अहो णवजोयणसयवत्तिणो ताण चेव जे हेट्ठिमा ते जाव पश्यतीत्यर्थः, इमं ण घडइ अहोलोइयगाम मणपज्जवणाण संभवबाहल्लत्तणतो, उक्तं च—

"इहाधोलौकिकान् ग्रामान्, तिर्यग्लोकविवर्त्तिनः।
मनोगतांस्त्वसौ भावान्, वेत्ति तद्वर्तिनामपि॥"

इन दोनों आचार्यों का अभिप्राय इतना ही है कि मध्यलोक १८०० योजन का बाहल्य है अर्थात् मेरुपर्वत के समतल भूमि भाग से ९०० योजन ऊपर ज्योतिष्क मण्डल के चरमान्त तक और ९०० योजन नीचे क्षुल्लक प्रतर तक, जहाँ लोकाकाश के ८ रुचक प्रदेश हैं; वहाँ तक मध्यलोक कहलाता है।

आठ रुचक प्रदेशों के समतल प्रतर से १०० योजन नीचे की ओर पुष्कलावती विजय है, उसमें भी मनुष्यों की आबादी है। तीर्थंकर देव का शासन भी चलता है। ३२ विजयों में वह भी एक विजय है। वहां से एक समय में अधिक से अधिक २० सिद्ध हो सकते हैं। वहाँ सदा चौथे आरे जैसा भाव बना रहता है। सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र और तारे वहाँ पर भी इसी प्रकार प्रकाश देते हैं तथा प्रभाव डालते हैं, जैसे कि यहां। वह विजय मेरु के समतल भूमि भाग से हजार योजन नीचे की ओर तथा मध्यलोक की सीमा से सौ योजन नीची दिशा की ओर है। मनःपर्यायज्ञानी मध्यलोक में तथा पुष्कलावती विजय में रहे हुए संज्ञी[1] मनुष्य और तिर्यंचों के मनोगत भावों को भली भान्ति जानते हैं। उपयोग लगाने पर ही वे मन और तद्गत भावों को प्रत्यक्ष जानते व देखते हैं। मन की पर्याय ही मनःपर्याय ज्ञान का विषय है।

कालतः—मनःपर्यायज्ञानी मात्र वर्तमान को ही नहीं प्रत्युत अतीत काल में पल्योपम के असंख्यात-वें भाग पर्यन्त और इतना ही भविष्यत् काल को अर्थात् मन की जिन पर्यायों को हुए पल्योपम का असंख्य-तवां भाग हो गया है और जो मन की अनागत काल में पर्यायें होंगी, जिनकी अवधि पल्योपम के असंख्यात वें भाग की है, उतने भूत और भविष्यत्काल को वर्तमान काल की तरह भली-भांति जानता व देखता है।

भावतः—मनोवर्गणा के पुद्गलों से मन बनता है, वह मन संज्ञी एवं गर्भज पर्याप्त जीव को प्राप्त होता है, मनःपर्यवज्ञान का जितना क्षेत्रफल पहले लिखा जा चुका है, उसके अन्तर्गत जो समनस्क जीव हैं, वे

१. [illegible] सू० १३, उ० ४ में [illegible]।

संख्यात ही हो सकते हैं, असंख्यात नहीं। जब कि समनस्क जीव चारों गतियों में असंख्यात हैं, उनके मन की पर्यायों को नहीं जानता। मनः चतुःस्पर्शी होता है। मन का प्रत्यक्ष अवधिज्ञानी भी कर सकता है, किन्तु मन की पर्यायों को मनःपर्यायज्ञानी प्रत्यक्ष रूप से जानता व देखता है। जिस के मन में जिस वस्तु का चिन्तन हो रहा है, उसमें रहे हुए वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को तथा उस वस्तु की लम्बाई-चौड़ाई, गोल-त्रिकोण इत्यादि किसी भी प्रकार के संस्थान को, जानना वह भाव है। अथवा जिस व्यक्ति का मन औदयिक भाव, वैभाविक भाव और वैकारिक भाव से विविध प्रकार के आकार-प्रकार, विविध रंग-विरंग धारण करता है, वे सब मन की पर्यायें हैं। जो कुछ मन का चिन्तनीय बना हुआ है, तद्‌गत द्रव्य पर्याय और गुणपर्याय ही भाव कहलाता है, उसे उक्त ज्ञानी स्पष्टतया जानता व देखता है।

मनः पर्याय ज्ञानी किसी बाह्य वस्तु को, क्षेत्र को काल को तथा द्रव्यगत पर्यायों को नहीं जानता, अपितु जब वे किसी के चिन्तन में आ जाते हैं, तब मनोगत भावों को जानता है। जैसे बन्द कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति, बाहर होने वाले विशेष समारोह को तथा उसमें भाग लेने वाले पशु-पक्षी, पुरुष-स्त्री तथा अन्य वस्तुओं को टेलीविजन के द्वारा प्रत्यक्ष करता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही जो मनःपर्यव ज्ञानी हैं, वे चक्षु से परोक्ष जो भी जीव और अजीव हैं, उनका प्रत्यक्ष तब कर सकते हैं, जब कि वे किसी संज्ञी के मन में झलक रहे हों, अन्यथा नहीं। सैकड़ों योजन दूर रहे हुए किसी ग्राम-नगर आदि को मनःपर्यवज्ञानी नहीं देख सकते, यदि वह ग्राम आदि किसी के मन में स्मृति के रूप में विद्यमान हैं, तब उनका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य-अन्य उदाहरण समझने चाहिएं।

यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि अवधिज्ञान का विषय भी रूपी है और मनःपर्यव ज्ञान का विषय भी रूपी है, क्योंकि मन पौद्‌गलिक होने से वह रूपी है फिर अवधि ज्ञानी मन को तथा मन की पर्यायों को क्यों नहीं जान सकता ?

इसका समाधान यह है कि अवधिज्ञानी मन को तथा उस की पर्यायों को भी प्रत्यक्ष कर सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु उसमें झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता जैसे टेलीग्राम की टिक-टिक पठित और अपठित सभी प्रत्यक्ष करते हैं और कानों से टिक-टिक भी सुनते हैं, परन्तु उसके पीछे क्या आशय है ? इसे टेलीग्राम पर काम करने वाले ही समझ सकते है।

अथवा जैसे सैनिक दूर रहे हुए अपने साथियों को दिन में झण्डियों की विशेष प्रक्रिया से और रात को सर्चलाईट की प्रक्रिया से अपने भावों को समझाते और स्वयं भी समझते हैं, किन्तु अशिक्षित व्यक्ति झण्डों को और सर्चलाईट को देख तो सकता है तथा उनकी प्रक्रियाओं को भी देख सकता है। परन्तु उनके द्वारा दूसरे के मनोगत भावों को नहीं समझ सकता। इसी प्रकार अवधिज्ञानी मन को तथा मन की पर्यायों को प्रत्यक्ष तो कर सकता है, किन्तु मनोगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता जब कि मनःपर्यवज्ञानी का वह विशेष विषय है। यदि उसका यह विशेष विषय न होता तो मनःपर्यवज्ञान की अलग गणना करना ही व्यर्थ है।

शंका—ज्ञान तो अरूपी है, अमूर्त है जब कि मनःपर्यव ज्ञान का विषय रूपी है, वह मनोगत भावों को कैसे समझ सकता है ? और उन भावों का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? जब कि भाव अरूपी हैं—इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक भाव में जो ज्ञान होता है, वह एकान्त अरूपी नहीं होता, कथं-

चित् रूपी भी होता है। एकान्त अरूपी ज्ञान क्षायिक भाव में होता है, जैसे औदयिक भाव में जीव कथंचित् रूपी होता है, वैसे ही क्षायोपशमिक ज्ञान भी कथंचित् रूपी होता है, सर्वथा अरूपी नहीं। जैसे विशेष पठित व्यक्ति भाषा को सुनकर कहने वाले के भावों को और पुस्तकगत अक्षरों को पढ़ कर लेखक के भावों को समझ लेता है, वैसे ही अन्य-अन्य निमित्तों से भाव समझे जा सकते हैं। क्योंकि क्षायोपशमिक भाव सर्वथा अरूपी नहीं होता।

जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न देख रहा है, उसमें क्या दृश्य देख रहा है ? किससे क्या बातें कर रहा है ? क्या खा रहा है और क्या सूंघ रहा है ? उस स्वप्न में हर्षान्वित हो रहा है या शोकाकुल ? उस सुप्त व्यक्ति की जैसी अनुभूति हो रही है, उसे याथातथ्य मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं। जैसे स्वप्न एकान्त अरूपी नहीं है, वैसे ही क्षायोपशमिक भाव में मनोगत भाव भी अरूपी नहीं होते। जैसे स्वप्न में द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव साकार हो उठते हैं, वैसे ही चिन्तन-मनन—निदिध्यासन के समय मन में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव साकार हो उठते हैं। इससे मनःपर्यव ज्ञानी को जानने-देखने में सुविधा हो जाती है। जो मनोवैज्ञानिक शिक्षा के आधार पर दूसरे के भावों को समझते हैं, वह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ही विषय है, मनःपर्यव ज्ञान का नहीं, क्योंकि मनोवैज्ञानिक को पहले यत् किंचित् शिक्षा लेनी पड़ती है, उसके आधार पर वह भी सन्मुख स्थित व्यक्ति के यत् किंचित् मनोगत भावों को ही जानता है, दूर देश में रहे हुए प्राणी क्या संकल्प-विकल्प कर रहे हैं ? इसका ज्ञान, मानस शास्त्री को नहीं हो सकता, किन्तु मनःपर्यव-ज्ञानी दूर निकट, दीवार-पर्वत कुछ भी हो, मन की पर्यायों को जान सकता है, वह भी अनुमान से ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, जब कि मनोवैज्ञानिक अनुमान के द्वारा जानता है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण से। एक श्रुत ज्ञान से काम लेता है, जब कि दूसरा मनःपर्यवज्ञान से, यही दोनों में अन्तर है। अप्रतिपाति अवधि-ज्ञानी तथा परमावधिज्ञानी भी सलेश्यी मानसिक भावों को यत्किंचित् प्रत्यक्ष कर सकता है।

ऋजुमति और विपुलमति में अंतर

जैसे दो व्यक्तियों ने एम्० ए० की परीक्षा दी और दोनों उत्तीर्ण हो गए। विषय दोनों का एक ही था; उनमें से एक परीक्षा में सर्व प्रथम रहा और दूसरा द्वितीय श्रेणी में, इनमें दूसरे की अपेक्षा पहले को अधिक ज्ञान है, दूसरे को कुछ न्यून। बस इसी तरह ऋजुमति की अपेक्षा से विपुलमति का ज्ञान विशुद्धतर, अधिकतर एवं विपुलतर होता है। जैसे जगते हुए पचास कैण्डल पावर बल्ब की अपेक्षा सौ कैण्डलपावर का प्रकाश वितिमिरतर होता है, वैसे ही विपुलमति मनःपर्यवज्ञान, ऋजुमति की अपेक्षा वितिमिरतर होता है। वितिमिरतम ज्ञानप्रकाश तो केवलज्ञान में ही होता है। ऋजुमति कदाचित् प्रतिपाति भी हो सकता है, किन्तु विपुलमति को उसी भव में केवलज्ञान हो जाता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञानी सूक्ष्मतर विशेष अधिक और स्पष्ट रूप से जानता है। क्षयोपशमजन्य कोई भी ज्ञान जब अपने आप में पूर्ण हो जाता है, तब निश्चय ही उसे उस भव में केवलज्ञान हो जाता है, अपूर्णता में भजना है—हो और न भी हो।

जाणइ पासइ

जब मनःपर्यव ज्ञान का कोई दर्शन नहीं है, तब सूत्रकार ने "पासइ" क्रिया का प्रयोग क्यों किया है ? इसका समाधान यह है—जब ज्ञानी उक्त ज्ञान में उपयोग लगाता है, तब साकार उपयोग ही होता

है, अनाकार उपयोग नहीं। उस साकार के ही यहाँ दो भेद किए गए हैं—सामान्य और विशेष, ये ही दोनों भेद ऋजुमति के भी होते हैं, इसी प्रकार विपुलमति के भी दो भेद होते हैं। यहां सामान्य का अर्थ विशिष्ट साकार उपयोग और विशेष का अर्थ है, विशिष्टतर साकार उपयोग, ऐसा समझना चाहिए। मनःपर्यवज्ञान से जानने और देखनेरूप दोनों क्रियाएं होती हैं।[1] ऋजुमति को दर्शनोपयोग और विपुलमति को ज्ञानोपयोग समझना भी भूल है। क्योंकि जिसे विपुलमतिज्ञान हो रहा है, उसे ऋजुमति ज्ञान भी हो, ऐसा होना नितान्त असंभव है। क्योंकि इन दोनों के स्वामी एक ही नहीं, दो भिन्न-भिन्न स्वामी होते हैं।

अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान में अन्तर

(१) अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।

(२) अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र तीन लोक है, जब कि मनःपर्यवज्ञान का विषय केवल पर्याप्त संज्ञी जीवों के मानसिक संकल्प विकल्प ही हैं।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारों गतियों में पाए जाते हैं, किन्तु मनःपर्यव के स्वामी लब्धिसम्पन्न संयत ही हो सकते हैं, अन्य नहीं।

(४) अवधिज्ञान का विषय कुछ पर्याय सहित रूपी द्रव्य हैं, जब कि मनःपर्यव ज्ञान का विषय उसकी अपेक्षा अनन्तवां भाग है।

(५) अवधिज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विभङ्गज्ञान के रूप में परिणत हो सकता है, जब कि मनःपर्यव ज्ञान के होते हुए मिथ्यात्व का उदय होता ही नहीं अर्थात् मनःपर्यव ज्ञान का विपक्षी कोई अज्ञान नहीं है।

(६) अवधिज्ञान परभव में भी साथ जा सकता है, जब कि मनःपर्यव ज्ञान इहभविक ही होता है, जैसे संयम और तप।

मनःपर्यवज्ञान का उपसंहार

मूलम्—मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडणं।
माणुसखित्त निवद्धं, गुणपच्चइअं चरित्तवओ ॥६५॥
से त्तं मणपज्जव नाणं ॥सूत्र १८॥

छाया—मनः पर्यवज्ञानं पुन—र्जनमनपरिचिन्तितार्थप्रकटनम्।
मानुषक्षेत्रनिवद्धं, गुणप्रत्ययिकं चारित्रवतः ॥६५॥
तदेन्मनःपर्यवज्ञानम् ॥सूत्र १८॥

पदार्थ—पुण—पुनः मणपज्जवनाणं—मनःपर्यवज्ञान माणुसखित्त निवद्धं—मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए जण-मणपरिचिंतिअत्थ पागडणं—प्राणियों के मन में परिचिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाला है। तथा

१. देखें प्रज्ञापन सूत्र का पश्यता पद

गुणपच्चइअं—क्षान्ति आदि इसकी प्राप्ति के कारण हैं, और यह चरित्तवओ—चारित्रयुक्त अप्रमत्त संयत को ही होता है। से त्तं—इस प्रकार यह मणपज्जवनाणं—देश प्रत्यक्ष मनःपर्यवज्ञान का विषय है।

भावार्थ—पुनः मनःपर्यवज्ञान मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए प्राणियों के मन में परिचिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाला है। तथा क्षान्ति आदि इस ज्ञान की प्राप्ति के कारण हैं और यह चारित्रयुक्त अप्रमत्त संयत को ही होता है। इस प्रकार यह देशप्रत्यक्ष मनःपर्यवज्ञान का विषय है॥ सूत्र १८॥

टीका—इस गाथा में उक्त विषय का उपसंहार किया गया है, प्रस्तुत गाथा में जन शब्द का प्रयोग किया है, जायत इति जनः इस व्युत्पत्ति के अनुसार न केवल जन का अर्थ मनुष्य ही है, बल्कि समनस्क जीव को भी जन कहते हैं। मनुष्यलोक जो कि दो समुद्र और अढाई द्वीप तक ही सीमित है। उस मर्यादित क्षेत्र में यावन्मात्र मनुष्य, तिर्यंच, संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा देव हैं, उनके मन में जो सामान्य और विशेष संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे सब मनःपर्यवज्ञान के विषयान्तर्गत हैं। इस गाथा में गुणपच्चइयं तथा चरित्तवओ ये दो पद महत्त्वपूर्ण हैं। अवधिज्ञान जैसे भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक दो प्रकार का होता है, वैसे मनःपर्यवज्ञान भवप्रत्ययिक नहीं है, केवल गुणप्रत्ययिक ही है। अवधिज्ञान तो श्रावक और प्रमत्त संयत को भी हो जाता है, किन्तु मनःपर्यवज्ञान चारित्रवान को ही प्राप्त हो सकता है। जो ऋद्धिप्राप्त-अप्रमत्त-संयत हैं, वस्तुतः एकान्त चारित्र से उन्हीं का जीवन ओत-प्रोत होता है। अतः गाथा में चरित्तवओ शब्द का प्रयोग किया है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं "गुणाः क्षान्त्यादयस्ते प्रत्ययः कारणं यस्य तद्गुणप्रत्ययः चारित्रवतोऽप्रमत्तसंयतस्य" इससे साधक को साधना में अग्रसर होने के लिए मधुर प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार मनःपर्यवज्ञान का तथा विकलादेश प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय समाप्त हुआ॥सूत्र १८॥

केवलज्ञान

मूलम्—से किं तं केवलनाणं? केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवत्थ-केवलनाणं च, सिद्धकेवलनाणं च।

से किं तं भवत्थ-केवलनाणं? भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च, अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च।

से किं तं सजोगिभवत्थ-केवलनाणं? सजोगिभवत्थ-केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—पढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च, अपढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च। अहवा चरमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च, अचरमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च। से त्तं सजोगिभवत्थ-केवलनाणं।

से किं तं अजोगिभवत्थ-केवलनाणं? अजोगिभवत्थ-केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं,

तं जहा—पढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च, अपढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च। अहवा—चरमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च, अचरमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च। से त्तं अजोगिभवत्थ-केवलनाणं, से त्तं भवत्थ-केवलनाणं ॥सूत्र १९॥

छाया—अथ किं तत् केवलज्ञानम्? केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—भवस्थ केवलज्ञानञ्च, सिद्ध-केवलज्ञानञ्च।

अथ किं तद् भवस्थ-केवलज्ञानम्? भवस्थ-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च, अयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च।

अथ किं तत् सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानम्? सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च, अप्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च। अथवा—चरमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च, अचरमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च। तदेतत् सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानम्।

अथ किं तदयोगिभवस्थ-केवलज्ञानम्? अयोगिभवस्थ-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रथमसमयऽयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चाप्रथमसमयाऽयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च। अथवा—चरमसमयाऽयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चाऽचरमसमयाऽयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्च। तदेतदयोगिभवस्थ-केवलज्ञानं, तदेतद्भवस्थ-केवलज्ञानम् ॥सूत्र १९॥

पदार्थ—से किं तं केवलनाणं—वह केवलज्ञान कितने प्रकार का है? केवलनाणं—केवलज्ञान दुविहं—दो प्रकार का पण्णत्तं—प्रतिपादन किया गया है, तं जहा—जैसे भवत्थकेवलनाणं च—भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलनाणं च—सिद्धकेवलज्ञान, 'च' स्वगत अनेक भेदों का सूचक है।

से किं तं भवत्थ-केवलनाणं?—वह भवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है? भवत्थ-केवलनाणं—भवस्थ-केवलज्ञान दुविहं—दो प्रकार का पण्णत्तं—प्रतिपादित है, तं जहा—यथा—सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान और अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—अयोगिभवस्थ केवलज्ञान।

से किं तं सजोगिभवत्थ-केवलनाणं?—वह सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का पण्णत्तं—वर्णन किया गया है? सजोगिभवत्थ-केवलनाणं—सयोगिभवस्थ केवल ज्ञान दुविहं—दो प्रकार का पण्णत्तं—प्रज्ञपित है, तं जहा—जैसे पढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—प्रथम समय सयोगिभवस्थ केवल ज्ञान और अपढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—अप्रथम समय सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान-अहवा—अथवा चरमसमय-सयोगिभवत्थ-केवलनाणं च—चरमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान और अचरम-समय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—अचरम समय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान। से त्तं सजोगिभवत्थ-केवल-नाणं—इस तरह यह सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान है।

से किं तं अजोगिभवत्थ-केवलनाणं?—वह अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है? अजो-

सिद्धभवत्थ-केवलनाणं—अजोगिभवत्थ-केवलनाणं दुविहं—दो प्रकार का पण्णत्तं—कहा गया है, तं जहा—जैसे—पढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—प्रथम समय अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान और अपढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च—अप्रथमसमय अयोगिभवस्थ केवलज्ञान। अहवा—अथवा चरमसमय-अजोगि-भवत्थ-केवलनाणं च—चरमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान और अचरमसमय-अजोगि भवत्थ-केवलनाणं—अचरमसमय-अयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान. से त्तं—यह भवत्थ-केवलनाणं—भवस्थ-केवलज्ञान है।

भावार्थ—भगवन् ! वह केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

गौतम ! केवलज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—१. भवस्थ-केवलज्ञान और २. सिद्धकेवलज्ञान।

वह भवस्थ केवलज्ञान कितने प्रकार का है ? भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया है, जैसे—१. सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान और २. अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान।

शिष्य ने फिर पूछा—भगवन् ! वह सयोगिभवस्थ केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

भगवान् बोले—गौतम ! सयोगिभवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकार का है, जैसे—प्रथमसमय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—जिसे उत्पन्न हुए प्रथम ही समय हुआ है और अप्रथम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—जिस ज्ञान को पैदा हुए अनेक समय हो गए हैं।

अथवा—अन्य भी दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे—

१. चरम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—सयोगि अवस्था में जिसका अन्तिम समय शेष रह गया है।

२. अचरम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—सयोगि अवस्था में जिस के अनेक समय शेष रहते हैं। इस प्रकार यह सयोगिभवस्थ केवलज्ञान का वर्णन है।

शिष्य ने फिर पूछा—भगवन् ! वह अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरु उत्तर में बोले—अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान दो प्रकार का है, यथा—

१. प्रथमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान,

२. अप्रथमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान,

अथवा—१. चरमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान,

२. अचरमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान।

इस प्रकार यह अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ। यही भवस्थ-केवलज्ञान है।

टीका—इस सूत्र में भवस्थकेवल ज्ञान का वर्णन किया गया है। अरिहन्त भगवान और सिद्ध भगवान में केवल ज्ञान तुल्य होने पर भी यहाँ उसके दो भेद किए गए हैं, जैसे कि १ भवस्थ [illegible]

और २ सिद्ध केवल ज्ञान। ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का सर्वथा उन्मूलन करने से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान मलावरण विक्षेप से सर्वथा रहित एवं पूर्ण है। सूर्य लोक में जो प्रकाश है, वह जैसे अन्धकार से मिश्रित नहीं है, प्रकाश ही प्रकाश है, वैसे ही केवलज्ञान भी एकान्त प्रकाश ही है। वह एक बार उदय होकर फिर कभी अस्त नहीं होता। वह इन्द्रिय, मन और बाह्य किसी वैज्ञानिक साधन की सहायता से निरपेक्ष है। विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो केवल ज्ञान की निःसीम ज्योति को बुझा दे। वह ज्ञान सादि अनंत है और सदा एक जैसा रहने वाला है तथा उससे बढ़ कर अन्य कोई ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान मनुष्य भव में उत्पन्न होता है, अन्य किसी भव में नहीं। उस की अवस्थिति देह और विदेह दोनों अवस्थाओं में पाई जाती है। अत एव सूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—वह ज्ञान दो प्रकार का होता है—भवस्थ केवल ज्ञान और सिद्ध केवल ज्ञान। आयु-पूर्वक मनुष्य देह में अवस्थित केवल ज्ञान को भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि— **"तत्रेह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्योऽन्यत्र केवलोत्पादाभावाद्, भवे तिष्ठन्ति-इति भवस्थाः"** देहरहित आत्मा को सिद्ध कहते हैं, वे भी केवलज्ञान युक्त होते हैं। अतः सूत्रकार ने सिद्ध केवल ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है।

भवस्थ केवल ज्ञान के दो भेद किए हैं— सयोगि भवस्थ-केवलज्ञान और अयोगिभवस्थ केवलज्ञान। वीर्यात्मा (आत्मिक शक्ति) से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, उस से जो मन, वचन और काय में व्यापार होता है, उसी को योग कहते हैं। वह योग पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योग निरुन्धन होने से करण योग नहीं पाया जाता। आध्यात्मिक साधना के चौदह स्थान-दर्जे-स्टेजें हैं, जिन को जैन परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। बारहवें गुणस्थान में वीतराग दशा तो उत्पन्न हो जाती है, किन्तु उस में केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश के पहले समय में ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः उसे प्रथम समय-सयोगिभवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं। जिसे तेरहवें गुणस्थान में रहते हुए अनेक समय होगए हैं, उसे अप्रथम समय-सयोगिभवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं। अथवा जो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर पहुँच गया है, उसे चरम समय सयोगिभवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं और जो तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में अभी नहीं पहुँचा, उसे अचरम समय सयोगि-भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं। अयोगिभवस्थ केवल ज्ञान के दो भेद हैं। जिस केवलज्ञानालोकित आत्मा को चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किए पहला ही समय हुआ है, उसे प्रथम समय-अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं और जिसे प्रवेश किए अनेक समय होगए हैं, उसे अप्रथम समय-अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसे सिद्ध होने में एक समय शेष रहता है, उसे चरम समय-अयोगि-भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं और जिसे सिद्ध होने में अनेक समय रहते हैं, ऐसे चौदहवें गुणस्थान के स्वामी को अचरम समय अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, तावन्मात्र काल पर्यन्त चौदहवें गुणस्थान की स्थिति है, अधिक नहीं। इसी को दूसरे शब्दों में शैलेशी अवस्था भी कहते हैं। तत्पश्चात् आत्मा सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है।

जो आठ कर्मों से सर्वथा विमुक्त होगए हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं, अजर, अमर, अविनाशी, परब्रह्म, परमात्मा, सिद्ध, ये उनके पर्यायवाची नाम हैं। वे सिद्ध, राशिरूप में सब एक हैं और संख्या में अनन्त हैं। उन में जो केवलज्ञान है, उसे सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने निम्न प्रकार से

की है, जैसे कि "षिधू संराद्धौ, सिध्यति स्म सिद्धः, यो येन गुणेन परिनिष्ठितो न पुनः साधनीयः स सिद्ध उच्चते, यथा सिद्ध ओदनः स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः, अथवा सितं-बद्धं ध्मातं-भस्मीकृतमष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः, पृषोदरादय इति रूपसिद्धिः, सकलकर्मविनिर्मुक्तो मुक्तावस्थामुपगत इत्यर्थः।" इस का भाव यह है कि जिन्ह आत्माओं ने आठ प्रकार के कर्मों को भस्मीभूत कर दिया है अथवा जो सकल कर्मों से विनिर्मुक्त होगए हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। यद्यपि सिद्ध शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है, जैसे कि कर्म-सिद्ध, शिल्पसिद्ध, विद्यासिद्ध, मंत्रसिद्ध, योगसिद्ध, आगमसिद्ध, अर्थसिद्ध, यात्रासिद्ध, तपःसिद्ध, कर्मक्षय-सिद्ध, तदपि प्रसंगानुसार यहाँ कर्मक्षयसिद्ध का ही अधिकार है। उक्त प्रकार के सिद्धों का निम्नलिखित गाथा में वर्णन किया है, जैसे कि—

"कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे य आगमे।
अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय॥"

भवस्थ केवलज्ञानी अरिहंत, आप्त, जीवन्मुक्त कहलाते हैं और सिद्ध केवलज्ञानी को पारंगत और विदेहमुक्त कहा जाता है।

भारतीय दर्शनों में मीमांसकों का कहना है कि जीव अल्पज्ञ है और अल्पज्ञ ही रहेगा, वह कभी भी सर्वज्ञ नहीं बन सकता और न सर्वज्ञ-सर्वदर्शी विशेषण युक्त कोई ईश्वर ही है। पातंजल योगदर्शन, न्याय और वैशेषिक दर्शन ये सर्वज्ञवाद को मानते हैं, किन्तु साथ ही आत्मा के विशिष्ट गुणों से रहित होने को ही निर्वाण या मुक्त होना भी मानते हैं। इसी प्रकार सांख्यदर्शन और बौद्ध दर्शन का अभिमत है। वे मुक्तावस्था में सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते और न अल्पज्ञता को। उन की इस विषय में यह दोषापत्ति है कि ज्ञान से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, जब आत्मा में ज्ञान सर्वथा लुप्त हो जाता है तब उस में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। यही मान्यता बौद्धों की है, किन्तु जैन दर्शन की यह मान्यता है कि केवल ज्ञान सादि-अनन्त है, वह एक समय विशिष्ट संयम और तप की प्रक्रिया से आत्मा में प्रकट होता है, फिर कभी भी नष्ट नहीं होता। केवलज्ञान राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-मोह का और मल-आवरण-विक्षेप का जनक नहीं है बल्कि इन सब के नष्ट होने पर ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह आत्मलक्ष्यी होता है। वीतराग दशा में ज्ञान खेद का कारण नहीं बनता, बल्कि परमानन्द का कारण होता है।

इस सूत्र से यह मान्यता बिल्कुल स्पष्ट एवं निःसन्देह सिद्ध होती है कि मुक्तात्मा में केवलज्ञान विद्यमान है, वह दीपक की तरह बुझने वाला नहीं और सूर्य की तरह अस्त होने वाला भी नहीं है, वह आत्मा का निजगुण है। केवलज्ञान जैसे शरीर में प्रकाश करता है, वैसे ही शरीर के सर्वथा अभाव होने पर भी। क्योंकि कर्मक्षयजन्य गुण कभी भी लुप्त नहीं होते। ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति, इन गुणों के पूर्ण विकास को ही कैवल्य कहते हैं। ये गुण,आत्मा की तरह अविनाशी सहभावी अरूपी और अमूर्त हैं। अतः सिद्धों में इन गुणों का सद्भाव अनिवार्य है।

सिद्ध केवल ज्ञान

मूलम्—से किं तं सिद्धकेवलनाणं? सिद्धकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अणंतरसिद्धकेवलनाणं च, परंपरसिद्धकेवलनाणं च ॥सूत्र २०॥

छाया—अथ किं तत् सिद्धकेवलज्ञानम् ? सिद्ध केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अनन्तर सिद्धकेवलज्ञानं च, परम्परसिद्ध केवलज्ञानञ्च ॥सूत्र २०॥

पदार्थ—से किं तं सिद्धकेवलनाणं ?—वह सिद्धकेवलज्ञान कितने प्रकार का है ? सिद्धकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं—सिद्धकेवलज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, तंजहा—जैसे कि अणंतर-सिद्धकेवलनाणं च—अनन्तर सिद्धकेवलज्ञान और परंपर सिद्धकेवलनाणं च—परंपर सिद्धकेवलज्ञान ।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया, गुरुदेव ! वह सिद्धकेवलज्ञान कितने प्रकार का है ? गुरुदेव जी उत्तर में बोले, भद्र ! वह दो प्रकार का वर्णित है, यथा—१ अनन्तर सिद्धकेवलज्ञान और २ परंपर सिद्धकेवलज्ञान ।

टीका—जैन दर्शन के अनुसार तैजस और कार्मण शरीर से आत्मा का सर्वथा पृथक् हो जाना ही मोक्ष है । वैदिक परम्परा में सूक्ष्म शरीर जिसे लिङ्ग तथा कारण शरीर भी कहते हैं, उससे जब आत्मा अलग हो जाता है, उसी को मोक्ष माना है, वास्तव में भाव दोनों का एक ही है । सिद्ध भगवान् एक की अपेक्षा से सादि-अनन्त है और बहुतों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, उनका अस्तित्व सदा काल भावी है । इन्सान से ही भगवान बनता है । ऐसा कोई सिद्ध नहीं, जो इन्सान से भगवान न बना हो । आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही सिद्धावस्था है । अपूर्ण से पूर्ण होना ही सिद्धत्व है । अरिहन्त भगवान जो कि जीवन्मुक्त और आप्त होते हैं, उन्होंने अपने केवलालोक से सिद्ध भगवन्तों को प्रत्यक्ष किया है, तदनु उन्होंने सिद्धों का स्वरूप, एवं अस्तित्व बताया है, वे सत् हैं, गगनारविन्द की तरह नितान्त असत् नहीं हैं । जिनमें ज्ञान और आनन्द अविनाशी हों, उन्हें सच्चिदानन्द कहते हैं । सिद्ध बनने की योग्यता भव्यों में है, अभव्यों में नहीं ?

इस सूत्र में सिद्ध केवलज्ञान के दो भेद किए हैं—एक वे जिन्हें सिद्ध हुए एक ही समय हुआ है और दूसरे वे जिन्हें सिद्ध हुए दो से लेकर अधिक समय हो गए हैं । उन्हें क्रमशः अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान और परम्पर सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं ।

वृत्तिकार ने जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए सिद्धप्राभृत ग्रंथ के आधार से सिद्धस्वरूप का उल्लेख किया है, जैसे—

१. आस्तिकद्वार—सिद्ध के अस्तित्व होने पर ही आगे विचार किया जाता है ।
२. द्रव्यद्वार—अर्थात् जीवद्रव्य का प्रमाण, वे एक समय में कितने सिद्ध हो सकते हैं ?
३. क्षेत्रद्वार—सिद्ध किस क्षेत्र में विराजित हैं ? इसका विशेष वर्णन ।
४. स्पर्शद्वार—सिद्ध कितना स्पर्श करे ? इसका विवेचन ।
५. कालद्वार—जीव कितने काल तक निरन्तर सीझें ?
६. अन्तरद्वार—सिद्धों का विरह काल कितना है ?
७. भावद्वार—सिद्धों में कितने भाव पाए जाते हैं ?
८. अल्पबहुत्वद्वार—सिद्ध, कौन, किससे न्यूनाधिक है ?

ये आठ द्वार हैं, प्रत्येक द्वार पर १५ उपद्वार क्रमशः घटाए हैं, वे उपद्वार ये हैं—१ क्षेत्र, २ काल, ३ गति, ४ वेद, ५ तीर्थ, ६ लिङ्ग, ७ चारित्र, ८ बुद्ध, ९ ज्ञान, १० अवगहना, ११ उत्कृष्ट, १२ अन्तर,

१३ अनुसमय, १४ संख्या, १५ अल्पबहुत्व। सबसे पहले इन १५ उपद्वारों का अवतरण आस्तिक द्वार पर करते हैं, जैसे—

१. आस्तिकद्वार

१. क्षेत्रद्वार—अढाई द्वीप के अन्तर्गत १५ कर्मभूमि से सिद्ध होते हैं। साहरण आश्रयी दो समुद्र, अकर्मभूमि, अन्तरद्वीप, ऊर्ध्वदिशा में पण्डुकवन, अधोदिशा में अधोगामिनी विजय से भी जीव सिद्ध होते हैं।

२. कालद्वार—अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे के उतरते समय[1] और चौथा आरा सम्पूर्ण तथा पाँचवें आरे में ६४ वर्ष तक सिद्ध हो सकते हैं। उत्सर्पिणीकाल के तीसरे आरे में और चौथे आरे में कुछ काल तक सिद्ध हो सकते हैं। तत्पश्चात् अकर्मभूमिज प्रारम्भ हो जाते हैं।

३. गतिद्वार—केवल मनुष्य गति से ही सिद्ध हो सकते हैं, अन्य गति से नहीं। पहली चार नरकों से, पृथ्वी-पानी और बादर वनस्पति से, संज्ञी तिर्यंच-पंचेन्द्रिय, मनुष्य, भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवताओं से निकले हुए जीव मनुष्य गति में सिद्ध हो सकते हैं।

४. वेदद्वार—वर्तमान काल की अपेक्षा अवगतवेदी सिद्ध होते हैं। पहिले चाहे उन्होंने तीनों वेदों का अनुभव किया हो।

५. तीर्थद्वार—जब किसी भी तीर्थंकर का शासन चल रहा हो, उसमें से प्रायः अधिक सिद्ध होते हैं। कोई-कोई अतीर्थ में भी सिद्ध हो जाते हैं।

६. लिङ्गद्वार—द्रव्य से स्वलिङ्गी, अन्यलिङ्गी और गृहलिङ्गी सिद्ध होते हैं, किन्तु भाव से स्वलिङ्गी ही सिद्ध होते हैं, अन्य नहीं।

७. चारित्रद्वार—कोई सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात से, कोई सामायिक, छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात से तथा कोई पांचों चारित्रों से सिद्ध होते हैं। वर्तमान काल में केवल यथाख्यात चारित्र से सिद्ध होते हैं, किन्तु यथाख्यात चारित्र के बिना कोई भी सिद्ध नहीं होते।

८. बुद्धद्वार—प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध और बुद्धबोधित इन तीनों से सिद्ध होते हैं।

९. ज्ञानद्वार—वर्तमान की अपेक्षा केवल केवलज्ञान से सिद्ध होते हैं। किन्तु पूर्वानुभव की अपेक्षा से मति, श्रुत और केवलज्ञान से। कोई मति, श्रुत- अवधि और केवलज्ञान से तथा कोई मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यव और केवलज्ञान से सिद्ध होते हैं।

१०. अवगाहनाद्वार—जघन्य दो हाथ, मध्यम सात हाथ और उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की अवगाहना वाले सिद्ध होते हैं।

११. उत्कृष्टद्वार—कोई सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद प्रतिपाति होकर, देशोन अर्द्धपुद्गल-परावर्तन होने पर सिद्ध होते हैं और कोई अनन्त काल के बाद सिद्ध होते हैं। कोई असंख्यात काल के बाद

---

१. [illegible]

सिद्ध होते हैं तथा कोई संख्यात काल के बाद सिद्ध होते हैं और कोई बिना प्रतिपाति हुए सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं।

१२. अन्तरद्वार--सिद्ध होने का विरह जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट ६ मास। तत्पश्चात् अवश्य ही कोई न कोई सिद्ध हो जाता है।

१३. अनुसमयद्वार—जघन्य दो समय तक और उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

१४. संख्याद्वार—जघन्य एक समय में एक सिद्ध हो, उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध हों। इससे अधिक नहीं होते।

१५. अल्पबहुत्वद्वार—एक समय में दो, तीन सिद्ध होने वाले स्वल्प जीव हैं। उनसे एक सिद्ध होने वाले संख्यात गुणा हैं।

२. द्रव्यद्वार

१. क्षेत्रद्वार—ऊर्ध्वदिशा में एक समय में चार सीझें। जैसे कि निषधपर्वत और मेरु आदि के शिखर तथा नन्दनवन में से चार, नदी नालों में तीन, समुद्र में दो, पण्डकवन में दो, तीस अकर्मभूमि क्षेत्रों में से प्रत्येक में दस-दस, ये सब साहरण की अपेक्षा से समझने चाहिए। प्रत्येक विजय में ज० २०, उत्कृष्ट १०८। पन्दरह कर्मभूमि क्षेत्रों में एक समय में उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हो सकते हैं। उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में अधिक से अधिक एक समय में १०८ आत्माएँ सिद्ध हो सकती हैं, अधिक नहीं।

२. कालद्वार—अवसर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे में एक समय में अलग-अलग उत्कृष्ट १०८, पाँचवे आरे में २० सिद्ध हो सकते हैं। उत्सर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे में भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। शेष सात आरों में एक समय में दस-दस सिद्ध हों, वह भी साहरण की दृष्टि से ही ऐसा हो सकता है। वैसे तो उन आरों में तज्जन्य आश्रयी सिद्ध नहीं होते।

३. गतिद्वार—रत्नप्रभा, शर्करप्रभा और वालुकाप्रभा नरक से निकले हुए एक समय में दस सीझें। पंकप्रभा से निकले हुए चार, समुच्चय तिर्यञ्च से निकले हुए दस, संज्ञी तिर्यञ्च से दस, तिर्यञ्च से निकले हुए दस। विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय से निकले हुए मनःपर्यवज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सिद्ध नहीं होते। पृथ्वी, अप् से आए हुए दो, वनस्पति से छः, मनुष्यगति से आए हुए बीस, पुलिङ्ग से निकले हुए बीस, स्त्री से दस, देवगति से आए हुए एक सौ आठ सिद्ध हों। भवनपति से दस, उनकी देवी से आए पांच, वानव्यन्तर से दस, देवी से पांच, ज्योतिषी देवों से दस, देवियों से बीस और वैमानिक देवों से आए हुए एक समय में १०८, उनकी देवियों से आए हुए एक समय २० सिद्ध हो सकते हैं।

४. वेदद्वार—एक समय में स्त्री २०, पुरुष १०८ और नपुंसक १० सिद्ध हो सकते हैं। पुरुष मर कर पुरुष बनकर १०८ सिद्ध हो सकते हैं। शेष[1] आठ भांगों में दस-दस हो सकते हैं।

---

१. १. पुरुष मर कर स्त्री, २. पुरुष मर कर नपुंसक, ३. स्त्री मर कर स्त्री, ४. स्त्री मर कर पुरुष, ५. स्त्री मर कर नपुंसक, ६. नपुंसक मर कर स्त्री, ७. नपुंसक मर कर पुरुष, ८. नपुंसक मर कर नपुंसक।

५. तीर्थंकरद्वार—पुरुष तीर्थंकर एक समय में चार, स्त्री तीर्थंकर दो सिद्ध हो सकते हैं।

६. बुद्धद्वार—एक समय में प्रत्येक-बुद्ध दस, स्वयंबुद्ध चार बुद्ध-बोधित एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं।

७. लिङ्गद्वार—एक समय में गृहलिङ्गी चार, अन्यलिङ्गी दस, स्वलिङ्गी एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं।

८. चारित्रद्वार—सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र पालकर एक समय में एक सौ आठ, एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र वालों का भी ऐसा ही समझना, पांचों की अराधना करने वाले एक समय में दस सिद्ध हो सकते हैं।

९. ज्ञानद्वार—पूर्व भव की अपेक्षा से एक समय में मति एवं श्रुतज्ञान वाले उत्कृष्ट-चार, मति, श्रुत व मनःपर्यव ज्ञान वाले दस, चार ज्ञान के धरता केवलज्ञान प्राप्त करके एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं, अधिक नहीं।

१०. अवगहनाद्वार—एक समय में ज० अवगहना वाले उत्कृष्ट चार, मध्यम अवगहना वाले उत्कृष्ट एक सौ आठ, उत्कृष्ट अवगहना वाले दो सिद्ध हो सकते हैं।

११. उत्कृष्टद्वार—अनन्तकाल के प्रतिपाति पुनः सम्यक्त्व स्पर्श करें तो एक समय में एक सौ आठ, असंख्यातकाल एवं संख्यातकाल के प्रतिपाति दस-दस। अप्रतिपाति सम्यक्त्वी चार सिद्ध हो सकते हैं।

१२. अंतरद्वार—एक समय का अंतर पाकर, दो समय, तीन समय अथवा चार समय अन्तर पाकर सिद्ध हों, इसी क्रम से आगे भी समझना।

१३. अनुसमयद्वार—यदि आठ समय पर्यन्त निरन्तर सिद्ध होते रहें, तो पहले समय में ज० एक, दो, तीन, उत्कृष्ट ३२, इसी क्रम से दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें छठे, सातवें और आठवें समय में समझना। फिर नौवें समय में निश्चित अन्तर पड़े। यदि ३३ से लेकर ४८ निरन्तर सिद्ध हों, तो सात समय पर्यन्त, आठवें समय में अवश्य अन्तर पड़ जाता है। यदि ४९ से लेकर ६० पर्यन्त निरन्तर सिद्ध हों, तो ६ समय तक, सातवें में अन्तर पड़ जाता है। यदि ६१ से लेकर ७२ तक निरन्तर सिद्ध हों, तो उत्कृष्ट ५ समय पर्यन्त ही, तत्पश्चात् नियमेन विरह पड़ जाता है। यदि ७२ से लेकर ८४ पर्यन्त सिद्ध हों तो चार समय तक सिद्ध हो सकते हैं, पांचवें समय में अवश्य अन्तर पड़ जाता है। यदि ८५ से लेकर ९६ पर्यन्त सिद्ध हों तो तीन समय पर्यन्त ही। यदि ९७ से लेकर १०२ सिद्ध हों, तो निरन्तर दो समय तक, तदनुनियमेन अन्तर पड़ जाता है। यदि पहले समय में ही एक सौ तीन से लेकर १०८ सिद्ध हों, तो दूसरे समय में अन्तर अनिवार्य पड़ता है।

१४. संख्याद्वार—एक समय में ज० एक, उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हों।

१५. अल्पबहुत्व—पूर्वोक्त प्रकार से ही है।

३. क्षेत्रद्वार

मनुष्यक्षेत्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है, जिसमें अढाई द्वीप और लवण समुद्र कालोदधि समुद्र हैं। उसमें कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ से जीव ने सिद्ध गति को प्राप्त न किया हो। जब कोई जीव

सिद्ध होता है, तो वह उपर्युक्त द्वीप-समुद्रों से ही हो सकता है। अढाई द्वीप से वाहर जंघाचरण और विद्याचरण लब्धि से ही जाया जा सकता है। परन्तु वहाँ रहते हुए जीव क्षपक श्रेणि में आरूढ नहीं हो सकता, उसके बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, केवलज्ञान हुए बिना सिद्ध गति प्राप्त नहीं कर सकता। यह द्वार समाप्त हुआ। इसमें भी १५ उपद्वार पहले की भान्ति समझ लेना।

४. स्पर्शद्वार

जो भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं, जो आगे अनन्त सिद्ध होंगे, वे सब आत्मप्रदेशों से परस्पर मिले हुए हैं, जहां एक है, वहां अनन्त सिद्ध विराजित हैं। जहां अनन्त हैं, वहां एक है। प्रदेशों से वे एक दूसरे से मिले हुए हैं, जैसे हजारों-लाखों प्रदीपों का प्रकाश एकीभूत होने से किसी को किसी प्रकार की अड़चन या बाधा नहीं है, वैसे ही सिद्धों के विषय में समझ लेना चाहिए।

"फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं नियमो सिद्धो।
ते उ असंखेज्जगुणा, देस पएसेहिं जे पुट्ठा॥"

यहां पर भी १५ उपद्वार पहले की तरह जानने चाहिएं। विशेषता न होने से उनका यहां वर्णन नहीं किया गया।

५. कालद्वार

जिन क्षेत्रों से एक समय में १०८ सिद्ध हो सकते हैं, वहां से निरन्तर आठ समय तक सिद्ध हों, जिस क्षेत्र में २० या १० सिद्ध हो सकते हैं, वहां चार समय तक निरन्तर सिद्ध हों, जहां से २,३,४ सिद्ध हो सकते हैं, वहां दो समय तक निरन्तर सिद्ध हों, उक्तं च—

"जहिं अट्ठसयं सिज्झइ, अट्ठ उ समया निरन्तरं कालो।
वीस दसएसु चउरो, सेसा सिज्झन्ति दो समए॥"

इसमें भी क्षेत्रादि उपद्वार घटाते हैं, जैसे कि—

१. क्षेत्रद्वार—एक समय में १५ कर्मभूमि में १०८ उत्कृष्ट सिद्ध होते हैं, वहां निरन्तर आठ-समय तक सीझें। अकर्मभूमि में तथा अधोलोक में चार समय तक सीझें। नन्दन वन, पण्डुक वन और लवण समुद्र में निरन्तर दो समय तक सीझें, ऊर्ध्वलोक में निरन्तर चार समय तक सिद्ध हो सकते हैं।

२. कालद्वार—प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के तीसरे तथा चौथे आरे में निरन्तर आठ-आठ समय तक, शेप आरकों में ४-४ समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।'

३. गतिद्वार—देवगति से आए हुए उत्कृष्ट आठ समय तक, शेप तीन गतियों से चार-चार समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

४. वेदद्वार—जो पूर्वजन्म में भी पुरुप, इस भव में भी पुरुप हों, वे इस प्रकार उत्कृष्ट ८ समय तक, शेप आठ भांगों में ४ समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

५. तीर्थद्वार—किसी भी तीर्थंकर के शासन में उत्कृष्ट आठ समय तक तथा पुरुप तीर्थंकर और स्त्री तीर्थंकर निरन्तर दो समय तक सिद्ध हो सकते हैं, अधिक नहीं।

६. लिंगद्वार—स्वलिंग में आठ समय तक, अन्यलिंग में चार समय तक, गृहलिंग में उत्कृष्ट निरंतर २ समय तक सिद्ध हो सकते हैं।

७. चारित्रद्वार—जिन्होंने क्रमशः पांच चारित्र पाले हैं, वे उत्कृष्ट चार समय तक, शेष तीन या चार चारित्र की आराधना करने वाले उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

८. बुद्धद्वार—बुद्ध बोधित आठ समय तक, स्वयं बुद्ध दो समय तक, साधारण साधु या साध्वी के द्वारा प्रतिबुद्ध हुए चार समय तक निरन्तर सीझें।

९. ज्ञानद्वार—मति और श्रुत ज्ञान से केवली हुए दो समय तक, मति-श्रुत-मनःपर्यवज्ञान से केवली हुए चार समय तक, मति-श्रुत; अवधि-मनःपर्यवज्ञान से केवली हुए आठ समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

१०. अवगहनाद्वार—उत्कृष्ट अवगहना वाले दो समय तक, मध्यम अवगहना वाले निरन्तर आठ समय तक, जघन्य अवगहना वाले दो समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

११. उत्कृष्टद्वार—अप्रतिपाति सम्यक्त्वी दो समय तक, संख्यात एवं असंख्यातकाल-प्रतिपाति उत्कृष्ट चार समय तक, अनन्तकाल प्रतिपाति सम्यक्त्वी उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

(शेष चार उपद्वार घटित नहीं होते)

६. अंतरद्वार

सिद्धस्थान में सिद्ध होने का कितना अन्तरा पड़े?

१. क्षेत्रद्वार—समुच्चय अढ़ाई द्वीप में विरह ज॰ १ समय का उ॰ ६ मास का। जम्बूद्वीप के महाविदेह और धातकीखण्ड के महाविदेह से उ॰ पृथक्त्व (२ से ९ तक) वर्ष का, पुष्करार्द्धद्वीप में एक वर्ष से कुछ अधिक काल का अन्तर पड़ सकता है।

२. कालद्वार—जन्म की अपेक्षा से—५ भरत, ५ ऐरावत में अन्तर पड़े तो १८ कोडाकोड सागरोपम से कुछ न्यून[1] क्योंकि उत्सर्पिणी काल में चौथे आरक के आदि में २४ वें तीर्थंकर का शासन संख्यात काल तक चलता है, तदनु विच्छेद हो जाता है। अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में पहले तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं, उनका शासन तीसरे आरे में एक लाख पूर्व तक चलता है, इस कारण न्यून कहा है। उस शासन में से सिद्ध हो जाते हैं, उसके व्यवच्छेद होने पर उस क्षेत्र में जन्मे हुए सिद्ध नहीं हो सकते। साहरण की अपेक्षा से उ॰ अन्तर संख्यात हजार वर्ष का है।

३. गतिद्वार—नरक से निकले हुए सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व सहस्र वर्ष का, तिर्यंच से निकले हुए सिद्धों का अन्तर पृथक्त्व १०० वर्ष का, तिर्यंची और सुधर्म-ईशान देवलोक के देवों को छोड़ कर शेष सभी देवों से आए हुए सिद्धों का अन्तर १ वर्ष कुछ अधिक, एवं मानुषी का अन्तर, स्वयंबुद्ध होने

१. [illegible]

का संख्यात हज़ार वर्ष का। पृथ्वी, पानी, वनस्पति, सौधर्म-ईशान देवलोक के देव, और दूसरी नरक इनसे निकले हुए जीवों के सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर हज़ार वर्ष का होता है, जघन्य सर्व स्थानों में एक समय का जानना।

४. वेदद्वार—पुरुषवेदी से अवेदी होकर सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर वर्ष से कुछ अधिक, किन्तु स्त्री और नपुँसक से सिद्ध होने वालों का उत्कृष्ट अन्तर संख्यात हज़ार वर्ष का है। पुरुष मरकर पुनः पुरुष बन कर सिद्ध होने का उ० अन्तर वर्ष से कुछ अधिक है। शेष आठ भांगों के प्रत्येक भांगे के अनुसार संख्यात हज़ार वर्षों का अन्तर है। प्रत्येक बुद्ध का भी इतना ही अन्तर है। ज० सर्व स्थानों में एक समय का है।

५. तीर्थंकरद्वार—तीर्थंकर का मुक्ति जाने का उ० अन्तर पृथक्त्व हज़ार पूर्व, और स्त्री तीर्थंकर का उ० अनन्त काल, अतीर्थंकरों का उ० अन्तर वर्ष से अधिक, नोतीर्थ सिद्धों का संख्यात हज़ार वर्ष (नोतीर्थ प्रत्येक बुद्ध को कहते हैं) ज० अन्तर सर्व स्थानों में एक समय का क्योंकि कहा भी है—

"पुव्वसहस्सपुहुत्तं, तित्थगर-अणन्तकाल तित्थगरी।
णो तित्थगरावासाहिगन्तु, सेसेसु संख समा॥"

६. लिङ्गद्वार—स्वलिङ्गीसिद्ध होने का अन्तर ज० १ समय, उ० १ वर्ष कुछ अधिक, अन्य-लिंगी और गृह-लिंगी सिद्ध होने का अन्तर उ० संख्याते सहस्र वर्ष का जानना चाहिए।

७. चारित्रद्वार—पूर्व भाव की अपेक्षा से सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र पालकर सिद्ध होने का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक काल का, शेष चारित्र वालों का अर्थात् छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि चारित्र का अन्तर १८ क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम से कुछ अधिक का। क्योंकि ये दोनों चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में पहले और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होते हैं।

८. बुद्धद्वार—बुद्ध बोधित हुए सिद्ध होने का उ० अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का, शेष प्रत्येक बुद्ध तथा साध्वी से प्रतिबोधित हुए सिद्ध होने का संख्याते हज़ार वर्ष का, स्वयं-बुद्ध का अन्तर पृथक्त्व सहस्र पूर्व का जानना चाहिए।

९. ज्ञानद्वार—मति-श्रुत ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होने वालों का अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण। मति, श्रुत, अवधिज्ञान से केवल ज्ञान पाने वाले सिद्ध होने का अन्तर वर्ष से कुछ अधिक। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव ज्ञान से केवल ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होने वालों का उ० अन्तर संख्यात सहस्र वर्ष का जानना चाहिए।

१०. अवगहनाद्वार—जघन्य और उत्कृष्ट अवगहना वाले का अन्तर यदि कल्पना से १४ राजूलोक को घन बनाया जाए तो सात राजूलोक होता है। उसमें में से एक प्रदेश की श्रेणी सात राजू की लम्बी है, उसके असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हैं, उन्हें यदि समय-समय में एक-एक आकाशप्रदेश के साथ अपहरण किया जाए तो उन्हें रिक्त होने में जितना काल लगे, उतना उत्कृष्ट अन्तर पड़े। मध्यम अवगहना वालों का उ० अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक का अन्तर पड़े। जघन्य अन्तर सर्वस्थान में एक समय का।

११. उत्कृष्ट द्वार—सम्यक्त्व से प्रतिपाति हुए बिना सिद्ध होने का अन्तर सागरोपम का असंख्यातवां भाग, संख्यातकाल तथा असंख्यातकाल के प्रतिपाति हुए सिद्ध होने वालों का अन्तर उ० संख्याते

हजार वर्ष का, तथा अनन्तकाल प्रतिपाति हुए सिद्ध होने वालों का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक। यह उत्कृष्ट अन्तर है, ज० सब स्थान में एक समय का।

१२. अनुसमयद्वार—दो समय से लेकर आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

१३. गणनाद्वार—एकाकी सिद्ध हो या अनेक उत्कृष्ट संख्याते हजार वर्ष का अन्तर।

१४. अल्पबहुत्वद्वार—पूर्ववत्।

७. भावद्वार

भाव ६ होते हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सन्निपातिक। सर्व स्थानों में क्षायिक भाव से सिद्ध होते हैं। इसमें १५ उपद्वार नहीं घटाए हैं, इनका विवरण पूर्ववत् समझना चाहिए।

८. अल्पबहुत्वद्वार

सिद्धों में सब से थोड़े, वे हैं जो ऊर्ध्वलोक में ४ सिद्ध होते हैं। हरिवास आदि अकर्मभूमि क्षेत्रों में १० सिद्ध होते हैं। वे उनसे संख्यात गुणा हैं। उन की अपेक्षा स्त्री आदि से २० सिद्ध होते हैं। वे संख्यात गुणा, क्योंकि[1] साध्वी का साहरण नहीं होता। उन से पृथक्-पृथक् विजयों में तथा अधोलोक में २० सिद्ध हो सकते हैं, वे संख्यात गुणा होते हैं। उनसे १०८ सिद्ध हुए संख्यात गुणा है।

यह अनन्तर सिद्ध केवल ज्ञान का थोकड़ा समाप्त हुआ।

परम्परसिद्ध केवलज्ञान का थोकड़ा

जिन्हें सिद्ध हुए दो समय से लेकर अनन्त समय हो गए हैं, उन्हे परम्पर सिद्ध कहते हैं। उनका द्रव्य प्रमाण सात द्वारों में तथा १५ उपद्वारों में अनन्त कहना, परन्तु इनका अन्तर नहीं कहना, क्योंकि काल अनन्त है। सर्व क्षेत्रों में से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं। वे सिद्ध बहुतों की अपेक्षा अनादि हैं।

अल्पबहुत्वद्वार

१. क्षेत्रद्वार

१. समुद्र से सिद्ध हुए सब से थोड़े, द्वीप सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

२. जल से सिद्ध हुए सब से थोड़े, स्थल से सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

३. ऊर्ध्वलोक से सिद्ध हुए सबसे थोड़े, अधोलोक से सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

४. तिरछे लोक से सिद्ध हुए उन से संख्यात गुणा।

---

१. समणमवगयवेयं, परिहार पुलायमप्पमत्तं।
चउदसपुव्वि आहारगं, न य कोई संहरइ॥
साध्वी, अवेदी, परिहारविशुद्धचारित्री, पुलाकलब्धिवान, अप्रमत्त-संयत, चतुर्दशपूर्वी, आहारक और [illegible]
लब्धिधारक इन का कोई साहरण नहीं कर सकता।

का संख्यात हज़ार वर्ष का। पृथ्वी, पानी, वनस्पति, सौधर्म-ईशान देवलोक के देव, और दूसरी नरक इनसे निकले हुए जीवों के सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर हज़ार वर्ष का होता है, जघन्य सर्व स्थानों में एक समय का जानना।

४. वेदद्वार—पुरुषवेदी से अवेदी होकर सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर वर्ष से कुछ अधिक, किन्तु स्त्री और नपुँसक से सिद्ध होने वालों का उत्कृष्ट अन्तर संख्यात हज़ार वर्ष का है। पुरुष मरकर पुनः पुरुष बन कर सिद्ध होने का उ० अन्तर वर्ष से कुछ अधिक है। शेष आठ भांगों के प्रत्येक भांगे के अनुसार संख्यात हज़ार वर्षों का अन्तर है। प्रत्येक बुद्ध का भी इतना ही अन्तर है। ज० सर्व स्थानों में एक समय का है।

५. तीर्थंकरद्वार—तीर्थंकर का मुक्ति जाने का उ० अन्तर पृथक्त्व हज़ार पूर्व, और स्त्री तीर्थंकर का उ० अनन्त काल, अतीर्थंकरों का उ० अन्तर वर्ष से अधिक, नोतीर्थ सिद्धों का संख्यात हज़ार वर्ष (नोतीर्थ प्रत्येक बुद्ध को कहते हैं) ज० अन्तर सर्व स्थानों में एक समय का क्योंकि कहा भी है—

"पुव्वसहस्सपुहुत्तं, तित्थगर-अणन्तकाल तित्थगरी।
णो तित्थगरावासाहिगन्तु, सेसेसु संख समा॥"

६. लिङ्गद्वार—स्वलिङ्गीसिद्ध होने का अन्तर ज० १ समय, उ० १ वर्ष कुछ अधिक, अन्य-लिंगी और गृह-लिंगी सिद्ध होने का अन्तर उ० संख्याते सहस्र वर्ष का जानना चाहिए।

७. चारित्रद्वार—पूर्व भाव की अपेक्षा से सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र पालकर सिद्ध होने का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक काल का, शेष चारित्र वालों का अर्थात् छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि चारित्र का अन्तर १८ क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम से कुछ अधिक का। क्योंकि ये दोनों चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में पहले और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होते हैं।

८. बुद्धद्वार—बुद्ध बोधित हुए सिद्ध होने का उ० अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का, शेष प्रत्येक बुद्ध तथा साध्वी से प्रतिबोधित हुए सिद्ध होने का संख्याते हज़ार वर्ष का, स्वयं-बुद्ध का अन्तर पृथक्त्व सहस्र पूर्व का जानना चाहिए।

९. ज्ञानद्वार—मति-श्रुत ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होने वालों का अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण। मति, श्रुत, अवधिज्ञान से केवल ज्ञान पाने वाले सिद्ध होने का अन्तर वर्ष से कुछ अधिक। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव ज्ञान से केवल ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होने वालों का उ० अन्तर संख्यात सहस्र वर्ष का जानना चाहिए।

१०. अवगहनाद्वार—जघन्य और उत्कृष्ट अवगहना वाले का अन्तर यदि कल्पना से १४ राजूलोक को घन बनाया जाए तो सात राजूलोक होता है। उसमें में से एक प्रदेश की श्रेणी सात राजू की लम्बी है, उसके असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हैं, उन्हें यदि समय-समय में एक-एक आकाशप्रदेश के साथ अपहरण किया जाए तो उन्हें रिक्त होने में जितना काल लगे, उतना उत्कृष्ट अन्तर पड़े। मध्यम अवगहना वालों का उ० अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक का अन्तर पड़े। जघन्य अन्तर सर्वस्थान में एक समय का।

११. उत्कृष्ट द्वार—सम्यक्त्व से प्रतिपाति हुए बिना सिद्ध होने का अन्तर सागरोपम का असंख्यातवां भाग, संख्यातकाल तथा असंख्यातकाल के प्रतिपाति हुए सिद्ध होने वालों का अन्तर उ० संख्यात

हज़ार वर्ष का, तथा अनन्तकाल प्रतिपाति हुए सिद्ध होने वालों का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक। यह उत्कृष्ट अन्तर है, ज० सब स्थान में एक समय का।

१२. अनुसमयद्वार—दो समय से लेकर आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

१३. गणनाद्वार—एकाकी सिद्ध हो या अनेक उत्कृष्ट संख्याते हज़ार वर्ष का अन्तर।

१४. अल्पबहुत्वद्वार—पूर्ववत्।

७. भावद्वार

भाव ६ होते हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सन्निपातिक। सर्व स्थानों में क्षायिक भाव से सिद्ध होते हैं। इसमें १५ उपद्वार नहीं घटाए हैं, इनका विवरण पूर्ववत् समझना चाहिए।

८. अल्पबहुत्वद्वार

सिद्धों में सब से थोड़े, वे हैं जो ऊर्ध्वलोक में ४ सिद्ध होते हैं। हरिवास आदि अकर्मभूमि क्षेत्रों में १० सिद्ध होते हैं। वे उनसे संख्यात गुणा हैं। उन की अपेक्षा स्त्री आदि से २० सिद्ध होते हैं। वे संख्यात गुणा, क्योंकि[1] साध्वी का साहरण नहीं होता। उन से पृथक्-पृथक् विजयों में तथा अधोलोक में २० सिद्ध हो सकते हैं, वे संख्यात गुणा होते हैं। उनसे १०८ सिद्ध हुए संख्यात गुणा है।

यह अनन्तर सिद्ध केवल ज्ञान का थोकड़ा समाप्त हुआ।

परम्परसिद्ध केवलज्ञान का थोकड़ा

जिन्हें सिद्ध हुए दो समय से लेकर अनन्त समय हो गए हैं, उन्हे परम्पर सिद्ध कहते हैं। उनका द्रव्य प्रमाण सात द्वारों में तथा १५ उपद्वारों में अनन्त कहना, परन्तु इनका अन्तर नहीं कहना, क्योंकि काल अनन्त है। सर्व क्षेत्रों में से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं। वे सिद्ध बहुतों की अपेक्षा अनादि हैं।

अल्पबहुत्वद्वार

१. क्षेत्रद्वार

१. समुद्र से सिद्ध हुए सब से थोड़े, द्वीप सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

२. जल से सिद्ध हुए सब से थोड़, स्थल से सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

३. ऊर्ध्वलोक से सिद्ध हुए सबसे थोड़े, अधोलोक से सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

४. तिरच्छे लोक से सिद्ध हुए उन से संख्यात गुणा।

---

१. समणीमवगयवेयं, परिहार पुलायमप्पमत्तयं।
चउदसपुव्वि जिण आहारगंच, नो कोई साहरन्ति॥
भाव—साध्वी, अवेदी, परिहारविशुद्धचारित्री, पुलाकलब्धिमान, अप्रमत्त-संयत, चतुर्दशपूर्वधर, तीर्थंकर और आहारक लब्धि सम्पन्न इन का कोई साहरण नहीं कर सकता।

उक्तं च— "सामुद्द-दीव, जल-थल, दुरहं, दुरहं तु थोव संखगुणा।
उड्ढ अह तिरियलोए, थोवा संखगुणा संखा॥"

१. लवण समुद्र से सिद्ध हुए सब से थोड़े, कालोदधि समुद्र से सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा।

२. उन से जम्बूद्वीप से सिद्ध हुए संख्यात गुणा, उनसे धातकीखण्ड से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

३. उन से पुष्करार्द्ध द्वीप से सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

उक्तं च— "लवणे कालो य वा, जम्बूदीवे य धायईसंडे।
पुक्खरवरे य दीवे, कमसो थोवा य संखगुणा॥"

१. साहरण की अपेक्षा जम्बूद्वीप के हिमवन्त और शिखरी पर्वत से सिद्ध हुए, सब से थोड़े।

२. उनसे हैमवन्त और हैरण्यवत क्षेत्रों से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

३. उन से महाहिमवंत तथा रूपी पर्वत से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

४. देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रों से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

५. हरिवर्ष और रम्यकवर्ष से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

६. निषध और नीलवंतगिरि से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

७. भरत और ऐरावत क्षेत्रों से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

८. सदाकाल भावी होने से महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

धातकीखण्ड क्षेत्र विभाग से अल्पबहुत्व

१. हिमवन्त-शिखरीपर्वत से सिद्ध हुए सबसे थोड़े और परस्पर तुल्य।

२. महाहिमवन्त-रूपी पर्वत से सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

३. निषध-नीलवन्त पर्वत से सिद्ध हुए संख्यातगुणा।

४. हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्रों से सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

५. देवकुरु-उत्तरकुरु से सीझे हुए संख्यात गुणा।

६. हरिवर्ष-रम्यकवर्ष से सीझे हुए सिद्ध संख्यात गुणा।

७. भरत-ऐरावत क्षेत्रों से सीझे हुए सिद्ध संख्यात गुणा।

८. महाविदेह से सीझे हुए सिद्ध संख्यातगुणा, क्षेत्र की बहुलता से।

२. कालद्वार

१. साहरण की अपेक्षा अवसर्पिणीकाल के दुःषमदुःषम आरे में सीझे हुए सिद्ध सबसे थोड़े।

२. दुःषम आरे में सीझे हुए सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

३. सुषम-दुषम आरे में सीझे हुए सिद्ध, उनसे असंख्यात गुणा, क्योंकि उस आरे का कालमान असंख्यात है।

४. सुषम आरे में सीझे हुए सिद्ध उन से विशेषाधिक हैं।

५. सुषम-सुषम पहले आरे में सीझेहुए सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

६. दुःषम-सुषम में सीझे हुए सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

उक्तं च— "अइदुसमाइ थोवा संख, असंखा दुवे विसेसाहिया।
दूसमसुसमा संखा गुणा, उ ओसप्पिणी सिद्धा॥

१. उत्सर्पिणी के पहले आरे में सीझे हुए सिद्ध सब से थोड़े।

१. दूसरे आरे में सीझे हुए सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

३. पाँचवें आरे में सीझे हुए सिद्ध, उन से असंख्यात गुणा, क्योंकि उस आरे का कालमान असंख्यात है।

४. छठे आरे के सिद्ध उन से विशेषाधिक।

५. चौथे आरे में सीझे हुए सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

६. तीसरे आरे में सीझे हुए सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

उक्तं च— "अइदूसमाइ थोवा संख, असंखा उ दुन्नि सविसेसा।
दूसमसुसमा संखा गुणा, उ उस्सप्पिणी सिद्धा॥

उक्त दोनों काल के समुदाय से अल्पबहुत्व

१. दु:षम-दु:षम दोनों आरे के सीझे हुए सिद्ध परस्पर तुल्ल, सब से थोड़े।

२. उत्सर्पिणी के दूसरे आरे में सीझे हुए सिद्ध, उनसे विशेषाधिक।

३. अवसर्पिणी के पांचवें आरे के सीझे हुए सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

४. दु:षम-सुषम दोनों आरे में सीझे हुए सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

५. अवसर्पिणी में सीझे हुए सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

६. उत्सर्पिणी में सीझे हुए सर्वसिद्ध, उनसे विशेषधिक।

३. गतिद्वार

१. मानुषियों से अनन्तरागत सिद्ध, सबसे थोड़े।

२. मनुष्यों से अनन्तरागत लिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

३. नैरयिकों से अनन्तरागत सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

३. तिर्यंचियों से अनन्तरागत सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

५. तिर्यंचों से अनन्तरागत सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

६. देवियों से अनन्तरागत सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

७. देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।

उक्तं च— "मणुई मणुया नारय, तिरिक्खिणी तह तिरिक्ख देवीओ।
देवा य जह कमसो, संखेज्जगुणा मुणेयव्वा॥"

१. एकेन्द्रियों से अनन्तरागत सिद्ध सब से थोड़े।

२. पंचेन्द्रियों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।

१. वनस्पति से अनन्तरागत सिद्ध सबसे थोड़े।

२. पृथ्वीकाय से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।

३. अप्काय से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।

४. त्रसकाय से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।

उक्तंच— "एगिंदिएहिं थोवा सिद्धा, पंचिंदिएहिं संखा गुणा।
तरु-पुढवि-आउ तसकाइएहिं, संखा गुणा कमसो ॥"

१. चौथी पृथ्वी से अनन्तरागत सिद्ध, सब से थोड़े।
२. तीसरी पृथ्वी से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
३. दूसरी पृथ्वी से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
४. बादर पर्याप्तक पृथ्वीकाय से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
५. बादर पर्याप्तक अप्काय से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
६. भवनपति देवियों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
७. भवनपति देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
८. व्यन्तरियों से अनन्तरागत सिद्ध, उनसे संख्यात गुणा।
९. व्यन्तर देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१०. ज्योतिष्क देवियों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
११. ज्योतिष्क देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१२. मानुषियों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१३. मनुष्यों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१४. पहली पृथ्वी से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१५. तिर्यंची से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१६. तिर्यंच से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१७. अनुत्तरोपपातिक देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१८. ग्रैवेयक देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
१९. अच्युत देवलोकवासी देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
२०. आरण देवलोक वासी देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
इसी पच्छानुपूर्वी से सनत्कुमार तक देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
२१. ईशान देवियों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
२२. सौधर्म देवियों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
२३. ईशान देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।
२४. सौधर्म देवों से अनन्तरागत सिद्ध, उन से संख्यात गुणा।

उक्तं च— "नरग चउत्था पुढवी, तच्चा-दोच्चा तरु पुढवि-आउ।
भवणवई देवि-देवा, एवं वण-जोइसाणंपि।
मणुई मणुस्स नारय पढमा, तह तिरिक्खिणी य तिरिया य।
देवा अणुत्तराई, सव्वे वि सणंकुमारंता॥
ईसाणदेवि सोहम्मदेवि, ईसाणदेव सोहम्मा।
सव्वे वि जहा कमसो, अणंतरागयाउ संखगुणा॥"

४. वेदद्वार

१. नपुंसक वेद से अवेदी सिद्ध, सबसे थोड़े ।

२. स्त्रीवेद से अवेदी हुए सिद्ध, उन से संख्यात गुणा ।

३. पुरुष वेद से अवेदी हुए सिद्ध, उन से संख्यात गुणा ।

५. तीर्थद्वार

१. स्त्री-तीर्थंकर सिद्ध हुए, सबसे थोड़े ।

२. उन्हीं के तीर्थ में प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हुए, संख्यात गुणा ।

३. उन्हीं के तीर्थ में साध्वी सिद्ध हुए, उन से संख्यात गुणा ।

४. उन्हीं के तीर्थ में साधु सिद्ध हुए, उन से संख्यात गुणा ।

५. पुरुष तीर्थंकर सिद्ध हुए, उनसे अनन्त गुणा ।

६. उन्ही के तीर्थ में प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा ।

७. उन्हीं के तीर्थ में साध्वी सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा ।

८. उन के तीर्थ में साधु सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा ।

६. लिंगद्वार

१. गृहलिंग सिद्ध, सब से थोड़े ।

२. अन्यलिंग से सिद्ध हुए, उन से असंख्यात गुणा ।

३. स्वलिंग से सिद्ध हुए, उन से असंख्यात गुणा ।

७. चारित्रद्वार

१. वे सिद्ध सब से थोड़े हैं, जिन्होंने क्रमशः पांच चारित्रों की आराधना की है ।

२. जिन्होंने परिहार विशुद्धि चारित्र के अतिरिक्त चार चारित्रों की क्रमशः आराधना की है, वे सिद्ध उनसे संख्यात गुणा ।

३. जिन्हों ने सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र की आराधना की है, वे सिद्ध उन से संख्यात गुणा ।

८. बुद्धद्वार

१. स्वयंबुद्ध सिद्ध, सब से थोड़े ।

२. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध हुए, उन से संख्यात गुणा ।

३. बुद्धबोधित सिद्ध हुए, उन से संख्यात गुणा ।

९. ज्ञानद्वार

१. जिन्होंने केवलज्ञान से पहले मति, श्रुत और मनःपर्यव ये तीन ज्ञान प्राप्त किए हैं, वे सिद्ध सबसे थोड़े ।

२. जिन्होंने मति और श्रुत ज्ञान के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया, वे सिद्ध उनसे संख्यात गुणा ।

३. जिन्होंने केवलज्ञान होने से पहले मति-श्रुत अवधि और मनःपर्यव ये चार ज्ञान प्राप्त किए, वे सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

४. जिन्होंने छद्मस्थकाल में मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान प्राप्त किए, वे सिद्ध उनसे संख्यात गुणा।

उक्तं च "मणपज्जवनाण तिगे, दुगे चउक्के मणस्स नाणस्स।
थोवा संख असंखा, ओहितिगे हुन्ति संखेज्जा॥"

१०. अवगहनाद्वार

१. दो हाथ प्रमाण अवगहना से सिद्ध हुए, सबसे थोड़े।

२. पाँच सौ धनुष की अवगहना से सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा।

३. मध्यम अवगहना से सिद्ध हुए, उनसे असंख्यात गुणा प्रकारान्तर से सात हाथ की अवगहना से सिद्ध हुए, सबसे थोड़े। पाँच सौ धनुष्य की अवगहना से सिद्ध हुए विशेषाधिक।

११. उत्कृष्टद्वार

१. सम्यक्त्व पाकर प्रतिपाति नहीं हुए, वे सिद्ध सबसे थोड़े।

२. जो सम्यक्त्व से संख्यात काल तक प्रतिपाति होकर सिद्ध हुए, वे सिद्ध उनसे असंख्यात गुणा अधिक।

३. असंख्यात काल प्रतिपाति होकर सिद्ध हुए, वे सिद्ध उनसे असंख्यात गुणा अधिक।

४. अनन्तकाल प्रतिपाति होकर सिद्ध हुए, उनसे असंख्यात गुणा अधिक।

१२. अन्तरद्वार

१. छः मास का अन्तर पाकर सिद्ध हुए, सबसे थोड़े।

२. एक समय का अन्तर पाकर सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा।

३. दो समय का अन्तर, तीन समय का अन्तर और चार समय का अन्तर पाकर सिद्ध हुए, संख्यात गुणा यावत् तीन मास तक संख्यात गुणा कहना। तत्पश्चात् संख्यात गुणहीन कहना यावत् छः मास तक।

१३. अनुसमयद्वार

१. आठ समय तक निरन्तर सिद्ध हुए, सबसे थोड़े।

२. सात समय तक निरन्तर सिद्ध हुए, संख्यात गुणा।

३. छः समय तक निरन्तर सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा। इसी प्रकार ५, ४, ३, २, १, समय निरन्तर सिद्ध हुए, क्रमशः उनसे संख्यात गुणा।

१४. गणनाद्वार

१. एक समय में १०८ सीझे हुए सिद्ध, सबसे थोड़े।

२. एक समय में १०७ सीझे हुए सिद्ध, उनसे अनन्त गुणा।

६. ११-११ सिद्ध हुए अनन्त गुणा कम। इसी क्रम से एक-एक बढ़ाते हुए, उनसे अनन्त गुणा न्यून करते हुए २० तक कहना। इस प्रकार सब स्थानों के चार भाग करके पहले भाग में संख्यात गुणा कम कहना, दूसरे भाग में असंख्यात गुणा कम, तीसरे और चौथे भाग में अनन्त गुणा कम कहना।

जिस स्थान से एक समय में दस सिद्ध हो सकते हैं, उस स्थान की अपेक्षा से—

१. एक समय में एक एक सिद्ध हुए सब से अधिक।

२. एक समय में दो-दो सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा कम।

३. एक समय में तीन-तीन सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा कम।

४. एक समय में चार-चार सिद्ध हुए, उनसे संख्यात गुणा कम।

५. एक समय में पाँच-पाँच सिद्ध हुए, उनसे असंख्यात गुणा कम।

६. इसी प्रकार छः-छः यावत् नौ-नौ सिद्ध हुए, अनन्त गुणा कम।

७. एक समय में दस-दस सिद्ध हुए सबसे न्यून।

ऊर्ध्वलोक में चार सिद्ध हो सकते हैं, वहां से—

१. एक समय में एक-एक सिद्ध हुए सबसे अधिक।

२. दो-दो सिद्ध हुए, उनसे असंख्यात गुणा कम।

३. तीन-तीन तथा चार-चार सिद्ध हुए, उनसे अनन्त गुणा कम।

समुद्र में एक समय में दो सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ से—

१. एक-एक सिद्ध हुए, सबसे अधिक।

२. दो-दो सिद्ध हुए, अनन्त गुणा।

इसी प्रकार अन्य-अन्य स्थानों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

यह परंपर सिद्ध केवल ज्ञान का थोकड़ा समाप्त हुआ।

अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान

मूलम्—से किं तं अणंतरसिद्ध-केवलनाणं? अणंतरसिद्ध-केवलनाणं, पण्णरसविहं पण्णत्तं, तं जहा—

१. तित्थसिद्धा, २. अतित्थसिद्धा, ३. तित्थयरसिद्धा, ४. अतित्थयर-सिद्धा, ५. संयमबुद्धसिद्धा, ६. पत्तेयबुद्धसिद्धा, ७. बुद्धबोहियसिद्धा, ८. इत्थि-लिंगसिद्धा, ९. पुरिसलिंगसिद्धा, १०. नपुंसगलिंगसिद्धा, ११. सलिंगसिद्धा, १२. अन्नलिंगसिद्धा, १३. गिहिलिंगसिद्धा, १४. एगसिद्धा, १५. अणेगसिद्धा, से त्तं अणंतरसिद्ध-केवलनाणं॥ सूत्र २१॥

छाया—अथ किं तद् अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञानम्? अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञानं, पञ्चदश-विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. तीर्थसिद्धाः, २. अतीर्थसिद्धाः, ३. तीर्थकरसिद्धाः ४. अतीर्थकरसिद्धाः, ५. स्वयंबुद्धसिद्धाः, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, ७ बुद्धबोधितसिद्धाः, ८. स्त्रीलिङ्गसिद्धाः, ९. पुरुषलिङ्गसिद्धाः, १०. नपुंसकलिङ्गसिद्धाः ११. स्वलिङ्गसिद्धा, १२. अन्यलिङ्गसिद्धाः, १३. गृहिलिङ्गसिद्धाः, १४. एकसिद्धाः, १५. अनेकसिद्धाः, तदेतदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम् ॥ सूत्र २१ ॥

भावार्थ—वह अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान कितने प्रकार का है। गुरु ने उत्तर दिया वह अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान १५ प्रकार से वर्णित है, जैसे—

१. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३. तीर्थकरसिद्ध ४. अतीर्थकरसिद्ध, ५. स्वयंबुद्धसिद्ध, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिङ्गसिद्ध, ९. पुरुषलिङ्गसिद्ध, १०. नपुंसकलिङ्गसिद्ध, ११. स्वलिङ्गसिद्ध, १२. अन्यलिङ्गसिद्ध, १३. गृहिलिङ्गसिद्ध, १४. एकसिद्ध, १५. अनेकसिद्ध,

यह अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान का वर्णन है ॥ सूत्र २२ ॥

टीका—इस सूत्र में अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान के विषय में विवेचन किया गया है। जिन आत्माओं को सिद्ध हुए पहला ही समय हुआ है, उन्हें अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान कहा जाता है। अनन्तरसिद्ध-केवल ज्ञानी भवोपाधिभेद से पन्दरह प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१. तीर्थसिद्ध—जिसके के द्वारा संसार तरा जाए उसे तीर्थ कहते हैं। वह जिन-प्रवचन, चतुर्विध-श्रीसंघ, अथवा प्रथम गणधर रूप होता है। तीर्थ के स्थापन हो जाने के पश्चात् जो सिद्ध हों, उन्हें तीर्थसिद्ध कहते हैं। तीर्थ के स्थापन करने वाले तीर्थंकर होते हैं। तीर्थ, चतुर्विध श्रीसंघ का पवित्र नाम है, जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—

"तित्थसिद्धा इत्यादि—तीर्यते संसार सागरोऽनेनति तीर्थं, यथावस्थितसकलजीवाजीवादि पदार्थसार्थ-प्ररूपकपरमगुरुप्रणीतं प्रवचनं, तच्चनिराधारं न भवतीति कृत्वा सङ्घः प्रथमगणधरो वा वेदितव्यं, उक्तं च—"तित्थं भन्ते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउवण्णो समण-संघो, पढमगणहरो वा" तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः।"

इस कथन से द्रव्य तीर्थ का निषेध स्वयं सिद्ध हो जाता है। तीर्थंकर भगवान शत्रुंजय, समेदशिखर आदि द्रव्य तीर्थ के स्थापन करने वाले नहीं होते। सूत्रकार को वास्तव में भावतीर्थ ही स्वीकार है, अन्य द्रव्यतीर्थ का यहाँ भगवान ने कोई उल्लेख नहीं किया।

२. अतीर्थसिद्ध—इसका भाव यह है—तीर्थ के स्थापन करने से पहले या तीर्थ के व्यवेच्छद हो जाने के पश्चात् जो जीव सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं, उन्हें अतीर्थ सिद्ध कहते हैं। जैसे मरुदेवी माता ने तीर्थ की स्थापना होने से पहले ही सिद्धगति को प्राप्त किया। भगवान सुविधिनाथ जी से लेकर शान्ति-नाथ भगवान तक, आठ तीर्थकरों के बीच, सात अन्तरों में तीर्थ का व्यवच्छेद होता रहा। उस समय जातिस्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न होने पर, फिर अन्तकृत् केवली होकर जो सिद्ध हुए हैं, उन्हें अतीर्थसिद्ध कहते हैं। जैसे विशिष्टनिमित्त से संसार सागर पार होने वाले बहुत हैं, किन्तु विना विशिष्ट निमित्त के

काललब्धि पूर्ण होने पर स्वतः आभ्यन्तरिक उपादान कारण तैयार होने पर सिद्ध होने वाले बहुत ही कम संख्या में होते हैं।

३. तीर्थंकरसिद्ध—विश्व में लौकिक तथा लोकोत्तरिक पदों में तीर्थंकर पद सर्वोपरि है। इस पद की प्राप्ति का उपक्रम अन्तः कोटाकोटी सागर पहले से ही प्रारम्भ हो जाता है। धर्मानुष्ठान की सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति से तीर्थंकर नाम-गोत्र का जब बन्ध हो जाता है, तब तीसरे भव में नियमेन तीर्थंकर बन जाने का अनादि नियम है। तीर्थंकर का जीवन गर्भवास से लेकर निर्वाण पर्यन्त आदर्श एवं कल्याणमय होता है, जब तक उन्हें केवल ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वे धर्मोपदेश नहीं करते। केवलज्ञान प्राप्त होने पर ही प्रवचन करते हैं। प्रवचन से प्रभावित हुए विशिष्ट विकसित पुरुष दीक्षित होकर गणधर बनते हैं, तब भावतीर्थ की स्थापना करने से उन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। जो तीर्थंकर पद पाकर सिद्ध बने हैं, उन्हें तीर्थंकर सिद्ध कहते हैं।

४. अतीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकर के व्यतिरिक्त अन्य जितने लौकिक पदवीधर चक्रवर्ती, बलदेव, माण्डलीक, सम्राट् और लोकोत्तरिक आचार्य, उपाध्याय, गणधर, अन्तकृत केवली तथा सामान्य केवली इन सबका अन्तर्भाव अतीर्थंकर सिद्ध में हो जाता है।

५. स्वयंबुद्धसिद्ध—जो बाह्य निमित्त के बिना किसी के उपदेश, प्रवचन सुने बिना ही जातिस्मरण, अवधिज्ञान के द्वारा स्वयं विषय कषायों से विरक्त हो जाएँ, उन्हें स्वयंबुद्ध कहते हैं। इसमें तीर्थंकर तथा अन्य विकसित उत्तम पुरुषों का भी अन्तर्भाव हो जाता है अर्थात् जो स्वयमेव बोध को प्राप्त हुए हैं, उन्हें स्वयंबुद्ध कहते हैं।

६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध—उपदेश-प्रवचन श्रवण किए बिना जो बाहिर के निमित्तों द्वारा बोध को प्राप्त हुए हैं, जैसे कि नमिराज ऋषि, उन्हें प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहते हैं। स्वयं बुद्ध और प्रत्येकबुद्ध दोनों इन में बोधि, उपधि, श्रुत और लिंग इन चार विशेषताओं का परस्पर अन्तर है। जिज्ञासुओं को विशेष व्याख्या मलयगिरी वृत्ति में देख लेनी चाहिए।

७. बुद्धबोधितसिद्ध—आचार्य आदि के द्वारा प्रतिबोध दिए जाने पर जो सिद्ध गति को प्राप्त करें, उन्हें बुद्धबोधित कहते हैं। अतिमुक्त कुमार, चन्दन बाला, जम्बूस्वामी इत्यादि सब इसी कोटि के सिद्ध हुए हैं।

८. स्त्रीलिङ्ग सिद्ध—यहां स्त्रीलिङ्ग शब्द स्त्रीत्वका सूचक है। स्त्रीत्व तीन प्रकार का बतलाया गया है, एक वेद से, दूसरा निर्वृत्ति से और तीसरा वेष से, वेद उदय से सिद्ध होना नितान्त असंभव है, क्योंकि जब स्त्री में पुरुष के सहवास की इच्छा हो तब उसे स्त्री वेद कहते हैं। वेदोदय में सिद्धत्व का सर्वथा अभाव ही है। वेष (नैपथ्य) की कोई प्रामाणिकता नहीं है। क्योंकि स्त्री वेष में पुरुष एवं मूर्ति भी हो सकती है। अतः यहां शास्त्रकार को शरीरनिर्वृत्ति तथा स्त्री के अंगोपाङ्ग से प्रयोजन है। चूर्णिकार ने भी लिखा है कि स्त्री के आकार में रहते हुए जो मुक्त हो गए हैं, वे स्त्रिलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं, जैसे कि "इत्थीए लिङ्गं इत्थिलिङ्गं, इत्थीए उवलक्खणंन्ति वुत्तं भवति तं च तिविहं वेयो, सरीरनिव्वत्ती, नेवत्थं च, इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो न वेय, नेवत्थेहिं त्ति।"

स्त्रीलिङ्ग मोक्ष में बाधक नहीं हैं, क्योंकि मोक्ष प्राप्ति का सरल मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान

और चारित्र हैं। इनकी पूर्ण आराधना करने से ही जीव सिद्ध होते हैं। बिना आराधना किए पुरुष भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्षुधा की निवृत्ति खाद्य पदार्थ से हो सकती है, वह पदार्थ चाहे सोने के थाल में हो या कांसी के थाल में, चाहे पत्तल में ही क्यों न हो। अभिप्राय खाद्य पदार्थ से है न कि आधार पात्र से, इसी प्रकार सूत्रकार का अभिप्राय गुणों से है न कि लिंग से। कभी-कभी शिक्षा में महिलाएं पुरुषों से भी सर्वप्रथम रहती हैं। वे अपनी शक्ति से शेरों को भी पछाड़ देती हैं, डाकुओं के मुकावले में तथा शत्रुओं के मुकावले में विजय प्राप्त करती हैं। फिर भी महिलाएं रत्नत्रय की सर्वोत्कृष्ट आराधना नहीं कर सकतीं, ऐसा कहना केवल मतपक्ष ही है, एकान्तवाद है, अनेकान्तवाद नहीं।

यदि ऐसा कहा जाए कि स्त्री नग्न नहीं हो सकती, क्योंकि वह वस्त्र सहित होती है, वस्त्र परिग्रह है, परिग्रही को मोक्ष नहीं, तो यह भी उनका कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि आगम में कहा है—**"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**[1]" ममत्व ही परिग्रह है। मूर्छा रहित स्वर्ण के सिंहासन पर बैठे हुए तीर्थंकर भी निष्परिग्रही हैं।

"मूर्छा परिग्रहः"[2]—यदि मन में ममत्व नहीं है, तो वाह्य वस्त्र आदि परिग्रह नहीं बन सकते। जब वाह्य उपकरणों पर ममत्व होता है, तभी वे उपकरण परिग्रह बनते हैं, स्वयमेव नहीं।

आगम में भगवान महावीर के वाक्य हैं—

"जं पि वत्थं वा पायं वा, कंवलं पायपुंच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥"

संयम और लज्जा के लिए जो मर्यादित उपकरण रखे जाते हैं, उन्हें परिग्रह में सम्मिलित करना, यह अनेकान्तवादियों का लक्षण नहीं है।

यदि ऐसा कहा जाए कि सर्वोत्कृष्ट दुःख का स्थान ७वीं नरक है और सर्वोत्कृष्ट सुख का स्थान मोक्ष है। जब स्त्री ७वीं नरक में नहीं जा सकती है, तो फिर निर्वाण पद कैसे प्राप्त कर सकती है? क्योंकि उसमें तथाविध सर्वोत्कृष्ट मनोवीर्य का सर्वथा अभाव है। यह कथन भी एकान्त वादियों की तरह अप्रमाणिक है, क्योंकि सातवीं नरक की प्राप्ति उत्कृष्ट पाप का फल है और पुण्य का फल उत्कृष्ट सर्वार्थ सिद्ध विमान में देवत्व का होना, किन्तु मोक्षसुख तो आठ कर्मों के क्षय होने से उपलब्ध होता है, स्त्री का मनोवीर्य कर्म-क्षय करने में पुरुष के समान ही होता है। यद्यपि गति-आगति मनोवीर्य के अनुसार होती है, तदपि गति का अन्तर अवश्य वताया है। परन्तु यह भी कोई नियम नहीं है कि जो व्यक्ति किसी कार्य को नहीं कर सकता, वह अन्य कार्य भी नहीं कर सकता? जैसे जो कृषि कर्म नहीं कर सकता, वह शास्त्रों का अध्ययन भी नहीं कर सकता। वस, यह भी कोई नियम नहीं है, जो सातवीं नरक में नहीं जा सकता, वह मुक्त भी नहीं हो सकता। जैसे भुजपुर दूसरी नरक तक जा सकता है, खेचर तीसरी तक, स्थलचर तिर्यंच चौथी तक, उरपुरसर्प पाँचवीं नरक तक जा सकता है। परन्तु सभी संज्ञी तिर्यंच, पंचेन्द्रिय भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सहस्रार

---

१. दशवैकालिक सू० अ० ६, गाथा २१।
२. तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ वां सू० १२ वां।

सिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमयसिद्ध यावत् दससमयसिद्ध, संख्यातसमयसिद्ध, असंख्यातसमय-सिद्ध और अनन्तसमयसिद्ध । इस प्रकार परम्परसिद्ध केवलज्ञान का वर्णन है ।

वह संक्षेप में चार प्रकार से है, जैसे—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से ।

१. द्रव्य से केवलज्ञानी—सर्व द्रव्यों को जानता व देखता है ।

२. क्षेत्र से केवलज्ञानी—सर्व लोकालोक क्षेत्र को जानता व देखता है ।

३. काल से केवलज्ञानी—भूत, वर्तमान और भविष्य तीन काल के द्रव्यों को जानता व देखता है ।

४. भाव से केवलज्ञानी—सर्व भावों—पर्यायों को जानता व देखता है ।

टीका—इस सूत्र में परम्परसिद्ध-केवलज्ञान के विषय का विवरण किया गया है । जिनको सिद्ध हुए अनेक समय हो चुके हैं, उन्हें परम्परसिद्ध-केवल ज्ञान कहते हैं । जिनको सिद्ध हुए पहला ही समय हुआ है, उन्हें अनन्तर सिद्ध-केवलज्ञान कहते हैं । अथवा जो वर्तमान समय में सिद्ध हो रहे हैं, वे अनन्तर सिद्ध और जो अतीत समय में सिद्ध हो गए हैं, वे परम्पर सिद्ध कहलाते हैं । अथवा जो निरंतर सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं, वे अनन्तरसिद्ध और जो अन्तर पाकर सिद्ध हुए हैं, वे परम्परसिद्ध कहलाते हैं । समय उपाधिभेद से अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध इस प्रकार दो भेद बनते हैं, किन्तु भवोपाधि भेद से सिद्धों के पन्दरह भेद बनते हैं, जिनका वर्णन अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान के प्रकरण में सूत्रकार ने कर दिया है । समयोपाधि भेद से या भवोपाधि भेद से भले ही सिद्ध केवलज्ञान के भेद बतला दिए हैं, वास्तव में यदि देखा जाए तो सिद्धों में तथा केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं है । सिद्ध भगवन्तों का स्वरूप और केवलज्ञान एक समान हैं, विषम नहीं ।

भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान

उक्त दोनों अवस्थाओं में केवलज्ञान और वीतरागता तुल्य है, जहां केवल ज्ञान है, वहां निश्चय ही वीतरागता है । वीतरागता के बिना केवलज्ञान का होना नितान्त असंभव है । जैसे केवलज्ञान सादि-अनन्त है, वैसे ही केवलज्ञानी में वीतरागता भी सादि-अनन्त है । इसी कारण वह ज्ञान सदा सर्वदा स्वच्छ-निर्मल-अनावरण और तुल्य रहता है । अब सूत्रकार केवलज्ञान में प्रत्यक्ष करने की शक्ति और उसके विषय का संक्षेप से वर्णन करते हैं, जैसे कि—

द्रव्यतः—सभी रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त, सूक्ष्म-बादर, जीव-अजीव, संसारी-मुक्त, स्व-पर को उपर्युक्त दोनों प्रकार के केवलज्ञानी जानते व देखते हैं । वे इन्द्रिय और मन से नहीं बल्कि केवलज्ञान और केवलदर्शन से साक्षात्कार करते हैं ।

क्षेत्रतः—वे केवलज्ञान के द्वारा लोक-अलोक के क्षेत्र को जानते व देखते हैं । यद्यपि सर्वद्रव्य ग्रहण करने से आकाशास्तिकाय का भी ग्रहण हो जाता है, तदपि क्षेत्र की रूढि से इसका पृथक् उपन्यास किया गया है ।

कालतः—उपर्युक्त दोनों प्रकार के केवलज्ञानी सर्वकाल को अर्थात् अतीत, अनागत और वर्तमान के सभी समयों को जानते व देखते हैं । अतीत-अनागत काल के समयों को भी वर्तमान काल की तरह जानते व देखते हैं ।

से होता है, या निर्हेतु से ? इसी प्रकार यदि पहले दर्शन उत्पन्न होता है, तो वह किसी हेतु से होता है या निर्हेतु से ? इन प्रश्नों का उत्तर विवादास्पद होने से उपादेय नहीं। अतः युगपदुपयोगवाद ही निर्विवाद एवं आगम सम्मत है कहा भी है।—

"इहराऽऽईनिहणत्तं. मिच्छाऽऽवरणक्खओ त्ति व जिणस्स ।
इतरेतरावरणया, अहवा निक्कारणावरणं ॥
तह य असव्वणुत्तं, असव्वदरिसित्तणप्पसंगो य ।
एगंतरोवयोगे जिणस्स, दोसा बहुविहा य ॥"

एकान्तर-उपयोगवादी का उत्तर पक्ष

१. केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों सादि-अनन्त हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु यह कथन लब्धि की अपेक्षा से समझना चाहिए न कि उपयोग की अपेक्षा से। मति-श्रुत और अवधिज्ञान की लब्धि ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है, जब कि उपयोग किसी एक में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता है [1]। इस समाधान से उक्त दोष की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

२. जो यह कहा जाता है कि निरावरण ज्ञान-दर्शन में युगपत् उपयोग न मानने से आवरण-क्षय मिथ्या सिद्ध हो जाएगा, तो यह कथन भी हृदयंगम नहीं होता। क्योंकि किसी विभंगज्ञानी को नैसर्गिक सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, यह शास्त्रीय विधान है, किन्तु उपयोग भी सब में युगपत् ही हो, यह कोई नियम नहीं। चार ज्ञान धरता को जैसे चतुर्ज्ञानी कहा जाता है, किन्तु उसका उपयोग सबमें नहीं, किसी एक में ही रहता है। अतः जानने तथा देखने का समय एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। [2]

३. एकान्तर-उपयोग को इतरेतरावरणता नामक दोष कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन सदैव अनावरण रहते हैं, इनको क्षायिक लब्धि भी कहते हैं और उनमें से किसी एक में चेतना का प्रवाहित हो जाना, इसे ही उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का असाधारण गुण है, वह किसी कर्म का फल नहीं है। उपयोग चाहे छद्मस्थ का हो या केवली का, ज्ञान में हो या दर्शन में, वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक कहीं भी नहीं ठहर सकता। केवली का उपयोग चाहे ज्ञान में हो या दर्शन में, जघन्य एक समय [काल के अविभाज्य अंश को समय कहते हैं] उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त। इससे अधिक कालमान उपयोग का नहीं है। छद्मस्थ का उपयोग जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूत है। उपयोग का स्वभाव बदलने का है, किसी एक में सदा काल भावी नहीं। केवली की कर्मक्षयजन्य लब्धि सदा निरावण रहती है, किन्तु उपयोग एक में रहता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहण दिया जाता है, जैसे एक व्यक्ति ने दो भाषाओं पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त किया हुआ है। उन दो भाषों में से किसी एक भाषा में वह धारा प्रवाह बोल सकता है और लिख भी सकता है। जब वह किसी एक भाषा में बोल रहा है, तब दूसरी भाषा लब्धि के रूप रहती है, उस भाषा पर आवरण आगया, ऐसा समझना उचित नहीं है, क्योंकि

---

१. प्रज्ञापना सूत्र, पद १८ तथा जीवाभिगम।
२. प्रज्ञापना सूत्र, पद ३० तथा भगवती सूत्र, श० २५।

इष्टापत्तिजनक-क्रमवाद

युगपद्वादियों का विश्वास है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों उपयोग सादि-अनन्त हैं, इस-लिए केवली युगपत् पदार्थों को जानता व देखता है, जैसे कि कहा भी है—

"जं केवलाइं सादी, अपज्जवसिताइं दोऽवि भणिताइं ।
तो बेंति केई जुगवं, जाणइ पासइ य सव्वण्णू ॥"

१. उनका कहना है कि एकान्तर-उपयोग पक्ष में सादि-अनन्त घटित नहीं होता, क्योंकि जब ज्ञानोपयोग होता है, तब दर्शनोपयोग नहीं और जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञानोपयोग नहीं । इस से उक्त ज्ञान और दर्शन सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, जो कि इष्टापत्तिजनक हैं, जब कि सिद्धान्त है—निरावरण दोनों उपयोग सादि-अनन्त हैं ।

२. एकान्तर—उपयोग पक्ष में दूसरा दोष मिथ्यावरणक्षय है । छद्मस्थ-उपयोग में कार्य-कारण भाव तथा प्रतिवन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव पाया जाता है किन्तु क्षायिक भाव में यह नियम नहीं । निरावरण होने पर उक्त दोनों उपयोग एक साथ प्रकाशित होते हैं, जैसे [illegible] वर्तमान हुए दो दीपकों को निरावरण कर देने से वे एक साथ प्रकाश करते हैं, क्रमशः नहीं । यदि निरावरण होने पर भी वे क्रमशः ही प्रकाशित होते हैं, तो अवारण-क्षय मिथ्यासिद्ध हो जाएगा । अतः केवली युगपत् जानते व देखते हैं । यही मान्यता निर्विवाद एवं निर्दोष है ।

३. एकान्तर-उपयोग पक्ष में युगपद्वादी तीसरा दोष इतरेतरावरणता सिद्ध करते हैं । इस का संधिच्छेद है—इतर+इतर+-आवरणता । इसका अर्थ है—केवलज्ञान, केवलदर्शन पर आवरण करता है और केवलदर्शन, केवलज्ञान पर जब ज्ञान-दर्शन ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निरावरण हो गए, तब उन में से एक समय में एक तो प्रकाश करे और दूसरा नहीं, यह मान्यता दोष पूर्ण है । अतः युगपदुपयोगवाद ही तर्क-पूर्ण और निर्दोष है ।

४. एकान्तर-उपयोग पक्ष में वे चौथा इष्टापत्तिजनक दोष निष्कारणावरणता सिद्ध करते हैं । उनका इस विषय में यह कहना है कि जब ज्ञान और दर्शन सर्वथा निरावरण हो गए, तब उनमें एक प्रकाश करता है और दूसरा नहीं । इसका अर्थ यह हुआ-आवरण क्षय होने पर भी निष्कारण आवरणता का सिलसिला चालू ही रहता है, जो कि सिद्धान्त को सर्वथा अमान्य है, इस दोष से युगपदुपयोगवाद निर्दोष ही है ।

५. एकान्तर-उपयोग के पक्ष में युगपदुपयोगवादी असर्वज्ञत्व और असर्वदर्शित्व सिद्ध करते हैं, क्योंकि जब केवली का उपयोग ज्ञान में है, तब असर्वदर्शित्व और जब दर्शन में उपयोग है, तब असर्वज्ञत्व दोष सिद्धान्त को दूषित करता है । अतः युगपदुपयोगवाद उक्त दोष से निर्दोष है ।

६. क्षीण मोह गुणस्थान के चरम समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीन कर्म युगपत् ही क्षय होते हैं, ऐसा आगम में मूल पाठ है ।[1] तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही जब आवरण युगपत् निवृत्त हुआ, तब ज्ञान-दर्शन भी एक साथ दोनों प्रकाशित होते हैं । एकान्तर-उपयोग पक्ष को दूषित करते हुए युगपदुपयोगवादी कहते हैं, कि केवली को यदि पहले केवलज्ञान होता है, तो वह किसी हेतु

१. उत्तराध्ययन अ० २६

से होता है, या निर्हेतु से ? इसी प्रकार यदि पहले दर्शन उत्पन्न होता है, तो वह किसी हेतु से होता है या निर्हेतु से ? इन प्रश्नों का उत्तर विवादास्पद होने से उपादेय नहीं। अतः युगपदुपयोगवाद ही निर्विवाद एवं आगम सम्मत है कहा भी है।—

"इहराऽऽईनिहणत्तं. मिच्छाऽऽवरणक्खओ त्ति व जिणस्स।
इतरेतरावरणया, अहवा निक्कारणावरणं ॥
तह य असव्वण्णुत्तं, असव्वदरिसित्तणप्पसंगो य।
एगंतरोवयोगे जिणस्स, दोसा बहुविहा य ॥"

एकान्तर-उपयोगवादी का उत्तर पक्ष

१. केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों सादि-अनन्त हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु यह कथन लब्धि की अपेक्षा से समझना चाहिए न कि उपयोग की अपेक्षा से। मति-श्रुत और अवधिज्ञान की लब्धि ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है, जब कि उपयोग किसी एक में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता है [१]। इस समाधान से उक्त दोष की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

२. जो यह कहा जाता है कि निरावरण ज्ञान-दर्शन में युगपत् उपयोग न मानने से आवरण-क्षय मिथ्या सिद्ध हो जाएगा, तो यह कथन भी हृदयंगम नहीं होता। क्योंकि किसी विभंगज्ञानी को नैसर्गिक सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, यह शास्त्रीय विधान है, किन्तु उपयोग भी सब में युगपत् ही हो, यह कोई नियम नहीं। चार ज्ञान धरता को जैसे चतुर्ज्ञानी कहा जाता है, किन्तु उसका उपयोग सबमें नहीं, किसी एक में ही रहता है। अतःजानने तथा देखने का समय एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। [२]

३. एकान्तर-उपयोग को इतरेतरावरणता नामक दोष कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन सदैव अनावरण रहते हैं, इनको क्षायिक लब्धि भी कहते हैं और उनमें से किसी एक में चेतना का प्रवाहित हो जाना, इसे ही उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का असाधारण गुण है, वह किसी कर्म का फल नहीं है। उपयोग चाहे छद्मस्थ का हो या केवली का, ज्ञान में हो या दर्शन में, वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक कहीं भी नहीं ठहर सकता। केवली का उपयोग चाहे ज्ञान में हो या दर्शन में, जघन्य एक समय [काल के अविभाज्य अंश को समय कहते हैं] उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त। इससे अधिक कालमान उपयोग का नहीं है। छद्मस्थ का उपयोग जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त है। उपयोग का स्वभाव बदलने का है, किसी एक में सदा काल भावी नहीं। केवली की कर्मक्षयजन्य लब्धि सदा निरावण रहती है, किन्तु उपयोग एक में रहता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहण दिया जाता है, जैसे एक व्यक्ति ने दो भाषाओं पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त किया हुआ है। उन दो भाषों में से किसी एक भाषा में वह धारा प्रवाह बोल सकता है और लिख भी सकता है। जब वह किसी एक भाषा में बोल रहा है, तब दूसरी भाषा लब्धि के रूप रहती है, उस भाषा पर आवरण आगया, ऐसा समझना उचित नहीं है, क्योंकि

---

१. प्रज्ञापना सूत्र, पद १८ तथा जीवाभिगम।

२. प्रज्ञापना सूत्र, पद ३० तथा भगवती सूत्र, श० २५।

आवरण आ जाने का अर्थ होता है, विस्मृत हो जाना। एक समय में, एक ही भाषा बोली तथा लिखी जा सकती है, दो भाषाएं नहीं। फिर भले ही वह भाषा-शास्त्री कितनी ही भाषाओं का विद्वान हो। अथवा टेलीग्राम भी एक व्यक्ति एक काल में एक ही भाषा में दे सकता है। उस समय अन्य भाषाएं लब्धि रूप में विद्यमान रहतीं हैं। इसी प्रकार केवल ज्ञान केवलदर्शन के विषय में समझना चाहिए। लब्धि अनावरण रहती है, वह सादि-अनन्त है, किन्तु उपयोग सदा-सर्वदा सादि-सान्त ही होता है, वह कभी ज्ञान में और कभी दर्शन में, इस प्रकार बदलता रहता है। अतः इतरेतरावरणता दोष मानना सर्वथा अनुचित है।

४. अनावरण होते ही ज्ञान-दर्शन का पूर्ण विकास होता है फिर निष्कारण-आवरण होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। क्योंकि आवरण के हेतु और आवरण, दोनों के अभाव होने पर ही केवली बनता है, किन्तु उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है, वह दोनों में से एक समय में किसी एक ओर ही प्रवाहित होता है, दोनों ओर नहीं। आवरण आ जाना उसे कहते हैं, कि निरावण उक्त ज्ञान या दर्शन में उपयोग लगाने पर व्यवधान आ जाने से न जान सके और न देख सके। अतः केवली का ज्ञान-दर्शन उक्त दोष से निर्दोष है। जीव के उपयोग का स्वभाव ही अचिन्त्य है।

५. जो यह कहा जाता है कि केवली जिस समय जानता है, उस समय में देखता नहीं, इस से असर्वदर्शित्व और जिस समय देखता है, उस समय में जानता नहीं, इससे असर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं। इसके उत्तर में भी यही कहा जासकता है, कि जो आगम में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कहा है, वह लब्धि की अपेक्षा से, न कि उपयोग की अपेक्षा से ऐसा कहा गया है। जब ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों का सर्वथा क्षय होता है, तब उनके साथ ही अन्तराय कर्म का भी सर्वथा विलय हो जाता है। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय इनके क्षय होने पर पांच लब्धियां पैदा होतीं हैं, फिर भी केवली न सदा देते हैं न लेते ही हैं, न वस्तु का भोग व उपभोग ही करते हैं और न अनन्त शक्ति का सदा प्रयोग ही करते हैं। हां, कार्य उत्पन्न होने पर देते भी हैं तथा अनन्त शक्ति का प्रयोग भी करते हैं। निरन्तराय होने से उनके किसी भी कार्य में विघ्न नहीं पड़ता, यही उनके निरन्तराय होने का महाफल है। इस प्रकार केवली के निरावरण ज्ञान-दर्शन होने का यही लाभ है, कि उपयोग लगने में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। केवली को लब्धि की अपेक्षा से सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व कहा जाता है, न कि उपयोग की अपेक्षा से। अतः एकान्तर-उपयोग पक्ष उक्त दोष से सर्वतो-भावेन निर्दोष ही है।

६. जो यह कहा जाता है कि क्षीण मोह वाले निर्ग्रन्थ के ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म क्रमशः नहीं, अपितु युगपत् ही क्षय होते हैं। इस दृष्टि से भी युगपत् उपयोगवाद युक्ति संगत सिद्ध होता है, एकान्तरवाद दोषपूर्ण है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि आवरण क्षय तो दोनों का युगपत् ही होता है, किन्तु उपयोग भी युगपत् ही हो, यह कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। जैसे कि आगम में कहा है—कि सम्यक्त्व-मति-श्रुत तथा आदि पद से अवधिज्ञान ग्रहण किया जाता है। इन का आविर्भाव जैसे एक काल में होता है, किन्तु उपयोग सब में युगपत् नहीं होता—

जह जुगवुप्पत्तीएवि, सुत्ते सम्मत्त मइसुयाईणं।
नत्थि जुगवोवओगो, सव्वेसु तहेव केवलिणो॥

[illegible]

[illegible]

जिस प्रकार केवली [illegible] [illegible] कहा भी है—[illegible] नहीं पाये जाते, वैसे ही [illegible] नहीं। [illegible] पहला समय [illegible] उपयोग होता है। कहा भी है—[illegible] उससे यही सिद्ध होता है कि पहले ज्ञान में उपयोग होता है। [illegible] अन्यज्ञान दर्शन में उपयोग की भजना है; [illegible] कार उपयोग में नहीं। निराकार-उपयोग में न उत्पन्न होता है और न सिद्ध, किन्तु साकार उपयोग में उपर्युक्त दोनों का होना संभव है। यह कथन [illegible] और [illegible] की अपेक्षा से [illegible] कि भूतकाल तथा अनन्तर की अपेक्षा से, क्योंकि उसके [illegible] में [illegible] तथा [illegible] दोनों अवस्थाओं में साकार उपयोग ही होता है।

अभिन्न-उपयोगवाद का पूर्व पक्ष

१. केवलज्ञान इतना महान है, जिससे बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं है, सामान्य और विशेष सभी उसके विषय हैं। ऐसी स्थिति में केवलदर्शन का कोई महत्त्व ही नहीं रहता, वह सामान्यपरक होने से उसकी गणना अलग करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

२. जैसे देशज्ञान के विलय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और अन्य चारों ज्ञान केवल ज्ञान में अन्तर्भूत हो जाते हैं, वैसे ही चारों दर्शनों का अन्तर्भाव भी केवलज्ञान में हो जाता है। अतः केवल दर्शन को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

३. अल्पज्ञता में साकार उपयोग और अनाकार उपयोग एवं क्षायोपशमिक भाव की भिन्नता तथा विभिन्नता के कारण दोनों उपयोगों में परस्पर भेद हो सकता है, किन्तु क्षायिक भाव में दोनों में कोई विशेष अन्तर न रहने से सिर्फ केवलज्ञान ही शेष रह जाता है। अतः सदा सर्वदा केवलज्ञान में ही केवली का उपयोग रहता है।

४. केवल दर्शन का अस्तित्व यदि अलग माना जाए, तो वह सामान्य मात्र ग्राही होने से अल्प विषयक सिद्ध हो जाएगा, जब कि आगम में केवल ज्ञान को अनन्त विषयक कहा है।

५. जब केवली प्रवचन करते हैं, तब वह केवल ज्ञान पूर्वक होता है। इस से भी अभेद पक्ष ही सिद्ध होता है।

६. नन्दी सूत्र में केवल दर्शन का स्वरूप नहीं बतलाया तथा अन्य सूत्रों में भी केवल दर्शन का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि केवलदर्शन केवलज्ञान से अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता। इस विषय में शंका हो सकती है कि केवल ज्ञान के प्रकरण में पासइ का प्रयोग क्यों किया है? इसी से केवल दर्शन का अस्तित्व सिद्ध होता है, यह कथन भी ठीक संगत नहीं है। क्योंकि मनःपर्यव ज्ञान के प्रकरण में भी पासइ का प्रयोग किया है जब कि उस का भी कोई दर्शन नहीं है।

सिद्धान्तवादी का उत्तर

विश्व में प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, फिर भले ही वह अणु हो या महान, दृश्य हो या अदृश्य, रूपी हो या अरूपी। विशेष धर्म भी अनन्तानन्त हैं और सामान्य धर्म भी। सभी विशेष धर्म केवल ज्ञान ग्राह्य हैं और सभी सामान्य धर्म केवल दर्शन ग्राह्य। इन दोनों में अल्प विषयक कोई भी नहीं हैं, दोनों की पर्यायें भी तुल्य हैं। उपयोग एक समय में दोनों में से एक में रहता है, एक साथ दोनों में नहीं। जब वह उपयोग विशेष की ओर प्रवहमान होता है तब उसे केवलज्ञान कहते हैं और जब सामान्य की ओर होता है तब उसे केवल दर्शन कहते हैं। इस दृष्टि से चेतना का प्रवाह एक समय में एक ओर ही हो सकता है, दोनों ओर नहीं।

२. देशज्ञान के विलय से जैसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ही देशदर्शन के विलय से केवलदर्शन। ज्ञान की पूर्णता को जैसे केवलज्ञान कहते हैं, वैसे ही दर्शन की पूर्णता को केवल दर्शन। यदि दोनों को एक माना जाए तो केवल दर्शनावरणीय की कल्पना करना ही निरर्थक सिद्ध हो जायगा। अतः सिद्ध हुआ कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों स्वरूप से ही पृथक् हैं।

३. छद्मस्थकाल में जब ज्ञान और दर्शन रूप विभिन्न दो उपयोग पाये जाते हैं, तब उनकी पूर्ण अवस्था में दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अवधिज्ञान और अवधिदर्शन को जब तुम एक नहीं मानते, तब अर्हन्त भगवान में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

४. प्रवचन करते समय केवली कभी केवलज्ञान पूर्वक प्रवचन करता है और कभी केवलदर्शन पूर्वक भी, एक ही घंटे में अनेकों बार उपयोग में परिवर्तन होता है। यह कोई नियम नहीं है कि प्रवचन केवलज्ञान पूर्वक ही होता है। भवस्थ केवली दो प्रकार की भाषा बोलता है, सत्य और व्यवहार किन्तु ऐका-न्तिक एवं आत्यन्तिक दोषाभाव होने से वह, असत्य और मिश्र भाषा का प्रयोग नहीं करता। जिस क्षण में सत्य भाषा का प्रयोग करता है, उस समय व्यवहार का नहीं, जब व्यवहार भाषा का प्रयोग करता है तब सत्य का नहीं। वह भी दो भाषाओं का एक साथ प्रयोग करने में असमर्थ है। जैसे सत्य और व्यवहार भाषा विभिन्न दो भाषाएं हैं, एक नहीं. वैसे ही ज्ञान और दर्शन भी दो विभिन्न उपयोग हैं, एक नहीं।

५. नन्दी सूत्र में मुख्यतया पांच ज्ञान का वर्णन है, चार दर्शनों का नहीं। केवलज्ञान की तरह केवलदर्शन भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इसकी पुष्टि के लिए सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा है—सोमिल! मैं ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा द्विविध हूं।[1] भगवान के इस कथन से स्वयं सिद्ध है, कि दर्शन भी ज्ञान की तरह स्वतंत्र सत्ता रखता है। नन्दीसूत्र में सम्यक्-श्रुत के अंतर्गत उप्पन्न नाण-दंसणधरेहिं इसमें ज्ञान के अतिरिक्त दर्शनपद भी साथ ही जोड़ा है। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि केवली में दर्शन अपना अस्तित्व अलग रखता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन यदि दोनों का विषय एक ही होता तो भगवान महावीर ऐसा क्यों कहते कि मैं द्विविध हूं। जब मन पर्यव-ज्ञान का कोई दर्शन नहीं तब 'पासइ' क्रिया का प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर मनःपर्यव ज्ञान के

---

१. भगवती सूत्र, श०१८ उ० १०।

प्रकरण में दिया जा चुका। अंत में सिद्धांतवादी कहते हैं—केवली जिससे देखता है, वह दर्शन है और जिससे जानता है, वह ज्ञान है, कहा भी है—

"जह पासइ तह पासउ, पासइ जेणेह दंसणं तं से।
जाणइ जेणं अरिहा, तं से नाणं ति घेत्तव्वं ॥"

नयों की दृष्टि से उक्त विषय का समन्वय

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण एकान्तर-उपयोग के अनुयायी हुए हैं, उनके शब्द निम्नोक्त हैं—

"कस्स व नाणुमयमिणं, जिणस्स जइ होज दोन्नि उवओगा।
नूणं न होन्ति जुगवं, जओ निसिद्धा सुए बहुसो॥"

युगपदुपयोगवाद के समर्थक सिद्धसेन दिवाकर हुए हैं। वृद्धवादी आचार्य अभेदवाद के समर्थक रहे हैं, प्रवर्त्तक नहीं। वे केवलज्ञान के अतिरिक्त केवलदर्शन की सत्ता मानने से ही इन्कार करते रहे।

उपाध्याय यशोविजय जी ने उपर्युक्त तीन अभिमतों का समन्वय नयों की शैली से किया है, जैसे कि ऋजुसूत्र नय के दृष्टिकोण से एकान्तर-उपयोगवाद उचित जान पड़ता है। व्यवहारनय के दृष्टिकोण से युगपद्-उपयोगवाद सत्य प्रतीत होता है। संग्रह नय से अभेद-उपयोगवाद समुचित जान पड़ता है।

कुछ आधुनिक विद्वानों का अभिमत है कि सिद्धसेन दिवाकर युगपद्वाद के नहीं, अभेदवाद के समर्थक हुए हैं। यह मान्यता हृदयंगम नहीं होती। क्योंकि हमारे पास प्राचीन उद्धरण विद्यमान हैं।[२]

उपर्युक्त केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में तीन अभिमतों को संक्षेप से या विस्तार से कोई जिज्ञासु जानना चाहे तो नन्दीसूत्र की चूर्णि, मलयगिरि कृत वृत्ति और हरिभद्र कृत वृत्ति अवश्य पढ़ने का प्रयास करे। जिनभद्रगणी कृत विशेषावश्यक भाष्य में भी उपर्युक्त चर्चा पाई जाती है।

केवल ज्ञान का उपसंहार

मूलम्—१. अह सव्वदव्वपरिणाम, भावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं ॥६६॥ सूत्र २२॥

छाया—१. अथसर्वद्रव्यपरिणाम-भावविज्ञप्तिकारणमनन्तम्।
शाश्वतमप्रतिपाति, एकविधं केवलं ज्ञानम् ॥६६॥ सूत्र २२॥

---

१. भ० स० श० १४. उ० १० । श० १८, उ० ८ । श० २५. उ० ६, प्रकरण स्नातक । प्रज्ञापनासूत्र, पद ३०, सू० ३१४ ।

२. एतेन यदवादीद् वादीसिद्धसेनदिवाकरो यथा—केवली भगवान् युगपज्जानाति पश्यति चेति तदपास्तमवगन्तव्यमनेन सूत्रेण साक्षाद् युक्ति पूर्वं ज्ञानदर्शनोपयोगस्य क्रमशो व्यवस्थापितत्वात्।

—प्रज्ञापना सूत्र, ३० पद, मलयगिरिवृत्तिः।

केचन सिद्धसेनाचार्यादयो भणन्ति किं ? युगपत्—एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च कः ? केवली भगवान्, नियमात्—नियमेन।

—हारिभद्रीयावृत्तिःनन्दीसूत्रम्।

पदार्थ—**अह**—अथ **सव्वदव्व**—सम्पूर्णद्रव्य **परिणाम**—सब परिणाम **भाव**—औदयिक आदि भावों का **वा**—अथवा—वर्ण, गन्ध, रसादि के **विण्णत्तिकारणं**—जानने का कारण है और वह **अणंतं**—अनन्त है **सासयं**—सदैव काल रहने वाला है **अपडिवाई**—गिरने वाला नहीं और वह **केवलं नाणं**—केवलज्ञान **एगविहं**—एक प्रकार का है।

भावार्थ—केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यपरिणाम, औदयिक आदि भावों का अथवा वर्ण, गन्ध, रस आदि को जानने का कारण है, अन्तरहित तथा शाश्वत—सदा काल स्थायी व अप्रतिपाति—गिरने वाला नहीं है। ऐसा यह केवलज्ञान एक प्रकार का ही है ॥ सूत्र २२ ॥

टीका—इस गाथा में केवल ज्ञान के विषय का उपसंहार किया गया है और साथ ही केवलज्ञान का आन्तरिक स्वरूप भी बतलाया है। गाथा में "अह" शब्द अनन्तर अर्थ में प्रयुक्त किया गया है अर्थात् मनःपर्यवज्ञान के अनन्तर केवल ज्ञान का अथवा विकलादेश प्रत्यक्ष के अनन्तर सकलादेश प्रत्यक्ष का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत गाथा में सूत्रकार ने केवलज्ञान के पांच विशेषण दिये हैं, जो कि विशेष मननीय हैं—

सव्वदव्व-परिणाम-भावविण्णत्तिकारणं—सर्वद्रव्यों को और उनकी सर्व पर्यायों को तथा औदयिक आदि भावों के जानने का कारण—हेतु है।

अणंतं—वह अनन्त है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं तथा ज्ञान उनसे भी महान है। अतः ज्ञान को अनन्त कहा है।

सासयं—जो ज्ञान सादि-अनन्त होने से शाश्वत है।

अप्पडिवाई—जो ज्ञान कभी भी प्रतिपाति होने वाला नहीं है अर्थात् जिसकी महाज्योति किसी भी क्षेत्र व काल में लुप्त या बुझने वाली नहीं है। यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि जब शाश्वत कहने मात्र से केवल ज्ञान की नित्यता सिद्ध हो जाती है, फिर अप्रतिपाति विशेषण का उपन्यास पृथक् क्यों किया गया? इसका समाधान यह है—जो ज्ञान शाश्वत होता है, उसका अप्रतिपाति होना अनिवार्य है, किन्तु जो अप्रतिपाति होता है, उसका शाश्वत होने में विकल्प है, हो और न भी, जैसे अप्रतिपाति अवधिज्ञान। अतः शाश्वत का अप्रतिपाति के साथ नित्य सम्बन्ध है, किन्तु अप्रतिपाति का शाश्वत के साथ अविनाभाव तथा नित्य सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण अप्रतिपाति शब्द का प्रयोग किया है।

एगविहं—जो ज्ञान भेद-प्रभेदों से सर्वथा रहित और जो सदाकाल व सर्व देश में एक समान प्रकाश करने वाला तथा उपर्युक्त पांच विशेषणों सहित है, वह केवलज्ञान केवल एक ही है ॥ सूत्र २२ ॥

वाग्योग और श्रुत

मूलम्—२. केवलनाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पण्णवणजोगे।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोग सुयं हवइ सेसं ॥६७॥

सेत्तं केवलनाणं, सेत्तं नोइंदियपच्चक्खं, सेत्तं पच्चक्खनाणं ॥सूत्र २३॥

छाया—२. केवलज्ञानेनार्थान्, ज्ञात्वा ये तत्र प्रज्ञापनयोग्याः ।
तान् भाषते तीर्थंकरो, वाग्योगश्रुतं भवति शेषम् ॥६७॥
तदेतत्केवलज्ञानं, तदेतन्नोइन्द्रियप्रत्यक्षं, तदेतत्प्रत्यक्षज्ञानम् ॥सूत्र २३॥

पदार्थ—**केवलनाणेणऽत्थे**—केवल ज्ञान के द्वारा सर्वपदार्थों के अर्थों को **नाउं**—जानकर उनमें **जे**—जो पदार्थ **तत्थ**—वहां **पण्णवणजोगे**—वर्णन करने योग्य हैं **ते**—उनको तीर्थंकर देव **भासइ**,—भाषण करते हैं, **वइजोग**—वही वचन योग है, तथा **सेसं सुग्रं**—शेष-अप्रधान श्रुत **भवइ**—होता है । **से त्तं**—यह **केवलनाणं**—केवल ज्ञान है, **से त्तं**—यह **नोइंदियपच्चक्खं**—नोइन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान है, **से त्तं**—यही **पच्चक्खनाणं**—प्रत्यक्षज्ञान है

भावार्थ—केवल ज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानकर उनमें जो पदार्थ वहां वर्णन करने योग्य होते हैं, उन्हें तीर्थंकरदेव अपने प्रवचनों में प्रतिपादन करते हैं, वही वचन योग होता है अर्थात् वह द्रव्यश्रुत है, शेष श्रुत अप्रधान होता है ।

इस प्रकार यह केवलज्ञान का विषय सम्पूर्ण हुआ और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान का प्रकरण भी समाप्त हुआ ॥ सूत्र २३ ॥

टीका—इस गाथा में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि तीर्थंकर भगवान केवलज्ञान द्वारा पदार्थों को जानकर जो उनमें कथनीय हैं, उन्हीं का प्रतिपादन करते हैं । सभी पदार्थों का वर्णन करना उनकी शक्ति से भी बाहिर है । क्योंकि आयुष्य परिमित है, जिह्वा एक है और पदार्थ अनन्त-अनन्त हैं । जिन पदार्थों का वर्णन उनसे किया जा सकता है, वह प्रत्यक्ष किए हुए में से अनन्तवां भाग है । भवस्थ केवल-ज्ञान की पर्याय में रहकर जितने पदार्थों को वे कह सकते हैं, वे अभिलाप्य हैं, शेष अनभिलाप्य । यावन्मात्र प्रज्ञापनीय—कथनीय भाव हैं, वे अनभिलाप्य के अनन्तवें भाग परिमाण हैं, किन्तु जो श्रुतनिबद्ध भाव हैं, वे प्रज्ञापनीय भावों के भी अनन्तवें भाग परिमाण हैं, जैसे कहा भी है—

**"पण्णवणिज्जा भावा, अणंत भागो तु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥"**

केवलज्ञानी जो वचन-योग से प्रवचन करते हैं, वह श्रुतज्ञान से नहीं, प्रत्युत भाषापर्याप्ति नाम कर्मोदय से करते हैं । श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक है और केवलज्ञानी में क्षयोपशम भाव का सर्वथा अभाव होता है । भाषापर्याप्ति नामकर्मोदय से जब वे प्रवचन करते हैं, तब उनका वह वाग्योग द्रव्यश्रुत कहलाता है । जो प्राणी सुन रहे हैं, उनमें वही द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण बन जाता है । जिनकी यह मान्यता है कि तीर्थंकर भगवान ध्वन्यात्मक रूप से देशना देते हैं, वर्णात्मक रूप से नहीं' इस गाथा से उनकी मान्यता का स्वतः खण्डन हो जाता है । वइजोग सुयं हवइ सेसं उनका वचन-योग द्रव्यश्रुत होता है । भावश्रुत नहीं । इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि—"अन्ये त्वेवं पठन्ति "वइजोग सुयं हवइ तेसिं" तस्यायमर्थः, तेषां श्रोतॄणां भाव श्रुतकारणत्वात्, स वाग्योगः श्रुतं भवति, श्रुतमिति व्यवह्रियत इत्यर्थः इसका आशय ऊपर लिखा जा चुका है । इससे यह सिद्ध हुआ कि तीर्थंकर भगवान का वचन-योग द्रव्यश्रुत है । यह भावश्रुतपूर्वक नहीं, बल्कि केवलज्ञानपूर्वक होता है, भावश्रुत भगवान में नहीं, अ

श्रोताओं में पाया जाता है। सम्यग्दृष्टि में जो भावश्रुत है, वह भगवान का दिया हुआ श्रुतज्ञान है। द्रव्य-श्रुत केवलज्ञान पूर्वक भी होता है और भावश्रुतपूर्वक भी, किन्तु वर्तमान काल में जो आगम हैं, वे भावश्रुतपूर्वक हैं, क्योंकि वे गणधरों के द्वारा गुम्फित हैं। गणधरों को जो श्रुतज्ञान प्राप्त हुआ, वह भगवान के वचनयोग रूप द्रव्यश्रुत से हुआ है।

इस तरह सकलादेश पारमार्थिक प्रत्यक्ष एवं नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रकरण समाप्त हुआ। ॥ सूत्र २३ ॥

परोक्षज्ञान

मूलम्—से किं तं परुक्खनाणं ? परुक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—आभिणि-बोहिअनाणपरोक्खं च, सुअनाणपरोक्खं च, जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुअनाणं तथाभिणिबोहियनाणं, दोऽवि एयाइँ अण्णमण्णमणुगयाइं, तहवि पुण इत्थ आयरिआ नाणत्तं पण्णवयंति—अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहिअनाणं, सुणेइ त्ति सुअं, मइपुव्वं जेण सुअं, न मई सुअपुव्विआ ॥सूत्र२४॥

छाया—अथ किं तत् परोक्षज्ञानम् ? परोक्षज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिनि-बोधिकज्ञानपरोक्षञ्च, श्रुतज्ञानपरोक्षञ्च, यत्राभिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानं, यत्र श्रुतज्ञानं तत्राभिनिबोधिकज्ञानं, द्वे अपि एते अन्यदन्यदनुगते, तथापि पुनरत्राऽऽचार्या नानात्वं प्रज्ञापयन्ति—अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकज्ञानं, शृणोति इति श्रुतं, मतिपूर्वं येन श्रुतं न मतिः श्रुतपूर्विका ॥सूत्र२४॥

पदार्थ—**से किं तं परुक्खनाणं ?**—वह परोक्षज्ञान कितने प्रकार का है ? **परुक्खनाणं**—परोक्ष-ज्ञान **दुविहं**—दो प्रकार का **पन्नत्तं**—प्रतिपादित किया गया है, **तं जहा**—जैसे—**आभिणिबोहिअनाण-परोक्खं च**—आभिनिबोधिक ज्ञान परोक्ष और **सुअनाणपरोक्खं च**—श्रुतज्ञानपरोक्ष 'च' शब्द स्वगत अनेक भेदों का सूचक है, **जत्थ**—जहां **आभिणिबोहियनाणं**—आभिनिबोधिकज्ञान है, **तत्थ**—वहां **सुअनाणं** श्रुतज्ञान है, **जत्थ**—जहां **सुअनाणं**—श्रुतज्ञान है, **तत्थ**—वहां **आभिणिबोहियनाणं**—आभिनिबोधिकज्ञान है, **दोऽवि**—दोनों ही **एयाइं**—ये **अण्णमण्णमणुगयाइं**—अन्योऽन्य अनुगत हैं, **तहवि**—फिर भी **पुण**—अनुगत होने पर भी **इत्थ**—यहां पर **आयरिआ**—आचार्य **नाणत्तं**—भेद **पण्णवयंति** प्रदिपादन करते हैं—**अभिनिबुज्झइ त्ति**—जो सन्मुख आए हुए पदार्थों को प्रमाणपूर्वक अभिगत करता है, वह **आभिणिबोहि-अनाणं**—आभिनिबोधिक ज्ञान है, किन्तु **सुणेइत्ति**—जो सुना जाए वह **सुअं**—श्रुत है, **मइपुव्वं**—मति पूर्वक **जेण**—जिससे **सुअं**—श्रुतज्ञान होता है, **मई**-मति **सुअपुव्विआ**—श्रुतपूर्विका **न**—नहीं है।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—गुरुवर ! वह परोक्षज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर में गुरुदेव बोले—भद्र ! परोक्षज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

१. आभिनिवोधिक ज्ञान परोक्ष और २. श्रुतज्ञान परोक्ष। जहां पर आभिनिबोधिक ज्ञान है, वहाँ पर श्रुतज्ञान भी है। जहाँ श्रुतज्ञान है, वहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान है। ये दोनों ही अन्योऽन्य अनुगत हैं। तथापि अनुगत होने पर भी आचार्य यहाँ इनमें परस्पर भेद प्रतिपादन करते हैं—सन्मुख आए हुए पदार्थों को जो प्रमाणपूर्वक अभिगत करता है, वह आभिनिवोधिक ज्ञान है, किन्तु जो सुना जाता है, वह श्रुतज्ञान है अर्थात् श्रुतज्ञान श्रवण का विषय है, जिसके द्वारा मतिपूर्वक सुन कर ज्ञान हो, वह मतिपूर्वक श्रुतज्ञान है। परन्तु मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नहीं है ॥सूत्र २४॥

टीका—इस सूत्र में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का परस्पर सहचारी संवन्ध वतलाया गया है और साथ ही दोनों ज्ञान परोक्ष वताए हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय और छठा मन इनके माध्यम से होने वाले ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञान के दो भेद किए हैं, जैसे कि आभिनिवोधिक और श्रुत। मति शब्द ज्ञान, अज्ञान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु आभिनिवोधिक सिर्फ ज्ञान के लिए ही प्रयुक्त होता है, अज्ञान के लिए नहीं। "अभिनिवुज्झइ त्ति आभिणिवोहिअनाणं अर्थात् अभिमुखं—योग्यदेशे व्यवस्थितं, नियतमर्थमिन्द्रियद्वारेण वुध्यते—परिच्छिनत्ति आत्मा येन परिणामविशेषेण, स परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्याय आभिनिवोधिकं, तथा श्रृणोति वाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सह संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्ति—आत्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषः श्रुतम्।"

इसका सारांश इतना ही है कि जो सम्मुख आए हुए पदार्थों को इन्द्रिय और मन के द्वारा जानता है, उस परिणाम विशेष को आभिनिवोधिक ज्ञान कहते हैं। और जो शब्द को सुनकर वाच्य का ज्ञान तथा अर्थों पर विचार करता है, वह परिणाम विशेष श्रुतज्ञान कहलाता है। इन दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्वन्ध है। जैसे सूर्य और प्रकाश का परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध है, जहाँ एक है, वहां दूसरा नियमेन होगा। मइपुव्वं जेण सुयं, न मई, सुअपुव्विया—श्रुतज्ञान अर्थात् शब्दज्ञान मतिपूर्वक होता है, किन्तु श्रुतपूर्विका मति नहीं होती। जैसे वस्त्र में ताना वाना (पेटा) साथ ही है, फिर भी ताना पहले तन जाने पर ही वाना काम देता है, किन्तु वस्त्र में जहां ताना है, वहां वाना है और जहां वाना है वहां ताना भी है। ऐसा व्यवहार में कहा जाता है। प्रकाश पहले था सूर्य पीछे, ऐसा नहीं कहा जाता।

यहां शंका उत्पन्न होती है कि एकेन्द्रिय जीवों के मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान ये दोनों कथन किए गए हैं, जब उनके श्रोत्र का ही अभाव है तो फिर श्रुतज्ञान किस प्रकार माना जा सकता है ?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आहारादि संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों में भी होती हैं। वे अक्षर रूप होने से भावश्रुत उनके भी होता है। इसका विवेचन यथास्थान आगे किया जाएगा। यहां पर तो केवल इस विषय का दिग्दर्शन कराया है कि ये दोनों ज्ञान एक जीव में एक साथ रहते हैं, जैसे कि सूत्रकार ने कहा है कि "दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं—अर्थात् द्वेऽप्येते—आभिनिवोधिकश्रुते, अन्योऽन्यानुगते—परस्परं प्रतिवद्धे।" ये दोनों ज्ञान परस्पर प्रतिवद्ध होने पर भी जो भेद है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। मतिज्ञान वर्तमान कालिक वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान त्रैकालिक विषयक है

है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। यदि मतिज्ञान न हो तो श्रुत नहीं हो सकता, एवं यदि श्रुत ज्ञान न हो तो अक्षर ज्ञान कैसे हो सकता है? एकेन्द्रिय से लेकर चौरिन्द्रिय तक द्रव्य श्रुत नहीं होता, किन्तु भाव श्रुत तो उनमें भी पाया जाता है। भावश्रुत, द्रव्यश्रुत होने पर ही कार्यान्वित होता है। यदि भावश्रुत न हो तो द्रव्यश्रुत का ग्रहण नहीं हो सकता। श्रुतज्ञान की विशेष व्याख्या आगे यथा स्थान की जाएगी।

इसके अनन्तर मति-श्रुत का विवेचन दूसरी शैली से किया जाता है ॥सूत्र २४॥

मति और श्रुत के दो रूप

मूलम्—अविसेसिया मई मइनाणं च, मइ अन्नाणं च। विसेसिआ सम्मदिट्ठिस्स मई—मइनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स मई—मइ अन्नाणं। अविसेसिअं सुयं सुयनाणं च, सुयअन्नाणं च। विसेसिअं सुयं—सम्मदिट्ठिस्स सुयं—सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुयं—सुयअन्नाणं ॥सूत्र २५॥

छाया—अविशेषिता मतिर्मतिज्ञानञ्च, मत्यज्ञानञ्च। विशेषिता सम्यग्दृष्टेर्मतिर्मति-ज्ञानं, मिथ्यादृष्टेर्मतिर्मत्यज्ञानम्। अविशेषितं श्रुतं श्रुतज्ञानञ्च, श्रुताज्ञानञ्च। विशेषितं श्रुतं सम्यग्दृष्टेः श्रुतं श्रुतज्ञानं, मिथ्यादृष्टेः श्रुतं श्रुताज्ञानम् ॥सूत्र २५॥

पदार्थ—**अविसेसिया मई**—विशेषता रहित मति **च**—और **मइनाणं**—मतिज्ञान **मइअन्नाणं च**—मति अज्ञान दोनों होते हैं **सम्मदिट्ठिस्स**—सम्यग्दृष्टि की **विसेसिआ**—विशेषता सहित वही **मई**—मति **मइनाणं**—मतिज्ञान होता है, **मिच्छदिट्ठिस्स**—मिथ्यादृष्टि की मति **मइअन्नाणं**—मति अज्ञान है, **अविसेसिअं**—विशेषतारहित **सुयं**—श्रुत **सुयनाणं च**—श्रुतज्ञान और **सुयअन्नाणं च**—श्रुतअज्ञान दोनों ही हैं, **विसेसिअं सुयं**—विशेषता सहित श्रुत **सम्मदिट्ठिस्स**—सम्यग्दृष्टिका **सुयं**—श्रुतज्ञान है **मिच्छदिट्ठिस्स**—मिथ्यादृष्टि का **सुयं**—श्रुत **सुयअन्नाणं**—श्रुत अज्ञान है।

भावार्थ—विशेषता रहित मति—मतिज्ञान और मति-अज्ञान दोनों प्रकार के हैं। परन्तु विशेषता सहित वही मति सम्यग्दृष्टि की मतिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि की मति—मति अज्ञान होता है। इसी प्रकार विशेषता रहित श्रुत—श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान उभय रूप हैं। विशेषता प्राप्त वही सम्यग्दृष्टिका श्रुत श्रुतज्ञान और मिथ्यादृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान होता है ॥सूत्र २५॥

टीका—इस सूत्र में सामान्य-विशेष, ज्ञान-अज्ञान, और सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के विषय में कुछ उल्लेख किया गया है, जैसे कि सामान्यतया मति शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों में प्रयुक्त होता है। सामान्य का यह लक्षण है, जैसे कि किसी ने फल कहा, फल में सभी फलों का समावेश हो जाता है। एवं द्रव्य में,

सभी द्रव्यों का, मनुष्य में सभी मनुष्यों का अन्तर्भाव हो जाता है, किन्तु आम्रफल, जीवद्रव्य, मुनिवर, ऐसा कहने से विशेषता सिद्ध होती है। इसी प्रकार स्वामी के बिना मति शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है, किन्तु जब हम विशेष रूप से ग्रहण करते हैं, तब सम्यग्दृष्टि जीव की 'मति' मति ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि की 'मति' मति अज्ञान है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी इनके द्वारा प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप का निरीक्षण करके सत्यांश को ग्रहण करता है और असत्यांश का परित्याग करता है। उसकी मति सबकी भलाई की ओर प्रवृत्त होती है, आत्मोत्थान तथा परोपकार की ओर भी प्रवृत्त होती है। इससे विपरीत मिथ्यादृष्टि की 'मति' अनन्त धर्मात्मक वस्तु में एक धर्म का अस्तित्व स्वीकार करती है, शेष धर्मों का निषेध करती है। जो धर्म के नाम पर की जा रही हिंसा को अहिंसा ही समझता है, जिस क्रिया से संसार की वृद्धि हो, पतन हो, दुखों की परम्परा बढ़ती हो, ऐसे अशुभ कार्य में प्रवृत्ति करने वाले जीव की मति अज्ञान रूप होती है।

इसी प्रकार श्रुत के विषय में समझना चाहिए। श्रुत शब्द भी ज्ञान-अज्ञान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, यह सामान्य है, और जब श्रुत का स्वामी सम्यग्दृष्टि होता है, तब उसे ज्ञान कहते है तथा जब श्रुत का स्वामी मिथ्यादृष्टि होता है, तब उसे अज्ञान कहते हैं। सम्यग्दृष्टि का शब्दज्ञान आत्मकल्याण और परोन्नति में प्रवृत्त होता है, मिथ्यादृष्टि का शब्दज्ञान आत्मपतन और परावनति में प्रवृत्त होता है। सम्यग्दृष्टि अपने श्रुतज्ञान के द्वारा मिथ्याश्रुत को भी सम्यक्श्रुत के रूप में परिणत कर लेता है, एवं मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी मिथ्याश्रुत के रूप में परिणत कर लेता है। वह मिथ्याश्रुत के द्वारा संसार चक्र में परिभ्रमण की सामग्री जुटाता है।

सारांश इतना ही है कि सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान से वस्तुओं के यथार्थ तत्त्व को जान कर केवल मोक्ष को ही उपादेय मानता है, संसार और संसार के हेतुओं को हेय एवं परित्याज्य मानता है। जो वीतराग देव ने मोक्ष का उपाय बताया है, वही अर्थरूप है, शेष अनर्थ रूप। जब कि मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न जानता हुआ केवल सांसारिक तथा वैषयिक सुख को अपने जीवन का परमध्येय समझता है। आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता, स्वर्ग ही मोक्ष है, वस्तुतः मोक्ष कोई वस्तु नहीं है, मोक्ष का गगनारविन्द की तरह सर्वथा अभाव है, मोक्ष के उपायों को पाखण्ड और ढोंग समझता है, यही उसकी अज्ञानता है।

ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति, और निर्वाण पद की प्राप्ति तथा आध्यात्मिक सुखों का अनुभव करना है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव की बुद्धि और शब्दज्ञान, दोनों ही मार्ग प्रदर्शक होते हैं। मिथ्यादृष्टि की मति और शब्दज्ञान दोनों ही विवाद के लिए, कालक्षेप के लिए, विकथा के लिए, जीवन भ्रष्ट तथा पथभ्रष्ट के लिए एवं अपने तथा दूसरों के लिए अहितकर ही होते हैं। भाष्यकार ने अज्ञान का स्वरूप निम्न लिखित प्रकार से वर्णन किया है—

"सय सय विसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं॥"

इसका भावार्थ ऊपर लिखा जा चुका है ॥सूत्र २५॥

आभिनिबोधिकज्ञान

मूलम्—से किं तं आभिणिबोहियनाणं ? आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सुयनिस्सियं च, असुयनिस्सियं च ।

से किं तं असुयनिस्सियं ? असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

१. उप्पत्तिया ६. वेणइआ ३. कम्मया ४. परिणामिया ।

बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ ॥६८॥ सूत्र २६॥

छाया—अथ किं तदाभिनिबोधिकज्ञानम् ? आभिनिबोधिकज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रुतनिश्रितं च, अश्रुतनिश्रितञ्च ।

अथ किं तदश्रुतनिश्रितम् ? अश्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. औत्पत्तिकी २. वैनयिकी ३. कर्मजा ४. पारिणामिकी ।

बुद्धिश्चतुर्विधोक्ता, पंचमी नोपलभ्यते ॥६८॥ सूत्र २६॥

पदार्थ—से किं तं आभिणिबोहियनाणं ?—वह आभिनिवोधिक ज्ञान कौन सा है ? आभिणिबोहियनाणं—आभिनिवोधिकज्ञान दुविहं—दो प्रकार का है, तं जहा—जैसे—सुयनिस्सियं च—श्रुतनिश्रित और असुयनिस्सियं च—अश्रुतनिश्रित, से किं तं असुयनिस्सियं ?—अश्रुतनिश्रित कौन सा है ? असुयनिस्सियं—अश्रुतनिश्रित चउव्विहं—चार प्रकार से है तं जहा—जैसे उप्पत्तिया—औत्पत्तिकी वेणइया—वैनयिकी कम्मया—कर्मजा परिणामिया—पारिणामिकी चउव्विहा—चार प्रकार की बुद्धी—बुद्धि वुत्ता—कही गयी है, पंचमा—पांचवीं नोवलब्भइ—उपलब्ध नहीं होती ।

भावार्थ—भगवन् ! वह आभिनिवोधिकज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर में गुरुजी बोले—भद्र ! आभिनिवोधिकज्ञान—मतिज्ञान दो प्रकार का है, जैसे—१. श्रुतनिश्रित और २. अश्रुतनिश्रित ।

शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! अश्रुतनिश्रित कितने प्रकार का है ?

गुरुजी बोले—अश्रुतनिश्रित चार प्रकार का है, जैसे—

१. औत्पत्तिकी—तथाविध क्षयोपशम भाव के कारण और शास्त्र अभ्यास के विना जिसकी उत्पत्ति हो, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं ।

२. वैनयिकी—गुरु आदि की भक्ति से उत्पन्न वैनयिकी बुद्धि कही गयी है ।

३. कर्मजा—शिल्पादि के अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा है ।

४. पारिणामिकी—चिरकाल तक पूर्वापर पर्यालोचन से जो बुद्धि पैदा होती है, उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं ।

ये चार प्रकार की ही बुद्धिएं शास्त्रकारों ने वर्णित की हैं, पांचवां भेद उपलब्ध नहीं होता ॥सूत्र २६॥

टीका—इस सूत्र में आभिनिबोधिक ज्ञान को दो हिस्सों में विभक्त किया है, एक श्रुतनिश्रित और दूसरा अश्रुतनिश्रित। जो श्रुतज्ञान से सम्बन्धित मतिज्ञान है, उसे श्रुतनिश्रित कहते हैं और जो तथाविध क्षयोपशम भाव से उत्पन्न हो, उसे अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहते हैं। इस विषय में भाष्यकार लिखते हैं—

"पुव्वं सुअपरिकम्मियमइस्स, जं सपयं सुयाईयं।
तन्निस्सियमिअरं पुण, अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥"

यद्यपि पहले श्रुतनिश्रत मति का वर्णन करना चाहिए था, फिर भी सूचीकटाह न्याय से अश्रुत-निश्रित का वर्णन अल्पतर होने से सूत्रकार ने पहले उसी के चार भेद वर्णन किए हैं, जैसे कि—

(१) औत्पत्तिकी (हाज़र जवाबी बुद्धि) जिसका क्षयोपशम इतना श्रेष्ठ है जिसमें ऐसी अच्छी युक्ति सूझती है कि जिससे प्रश्नकार निरुत्तर होजाए, जनता पर अच्छा प्रभाव पड़े, राजसम्मान मिले, हेलया आजीविका भी मिल जाए और बुद्धिमानों का पूज्य बनजाए। ऐसी बुद्धि को औत्पत्तिकी कहते हैं।

(२) वैनयिकी—माता-पिता, गुरु-आचार्य आदि की विनय-भक्ति करने से उत्पन्न होने वाली बुद्धि को वैनयिकी कहते हैं।

(३) शिल्प-दस्तकारी-हुनर, कला, विविध प्रकार के कर्म करने से जो तद्विषयक नई सूझ-बूझ होती है, वह कर्मजा बुद्धि कहलाती है।

(४) पारिणामिकी—जैसे २ आयु परिणमन होती है तथा पूर्वापर पर्यालोचन के द्वारा बोध प्राप्त होता है, ऐसी पवित्र एवं परिपक्व बुद्धि को पारिणामिकी कहते हैं।

तीर्थंकर तथा गणधरों ने उक्त चार प्रकार की अश्रुतनिश्रित बुद्धि बताई हैं। पाँचवीं बुद्धि के-वलियों के ज्ञान में भी अनुपलब्ध ही है। सर्व अश्रुतनिश्रित मति का उक्त चारों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी कारण सूत्रकर्त्ता ने भी कथन किया है, कि—

बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भइ अर्थात् बुद्धि चार प्रकार की ही है, पांचवीं बुद्धि कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होती।

१. औत्पत्तिकी बुद्धि का लक्षण

मूलम्—१. पुव्व-मदिट्ठ-मस्सुय-मवइय, तक्खण विसुद्धगहियत्था।
अव्वाहय-फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम ॥ ६६ ॥

छाया—१. पूर्व-मदृष्टाऽश्रुतऽवेदित-तत्क्षण-विशुद्धगृहीतार्था।
अव्याहतफलयोगा, बुद्धिरौत्पत्तिकी नाम ॥ ६६ ॥

पदार्थ—पुव्व-मदिट्ठ- मस्सुय, मवेइय पहले बिना देखे, बिना सुने, और बिना जाने—तक्खण, तत्काल ही विसुद्धगहियत्था—पदार्थों के विशुद्ध अर्थ—अभिप्राय को ग्रहण करने वाली, और जिसके द्वारा

अव्वाहय-फल जोगा—अव्याहत फल—बाधा रहित परिणाम का योग होता है, बुद्धी—ऐसी बुद्धि उप्पत्तिया-नाम—औत्पत्तिकी बुद्धि कही जाती है।

भावार्थ—जिस बुद्धि के द्वारा पहले बिना सुने और बिना जाने ही पदार्थों के विशुद्ध अर्थ—अभिप्राय को तत्काल ही ग्रहण कर लिया जाता है और जिस से अव्याहत-फल-बाधारहित परिणाम का योग होता है, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहा गया है।

१. औत्पत्तिकी बुद्धि के उदाहरण

मूलम्—२. [१]भरह-सिल-[२]मिंढ-[३]कुक्कड[४]तिल-[५]बालुय-[६]हत्थि-[७]अगड-[८]वणसंडे ।
[९]पायस-[१०]अइआ-[११]पत्ते, [१२]खाडहिला-[१३]पंचपियरो य ॥७०॥

छाया—२. [१]भरत-शिला-[२]मेंढ--[३]कुक्कुट, [४]तिल-[५]वालुका-[६]हस्त्य[७]गड-[८]वनखण्डाः ।
[९]पायसा[१०]ऽतिग-[११]पत्राणि, [१२]खाडहिला-[१३]पञ्चपितरश्च ॥ ७० ॥

मूलम्—३. [१]भरह-सिल [२]पणिय [३]रुक्खे, [४]खुड्डग [५]पड [६]सरड [७]काय [८]उच्चारे ।
[९]गय [१०]घयण [११]गोल [१२]खम्भे, [१३]खुड्डग-[१४]मग्गि [१५]त्थि [१६]पइ [१७]पुत्ते ॥७१॥

छाया—३. [१]भरत-शिला-[२]पणित-[३]वृक्षाः, [४]क्षुल्लक-[५]पट-[६]सरट-[७]काको[८]च्चाराः ।
[९]गज-[१०]घयण-(भाण्ड) [११]गोलक[१२]स्तम्भाः, [१३]क्षुल्लक-[१४]मार्ग-[१५]स्त्री-[१६]पति-[१७]पुत्राः ॥७१॥

मूलम्—४. [१८]महुसित्थ [१९]मुद्दि [२०]अंके(य), [२१]नाणए [२२]भिक्खु [२३]चेडगनिहाणे ।
[२४]सिक्खा य [२५]अत्थसत्थे, [२६]इच्छा य महं [२७]सयसहस्से ॥७२॥

छाया—४. [१८]मधुसिक्थ-[१९]मुद्रिका-[२०]अङ्काः-[२१]ज्ञायक-[२२]भिक्षु-[२३]चेटकनिधानानि ।
[२४]शिक्षा च [२५]अर्थशास्त्रम्, [२६]इच्छा च [२७]महत्-शतसहस्रम् ॥७२॥

टीका—आगमों में तथा काव्य, नाटक, उपन्यास आदि ग्रन्थों में उन बुद्धिमानों का स्थान सर्वोपरि

रहा है, जिन्होंने महत्त्वपूर्ण सूझ-बूझ सहित कही हुई बातों से या अद्भुत कृत्यों से या अलौकिक बुद्धि से जनता को चमत्कृत किया है। उनमें राजा, बादशाह, मंत्री, न्यायाधीश, महात्मा, महापुरुष, गुरु, शिष्य, किसान धूर्त, विदूषक, दूत, विरक्त, संन्यासी, परिव्राजक, देव, दानव, कलाकार, गायक, हंसोड़, ऐसे बालक, नर एवं नारियों का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। इनका वर्णन इतिहास, कथानक, दृष्टांत, उदाहरण और रूपक आदि के रूपों में मिलता है।

१. इतिहास—जिसमें किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन की विशेष तथा अद्भुत घटनाओं का वर्णन हो, वही इतिहास है। इसमें प्रायः सच्ची घटनाएं होती हैं। जिस भूमि में जन्म लिया, जहां शिक्षाप्राप्त की, जहाँ जीवन में प्रगति की, जहां शिक्षा-दीक्षा, प्रवचन, विजय, विकास, मरण आदि का तथा द्रव्य-क्षेत्र और काल का स्पष्टोल्लेख पाया जाता है, उसे इतिहास कहते हैं।

२. कथानक—जिसमें कहानी की मुख्यता हो। कहानियां दो प्रकार की होती हैं, १. वास्तविक, २. काल्पनिक, इनमें जो वास्तविक होतीं हैं, उनके पीछे जीवन उपयोगी शिक्षाएं होती हैं। जीवन के जिस-जिस वयः में कोई विशेष घटनाएं हुईं, उनका वर्णन करना, फिर वे चाहे किसी भी शती में हुई हों, इसे जानने के लिए कोई आवश्यकता नहीं रहती। उसके शेष अवशेष आदि द्रव्य-क्षेत्र कहां है? इसे जानने की श्रोताओं में उत्कण्ठा नहीं रहती। जो काल्पनिक होती हैं, उनमें भी वास्तविकता की पुट दी होती है। वे भी अच्छाई और बुराई से परिपूर्ण होने के कारण श्रोताओं की मार्ग प्रदर्शिका होती हैं।

३. दृष्टान्त—जिसमें किसी के जीवन की विशेष झलकियां तथा अनुभूतियां हों, वे दृष्टांत कहे जाते हैं। इसका सम्बन्ध प्रायः अपरिचित देश-काल और व्यक्ति से होता है। वर्णन किए जा रहे किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग किया जाता है। दृष्टांत में पशु-पक्षी, वृक्ष, जड़ पदार्थ आदि ये सब सम्मिलित हैं। दृष्टांत छोटे भी होते और बड़े भी।

४. उदाहरण—छोटे-छोटे उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण विषय को स्पष्ट करने के लिए दिए जाते हैं। 'स धर्मं करोति' यह कर्तृवाच्य का तथा 'तेन धर्मः क्रियते' यह कर्म वाच्य का उदाहरण है। शिक्षा के लिए दूध-पानी की मैत्री, सूई, कैंची के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार अन्य-अन्य के विषय में समझना चाहिए।

५. रूपक—जिसमें काल्पनिक पर वास्तविकता की पुट दी जाती है। यह लक्षणावृत्ति और व्यंजना-वृत्ति में काम आता है। इसके पीछे अच्छे-बुरे अनेक भाव छिपे हुए होते हैं। इसको छायावाद का एक अङ्ग भी कह सकते हैं। उत्प्रेक्षालंकार और रूपकालंकार इसके दो पहलु हैं। संघनगर, संघमेरु, संघरथ, संघचक्र और संघसूर्य आदि प्रस्तुत सूत्र में जो उल्लेख मिलते हैं, वे सब रूपक हैं।

प्रस्तुत सूत्र में औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा तथा पारिणामिकी बुद्धि पर केवल कथानक के नायकों के नाम का ही निर्देश किया है। संभव है, उस काल में ये अतिप्रसिद्ध होंगे। चूर्णिकार तथा हरिभद्र वृत्तिकार के युग तक ये दृष्टान्त अतिप्रसिद्ध होने के कारण उन्होंने अपनी चूर्णि व वृत्ति में इनका उल्लेख नहीं किया।

बृहद्वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि के युग में सूत्रस्थ दृष्टान्त इतने प्रसिद्ध नहीं रहे। कुछ का तो उन्हें ज्ञान था और कुछ अनुभवी शास्त्रज्ञों से जानकर उन्होंने दृष्टांत लिखे। उसी वृत्ति का आधार लेकर क्रमशः सभी दृष्टांतों के लिखने का यहां प्रयास किया गया है।

यद्यपि आजकल बहुत से ऐसे दृष्टांत भी हैं जो कि औत्पत्तिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि' कर्मजा तथा पारिणामिकी बुद्धि से सम्बन्धित हैं। तदपि उनका उल्लेख न करके केवल सूत्रगत जो दृष्टान्त हैं, उन्हीं की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए, उन्हें लिखा जा रहा है।

१. भरत—उज्जयिनी नगरी के निकट एक नटों का ग्राम था, उसमें भरत नामक एक नट रहता था। उसकी धर्मपत्नी का किसी असाध्य रोग से देहान्त हो गया। वह अपने पीछे रोहक (रोहा) नामक एक छोटे बालक को छोड़ गई। वह बालक होनहार, बुद्धिमान एवं पुण्यवान था। भरत नट ने अपनी तथा रोहक की सेवा के उद्देश्य से दूसरा विवाह किया, किन्तु वह विमाता, रोहक के साथ वात्सल्य, ठीक-ठीक व्यवहार नहीं रखती थी। परिणाम स्वरूप रोहक ने एक दिन उस विमाता को कहा कि माता जी! "आप मेरे साथ प्रेम-व्यवहार क्यों नहीं करतीं? जब कभी मैं देखता हूं, तब आप की ओर से किए व्यवहार में कलुष्यता झलकती है, यह आपके लिए उचित नहीं है।"

इससे वह क्रूर हृदय वाली विमाता बोली—"अरे रोहक! यदि मैं तेरे साथ मधुर व्यवहार नहीं रखती तो तू मेरा क्या बिगाड़ देगा? उसे उत्तर देते हुए रोहक ने कहा कि 'मैं ऐसा उपाय करूंगा जिससे तुझे मेरे पाओं की शरण लेनी पड़ेगी।" यह बात सुनकर वह विमाता क्रुद्ध होकर कहने लगी—"अरे नीच तू ने जो करना है, करले, मैं तेरी क्या परवाह करती हूं, तेरे जैसे बहुतेरे फिरते हैं। इतना कहकर विमाता चुप हो कर अपने कार्य में व्यस्त हो गई।

इधर रोहक भी अपनी कही हुई बात पूर्ण करने के लिए स्वर्णावसर की प्रतीक्षा में समय व्यतीत करने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् वह रोहक अपने पिता के पास ही रात को सोया हुआ था। अर्धरात्रि में अचानक निद्रा खुली और कहने लगा—"पिता जी! पिता जी! कोई अन्य पुरुष दौड़ा जा रहा है।" बालक की यह बात सुनकर भरत नट के मन में शंका उत्पन्न हो गई कि मेरी स्त्री सदाचारिणी प्रतीत नहीं होती। उस दिन से वह नट उससे विमुख हो गया, सीधे मुंह से बात-चीत भी करनी छोड़ दी और अलग स्थान में शयन करने लग गया। इस प्रकार पति को अपने से विमुख देखकर वह जान गई कि यह सब कुछ रोहक की शरारत है। इसको अनुकूल किए बिना पतिदेव सन्तुष्ट नहीं हो सकते। उनके रुष्ट रहने से जीवन में सरसता नहीं, नीरस-जीवन किसी काम का नहीं। ऐसा सोचकर उसने रोहक को विनयपूर्वक मधुर व्यवहार से मनाया और "भविष्य में सदैव सद्व्यवहार ही रखूंगी;" ऐसा विश्वास दिलाकर रोहक को संतुष्ट किया।

विमाता के अनुनय से प्रसन्न होकर रोहक ने भी पिता की शंका एवं भ्रम को दूर करने का सुअवसर जानकर चान्दनी रात में अंगुली के अग्र भाग से अपनी छाया पिताजी को दिखाते हुए कहा—"देखो वह पुरुष जा रहा है।" भरतनट ने सोचा जो पुरुष हमारे घर में आता है, वही डर कर भागा जा रहा है जिसके लिए रोहक संकेत कर रहा है। इतना सुनते ही क्रोध की ज्वाला भभक उठी; तुरन्त उसे मारने के लिए म्यान से तलवार निकाल ली, और कहा—"कहां है वह लम्पटी पुरुष? अभी उसका काम तमाम करता हूं।"

रोहक ने अपनी ही छाया को दिखाते हुए कहा—"यह है वह पुरुष" कहकर उसकी समझाने की बाल चेष्टा देखते ही भरत लज्जित हो गया और सोचने लगा ओहो! मैंने बड़ी गलती की जोकि बालक के

कहने से अपनी स्त्री के साथ अप्रीति का व्यवहार किया। इस प्रकार पश्चात्ताप करने के अनन्तर भरतनट पहले की तरह ही अपनी स्त्री से प्रेम-व्यवहार करने लगा।

इधर रोहक भी सोचने लगा कि मेरे द्वारा किए गए दुर्व्यवहार से अप्रसन्न हुई विमाता कभी मुझे विष आदि के प्रयोग से मार न दे। अतः भविष्य के लिए एकाकी भोजन करना ठीक नहीं है। ऐसा सोचकर उसने अपना खाना-पीना, रहन-सहन, सब-कुछ पिता के साथ ही करने का कार्यक्रम बना लिया।

अन्य किसी दिन कार्यवश रोहक अपने पिता के साथ उज्जयिनी नगरी गया। नगरी अपने वैभव से अलकापुरी के तुल्य समृद्ध एवं सौन्दर्य पूर्ण थी, उसे देखकर रोहक अति विस्मित हुआ और अपने मनमें कैमरे की तरह उस नगरी का चित्र खींच लिया। तत्पश्चात् जब पिता के साथ अपने ग्राम की ओर आने लगा, तब नगरी से बाहर निकलते ही भरत को भूली हुई वस्तु की याद आई और उसे लेने के वास्ते रोहक बालक को सिप्रा नदी के तट पर बैठा कर स्वयं वह पुनः नगरी में लौट गया।

इधर रोहक ने नदी के तीर पर बैठे हुए अपनी बुद्धिमत्ता से तथा बाल चंचलता से शुभ्र-रेती पर कोटपूर्ण नगरी का नक्शा तैयार कर लिया। अकस्मात् उधर से राजा अपने साथियों से भटका हुआ एकाकी उसी मार्ग से चल आया। उसे अपनी लिखी हुई नगरी के ऊपर से आते देखकर रोहक ने कहा—"राजन्! इस मार्ग से मत जाओ।" इतना सुनते ही राजा बोला—"क्यों बच्चा! क्या बात है?" रोहक ने कहा—"यह राजभवन है, इसमें हरएक व्यक्ति बिना आज्ञा के प्रवेश नहीं कर सकता।" यह सुनते ही उसके द्वारा लिखी हुई नगरी को राजा ने कौतुक वश बड़े गौर से देखा और रोहक से पूछा—"अरे वत्स! क्या तुमने वह नगरी पहले भी कभी देखी है, या नहीं?" रोहक ने कहा—"राजन्! पहले कभी नहीं देखी, आज ही ग्राम से मैं यहां आया हूं।" राजा उस बालक की अपूर्व धारणा-शक्ति और उसके चातुर्य को देखकर आश्चर्य चकित हुआ और मन ही मन उसकी अद्भुत बौद्धिक शक्ति की प्रशंसा करने लगा।

कुछ समय के अनन्तर राजा ने रोहक बालक से पूछा—"वत्स! तुम्हारा नाम क्या है? और कहां पर रहते हो? वह बोला—"राजन्! मेरा नाम रोहक है और यहां से निकटवर्ती नटों के अमुक ग्राम में रहता हूं।" इस प्रकार दोनों में बात-चीत चल ही रही थी कि इतने में रोहक का पिता भरत आ पहुंचा। और पिता-पुत्र दोनों अपने ग्राम की ओर चल पड़े। राजा भी अपने महल में चला आया। अपने नित्य के राज्यकार्य से निवृत्त होकर राजा सोचने लगा, कि मेरे चार सौ निन्यानवें ४९९ मंत्री हैं। यदि इनमें एक कुशाग्रबुद्धिशाली महामंत्री और होजाए तो मैं सुखपूर्वक राज्य चलाने में समर्थ हो सकूंगा। क्योंकि अन्य बल न्यून होने पर भी, केवल बुद्धिबल से राजा निष्कण्टक राज्य भोग सकता है और हेलया ही शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार सोच-विचार कर राजा ने कुछ दिनों तक "रोहक कितना बुद्धिमान है।" उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा करने लगा, जैसे कि—

२. शिला—सर्व प्रथम राजा ने उस ग्राम में रहनेवाले ग्रामीणों को बुलाकर आज्ञा दी "तुम सब मिलकर एक ऐसा मण्डप बनाओ जो कि राजाधिराज के योग्य हो, और ग्राम से बाहिर जो महाशिला है, उसे बिना उखाड़े ही वह मण्डप का आच्छादन बन जाए।"

राजा की उपर्युक्त आज्ञा को सुनकर सभी ग्रामवासी चिन्तातुर हो गए। वे सब पंचायतघर में

एकत्रित होकर परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि अब हमें क्या करना चाहिए ? राजा की आज्ञा भी अनुलंघनीय है और उसका यथोचित पालन करना हमारे लिए असंभव लगता है। आदेश पूरा न करने से राजा अवश्य प्रबल दण्ड देगा। इस प्रकार विचार करते-करते मध्याह्नकाल हो आया।

उधर रोहक पिता के बिना न खाना खाता है और न पानी पीता है, वह भूख से व्याकुल होकर पिता के पास उसी सभा में आ पहुंचा और बोला—"पिता जी! मैं भूख से पीड़ित हो रहा हूं। अतः भोजन के लिए जल्दी घर चलो।" भरत ने कहा—वत्स! तुम तो सुखी हो, ग्रामवासियों पर क्या कष्ट आ पड़ा ? इस बात को तुम कुछ भी नहीं जानते हो।"

रोहक बोला—"पिता जी ! ग्राम पर क्या कष्ट आ पड़ा ?" इसका उत्तर देते हुए भरत ने राजा की आज्ञा और उसकी कठिनाई, सब कुछ कह सुनाई। रोहक ने मुस्कराते हुए कहा—"क्या यही संकट है ? इसे तो मैं अभी दूर किए देता हूं, इसमें चिन्ता करने जैसी क्या बात है ?"

आप लोग मण्डप बनाने के लिए शिला के चारों ओर तथा नीचे की तर्फ भूमि को खोदो और यथास्थान अनेक आधार स्तम्भों को लगाकर मध्यवर्ती भूमि को खोदो। फिर चारों ओर अति सुन्दर दीवारें खड़ी करदो, बस मण्डप बनकर तैयार हो जाएगा। यह है राजाज्ञा पालन करने का सुगम उपाय।"

मण्डप निर्माण करने के सहज उपाय को सुनकर ग्राम के प्रमुख पुरुष परस्पर कहने लगे—यह उपाय सर्वथा उचित है, हमें इसी प्रकार करना चाहिए। इस प्रकार निर्णय करके सभी लोग अपने-अपने घरों को भोजन करने के लिए चल दिए। भोजन करने के पश्चात् वे सब उसी स्थान पर पुनः आ पहुंचे। शिला के नीचे उन्होंने एक साथ खुदाई का कार्यक्रम प्रारंभ कर दिया। कुछ ही दिनों में वे मण्डप तैयार करने में सफल हो गए। राजा की आज्ञा के मुताबिक उन्होंने महाशिला को उस मण्डप की छत बना दिया।

तत्पश्चात् उन ग्रामीणों ने राजा के पास जाकर निवेदन किया कि महाराज ! आप श्री जी ने हमारे लिए जो आज्ञा दी थी, उसमें हम कितने सफल हुए हैं? इसका निरीक्षण आप स्वयं करलें। राजा ने अवकाश के समय स्वयं निरीक्षण किया उसे देखकर राजा का मन प्रसन्न हो गया। फिर राजा ने उनसे पूछा—"यह किसकी बुद्धिका चमत्कार है ?" इसका उत्तर देते हुए उन ग्रामीणों ने कहा—"यह भरत पुत्र रोहक की बुद्धि की उपज है और बनाने वाले हम हैं।" रोहक की हाज़र जवाबी, नई सूझ बूझ वाली बुद्धि से राजा बड़ा सन्तुष्ट हुआ।

३. मिण्ढा—मेण्ढे का उदाहरण—राजा ने अन्य किसी दिन रोहक की बुद्धिपरीक्षा के उद्देश्य से उस ग्राम में वरिष्ठ राजपुरुषों के द्वारा एक मिण्ढा भेजा और साथ ही यह सूचित किया कि "यह मिण्ढा जितने वज़न का आज है, उतने ही वज़न का एक पक्ष के बाद भी रहे, उस वज़न से न घटे और न बढ़ने पाए, ज्यों के त्यों वज़नसहित हमें सौंप देना। ऐसा महाराजा साहिब का आदेश है। यह सूचित कर वे राजपुरुष लौट गए। उपर्युक्त आज्ञा मिलते ही ग्रामनिवासी लोग चिंतित हुए। यदि इसे खाने को अच्छे अच्छे पदार्थ देंगे तो निश्चय ही बढ़ेगा और यदि इसे भूखा रखें तो निःसन्देह घटेगा ही। इस विकट समस्या को सुलझाने के लिए बहुत कुछ सोचा-विचारा। किन्तु किसी प्रकार का उपाय न सूझने से उन्होंने रोहक को बुलाया और कहा—"वत्स ! आप की प्रतिभाशक्ति बड़ी प्रबल है। पहले भी आपने ही राजदण्ड से हमें मुक्त कराया और अब भी मझधार में पड़ी हुई नैय्या के कर्णधार आप ही हैं।" जो राजा की आज्ञा थी, वह सब रोहक को अथ से इति तक कह सुनाई।

रोहक ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से ऐसा मार्ग निकाला कि एक पक्ष की तो क्या अनेक पक्ष भी व्यतीत हो जाएं तब भी मिण्ढा उतने ही वजनमें रह सके, जितना कि आज है। इस उपाय से सब लोग प्रसन्न हो गए। रोहक के कथनानुसार वैसी व्यवस्था करदी। एक ओर तो मिण्ढे को नित्यंप्रति अच्छी-अच्छी खुराक देने लगे और दूसरी ओर उसके सामने व्याघ्र को बन्द पिंजरेमें रख दिया, जिससे वह भय-भीत बना रहे। भोजन की पर्याप्त मात्रा से तथा व्याघ्र के भय से न मिण्ढे को बढ़ने दिया और न घटने दिया। एक पक्ष व्यतीत होने के अनन्तर वह मिण्ढा जितने वजन का था, उतने ही वजन में उसे ग्रामीणों ने लौटा दिया। राजा ने उसे तोला परिणामस्वरूप वह न घटा और न बढ़ा। इससे राजा की प्रसन्नता और बढ़ी।

४ कुक्कुट—कुछ दिनों के अनन्तर राजा ने रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि-परीक्षा के निमित्त एक मुर्गा जो कि अभी लड़ना नहीं जानता था, भेजा और साथ ही यह भी हुक्म कहलाकर भेजा कि बिना किसी दूसरे मुर्गे के इसे लड़ाकू बनाकर वापिस लौटाओ।

राजा की ऐसी आज्ञा को सुनकर वे ग्रामवासी पुनः रोहक के पास आए और सारा वृत्तान्त रोहक को कह सुनाया। यह बात सुनकर रोहक ने एक स्वच्छ और बहुत बड़ा तथा मजबूत दर्पण मंगवाया। दिन में चार पांच बार उस दर्पण को मुर्गे के समक्ष रखता। उस दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को अपना प्रतिद्वन्द्वी जानकर वह मुर्गा युद्ध करने लगता। क्योंकि पशु-पक्षियों को प्रायः ज्ञान विवेकपूर्वक नहीं होता। इस प्रकार अन्य मुर्गे के अभाव में भी उस मुर्गे को लड़ते हुए को देखकर सभी लोग रोहक की बुद्धि की सराहना करने लगे। कुछ काल के पश्चात् वह मुर्गा राजकुक्कुट बनाकर राजा को सौंप दिया और कहा महाराज! अन्य मुर्गे के अभाव में भी इसे लड़ाकू बना दिया है। राजा ने उसकी परीक्षा की। सच्ची घटना से महाराजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

५. तिल—अन्य किसी दिन फिर राजा के मन में रोहक की परीक्षा करने की आई। राजा ने रोहक के ग्राम निवासियों को अपने पास बुलाया और कहा—"तुम्हारे सामने जो तिलों की महाराशि है, उन की गणना किए बिना बतलाओ कि तिल कितने हैं? इतना स्मरण रखना कि अधिक विलंब न होने पाए।" यह सुनकर सब लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर रोहक के पास आए। राज-आज्ञा का सर्व वृत्त रोहक को कह सुनाया।

इस का उत्तर देते हुए रोहक ने कहा—"तुम—राजा के पास जाकर कह देना कि राजन्! हम गणित शास्त्री तो नहीं हैं, फिर भी आप की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए, इस महाराशि में तिलों की संख्या उपमा के द्वारा बतलाते हैं—इस नगरी के ऊपर बिल्कुल बीच में जितने आकाश में तारे हैं, ठीक उतनी ही संख्या इस ढेर में तिलों की है।" हर्षान्वित होकर सबने राजा के पास जाकर वैसा ही कह सुनाया जैसा कि रोहक ने उन्हें समझाया था। राजा मन ही मन में लज्जित हुआ।

६. बालुक—अन्यदा राजा ने रोहक की परीक्षा करने के लिए फिर ग्रामीण लोगों को आदेश दिया कि "तुम्हारे ग्राम के निकट सबसे बढ़िया रेती है। अतः उस बालू की एक डोरी बनाकर शीघ्र भेज दें।" लोगों ने रोहक से जाकर कहा कि राजा ने बालू की एक मोटी डोरी मंगवाई है। रेत की डोरी बनाई नहीं जा सकती, अब क्या किया जाए।" रोहक ने अपने बुद्धि बल से राजा को उत्तर भेजा—"हम सब नट हैं, नृत्य कला तथा बांसों पर नाचना ही जानते हैं, डोरी बनाने का धन्धा हम नहीं जानते। परन्तु फिर भी आप श्री का आदेश है, उस का पालन करना हमारा कर्तव्य है। अतः

नम्र प्रार्थना है कि यदि आप के भंडार में अथवा अजायब घर में नमूने के रूप में पुरानी वालुकामयी डोरी हो, तो वह दे दीजिए, तदनुसार डोरी बनाने का हम प्रयत्न करेंगे और आप की सेवा में भेज देंगे।" ग्राम वासियों ने राजा को रोहक की बताई हुई युक्ति कह सुनाई। रोहक की चमत्कृति बुद्धि से राजा निरुत्तर हो गया।

७. हस्ती—राजा ने अन्य किसी दिन एक अति वृद्ध मरणासन्न हाथी उस नट ग्राम में भेज दिया। ग्रामीणों को आज्ञा दी—"इस हाथी की यथाशक्य सेवा करो, प्रतिदिन इस का समाचार मेरे पास भेजते रहना। हाथी मर गया या मरण प्रायः हो रहा है, ऐसी बात न कहना अन्यथा तुम्हें दण्डित किया जाएगा।"

इस प्रकार राजा के आदेश को सुनकर सभी लोग रोहक के पास पहुँचे और राजा की आज्ञा कह सुनाई। रोहक ने इस का उपाय बतलाया—"इस हाथी को अच्छी २ खुराक देते रहो, सेवा करते रहो पीछे जो कुछ होगा मैं उसे समझ लूंगा।"

रोहक की आज्ञा से ग्रामीणों ने हाथी को उसके अनुकूल खुराक दी, परन्तु वह रात को ही मर गया। तब रोहक के कथन-अनुसार ग्रामवासियों ने मिलकर राजा से निवेदन किया—"हे नरदेव ! आज हाथी न उठता है, न बैठता है, न खाना खाता है, न लीद करता है, न सांस लेता है, न चेष्टा करता है, न देखता है, न सुनता है और अधिक क्या कहें, आधी रात से विल्कुल निष्क्रिय पड़ा है, यह आज का समाचार है।"

राजा ने उनसे कहा—"क्या वह हाथी मर गया ?" ग्रामीणों ने कहा—"राजन् !ऐसा तो आप श्री ही कह सकते हैं, हम लोग नहीं।" यह बात सुन कर राजा चुप हो गया और ग्रामवासी सहर्ष अपने घर लौट आए।

८. अगड-कूप—अन्य किसी दिन राजा ने फिर आदेश जारी किया कि "तुम्हारे वहाँ जो सुस्वादु-शीतल-पथ्य जल पूर्ण कूप है, उस को जहाँ तक हो सके शीघ्र यहाँ भेज दो, अन्यथा तुम दण्ड के भागी वनोगे।"

राजा के इस आदेश को सुन कर सभी लोग इस अनहोनी आज्ञा से चिन्ताग्रस्त होकर रोहक के पास आए और उस का उपाय रोहक से पूछने लगे। रोहक ने कहा—"राजा के पास ऐसा जाकर कह दो कि कूप ग्रामीण होने से स्वभाव से ही भीरु है, स्वजातीय के विना वह किसी पर विश्वास भी नहीं करता। अत एव एक नागरिक कूप भेज दीजिए, जिसपर विश्वास करके वह कूप उसके साथ यहाँ तक चला आयगा।" रोहक के कथनानुसार उन्होंने राजा से वैसे ही निवेदन किया। राजा रोहक की बुद्धि की प्रशंसा मन ही मन में करता हुआ चुप हो गया।

९. वन-खण्ड—कुछ दिनों के पश्चात् राजा ने ग्रामवासियों के लिए हुक्म जारी किया—"जो वनखण्ड आजकल ग्राम के पूर्व दिशा में है उसे पश्चिम दिशा में कर दो।" ग्रामीण लोग चिन्तामग्न होकर रोहक के पास आए। रोहक ने अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि वल से कहा—"इस ग्राम को वनखण्ड के पूर्व दिशा में बसालो, वनखण्ड स्वयं पश्चिम दिशा में हो जायेगा।" उन्होंने वैसे ही किया। राजा का आदेश पूरा हो गया, यह देख कर राजकर्मचारियों ने राजा से निवेदन कर दिया। राजा ने सोचा यह रोहक की बुद्धि का ही अद्भुत चमत्कार है।

१० पायस—खीर—कुछ दिनों के बाद राजा ने फिर अध्यादेश निकाला कि "अग्नि के संयोग के विना ही खीर तैयार करके भेजो।" ग्रामीण लोग इस बात को सुनकर बड़े हैरान-परेशान हुए और उपाय पूछने के लिए रोहक के पास आए। रोहक को राजा की आज्ञा सुनाई और उसका उपाय पूछा। रोहक ने कहा—"पहले चावलों को जल में भिगोकर रख दीजिए, जब वे अच्छी तरह नरम हो जाएं, फिर दूध में डालकर हांडी को सर्वथा बन्द करके चूने की राशि में रख दीजिए, ऊपर से कुछ पानी डाल दीजिए, उस उष्णता से खीर पक कर तैयार हो जाएगी।" लोगों ने वैसा ही किया। खीर बनकर तैयार हो गई। हांडी सहित खीर को राजा के पास ले आए, खीर बनाने की सारी प्रक्रिया बताई। इससे राजा रोहक की अलौकिक बुद्धि का चमत्कार देख कर आनन्द विभोर हो उठा।

११ अतिग—एक बार राजा ने रोहक को अपने पास बुलाया और साथ ही यह कहा कि "मेरे आदेशों को पूरा करने वाला बालक निम्न लिखित शर्तो पर मेरे पास आए—न शुक्ल पक्ष में आए और न कृष्ण पक्ष में, न दिन में आए और न रात्रि में, न छाया में आए और न धूप में' न आकाश मार्ग से आए और न भूमि से, न मार्ग से आए और न उन्मार्ग से, न स्नान करके आए और न विना स्नान किए, किन्तु आए अवश्य।"

राजा के उपर्युक्त शर्तों सहित आदेश को सुनकर रोहक ने राज दरबार में जाने की तैयारी की। सुअवसर जानकर रोहक ने कण्ठ तक स्नान किया और अमावस्या तथा प्रतिपदा की संधि में, संध्या के समय सिर पर चालनी का छत्र धारण करके मेंढे पर बैठकर गाडी के पहिए के बीच के मार्ग से राजा के पास चल दिया। "राजदर्शन, देवदर्शन तथा गुरुदर्शन खाली हाथ नहीं करने चाहिए,"। नीति की इस उक्ति का ध्यान रखते हुए रोहक ने मिट्टी का एक ढेला हाथ में ले लिया। राजा के पास जाकर उसने उचित रीति से राजा को प्रणाम किया और उसके समक्ष मिट्टी का ढेला रख दिया।

राजा ने रोहक से पूछा—"यह क्या है? उत्तर देते हुए रोहक ने कहा—"देव! आप पृथ्वी-पति हैं, अतः मैं पृथ्वी लाया हूँ। प्रथम दर्शन में ही इस प्रकार के मांगलिक वचन सुन कर महाराजा हर्ष से अति प्रमुदित हुआ। रोहक के साथ आए हुए ग्रामीणों के रोम भी हर्ष से सिहर उठे। भूपति ने रोहक को अपने पास रख लिया और ग्रामवासी सभी अपने-अपने घर लौट गए।

रात्रि में राजा ने रोहक को अपने निकट सुलाया। रात्रि के दूसरे पहर में राजा ने रोहक को सम्बोधित करते हुए कहा—"अरे रोहक! जाग रहा है या सो रहा है?" रोहक ने उत्तर दिया—"देव! जाग रहा हूँ।" राजा ने पूछा—"फिर क्या सोच रहा है?" रोहक ने कहा—"राजन्! मैं इस बात पर विचार कर रहा हूँ कि "अजा—बकरी के उदर में गोल-गोल मिंगनियां कैसे बनती हैं?" रोहक की इस आश्चर्यान्वित बात को सुन कर राजा भी विचार में पड़ गया और कोई भी उत्तर नहीं सूझा। उसने फिर रोहक से पूछा—"यदि तुम्हें इसका जवाब आता हो, तो तुमही बतलाओ, ये कैसे बनती हैं?" रोहक ने कहा—"देव! बकरी के उदर में संवर्त्तक नामक वायु विशेष होता है, उसी के द्वारा ऐसी गोल-गोल मिंगनियां बन कर बाहिर गिरती हैं।" यह कह कर रोहक कुछ ही क्षणों में सो गया।

१२ पत्र—रात के तीसरे पहर में राजा ने फिर आवाज दी "रोहक! क्या सो रहा है या जाग रहा है?" रोहक ने मधुर स्वर से कहा—"स्वामिन्! जाग रहा हूं।" राजा ने कहा—"क्या सोच रहा है?" उत्तर देते हुए रोहक ने कहा—"मैं यह सोच रहा हूँ कि पीपल के पत्ते का डण्ठल बड़ा होता है

या शिखा ?" रोहक की इस बात को सुनकर राजा भी संशयशील हुआ, उसने रोहक से पूछा—"अच्छा तुमने इस विषय में क्या निर्णय किया है ?" रोहक ने उत्तर दिया—"देव ! जब तक शिखा का भाग सूख नहीं जाता तब तक दोनों तुल्य होते हैं।"

राजा ने अनुभवी व्यक्तियों से पूछा—क्या यह बात ठीक है ? उन सबने रोहक का समर्थन किया। रोहक पुनः सो गया।

१३ खाडहिला (गिलहरी)—रात का चौथा पहर चल रहा था। राजा ने पुनः सम्बोधित करके कहा—"रोहक ! क्या जागता है या सोता है ?" रोहक ने कहा—"स्वामिन् ! मैं जाग रहा हूं।" राजा ने प्रश्न किया—"क्या सोच रहा है ? जिस कारण तुझे नींद नहीं आ रही है ?" रोहक बोला—मैं यह सोच रहा हूं कि गिलहरी का शरीर जितना बड़ा होता है, उसकी पूंछ क्या उतनी ही बड़ी होती है या न्यूनाधिक ?"

रोहक की बात सुनकर राजा स्वयं सोच में पड़ गया। जब वह किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सका, तब उसने रोहक से पूछा—"तू ने इसका क्या निर्णय किया ?" रोहक ने कहा—"देव ! दोनों बराबर होते हैं।" यह कह कर रोहक पुनः सो गया।

१४ पांच पिता—रात बीत जाने पर सूर्योदय से पहले जब मंगल वाद्य बजने लगे तब राजा जागरुक हुआ। उसने रोहक को आवाज़ दी, किन्तु रोहक गाढ़ निद्रा में सो रहा था। उत्तर न मिलने पर राजा ने अपनी छड़ी से उसे कुछ स्पर्श किया। रोहक झट जाग उठा। राजा ने पूछा—"अब क्या सोच रहा है ?" रोहक ने कहा—"मैं यह सोच रहा हूं कि आपके कितने पिता हैं ?" रोहक की इस अश्रुतपूर्व बात को सूनकर राजा लज्जावश कुछ क्षण मौन रहा। उत्तर न मिलने से राजा ने रोहक से पूछा—"अच्छा तो बताओ, मैं कितनों का पुत्र हूं ?"

रोहक ने कहा—"आप पांच से पैदा हुए हैं।" राजा ने पूछा—"किन-किन से ?" रोहक ने कहा—"एक तो वैश्रवण से। क्योंकि आप कुबेर के समान उदार चित्त हैं, दान शक्ति आप में सबसे बढ़-कर है।" "दूसरे चण्डाल से। क्योंकि वैरी समूह के प्रति आप चण्डाल के समान क्रूर हैं।" "तीसरे धोबी से। क्योंकि जैसे धोबी गीले कपड़े को खूब अच्छी तरह निचोड़ कर सारा पानी निकाल देता है, उसी तरह आप भी देश द्रोही एवं राज द्रोहियों का सर्वस्व हर लेते हैं।" "चौथे विच्छू से। क्योंकि जैसे विच्छू डंक मार कर दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है, वैसे ही निद्राधीन मुझ बालक को छड़ी के अग्रभाग से जगा-कर विच्छू के समान कष्ट दिया है।" "पांचवें अपने पिता से। क्योंकि आप अपने पिता के समान ही न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन कर रहे हैं।"

रोहक की उपर्युक्त वार्ता सुनकर राजा अवाक् रह गया। प्रातः शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर राजा माता को प्रणाम करने गया। प्रणाम करने के पश्चात् रोहक की कही हुई सारी बात माता से कह दी और पूछा—"यह बात कहां तक सत्य है ?" माता ने उत्तर दिया—"पुत्र ! विकारी इच्छा से देखना ही यदि तेरे संस्कार का कारण हो, तो ऐसा अवश्य हुआ है। जब तू गर्भ में था, तब मैं एक दिन कुबेर की पूजा करने गई थी। उसकी सुन्दर मूर्ति को देखकर, तथा वापिस लौटते हुए मार्ग में धोबी और चण्डाल युवक को देखकर मेरी भावना विकृत हो गई थी। घर आने पर एक जगह किसी बहुत बड़े विच्छू युगल को

रति क्रीड़ा करते हुए देखा और उससे भी किंचिन्मात्र भावना विकृत हो गई। वस्तुतः तुम्हारे जनक सकल जगत्प्रसिद्ध एक ही पिता हैं?" यह सुनकर राजा रोहक की अलौकिक बुद्धि का चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित हुआ। माता को प्रणाम कर राजा अपने महल में लौट आया। उसने रोहक को मुख्य मंत्री के पद पर नियुक्त किया। ये उपर्युक्त चौदह उदाहरण रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि के हैं।

१—भरतशिला का उदाहरण पहिले दिया जा चुका है।

२. पणित—(प्रतिज्ञा शर्त) किसी समय कोई ग्रामीण किसान अपने गांव से ककड़ियां लेकर नगर में वेचने के लिए गया। नगर के द्वार पर पहुंचते ही एक धूर्त नागरिक मिला। ग्रामीण को भोला-भाला समझ कर उसने उसे ठगने का विचार किया। यह विचार कर नागरिकधूर्त ने ग्रामीण से कहा—"भाई! यदि मैं तुम्हारी सब ककड़ियां खा जाऊं तो तुम मुझे क्या दोगे?" ग्रामीण ने कहा—"यदि तुम सब ककड़ियां खा जाओ तो मैं तुम्हें इस द्वार में न आ सके, ऐसा लड्डू दूंगा।" दोनों में यह शर्त निश्चित हो गयी और कुछ अन्य व्यक्तियों को साक्षी बना लिया।

इसके अनन्तर उस धूर्त नागरिक ने उन सब ककड़ियों को थोड़ा-थोड़ा खा कर जूठा करके रख दिया और ग्रामीण से बोला—"ले भाई! तेरी सारी ककड़ियां खा ली हैं, इसलिए शर्त के अनुसार मुझे लड्डू दे।" ग्रामीण ने उत्तर दिया—"तूने ककड़ियां कहां खाई हैं? ये तो सारी उसी प्रकार पड़ी हुई हैं, मैं कैसे लड्डू दूं?" नागरिक बोला—"मैंने सारी खा ली हैं। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो विश्वास करा देता हूं।" ग्रामीण ने कहा—"अच्छा बताओ कैसे खा ली हैं।"

तत्पश्चात् धूर्त के कथनानुसार उन दोनों ने ककड़ियाँ बाजार में वेचने के लिए रख दीं। ग्राहक ककड़ियां खरीदने के लिए आने लगे। वे उन ककड़ियों को देख कर कहने लगे—'ये तो सारी खायी हुयी हैं, हम इन्हें कैसे लें?" लोगों के इस प्रकार कहने पर धूर्त ने उस ग्रामीण को और साक्षियों को विश्वास दिला दिया। वेचारा ग्रामीण घबरा गया और सोचने लगा—हाय! अब मैं प्रतिज्ञा के अनुसार इतना बड़ा लड्डू इसको कैसे दूं? वह भयभीत होकर नम्रता से धूर्त को एक रुपया देने लगा। परन्तु वह उसे स्वीकार नहीं करता। तब उसे दो रुपये दिये, फिर भी वह नहीं मानता है। अन्त में ग्रामीण ने कहा—सौ रुपया ले ले, मेरा पीछा छोड़। परन्तु, धूर्त तो प्रतिज्ञानुसार उतना बड़ा लड्डू ही लेने पर उतारु था।

जब वह धूर्त किसी प्रकार न माना तो ग्रामीण ने सोचा—कि हाथी को हाथी से लड़ाना चाहिए और धूर्त से धूर्त को, अन्यथा यह मानेगा नहीं। इस धूर्त नागरिक ने मुझे बातों में फंसाकर मेरे साथ ठगी की है, इसलिए इस जैसा ही कोई इसे ठीक कर सकता है। यह विचार कर धूर्त से कुछ दिनों बाद लड्डू देने के लिए कहा और स्वयं किसी अन्य धूर्त को ढूंढने लगा।

ढूण्ढते २ उसे एक अन्य धूर्त मिल गया और उससे सारी स्थिति स्पष्ट की। उसने उस का उपाय बता दिया। ग्रामीण बाजार में हलवाई की दुकान पर गया, एक लड्डू लेकर साक्षियों और धूर्त को बुला लाया। ग्रामीण ने नगर के द्वार के बाहिर खूंटी से लड्डू को बान्ध दिया और सबके सामने लड्डू को बुलाने लगा—"अरे लड्डू! चलो! अरे लड्डू चलो!" परन्तु लड्डू कहां चलने वाला था? तब ग्रामीण ने साक्षियों को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाइयो! मैं ने आप लोगों के सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि मैं हार गया तो ऐसा लड्डू दूंगा जो इस द्वार से न निकल सके। आप देखें कि यह

भी द्वार में नहीं जाता। इस लिए मैं प्रतिज्ञा से मुक्त हो गया हूं। यह बात पास में खड़े हुए लोगोंने और साक्षियों ने मान ली और प्रतिद्वन्द्वी धूर्त को हरा दिया।

यह नागरिक धूर्त की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

३. वृक्ष—एक समय की वार्ता है कि बहुत से यात्री किसी स्थान पर जा रहे थे। मार्ग में आम के वृक्ष फलों से लदे हुए देख कर वहीं पर रुक गये। पके हुये आमों को देख कर उन्हें उतारना चाहा। परन्तु वृक्षों पर वन्दर बैठे हुये थे, उन के डर से ऊपर चढ़ना अशक्य था। बन्दर उन की इच्छा पूर्ति के मार्ग में बाधक थे। पथिक आम लेने का उपाय सोचने लगे। बुद्धि का प्रयोग करते हुए उन्होंने बन्दरों की ओर पत्थर फैंकने आरम्भ किए। बन्दर स्वभाव से चंचल और नकल करने वाला होता है। अतः बन्दरों ने भी पथिकों के पत्थरों का आमों से उत्तर दिया। इस प्रकार करने से पथिकों की अभिलाशा पूर्ण हो गई। फल प्राप्त करने के लिये यह पथिकों की औत्पत्तिकी बुद्धि थी।

४. खुड्डग—(अंगूठी) बहुत समय पहिले की बात है। मगध देश में राजगृह नामक एक बड़ा सुन्दर और धन-धान्य से स्मृद्ध विशाल नगर था। वहाँ का राजा प्रसेनजित अति शक्तिशाली था, जिस ने अपने शत्रुओं को अपनी बुद्धि और न्याय प्रियता से जीत लिया था। उस प्रतापी राजा के बहुत से पुत्र थे। उन सभी पुत्रों में श्रेणिक नामक राजकुमार नृप गुणों से सम्पन्न, अति सुन्दर और राजा का प्रेम पात्र था। अन्य राजकुमार उसे कहीं ईर्ष्यावश मार न डालें, अत एव राजा प्रकट रूप में न तो उसे कुछ देता और न ही स्नेह करता। राजकुमार बुद्धि सम्पन्न था, परन्तु बालक होने के कारण अपने पिता की ओर से किसी प्रकार का सन्मान प्राप्त न होने से रोष वश घर छोड़ और पिता को बिना सूचित किए चुप-चाप किसी अन्य देश में चला गया। चलते-चलते वह किसी देश में वेन्नातट नामक नगर में पहुँच गया। उस नगर में एक व्यापारी की दुकान पर पहुंचा, जिस का कि सर्व वैभव और व्यापार नष्ट हो गया था। वह वहाँ जाकर एक ओर बैठ गया और रात्रि वहाँ पर ही व्यतीत की।

उस दुकान के स्वामी ने उसी रात स्वप्न में अपनी कन्या का विवाह एक रत्नाकर से होते देखा। अगले दिन सेठ जब अपनी दूकान पर आया तो श्रेणिक के पुण्य प्रभाव से बहुत पहिले का संचित किया हुआ करियाना जिस को कोई पूछता तक न था, बहुत ऊँचे भाव पर बिका और सेठ को उस से महान लाभ हुआ। विदेशी व्यापारियों के लाए हुए बहुमूल्य रत्न भी सेठ जी को अल्प मूल्य में प्राप्त हो गये। इस प्रकार अचिन्त्य लाभ देख कर सेठ के मन में विचार आया कि यह महान लाभ इस दुकान में मेरे पास बैठे हुए लड़के के पुण्य से ही हुआ, अन्य कोई कारण नहीं। यह भाग्य शाली कितना सुन्दर और तेजस्वी है, निश्चय ही यह इस महान आत्मा के पुण्य का प्रभाव है।

सेठ सोचने लगा कि रात्रि में जिस रत्नाकर के साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण का स्वप्न मैं ने देखा था, यही वह रत्नाकर है, अन्य कोई नहीं। तब सेठ ने पास बैठे हुए श्रेणिक को हाथ जोड़ कर विनम्र होकर प्रार्थना की—"आर्य महानुभाग ! आप किस घर में अतिथि बन कर आए हैं ?" श्रेणिक ने प्रिय और कोमल शब्दों में उत्तर दिया—श्रीमान् जी ! मैं आपका ही अतिथि हूँ।" इस मनोज्ञ उत्तर को सुन कर सेठ का हृदय कमल खिल उठा और प्रसन्नता में विभोर, बहुमान पूर्वक उसे अपने घर ले गया और अच्छे से अच्छे वस्त्र और भोजन आदि से उस का सत्कार किया। श्रेणिक वहाँ पर आनन्द पूर्वक रहने लगा। उस के पुण्य से सेठ की धन-सम्पत्ति, व्यापार और प्रतिष्ठा दिनोंदिन बढ़ती चली

गयी। इस प्रकार रहते हुए कई दिन व्यतीत हो गये। सेठ ने अपनी कन्या के योग्य वर देख कर शुभ दिन, तिथि, मुहूर्त्त, नक्षत्र आदि देखकर उसके साथ विवाह कर दिया। श्रेणिक श्वसुरगृह में अपनी पत्नी नन्दा के साथ इन्द्र और इन्द्राणी के सदृश गृहस्थ सम्बन्धि भोगों का आस्वादन करने लगा। कुछ समय पश्चात् नन्दा देवी गर्भवती हो गयी और यथाविधि गर्भ का पालन करने लगी।

उधर राजकुमार श्रेणिक के विना पता दिये चले जाने से राजा प्रसेनजित बहुत चिन्ताग्रस्त रहते थे। उन्होंने उस की बहुत खोज की पर सफलता न मिली। अन्त में बहुत समय के पश्चात् लोगों की श्रुति परम्परा से सेठ की प्रसिद्धि सुनी और वेन्नातट में, अपने सैनिक श्रेणिक को बुलाने के लिए भेजे। उन्होंने वहाँ जाकर श्रेणिक से प्रार्थना की—"महाराज प्रसेनजित आप के वियोग से बहुत दुःखी हैं। आप शीघ्र ही राजगृह में पधारें।" श्रेणिक ने राजपुरुषों की प्रार्थना को स्वीकार कर के राजगृह जाने का संकल्प किया और अपनी पत्नी नन्दा को पूछकर अपना परिचय कहीं लिख कर राजगृह की ओर प्रस्थान कर दिया।

देव लोक से च्यव कर नन्दा के गर्भ में आये हुए प्राणी के पुण्य प्रभाव से कुछ काल के पश्चात् नन्दा देवी को दौहृद उत्पन्न हुआ कि—"क्या ही अच्छा हो, अगर मैं एक महान हाथी पर सवार होकर जनता में धन-दान देकर अभय दान दूं।" नन्दा ने यह भावना अपने पिता से कही और पिता ने राजा से प्रार्थना कर अपनी पुत्री का दौहृद पूरा किया। समय बीतने पर प्रातः कालीन सूर्य के प्रतिविम्ब सदृश दसों दिशाओं को प्रकाशित कर देने वाला पुत्र रत्न नन्दा की कुक्षि से उत्पन्न हुआ। दौहृद के अनुरूप सुन्दर बालक का जन्मोत्सव मनाया और उस का अभयकुमार नाम रखा गया। वह सुकुमार बालक नन्दन वन के कल्प-वृक्ष की भान्ति सुख पूर्वक वृद्धि पाने लगा। समय आने पर उसे पाठ शाला में भेजा गया और यथासमय शास्त्र अभ्यास तथा अन्य कलाओं का अभ्यास अच्छी तरह से किया और थोड़े ही समय में वह एक सुयोग्य विद्वान बन गया।

अकस्मात् एक दिन अभयकुमार ने अपनी माता से पूछा—"मां! मेरे पिताजी कौन हैं और कहाँ पर रहते हैं?" बच्चे के इस प्रश्न को सुन कर माता ने आद्योपान्त सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया और पिता का लिखा हुआ परिचय भी उसे दिखाया। माता के वचन सुन कर तथा अपने पिता का लिखा परिचय पढ़कर कुमार ने जान लिया कि मेरे पिता जी राजगृह के राजा हैं। यह जानकर अभयकुमार ने माताजी से कहा—"माता जी मैं सार्थ के साथ राजगृह में जाता हूँ।" माता ने उत्तर में कहा—"पुत्र! यदि तू कहे तो मैं भी वैसा ही करूँ।" तब अभयकुमार, माता और सार्थ के साथ राजगृह की ओर चल पड़ा।

राजगृह के बाहिर अपनी माता को छोड़कर अभयकुमार नगर में चला, ताकि वहां देखे कि किस प्रकार का वातावरण है? और राजा के दर्शन कैसे हो सकते हैं। यह विचार कर वह नगर के भीतर चल दिया।

नगर में प्रविष्ट होते ही एक निर्जल कूप के चारों ओर लोगों की भीड़ को देखा। अभयकुमार ने जाकर पूछा—"यह लोग क्यों इकट्ठे हो रहे हैं?" लोगों ने कहा—"सूखे कुएँ के अंदर राजा की स्वर्ण मुद्रिका गिर गई है। राजा ने घोषणा की हुई है, कि जो व्यक्ति कूप के तट पर खड़ा होकर अपने हाथ से अंगूठी को निकाल देगा, उसे महान पारितोषिक दूंगा।" ऐसा सुनने पर समीप में स्थित राजकर्मं

रियों से पूछा, उन्होंने भी ऐसा ही उत्तर दिया। अभय कुमार ने राजा की आज्ञा अनुसार अंगुठी को निकाल देने के लिए कहा। राजपुरुषों ने कहा—"यदि यही बात है तो निकाल दीजिए, राजा अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे।"

अभयकुमार को तुरन्त उपाय सूझा और उसने कूप में पड़ी हुई अंगुठी को भली प्रकार से देखा। तथा वहाँ पड़ा हुआ तात्कालिक गोबर उठा कर उस पर डाल दिया। वह अंगुठी उस में चिपक गई। कुछ देर बाद जब वह गोबर सूख गया तो उस कूप में पानी भरवा दिया। पानी भरते ही सूखे गोबर के साथ अंगुठी भी ऊपर आ गई। अभयकुमार ने तट पर खड़े होकर वह गोबर पकड़ लिया और अंगुठी निकाल ली। तब लोगोंने बहुत प्रसन्नता प्रकट की और राजा को जाकर निवेदन कर दिया। राजाज्ञा से अभयकुमार को बुलाया और वह राजा के पास पहुँच गया। लड़के ने अंगुठी राजा के सामने रख दी। राजाने पूछा—"वत्स! तू कौन है?" अभय कुमार बोला—"मैं आप का ही सुपुत्र हूँ।" राजाने पूछा, कैसे?" तब अभरकुमार ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुन कर राजा अत्यन्त हर्षित हुआ और उसे वत्सलता से उठा लिया तथा पितृ सुलभ स्नेह से उस के मस्तक पर प्यार से चूम्बन किया और पूछा—"पुत्र! तेरी माता कहाँ हैं?" उत्तर में वह बोला—"वह नगर के बाहिर है।" यह सुन कर राजा अपने परिजनों के साथ रानी को लेने के लिये चला। राजा के पहुँचने से पहले ही अभयकुमार ने सारा वृत्तान्त माता को सुना दिया। राजा के आगमन का समाचार सुन कर नन्दा अपना श्रृङ्गार करने लगी। परन्तु अभय कुमार ने उस से कहा—"माता जी! कुलीन स्त्रियों को जो कि पति के विरह में जीवन व्यतीत करती हैं, अपने पति के दर्शन किये विना श्रृङ्गार नहीं करना चाहिए।" इतने में महाराजा श्रेणिक भी आ गये। रानी उन के चरणों पर गिर पड़ी। राजा ने नन्दा को वस्त्राभूषणों से सत्कारित कर के अभयकुमार के साथ बड़े समारोह से राज भवन में प्रवेश किया। अभयकुमार को मन्त्री पद पर स्थापित कर के वे सब आनन्द पूर्वक रहने लगे।

यह अभयकुमार की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

५. पट—वस्त्र—एक समय की बात है कि दो व्यक्ति कहीं जारहे थे। रास्ते में एक बड़ा सुन्दर सरोवर था वहां पर उनका विचार स्नान करने का हुआ। दोनों ने अपने-अपने वस्त्र उतारकर सरोवर के तट पर रख दिये और स्नान करने लगे। एक व्यक्ति उनमें से शीघ्र ही स्नान करके बाहिर निकल आया और अपने साथी का ऊन का कम्बल ओढ़ कर चलता बना तथा अपनी सूती चादर को वहां पर छोड़ गया। जब दूसरे ने देखा कि मेरा साथी स्नान करके और मेरा ऊर्णमय कम्बल ओढ़े चल जा रहा है, तो उसे पुकारा, "अरे! यह मेरा कम्बल लिये क्यों भागा जा रहा?" उसने बहुत शोर मचाया परन्तु दूसरे ने एक भी न सुनी।

कम्बल का मालिक उसके पास भागा हुआ गया और कहा कि मेरा कम्बल मुझे दे दो, किन्तु दूसरा नहीं माना, तब परस्पर विवाद होने लगा। अन्ततो गत्वा यह झगड़ा न्यायालय में गया। अपनी-अपनी वार्ता और अपना दावा न्यायाधीश के पास उपस्थित किया। परन्तु दोनों का साक्षी न होने से जज को फैसला करने में कुछ कठिनता अनुभव हुई। कुछ देर सोच कर न्यायाधीश ने दोनों व्यक्तियों के सिर में कङ्घी करवायी। कङ्घी के पश्चात् देखा कि जिसका कम्बल था, उसके सिर में ऊर्ण के बाल थे और दूसरे के सिर में कपास के तन्तु।

न्यायाधीश ने तुरन्त ही कम्बल लेकर कम्बल के स्वामी को दिलाया और दूसरे को उसके अपराध का यथोचित दण्ड देकर अपनी औत्पत्तिकीबुद्धि का परिचय दिया।

६. सरट-गिरगिट—एक समय का वृत्तान्त है कि कोई व्यक्ति जंगल में जा रहा था, उसे शौच की हाजत हुई। वह शीघ्रता में एक बिल के मुंह पर ही शरीरचिन्ता की निवृत्ति के लिये बैठ गया। अकस्मात् वहां एक सरट आया और अपनी पूंछ से उसके गुदा भाग को स्पर्श करके बिल में घुस गया। शौचार्थ बैठे व्यक्ति के मन में यह ध्यान हो गया कि निश्चय ही यह जन्तु अधोमार्ग से मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गया है। इसी चिन्ता में वह दिन-प्रतिदिन दुर्बल होता चला गया। उसने अपना बहुत उपचार भी कराया पर सब निष्फल ही रहा।

एक दिन वह किसी वैद्य के पास गया और कहा कि "मेरा स्वास्थ्य निरन्तर गिर रहा है, आप इसका उपाय करें, ताकि मैं स्वस्थ हो जाऊं।" वैद्य ने उसकी नाड़ी परीक्षा की, हर प्रकार से उसकी जांच की, किन्तु उसे कोई बीमारी प्रतीत न हुई। तब वैद्य ने व्यक्ति से पूछा कि "आपकी यह दशा कब से चल रही है?" उस व्यक्ति ने आद्योपान्त समस्त घटित घटना कह दी। वैद्य ने निष्कर्ष निकाला कि इसकी बीमारी का कारण केवल भ्रम है। वैद्य ने रुग्ण से कहा—"आपकी बीमारी मैं समझ गया हूं, इस को दूर करने के लिए आपको सौ रुपया खर्च करना होगा।" उस व्यक्ति ने यह स्वीकार कर लिया।

वैद्य ने लाक्षारस से अवलिप्त एक सरट—गिरगिट को मिट्टी के भाजन विशेष में डाल कर उस व्यक्ति को विरेचन की ओषधि दी और कहा "महोदय! आप इस पात्र में शौच जायें।" व्यक्ति ने उसी प्रकार किया। तब वैद्य उस पात्र को उठा लाया और प्रकाश में लाकर रुग्ण व्यक्ति को दिखाया। तब रोगी के मन में सन्तोष हुआ कि वह गिरगिट निकल आया है। तत्पश्चात् ओषधि का उपचार करने से उसका शरीर पुनः सबल हो गया। व्यक्ति के भ्रम को दूर करने का यह वैद्य की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

७. काक—बेन्नातट नगर में भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय एक जैन मुनि को बौद्ध भिक्षु मिल गया। बौद्ध ने उपहास करते हुए जैन मुनि से कहा—"भो मुने! तेरे अर्हन्त सर्वज्ञ हैं और तुम उनके पुत्र, तो बतलाइये इस नगर में कितने वायस अर्थात् कौए हैं?" तब जैन मुनि ने विचारा कि यह धूर्तता से बात करता है, अतः इसे उत्तर भी इसी के अनुरूप देना ठीक रहेगा। ऐसा विचार कर वह उत्तर में बोला—"इस नगर में ६० हजार कौए हैं, यदि कम हैं तो इनमें से कुछ बाहिर मेहमान बन कर चले गए हैं। यदि अधिक हैं तो कहीं से आ गये हैं, यदि आपको इसमें शंका हो, तो गिन लीजिए।" इस पर सौगत से कोई बात न बन पायी और दण्ड से आहत हुए की भान्ति सिर को खुजलाता हुआ चला गया। यह क्षुल्लक की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

८. उच्चार-मल परीक्षा—किसी समय की बात है कि एक व्यक्ति अपनी नवोढा, रूप-यौवन सम्पन्न पत्नी के साथ कहीं ग्रामान्तर में जा रहा था। चलते हुए रास्ते में एक धूर्त व्यक्ति उन्हें मिल गया। मार्ग में वार्तालाप करते समय उसकी स्त्री धूर्त पर आसक्त हो गई और उसके साथ जाने के लिए तैयार हो गई। तब धूर्त ने कहना शुरू कर दिया कि यह स्त्री मेरी है। दोनों आपस में विवाद करने लगे। दोनों ही स्त्री पर अपना अधिकार जितलाने लगे। परस्पर झगड़ा करते-करते वे न्यायालय में चले गये। न्यायाधीश ने दोनों की बात सुन कर स्त्री और धूर्त को अलग-अलग कर दिया। न्यायाधीश ने स्त्री के पति से पूछा—

"कि तुमने कल क्या खाना खाया था ?" उसने उत्तर दिया—"मैंने और मेरी स्त्री ने तिल के लड्डू खाये थे।" इसी प्रकार धूर्त से भी पूछा कि—"तू ने क्या खाया था ?" उसने कुछ भिन्न उत्तर दिया। न्यायाधीश ने स्त्री और धूर्त को विरेचन देकर जांच की तो स्त्री के मल में तिल देखे। परन्तु धूर्त के नहीं। इस आधार पर न्यायाधीश ने उसके असली पति को स्त्री सौंप दी और धूर्त को यथोचित दण्ड देकर अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचय दिया।

९. गज—एक समय की बात है कि किसी राजा को एक अति बुद्धि-सम्पन्न मन्त्री की आवश्यकता थी। उसने अतिशय मेधावी व्यक्ति की खोज करने के लिए एक बलवान हाथी को चौराहे पर बांध दिया और घोषणा कराई कि "जो व्यक्ति इस हाथी को तोल देगा उसे राजा बहुत बड़ी वृत्ति देगा। इस घोषणा को सुन कर एक व्यक्ति ने सरोवर में नावा डाल कर उसमें हाथी को ले जा कर चढ़ाया। उस हाथी के भार से नावा जितनी पानी में डूबी, वहां पर उस पुरुष ने चिह्न लगा दिया। फिर हाथी को उस नावा से निकाल कर उसमें इतने ही पत्थर डाले कि पूर्व चिह्नित स्थान तक नौका पानी में डूब गई। फिर वे पत्थर निकाले गये, उन्हें तोला गया, और उस व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया—"महाराज ! अमुक पल परिमाण हाथी का भार है।" राजा उसकी बुद्धि की विलक्षणता से बहुत प्रसन्न हुआ और उसे अपनी मन्त्रीपरिषत् का मूर्धन्य अर्थात् प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया। यह उस पुरुष की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१०. वयग्ग-भाण्ड—किसी राजा के दरबार में एक भाण्ड रहा करता था, राजा उससे प्रेम करता था, इस कारण वह राजा का मुंहलग बन गया था। राजा उस मुंहलग भाण्ड के समक्ष सदैव अपनी महारानी की प्रशंसा किया करता था। वह सदा रानीके गुणों का व्याख्यान करता कि "मेरी राणी बड़ी आज्ञाकारीणी है।" परन्तु भाण्ड राजा से कहता—"महाराज! यह रानी स्वार्थवश ऐसा करती है। यदि आपको विश्वास न हो तो परीक्षा कर लीजिये ?

राजा ने भाण्ड के कथनानुसार एक दिन रानी से कहा—"देवी ! मेरी इच्छा है कि मैं अन्य शादी कराऊं और उसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, उसे राज्याभिषेक से सन्मानित करूं।" रानी ने उत्तर दिया—"महाराज ! दूसरा विवाह आप भले ही कर सकते हैं, किन्तु राज्याधिकारी परम्परागत पहिला ही राजकुमार हो सकता है।" राजा भाण्ड की बात को ठीक जान कर रानी के समक्ष मुस्करा दिया। रानी ने मुस्कराने का कारण पूछा तो राजा और हंसा। रानी के आग्रह पर राजा ने भाण्ड की बात बता दी। रानी यह सुनकर बहुत क्रोधावेश में आ गई और राजा से भाण्ड को देश परित्याग की आज्ञा दिलाई।

देश परित्याग की आज्ञा प्राप्त कर भाण्ड ने सोचा कि मेरी बात रानी को बता दी गई है। अतः इस प्रकार की आज्ञा रानी ने दी है। तत्पश्चात् भाण्ड ने बहुत से जूतों का एक गठड़ सिर पर उठाया और रानी जी के भवन में गया। जाकर पहरेदार से आज्ञा ली और दर्शनार्थ रानी के पास पहुँचा। रानी जी ने पूछा—"यह सिर पर क्या उठा रखा है ?" उत्तर में भाण्ड बोला—"देवीजी ! मेरे सिर पर जूतों के जोड़े हैं, इनको पहन कर जिन-जिन देशों में जा सकूंगा, वहाँ तक आप का अपयशः करता जाऊंगा।" भाण्ड से अपने अपयश की बात सुन कर रानी ने देश परित्याग के आदेश को वापिस ले लिया और भाण्ड पूर्ववत् ही आनन्द से रहने लगा। यह भाण्ड की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

११. गोलक—लाक्षा की गोली—किसी बालक ने खेलते हुए, कौतुहलवश लाख की एक गोली नाक में डाल ली। गोली अन्दर जाकर श्वास की नाली में फंस गई और बच्चे को सांस लेने में रुकावट के कारण वेदना होने लगी। यह देख बच्चे के मां-बाप बहुत घबराये कि क्या करें। वे उस बालक को दिखाने के लिए सुनार को ले आए। सुनार ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि से एक बारीक लौह शलाका के अग्र भाग को गर्म कर के सावधानी से नाक में डाला, गर्म शलाका के साथ वह लाक्षा की गोली चिपक गई और खेंचकर उसे बाहिर निकाल लिया। यह सुवर्णकार की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१२. खंभ—स्तम्भ—किसी राजा को अत्यन्त बुद्धिशाली मन्त्री की आवश्यकता थी। राजा ने इस उद्देश्य से एक बहुत विस्तीर्ण और गहरे तालाब में एक ऊँचा स्तम्भ गड़वा दिया और उसकी रक्षा—देख-भाल के लिए राज्यधिकारी नियुक्त कर दिए। राजा ने घोषणा कराई—"कि जो कोई भी किनारे पर खड़ा होकर इस स्तम्भ को रस्सी से बान्ध देगा, उसे महाराज एक लाख रुपया इनाम का देंगे।

यह घोषणा एक बुद्धिमान व्यक्ति ने सुन कर उपस्थित जनता के समक्ष तालाब के एक किनारे पर एक कील गाड़ दी और उसके साथ रस्सी का किनारा बांध कर तालाब के चारों ओर घूम गया। ऐसा करने पर खम्भा बीच में बन्ध गया, राजपुरुषों ने यह समाचार राजा को दिया। राजा उसकी बुद्धिमत्ता पर हर्षित हुआ और उस पुरुष को एक लाख रुपया इनाम देकर अपना मन्त्री स्थापित कर दिया। यह उस व्यक्ति की औत्पत्तिकी बुद्धि पर खंभ का उदाहरण है।

१३. क्षुल्लक—बहुत समय पहिले की बात है, किसी नगर में एक परिव्राजिका रहा करती थी। वह बड़ी चतुर और कला-कौशल में निपुण थी। एक बार वह राजसभा में गई और राजा से कहा—"महाराज! ऐसा कोई कार्य नहीं जो अन्य करते हों और मैं न कर सकूं!" राजा ने परिव्राजिका की बात को सुना और नगर में इस प्रकार की घोषणा करवा दी कि यदि कोई पुरुष ऐसा हो जो उसे जीत ले, तो वह राज सभा में आए, महाराज उसे सम्मानित करेंगे।

यह घोषणा नगर में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए किसी नवयुवक क्षुल्लक ने सुनी और स्वयं राजसभा में गया। महाराज से कहा—"मैं इस परिव्राजिका को अवश्य परास्त कर सकता हूं।" प्रतियोगिता का समय निश्चित कर दिया गया और परिव्राजिका को सूचना दे दी गई।

निश्चित समय पर राजसभा में साधारण जनता और राज्याधिकारियों के उपस्थित हो जाने पर परिव्राजिका और क्षुल्लक दोनों आ गये। परिव्राजिका अवज्ञापूर्ण और अभिमान युक्त मुंह बनाती हुई उपस्थित जनता के समक्ष बोली—"मुझे इस मुंडित से किस प्रकार की प्रतियोगिता करनी है?" परिव्राजिका की धूर्तता को समझता हुआ क्षुल्लक बोला—"जो मैं करूँ वह तुम भी करती जाओ" इतना कहकर उसने अपना परिधान उतार फैंका और बिल्कुल नग्न हो गया। परिव्राजिका ऐसा करने में असमर्थ थी। दूसरी प्रतियोगिता में क्षुल्लक ने लघुशंका इस प्रकार से की कि उससे कमल की आकृति बन गई। परिव्राजिका यह भी न कर सकी। जनता और राजसभा में तिरस्कृत और लज्जित हो कर परिव्राजिका अपना मुंह लेकर चलती बनी। क्षुल्लक को राजा ने सम्मान पूर्वक विसर्जित किया। यह क्षुल्लक की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१४. मार्ग—बहुत समय की बात है, एक पुरुष अपनी स्त्री के साथ रथ में बैठकर किसी अन्य ग्राम को जा रहा था। बहुत दूर निकल जाने पर मार्ग में स्त्री को शौच की बाधा हुई। रथ को ठहरा कर [illegible]

स्त्री पुरुष की आंखों से ओझल हो कर शरीरचिन्ता के लिए बैठ गई। उधर उसी स्थल पर जहाँ पुरुष रथ पर बैठा अपनी स्त्री की प्रतीक्षा कर रहा था, वहाँ एक व्यन्तरी का स्थान था। पुरुष के रूप और यौवन पर वह व्यन्तरी अत्यन्त आसक्त हो गई। उसकी स्त्री को दूर देश में देखकर व्यन्तरी ने उसकी स्त्री जैसा रूप बनाया और रथपर आकर सवार हो गई। स्त्री जब शौच से निवृत्त हो कर सामने आती हुई दिखाई दी तो व्यन्तरी ने पुरुष को कहा कि—"वह सामने कोई व्यन्तरी मेरा रूप धारण करके आ रही है। अतः आप रथ को द्रुत गति से ले चलें।" स्त्री ने जब पास आकर देखा तो वह चीखमार कर रोने लगी। व्यन्तरी के कहने पर पुरुष रथ को ले चला और पीछे से उसकी स्त्री रोती हुई इसके पीछे २ भागने लगी और रो-रो कर कहने लगी कि—"यह कोई व्यन्तरी बैठी है, इसे उतार कर मुझे ले चलो।" पुरुष असमञ्जस में पड़ गया कि क्या करूं ?।

दोनों स्त्रियाँ परस्पर विवाद करने लग पड़ीं और अपने-अपने को पुरुष की पत्नी कह रही थीं। पुरुष ने रोती आ रही स्त्री के कहने पर रथ को जरा शनैःशनैः रोकना आरम्भ किया। इस प्रकार दोनों स्त्रियाँ लड़ती हुई अगले ग्राम के पास पहुँच गयीं। पुरुष नहीं समझ रहा था कि इन समाकृति वाली दोनों में मेरी कौन सी है ? अन्त में यह झगड़ा पंचायत में गया। पुरुष और दोनों स्त्रियों के कहने पर न्याय करने वाले ने अपनी बुद्धि से काम लिया। दोनों स्त्रियों को पृथक् पृथक् कर पुरुष को दूर स्थान पर बैठा दिया और कहा—"कि जो स्त्री पहिले पुरुष को जा कर छू लेगी, वह उसी का पति है।" स्त्री तो भाग कर पुरुष के पास पहुँचने का प्रयत्न कर रही थी। परन्तु व्यन्तरी ने वैक्रिय शक्ति से अपने हाथ को लम्बा करके वहाँ से ही छू लिया। तब न्याय करने वालों ने समझ लिया कि अमुक स्त्री है और अमुक व्यन्तरी। इस प्रकार न्यायधीश ने पति के पास उसकी स्त्री को सौंप दिया और व्यन्तरी को वहां से भगा दिया। यह न्याय कर्त्ता की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१५. स्त्री—एक समय मूल देव और पुण्डरीक दोनों मित्र कहीं इकट्ठे मार्ग में जा रहे थे। उसी मार्ग से एक पुरुष अपनी स्त्री के साथ कहीं पर जा रहा था। पुण्डरीक ने दूर से ही पुरुष के साथ जाती हुई स्त्री को देखा और वह उस पर मुग्ध हो गया। पुण्डरीक ने अपनी दुर्भावना को अपने मित्र मूलदेव के समक्ष प्रकट किया और कहा—"यदि यह स्त्री मुझे मिल जाए तो मैं जीवित रहूंगा अन्यथा मेरी मृत्यु हो जायेगी।" तब कामासक्त पुण्डरीक को मूलदेव ने कहा—"आतुर मत हो, मैं ऐसा करूंगा कि तुझे स्त्री मिल जाए।"

वे दोनों मित्र, स्त्री और पुरुष से अलक्षित शीघ्र ही अन्यमार्ग से उसी रास्ते पर पहुँच गए, जिस पर स्त्री-पुरुष दोनों जा रहे थे। मूलदेव ने पुण्डरीक को मार्ग से दूर एक वनकुञ्ज में बैठा दिया और स्वयं दम्पति का मार्ग रोक कर उस पुरुष से कहने लगा—"ओ महाभाग ! मेरी स्त्री के इस पास की झाड़ी में बच्चा पैदा हुआ है, इसलिए उसे देखने के लिए अपनी स्त्री को क्षणमात्र के लिए वहाँ भेज दीजिए।" अपनी स्त्री को उसने भेज दिया और वह मूलदेव के पास चली गई। वह क्षण मात्र वहाँ ठहर कर वापिस लौट आई। आकर मूलदेव का वस्त्र पकड़ कर हंसती हुई कहने लगी—"आपको मुबारिकबाद ! बहुत सुन्दर बच्चा पैदा हुआ है।" यह मूलदेव और स्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१६. पति—दो भाइयों की एक सम्मिलित पत्नी थी। लोगों में इस बात की बड़ी चर्चा थी—"अहो ! इस स्त्री का अपने दोनों पतियों पर समान राग है।" यह बात बढ़ते-बढ़ते राजा तक भी जा पहुँची। राजा भी यह बात सुन कर बड़ा विस्मित हुआ। तब मन्त्री ने कहा—"देव ! ऐसा कदापि नहीं

हो सकता। इसका एक पर अवश्य ही विशेष अनुराग होगा।" राजा ने पूछा—"यह कैसे जाना जाए ?" मन्त्री ने उत्तर दिया—"महाराज ! मैं ऐसा उपाय करूंगा, जिससे शीघ्र यह जाना जा सके कि किस में अधिक राग भाव है ?"

एक दिन मन्त्री ने उस स्त्री के पास एक सन्देश लिखकर भेजा—कि "वह अपने दोनों पतियों को पूर्व और पश्चिम दिशा में अमुक-अमुक ग्रामों में भेजे और उसी दिन वे सायं काल को घर वापिस आ जाएं।" ऐसा आदेश पाकर, स्त्री ने थोड़े रागवाले पति को पूर्ववर्त्ति ग्राम में भेजा और जिसके साथ अधिक स्नेह था उसे पश्चिम की ओर के ग्राम में। जिसको पूर्व दिशा में भेजा, उसे जाते समय और लौटते समय दोनों बार सूर्य का ताप सामने रहा। परन्तु जिसे पश्चिम में भेजा, उसे दोनों समय पीठ की ओर सूर्य रहा। ऐसा करने पर मन्त्री ने जाना कि "अमुक से थोड़ा और अमुक से अधिक अनुराग है।" यह निर्णय करके मन्त्री ने राजा से निवेदन कर दिया। परन्तु राजा ने यह स्वीकार नहीं किया। क्योंकि दोनों को ही पूर्व व पश्चिम में जाने की आवश्यकीय आज्ञा थी, इससे विशेषता ज्ञात नहीं होती।

मन्त्री ने पुनः लेख द्वारा स्त्री को आज्ञा भेजी कि अपने पतियों को एक ही समय दो ग्रामों में भेजे। स्त्री ने फिर उसी प्रकार दोनों को समकाल ही ग्रामों में भेज दिया। उधर मन्त्री ने दो व्यक्ति एक साथ स्त्री के पास भेजे और उन्होंने समकाल ही जा कर कहा कि "आप के अमुक पति के शरीर में अमुक कष्ट हो गया है, उसकी सार सम्भाल करो।" तब जिसके साथ स्नेह थोड़ा था, उसकी बात को सुनकर उस स्त्री ने कहा कि "यह तो हमेशा ऐसे ही रहता है।" दूसरा जिसके प्रति अधिक स्नेह था, उसके लिए कहने लगी—"उन्हें अधिक कष्ट हो रहा होगा। अतः मैं पहिले उनकी ओर ही जाती हूं।" ऐसा कह कर पश्चिम की ओर गये हुए पति के पास पहिले चल दी। यह सारी वार्ता मन्त्री ने राजा से निवेदित की। मन्त्री की बुद्धिमत्ता से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह मन्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१७. पुत्र—किसी नगर में एक व्यापारी रहा करता था। उसकी दो पत्नियां थीं, एक के पुत्र उत्पन्न हुआ, और दूसरी वन्ध्या थी। परन्तु वन्ध्या स्त्री भी उस बच्चे को अच्छी प्रकार से देख भाल करती और उससे प्यार करती। इस कारण वह बच्चा यह नहीं समझ पाता था, कि मेरी माता कौन-सी है ? एक बार वह व्यापारी अपनी स्त्रियों और पुत्र के साथ देशान्तर में चला गया। जाते ही व्यापारी की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उन दोनों स्त्रियों का परस्पर झगड़ा खड़ा हो गया। एक कहती कि यह बच्चा मेरा है।। अतः मैं ही घर-बार की स्वामिनी हूं।" दूसरी कहती है—"यह मेरा ही पुत्र है, अतः मैं ही घर की मालिक हूं।" इस प्रकार दोनों का यह झगड़ा न्यायालय में पहुँच गया।

मन्त्री ने दोनों का वाद-विवाद सुन कर अपने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि—"पहिले इन दोनों में घर की सम्पत्ति बांट दो और फिर इस लड़के को आरी से काट कर एक-एक भाग दोनों स्त्रियों को दे दिया जाये।" सिर पर महाज्वाला समान शब्द को छोड़ते हुए, वज्र समान मन्त्री के वाक्य को सुन कर कम्पायमान और भय से लिप्त हुए हृदय से पुत्र की जननी-माता ने बड़ी कठिनता से और दुःख से कहने लगी—"हाय स्वामिन् ! हे महामन्त्रिन् ! यह मेरा पुत्र नहीं है, न मुझे सम्पत्ति से ही कोई प्रयोजन है। घर की स्वामिनी यही हो और पुत्र भी इसी का हो। मैं दूर और दारिद्र अवस्था में रह कर भी इसके घर जीवित पुत्र को देख कर निज को कृतकृत्य मानूंगी। लेकिन पुत्र के बिना यह सारा जग-जीवन और संसार मेरे लिए अन्धकार समान है।" परन्तु दूसरी स्त्री ने कुछ भी न कहा। मन्त्री ने उस स्त्री के दुःख से

जान लिया कि यही बच्चे की असली माता है। इसलिए बच्चा उसी को सौंप दिया तथा गृहस्वामिनी भी उसे ही बना दिया। और दूसरी बन्ध्या को धक्के मार कर निकाल दिया। यह मन्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१८. **मधु-सित्थ-मधु-छत्र**—किसी कौलिक-जुलाहे की पत्नी दुराचारिणी थी। एक बार उसने अपने पति के ग्रामान्तर जाने पर किसी जार-पुरुष से व्यभिचार का आसेवन किया। वहाँ पर उसने जाल वृक्षों के मध्य में मधुछत्र देखा और तत्काल ही घर पर लौट आई। दूसरे दिन जब उस का पति मधु खरीदने के लिये बाजार में जाने लगा तो उस की स्त्री ने रोक दिया कि आप मधु क्यों खरीदते हो, मैं तुम्हें शहद का छत्ता दिखाती हूं। मधु खरीदने के लिए जाते हुए को रोककर उसे जालवृक्षों के पास ले गई। परन्तु उसे मधु छत्र दृष्टि गोचर न हुआ। तब वह उसे उस शंका युक्त स्थान पर ले गई, जहाँ उसने व्यभिचार का आसेवन किया था, और कौलिक को मधुछत्र दिखला दिया। कौलिक ने उस प्रकार मधु-छत्र को दिखाते हुए समझ लिया कि यहाँ आकर यह दुराचार का सेवन करती है। यह कौलिक की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१९. **मुद्रिका**—किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था, वह सत्यवादी था। जनता में यह प्रसिद्ध था कि इस पुरोहित के पास जो भी अपनी धरोहर रखता है, चाहे वह कितने समय के पीछे माँगे, उसे तत्काल ही लौटा देता है। यह सुनकर एक द्रमक-गरीब व्यक्ति ने अपनी हज़ार मोहरों की नोली उस पुरोहित के पास धरोहर के रूप में रख दी और स्वयं देशान्तर में चला गया। बहुत काल बीतने पर वह गरीब व्यक्ति उस नगर में आया और पुरोहित से अपनी धरोहर माँगी। पुरोहित ने बिल्कुल इनकार कर दिया। कहने लगा—"तू कौन है ? कहाँ से आया है ? कैसी तेरी धरोहर है ?" तब वह विचारा गरीब उसकी बात को सुन कर और अपनी धरोहर को न पाकर पागल हो गया और 'हज़ार मोहरों की नोली' का उच्चारण करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा।

एक दिन उस गरीब ने मन्त्री को जाते हुए देखा और उस से कहा—"पुरोहित जी ! मेरी हज़ार मोहरों की जो नोली आप के पास धरोहर में रखी है, उसे दे दीजिये।" यह सुन कर मन्त्री का मन कृपा से द्रवित हो उठा और राजा से सारी बात जा कर कह सुनाई। राजा ने गरीब और पुरोहित को बुलाया। दोनों राज सभा में आ गए। राजा ने पुरोहित से कहा कि—"इसकी धरोहर क्यों नहीं देते हो ?" पुरोहित ने उत्तर दिया—"देव ! मैं ने इस का कुछ भी धरोहर रूप में ग्रहण नहीं किया है।" तब राजा मौन हो गया और पुरोहित भी अपने घर चला गया। पीछे से राजा ने द्रमक को एकान्त में बुलाया और पूछा—"अरे ! जो तू कहता है, क्या यह सत्य है ?" तब द्रमक ने दिन, मुहूर्त, स्थान और पास में रहे व्यक्तियों के नाम तक गिना दिये।

तत्पश्चात् एक दिन पुरोहित को बुलाकर राजा उस के साथ खेल में मग्न हो गया। दोनों ने परस्पर अंगूठियाँ बदल लीं। तब राजा ने पुरोहित को पता न लग पाए। इस प्रकार गुप्त पुरुष को पुरोहित की अंगूठी देकर, उसे कहा कि पुरोहित के घर जा कर उसकी भार्या से कहो—"कि मुझे पुरोहित ने भेजा है, यह नामाङ्कित मुद्रिका आपको विश्वास दिलाने के लिये साथ में भेजी है, उस दिन, उस समय द्रमक के पास से ली हुई हज़ार सुवर्ण मोहरों की नोली जो अमुक स्थान पर रखी हुई है, शीघ्र भेज दें।" राजकर्मचारी ने वैसे ही किया। ब्राह्मण की पत्नी ने भी प्रत्यय रूप नामाङ्कित मुद्रिका को देखकर

कि सच-मुच ही यह मुद्रिका मेरे पति की है, ऐसा समझ कर ग़रीब व्यक्ति की धरोहर को भेज दिया। उस राजपुरुष ने वह नोली राजा को समर्पित कर दी। राजाने बहुत सी नोलियों के बीच में उस नोली को रख कर द्रमक को भी पास बुलाया और पास में पुरोहित को भी बिठा लिया। द्रमक नोलियों के मध्य अपनी धरोहर को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उस का पागलपन भी जाता रहा। सहर्ष राजा से कहने लगा—"महाराज के पास रखी हुई इन नोलियों में मेरी नोली का आकार और प्रकार इस जैसा है।" राजा ने वह नोली उसे सौंप दी और पुरोहित की जिह्वाच्छेद करके उसे वहाँ से निकाल दिया। यह राजा की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२०. अङ्क—किसी व्यक्ति ने एक साहूकार के पास हज़ार रुपयों से भरी हुई नोली धरोहर में रखी, और स्वयं देशान्तर में भ्रमण करने चला गया। पीछे साहूकार ने उस नोली के नीचे के भाग को निपुणता से काट कर रुपये उससे निकाल लिये, उनकी जगह खोटे रुपये भर कर उसी प्रकार सी दिया। कुछ काल के बाद वह व्यक्ति घर लौटा और साहूकार से नोली मांगी। साहूकार से नोली प्राप्त घर जाकर जब उसे खोला तो उस में खोटे रुपये पाये। यह देख कर वह बहुत दुःखी हुआ और न्यायालय में जाकर अधिकारियों को सारी कहानी सुनाई। न्यायाधीश ने नोली के स्वामी से पूछा—"तेरी नोली में कितने रुपये थे?" उसने कहा—"एक हज़ार रुपये थे।" न्यायाधीश ने थैली में भरे हुए रुपये निकालकर असली रुपये उस नोली में भरे, केवल उतने शेष रहे जितनी जगह काट कर सी हुई थी। न्यायकर्ता ने इस से अनुमान लगाया कि अवश्य ही इसने खोटे रुपये डाल दिये हैं। न्यायाधीश ने साहूकार से हज़ार रुपये उस व्यक्ति को दिलाये और साहूकार को यथोचित दण्ड दिया। यह न्यायाधीश की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२१. नाणक—एक व्यक्ति ने किसी सेठ के पास हज़ार सुवर्ण की मोहरों से भरी हुयी थैली मुद्रित करके धरोहर में रख दी। वह पुरुष तत्पश्चात् किसी कार्यवश देशान्तर में चला गया। बहुत समय बीत जाने पर उस सेठ ने थैली से शुद्ध सुवर्ण की मोहरें निकाल कर नई और घटिया उस में डाल कर उसे उसी प्रकार सीकर तथा मुद्रित करके रख दिया। कई वर्षों के पीछे जब मोहरों का स्वामी घर आया और सेठ से थैली मांगी। सेठ ने थैली उसे संभाल दी। वह व्यक्ति थैली को पहिचान करता था अपने नाम की मुद्रा को ठीक पाकर घर ले गया। घर जाकर थैली को खोला तो उसमें अशुद्ध सुवर्ण की नकली मोहरें निकली। वह सेठ के पास गया और कहा—"कि मेरी मोहरे असली थीं। परन्तु इस में झूठी—नकली निकली हैं।" सेठ ने कहा—"मैं नकली-असली कुछ नहीं जानता, तुम्हारी थैली में जैसी थी वैसी ही वापिस दे दी है।" दोनों का यह झगड़ा अधिक बढ गया और न्यायालय में पहुँच गया। न्यायाधीश ने दोनों के ब्यान लिये। तब न्यायाधीश ने थैली के मालिक से पूछा—"कि तुम ने किस वर्ष थैली धरोहर में रखी थी?" उस ने वर्ष, दिन आदि बताये। न्यायाधीश ने उन मोहरों को देखा तो वे नई ही बनी हुई थीं। न्यायाधीश ने समझ लिया कि ये मोहरें नकली हैं। यह निश्चय कर सेठ से असली मोहरें उसे दिला दीं और सेठ को यथोचित दण्ड दिया। यह न्यायकर्ता की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२२. भिक्षु—किसी व्यक्ति ने एक संन्यासी के पास एक हज़ार सोने की मोहरें धरोहर में रखीं और स्वयं विदेश में चला गया। कुछ समय के पश्चात् वह लौट कर घर आया और भिक्षु से मोहरें मांगीं। परन्तु वह टाल-मटोल करने लगा और आज-कल करके समय निकालने लगा। वह व्यक्ति इस व्यवहार से दुःखी हो गया, क्योंकि भिक्षु उसे धरोहर नहीं दे रहा था।

एक दिन उस व्यक्ति को कुछ जुआरी मिल गये और उन से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। जुआरियों ने कहा—"कि हम तुम्हारी धरोहर दिला देवेंगे और उससे संकेत कर के चले गये। उसके बाद जुआरी गेरुए रंग के कपड़े पहन कर संन्यासियों का वेष धारण कर हाथ में सोने की खूण्टिया ले चले गये और भिक्षु के पास पहुँच कर उन्होंने कहा—"हम विदेश में परिभ्रमण के लिये जा रहे हैं। हमारे पास ये सोने की खूण्टियाँ हैं, आप इन्हें अपने पास रख लें। क्योंकि आप बड़े सत्यवादी महात्मा हैं।" उसी समय वह धरोहर वाला व्यक्ति भी पूर्व संकेतानुसार वहां आ गया और महात्मा से कहा—"महात्मा जी ! वह हज़ार मोहरों की थैली मुझे वापिस दे दीजिए।" महात्मा उन आगंतुक वेषधारी संन्यासियों के सामने खूण्टियों के लोभवश तथा अपने अपयश के भय से इन्कार नहीं कर सका और हज़ार मोहरें लौटा दीं। वह अपनी थैली लेकर चलता बना। पीछे से संन्यासी भी कार्यवश भ्रमण करने के कार्यक्रम को स्थगित करने के बहाने अपने घर वापिस लौट गये। भिक्षु अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगा। यह जुआरियों की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२३. चेटक-निधान—दो व्यक्ति परस्पर घनिष्ट मित्र थे। किसी समय वे बाहिर जंगल प्रदेश में गये हुए थे। वहाँ उन्हें एक गड़ा हुआ निधान उपलब्ध हो गया। तब उन में से मायावी ने मित्र से कहा—"मित्र! हम इस निधान को कल शुभ दिन और नक्षत्र में यहाँ से ले जायेंगे।" दूसरे मित्र ने सरल स्वभाव के कारण उसकी बात को स्वीकार कर लिया और दोनों अपने घर पर लौट आये। घर लौटकर मायावी मित्र उसी रात्रि, उस निधान के पास वापिस गया, वहाँ से सारा धन निकाल कर उस स्थान पर कोयले भर कर अपने घर चला आया। दूसरे दिन वे दोनों मित्र पूर्व निश्चयानुसार निधान की जगह पर गये। वहाँ जाकर उन्हें धन के स्थान पर कोयले मिले। यह देख कर मायावी दोहथड़ मार सिर और छाती पीट कर रोने लगा और कहने लगा—"हाय हम कितने भाग्यहीन हैं, कि दैव ने आखें देकर हम से छीन लीं, जो हमें निधान दिखा कर कोयले दिखाये। इस प्रकार बार-बार कहता और दूसरे मित्र से अपने कपट को छिपाने के लिए उसकी ओर देखता भी जाता। यह दृश्य देख कर सरल मित्र को ज्ञात हो गया कि यह सारी कारवाई इसी की है। उसने अपने भावों को छिपाते हुये मायावी को सान्तवना देते हुए कहा—"मित्र ! क्यों रोते हो, इस प्रकार खेद और दुःख प्रकट करने से निधान वापिस थोड़े ही आयेगा ?" इस प्रकार वे वहाँ से अपने २ घर पर वापिस चले आए।

सरल स्वभावी मित्र ने इस बात का बदला लेने के लिये, मायावी मित्र की सजीव जैसी प्रतिकृति बनवायी और दो बन्दर पाल लिये। वह प्रतिमा के हाथों, जंघा, शिर, पैर आदि पर बन्दरों के खाने योग्य वस्तु रख देता और प्रतिदिन वे खा जाया करते। यह नित्य प्रति का काम हो गया। इस प्रकार बन्दर प्रतिमा से परिचित हो गये और बिना पदार्थों के भी उस से खेलते रहते।

तत्पश्चात् एक पर्व दिन पर सरलने मायावी मित्र के घर जाकर कहा कि—"आज अमुक पर्व है, हमने खाना बना रखा है। आप अपने दोनों पुत्रों को मेरे साथ भेज दीजिए। भोजन के समय दोनों पुत्र वहाँ पर आगये। बड़े आदर से उनको भोजन कराया और पीछे दोनों को सुख पूर्वक किसी स्थान पर छिपा कर रख छोड़ा। जब थोड़ा सा दिन शेष रहा, तब मायावी अपने बच्चों को बुलाने के लिए आया। मित्र के आने का समाचार जान कर सरल स्वभावी ने प्रतिमा को वहाँ से उठा दिया और आसन बिछा कर मायावी को वहाँ सन्मान पूर्वक बैठा कर कहने लगा—"मित्र आपके दोनों लड़के बन्दर हो गये हैं,

मुझे इस बात का बहुत खेद है। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए उसने बन्दरों को छोड़ दिया। वे किल किलाहट करते हुए पूर्वाभ्यास के कारण उस मायावी पर आ चढे। कभी सिर पर, कभी कन्धों पर उस से प्यार करने लगे। तब मायावी से कहा—"मित्र ! ये आप के दोनों पुत्र हैं, इसी लिए आप से प्यार करते हैं।" मायावी यह देख कर कहने लगा—"क्या कभी मनुष्य भी बन्दर हो सकते हैं ?" मित्र बोला "यह आप के कर्मो के अनुसार ऐसा हो गया है, तथा सुवर्ण भी कोयले बन सकता है क्या ?" परन्तु हमारे भाग्य वश यह भी हुआ है। इसी प्रकार लड़के भी बन्दर बन गये हैं। तब मायावी सोचने लगा "इसे मेरी चालाकी का पता लग गया है, यदि मैं शोर मचाऊंगा तो कहीं राजा को पता लग जाने से वह मुझे पकड़ लेगा, मेरे पुत्र भी मनुष्य न बन सकेंगे।" तब मायावी ने यथातथ्य सारी घटना मित्रसे कह दी और उस को आधा भाग धन का दे दिया। दूसरे मित्र ने उसके पुत्रों को बुलाकर सर्मापित कर दिया। यह सरल मित्र की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२४. शिक्षा-धनुर्वेद—कोई पुरुष धनुर्विद्या में अत्यन्त कुशल था। वह एक बार भ्रमण करता हुआ किसी समृद्ध नगर में पहुंचा और वहां के धनिक व्यक्तियों के लड़कों को एकत्र करके उन्हें धनुर्विद्या सिखलाया करता था। उन धनुर्विद्या आदि के सीखने वाले विद्यार्थियों ने अपने कलाचार्य को शिक्षा के बदले में बहुत धन आदि उपहार स्वरूप भेंट किया। जब लड़कों के अभिभावकों को यह ज्ञात हुआ कि लड़कों ने इस शिक्षक को बहुत द्रव्य दिया है, तो वे बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने निर्णय किया, जब यह द्रव्य लेकर अपने घर जायेगा, तब इसे मार कर सभी धन वापिस ले लेंगे। उनके इस निर्णय का उस शिक्षक को भी किसी प्रकार पता लग गया।

यह जान लेने के पश्चात् शिक्षक ने ग्रामान्तर में रहने वाले अपने बन्धुओं को किसी प्रकार सूचना भेजी कि "मैं अमुक रात्री को नदी में गोबर के पिण्ड प्रवाहित करूँगा, आप उन्हें पकड़ लेना।" उन्होंने भी इस बात को स्वीकार करके उत्तर भेज दिया। इसके अनन्तर धनुर्विद्या के शिक्षक ने द्रव्य से मिश्रित गोबर के पिंड बनाये और उन्हें धूप में अच्छी तरह से सुखा लिया। तत्पश्चात् धनिकों के पुत्रों से कहा—"हमारे कुल में यह परम्परा है कि जिस समय शिक्षा का कार्यक्रम पूर्ण हो जावे, उसके अनन्तर अमुक तिथि व पर्व में स्नान करके मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक रात्रि में गोबर के सूखे पिण्ड नदी में प्रवाहित किये जाते हैं।" अतः अमुक रात्रि में ऐसा कार्य क्रम होगा। उन कुमारों ने अपने गुरु की इस बात को स्वीकार कर लिया। तब निश्चित रात्रि में, उन कुमारों के साथ उसने स्नान पूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए सभी गोबर के पिण्ड नदी में विसर्जित कर दिये और घर वापिस लौट आये तथा वे पिण्ड उस के बन्धुओं ने पकड़ लिए और अपने ग्राम में ले गये।

कुछ दिन बीतने पर धनिकों के पुत्रों व उनके सगे सम्बन्धियों से विदाई लेकर केवल वस्त्र मात्र पहिन कर अपने आप को सबके समक्ष दिखला कर कलाचार्य वहां से चल दिये। लड़कों के अभिभावकों ने समझ लिया कि इसके पास कुछ नहीं है, इस कारण उसे लूटने और मारने का विचार छोड़ दिया और वह कुशलता पूर्वक अपने ग्राम में वापिस पहुंच गया। यह कलाचार्य की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२५. अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र—एक वणिक् था, उसकी दो पत्नियां थीं। एक के पुत्र था और दूसरी बांझ थी। परन्तु पुत्र का दोनों निर्विशेष लालन-पालन करती थीं और लड़के को यह ज्ञान नहीं होता

एक दिन उस व्यक्ति को कुछ जुआरी मिल गये और उन से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। जुआरियों ने कहा—"कि हम तुम्हारी धरोहर दिला देवेंगे और उससे संकेत कर के चले गये। उसके बाद जुआरी गेरुए रंग के कपड़े पहन कर संन्यासियों का वेप धारण कर हाथ में सोने की खूण्टिया ले चले गये और भिक्षु के पास पहुँच कर उन्होंने कहा—"हम विदेश में परिभ्रमण के लिये जा रहे हैं। हमारे पास ये सोने की खूण्टियाँ हैं, आप इन्हें अपने पास रख लें। क्योंकि आप बड़े सत्यवादी महात्मा हैं।" उसी समय वह धरोहर वाला व्यक्ति भी पूर्व संकेतानुसार वहां आ गया और महात्मा से कहा—"महात्मा जी! वह हज़ार मोहरों की थैली मुझे वापिस दे दीजिए।" महात्मा उन आगंतुक वेषधारी संन्यासियों के सामने खूण्टियों के लोभवश तथा अपने अपयश के भय से इन्कार नहीं कर सका और हज़ार मोहरें लौटा दीं। वह अपनी थैली लेकर चलता बना। पीछे से संन्यासी भी कार्यवश भ्रमण करने के कार्यक्रम को स्थगित करने के बहाने अपने घर वापिस लौट गये। भिक्षु अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगा। यह जुआरियों की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२३. चेटक-निधान—दो व्यक्ति परस्पर घनिष्ट मित्र थे। किसी समय वे बाहिर जंगल प्रदेश में गये हुए थे। वहाँ उन्हें एक गड़ा हुआ निधान उपलब्ध हो गया। तब उन में से मायावी ने मित्र से कहा—"मित्र! हम इस निधान को कल शुभ दिन और नक्षत्र में यहाँ से ले जायेंगे।" दूसरे मित्र ने सरल स्वभाव के कारण उसकी बात को स्वीकार कर लिया और दोनों अपने घर पर लौट आये। घर लौटकर मायावी मित्र उसी रात्रि, उस निधान के पास वापिस गया, वहाँ से सारा धन निकाल कर उस स्थान पर कोयले भर कर अपने घर चला आया। दूसरे दिन वे दोनों मित्र पूर्व निश्चयानुसार निधान की जगह पर गये। वहाँ जाकर उन्हें धन के स्थान पर कोयले मिले। यह देख कर मायावी दोहथड़ मार सिर और छाती पीट कर रोने लगा और कहने लगा—"हाय हम कितने भाग्यहीन हैं, कि दैव ने आखें देकर हम से छीन लीं, जो हमें निधान दिखा कर कोयले दिखाये। इस प्रकार बार-बार कहता और दूसरे मित्र से अपने कपट को छिपाने के लिए उसकी ओर देखता भी जाता। यह दृश्य देख कर सरल मित्र को ज्ञात हो गया कि यह सारी कारवाई इसी की है। उसने अपने भावों को छिपाते हुये मायावी को सान्तवना देते हुए कहा—"मित्र! क्यों रोते हो, इस प्रकार खेद और दुःख प्रकट करने से निधान वापिस थोड़े ही आयेगा?" इस प्रकार वे वहाँ से अपने २ घर पर वापिस चले आए।

सरल स्वभावी मित्र ने इस बात का बदला लेने के लिये, मायावी मित्र की सजीव जैसी प्रतिकृति बनवायी और दो बन्दर पाल लिये। वह प्रतिमा के हाथों, जंघा, शिर, पैर आदि पर बन्दरों के खाने योग्य वस्तु रख देता और प्रतिदिन वे खा जाया करते। यह नित्य प्रति का काम हो गया। इस प्रकार बन्दर प्रतिमा से परिचित हो गये और बिना पदार्थों के भी उस से खेलते रहते।

तत्पश्चात् एक पर्व दिन पर सरलने मायावी मित्र के घर जाकर कहा कि—"आज अमुक पर्व है, हमने खाना बना रखा है। आप अपने दोनों पुत्रों को मेरे साथ भेज दीजिए। भोजन के समय दोनों पुत्र वहाँ पर आगये। बड़े आदर से उनको भोजन कराया और पीछे दोनों को सुख पूर्वक किसी स्थान पर छिपा कर रख छोड़ा। जब थोड़ा सा दिन शेप रहा, तब मायावी अपने बच्चों को बुलाने के लिए आया। मित्र के आने का समाचार जान कर सरल स्वभावी ने प्रतिमा को वहाँ से उठा दिया और आसन बिछा कर मायावी को वहाँ सन्मान पूर्वक बैठा कर कहने लगा—"मित्र आपके दोनों लड़के बन्दर हो गये हैं,

मुझे इस बात का बहुत खेद है। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए उसने बन्दरों को छोड़ दिया। वे किल किलाहट करते हुए पूर्वाभ्यास के कारण उस मायावी पर आ चढे। कभी सिर पर, कभी कन्धों पर उस से प्यार करने लगे। तब मायावी से कहा—"मित्र ! ये आप के दोनों पुत्र हैं, इसी लिए आप से प्यार करते हैं।" मायावी यह देख कर कहने लगा—"क्या कभी मनुष्य भी बन्दर हो सकते हैं ?" मित्र बोला "यह आप के कर्मों के अनुसार ऐसा हो गया है, तथा सुवर्ण भी कोयले बन सकता है क्या ?" परन्तु हमारे भाग्य वश यह भी हुआ है। इसी प्रकार लड़के भी बन्दर बन गये हैं। तब मायावी सोचने लगा "इसे मेरी चालाकी का पता लग गया है, यदि मैं शोर मचाऊंगा तो कहीं राजा को पता लग जाने से वह मुझे पकड़ लेगा, मेरे पुत्र भी मनुष्य न बन सकेंगे।" तब मायावी ने यथातथ्य सारी घटना मित्रसे कह दी और उस को आधा भाग धन का दे दिया। दूसरे मित्र ने उसके पुत्रों को बुलाकर समर्पित कर दिया। यह सरल मित्र की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२४. शिक्षा-धनुर्वेद—कोई पुरुष धनुर्विद्या में अत्यन्त कुशल था। वह एक बार भ्रमण करता हुआ किसी समृद्ध नगर में पहुंचा और वहाँ के धनिक व्यक्तियों के लड़कों को एकत्र करके उन्हें धनुर्विद्या सिखलाया करता था। उन धनुर्विद्या आदि के सीखने वाले विद्यार्थियों ने अपने कलाचार्य को शिक्षा के बदले में बहुत धन आदि उपहार स्वरूप भेंट किया। जब लड़कों के अभिभावकों को यह ज्ञात हुआ कि लड़कों ने इस शिक्षक को बहुत द्रव्य दिया है, तो वे बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने निर्णय किया, जब यह द्रव्य लेकर अपने घर जायेगा, तब इसे मार कर सभी धन वापिस ले लेंगे। उनके इस निर्णय का उस शिक्षक को भी किसी प्रकार पता लग गया।

यह जान लेने के पश्चात् शिक्षक ने ग्रामान्तर में रहने वाले अपने बन्धुओं को किसी प्रकार सूचना भेजी कि "मैं अमुक रात्री को नदी में गोबर के पिण्ड प्रवाहित करूँगा, आप उन्हें पकड़ लेना।" उन्होंने भी इस बात को स्वीकार करके उत्तर भेज दिया। इसके अनन्तर धनुर्विद्या के शिक्षक ने द्रव्य से मिश्रित गोबर के पिंड बनाये और उन्हें धूप में अच्छी तरह से सुखा लिया। तत्पश्चात् धनिकों के पुत्रों से कहा—"हमारे कुल में यह परम्परा है कि जिस समय शिक्षा का कार्यक्रम पूर्ण हो जाये, उसके अनन्तर अमुक तिथि व पर्व में स्नान करके मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक रात्रि में गोबर के सूखे पिण्ड नदी में प्रवाहित किये जाते हैं।" अतः अमुक रात्रि में ऐसा कार्य क्रम होगा। उन कुमारों ने अपने गुरु की इस बात को स्वीकार कर लिया। तब निश्चित रात्रि में, उन कुमारों के साथ उसने स्नान पूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए सभी गोबर के पिण्ड नदी में विसर्जित कर दिये और घर वापिस लौट आये तथा वे पिण्ड उस के बन्धुओं ने पकड़ लिए और अपने ग्राम में ले गये।

कुछ दिन बीतने पर धनिकों के पुत्रों व उनके सगे सम्बन्धियों से विदाई लेकर केवल वस्त्र मात्र पहिन कर अपने आप को सबके समक्ष दिखला कर कलाचार्य वहाँ से चल दिये। लड़कों के अभिभावकों ने समझ लिया कि इसके पास कुछ नहीं है, इस कारण उसे लूटने और मारने का विचार छोड़ दिया और वह कुशलता पूर्वक अपने ग्राम में वापिस पहुंच गया। यह कलाचार्य की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२५. अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र—एक वणिक् था, उसकी दो पत्नियाँ थीं। एक के पुत्र था और दूसरी वन्ध्या थी। परन्तु पुत्र का दोनों निर्विशेष लालन-पालन करती थीं और लड़के को यह ज्ञात नहीं होता

था कि मेरी माता कौनसी है ? वह बनिया अपनी दोनों पत्नियों और पुत्र के साथ भगवान सुमतिनाथ की जन्म भूमि में पहुंच गया। वहां पहुंचने के पीछे उस वणिक् का देहान्त हो गया। उसके मरने के पीछे दोनों पत्नियों में पुत्र और गृहसम्पत्ति के लिये झगड़ा आरम्भ हो गया। दोनों ही पुत्र पर अपना अधिकार बताने से घर की स्वामिनी बनना चाहती थीं। यह कलह राज दरबार में गया। परन्तु फिर भी निर्णय न हो सका। इस विवाद को भगवान सुमतिनाथ की गर्भवती माता ने सुन लिया। माता सुमंगलाने दोनों सपत्नियों को अपने पास बुलाया, माता सुमंगलाने कहा—"कुछ दिनों के पश्चात् मेरे यहां पुत्र का जन्म होगा। वह बड़ा होगा और इस अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर तुम्हारा झगड़ा निपटायेगा, तब तक तुम यहाँ पर रहो और निर्विशेषता से खाओ पीयो और सुख पूर्वक निवास करो।" यह सुनकर जिस का पुत्र नहीं था सोचने लगी—"चलो, इतने समय तक तो यहां रह कर आनन्द लो, पीछे जो होगा, देखा जायेगा।" वन्ध्या ने सुमङ्गला देवी की इस बात को स्वीकार कर लिया। इस से रानीजी ने जान लिया कि बच्चे की माता यह नहीं है और उसे वहाँ से तिरस्कृत कर निकाल दिया और बच्चा उसकी माता को देकर गृहस्वामिनी भी उसे ही बना दिया। यह माता सुमंगला की अर्थशास्त्र विषयक औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२६. **इच्छामहं**—जो तुम चाहो वह देना—एक सेठ की मृत्यु हो गई। उसकी स्त्री सेठ के द्वारा व्याज आदि पर दिये गये रुपये को प्राप्त नहीं कर पाती थी। तब स्त्री ने अपने पति के मित्र को बुलाया और कहा—"जिन लोगों के पास मेरे पति ने रुपये व्याज पर दिये हैं, उनसे ओग्राही कर के मुझे दिला दो।" पति के मित्र ने कहा कि—"यदि तुम मुझे भी उस में से भाग दो, तो दिला दूंगा।" तब स्त्री ने कहा "जो तू चाहता है, वह मुझे दे देना।" पश्चात् उस मित्र ने लोगों से सारा रुपया वसूल कर लिया। सारा रुपया लेने के पश्चात् स्त्री को थोड़ा और स्वयं अधिक लेने की उसकी भावना हुई। स्त्री ने कहा —"मैं थोड़ा भाग नहीं लूंगी।" अधिक वह नहीं देता था। यह झगड़ा न्यायालय में चला गया। न्यायकारी पुरुषों की आज्ञा से सारा धन वहां मंगवाया गया। उसके दो छोटे और बड़े भाग कर के रख दिये। न्यायकारी पुरुषों ने मित्र से पूछा—"तू किस भाग को चाहता है ?" उस ने कहा—"मैं बड़े भाग को चाहता हूं।" तब न्यायाधीश ने स्त्री के कहे हुए शब्दों का अर्थ विचारा कि—"जो तू चाहता है, वह मुझे देना।" न्यायाधीश ने कहा—"तुम बडे भाग को चाहते हो, इस लिये बड़ा भाग इस स्त्री को दो और दूसरा तुम ले लो। इस प्रकार झगड़ा निपटाने में कारणिकों की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२७. **शतसहस्र**—लाख एक परिव्राजक था। उसके पास चान्दी का बहुत बड़ा पात्र था, जिस का नाम परिव्राजक ने 'खोरक' रखा हुआ था। परिव्राजक जिस बात को एक बार सुन लेता था, अपनी कुशाग्र बुद्धि से उसे अक्षरशः स्मरण कर लेता था। अपनी प्रज्ञा के अभिमान से सर्वजनों के सामने उसने प्रतिज्ञा की कि—"जो व्यक्ति मुझे अश्रुतपूर्व अर्थात् पहिले न सुनी हुई बात सुनायेगा, मैं उसे यह चान्दी का पात्र दे दूंगा।" यह प्रतिज्ञा सुनकर चान्दी के पात्र के लोभ से कई व्यक्ति आए। परन्तु कोई भी ऐसी बात न सुना सका। आगन्तुक जो भी बात सुनाता, परिव्राजक अक्षरशः अनुवाद करके उसी समय सुना देता और कह देता कि—"यह बात मैंने सुन रखी है अन्यथा मैं कैसे सुनाता।" इस कारण उसकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई।

यह वृत्तान्त किसी सिद्धपुत्र ने सुना और कहा कि—"मैं ऐसी बात कहूंगा जो परिव्राजक ने न सुनी हो।" सब लोगों के सामने राज सभा में यह प्रतिज्ञा हो गयी। तब सिद्धपुत्र ने यह पाठ पढ़ा—

"तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं।
जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देसु॥"

अर्थात्—सिद्ध पुत्र ने परिव्राजक से कहा—"तेरे पिता ने मेरे पिता के एक लाख रुपये देने है। यदि यह बात तुमने सुनी हैं, तो अपने पिता का एक लाख रुपये का कर्ज़ चुका दो, यदि नहीं सुनी है तो मुझे अपनी प्रतिज्ञा अनुसार खोरक—चान्दी का पात्र दे दो।" यह सुनकर परिव्राजक को अपनी पराजय माननी पड़ी और चांदी का पात्र सिद्धपुत्र को प्रतिज्ञा के अनुसार देना पड़ा। यह सिद्धपुत्र की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण हुआ।

२ वैनयिकी बुद्धि का लक्षण

मूलम्—१. भरनित्थरण समत्था, तिवग्ग-सुत्तत्थ-गहिय-पेयाला।
उभओ लोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी॥७३॥

छाया—१. भरनिस्तरणसमर्था, त्रिवर्ग-सूत्रार्थ-गृहीत-पेयाला।
उभय-लोकफलवती विनयसमुत्था भवति बुद्धिः॥७३॥

पदार्थ—विणय—विनयसे समुत्था—समुत्पन्न बुद्धी—बुद्धि भर—भार नित्थरण—निर्वाह करने समत्था—समर्थ है तिवग्ग—त्रिवर्ग का वर्णन करने वाले सुत्तत्थ—सूत्र और अर्थ का पेयाला—प्रधान सार गहिय—ग्रहण करने वाली उभओ-लोग—दोनों लोक में फलवई—फलवती भवइ—होती है।

भावार्थ—विनय से पैदा हुई बुद्धि कार्य भार के निस्तरण—वहन करने में समर्थ होती है। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम का प्रतिपादन करने वाले सूत्र तथा अर्थ का प्रमाण-सार ग्रहण करने वाली है तथा यह विनय से उत्पन्न बुद्धि इस लोक और परलोक में फल देने वाली होती है।

२ वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण

मूलम्—२. निमित्ते[1]-अत्थसत्थे[2] अ, लेहे[3] गणिए[4] अ कूव[5] अस्से[6] य।
गद्दभ[7]-लक्खण[8] गंठी[9], अगए[10] रहिए[11] य गणिया[12] य॥७४॥

छाया—२. निमित्ते[१]-अर्थशास्त्रे[२] च, लेखे[३] गणिते[४] च कूप[५]अश्वौ[६] च ।
गर्दभ[७]-लक्षण[८]-ग्रन्थ्य[९]-गदाः[१०], रथिकश्च[११] गणिका[१२] च ॥७४॥

मूलम्—३. सीआ साडी दीहं च तणं, अवसव्वयं च कुंचस्स[१३] ।
निव्वोदए[१४] य गोणे, घोडग पडणं च रुक्खाओ[१५] ॥७५॥

छाया—३. शीता शाटी दीर्घञ्च तृणम्, अपसव्यञ्च क्रौञ्चस्य[१३] ।
नीव्रोदकं[१४] च गौ, घोटक-(मरणं) पतनञ्च वृक्षात्[१५] ॥७५॥

१. **निमित्त**—किसी नगर में एक सिद्ध पुत्र रहता था । उसके दो शिष्य थे । सिद्धपुत्र ने उन दोनों को समान रूप से निमित्त शास्त्र का अध्ययन कराया । एक शिष्य बहुमान पूर्वक गुरु की आज्ञा का पालन करता, गुरु जिस प्रकार भी उसे आज्ञा देते, वह उसी प्रकार स्वीकार कर लेता और अपने मन में निरन्तर मनन-चिन्तन करता रहता था । विमर्श करते समय यत्किंचित सन्देह उत्पन्न होने पर गुरु-चरणों में उपस्थित होकर, विनययुत शिर नमाकर, वन्दन करके सम्मान पूर्वक अपनी शंका का समाधान करता । इस तरह निरन्तर विचार करते रहने से निमित्त शास्त्र का अभ्यास करते-करते उसे तीक्ष्ण बुद्धि उत्पन्न हो गई । परन्तु दूसरे शिष्य की सभी प्रवृत्तियां भिन्न थीं । अतः वह गुणविकल था ।

एक समय वे दोनों गुरु की आज्ञा से किसी ग्राम में जा रहे थे । रास्ते में दोनों ने बड़े-बड़े पाओं के चिह्न देखे । पदचिह्नों को देखकर विचारशील विनयवान् शिष्य ने अपने गुरुभ्राता से पूछा—"ये पाओं के चिह्न किसके हैं ?" उत्तर में वह बोला—"मित्रवर ! यह भी कोई पूछने जैसी बात है ? यह स्पष्ट ही हाथी के पदचिह्न हैं ।" विमृश्य भाषी शिष्य ने कहा—"भैया ! ऐसा मत कहो, ये पदचिह्न हस्तिनी के हैं, और वह हस्तिनी वाम नेत्र से काणी है. उस पर कोई रानी सवार है तथा वह सधवा है और गर्भवती भी है एवं आजकल में ही उसके प्रसव होने वाला है, उसे एक पुत्र का लाभ होगा ।"

इस प्रकार कहने पर अविचारशील बोला—"तुम यह किस आधार से कह रहे हो !" विनयी बोला—"विश्वास का होना ही ज्ञान का सार है और यह तुम्हें आगे जाकर प्रत्यक्ष में स्पष्ट हो जायेगा ।' ऐसा कहते हुए वे दोनों अपने निर्दिष्ट ग्राम में पहुंच गए । उन्होंने ग्राम के बाहिर बहुत बड़े सरोवर के किनारे पर रानी के दल-बल का आवास (पड़ाओ) देखा । उधर वाम नेत्र से काणी एक हस्तिनी दिखाई दी । उसी समय किसी दासी ने आकर मन्त्री से कहा—"महाराज को बधाई दीजिए, उन्हें पुत्र का लाभ हुआ है ।"

यह सब कुछ देख कर विनीत शिष्य ने दूसरे से कहा—"आपने दासी के वचन सुने ?" वह बोला—"मैंने सब जान लिया, आपका ज्ञान अन्यथा नहीं है ।" इसके बाद दोनों हाथ-पैर धोकर तालाब के किनारे वट वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठ गए । उसी समय एक वृद्धा सिर पर पानी का घड़ा रखे

उनके सामने आई। उसने दोनों को देखकर विचारा —"ये अच्छे विद्वान प्रतीत होते हैं, तो क्यों न अपने विदेशगत पुत्र के बारे में पूछ लूं।" और तभी प्रश्न करते समय उसके सिर से पानी का भरा हुआ घट भूमि पर गिर गया और शतशः ठीकरियों में परिणत हो गया। उसी समय अविनीत बोल उठा— "बुढ़िया! तेरा पुत्र भी घड़े की भान्ति मृत्यु को प्राप्त हो गया है।" यह सुन कर विनयी बोला-- "मित्र! ऐसा मत कहिए, इसका पुत्र घर पर आया हुआ है।" अरि बूढ़ी माता! घर जाओ और अपने पुत्र का मुख देखो।" यह सुन कर बुढ़िया पुनरुज्जीवित की भान्ति विनयी को शतशः आशीर्वाद देती हुई अपने घर चली गई। घर जाकर धूलि से भरे हुए पैरों सहित लड़के को देखा। पुत्र ने माता के चरणों में प्रणाम किया और मां ने उसे आशीर्वाद दिया तथा नैमित्तिक की बात उसे सुनाई। पुत्र को पूछकर बुढ़िया ने कुछ रुपये और वस्त्रयुगल उस विनयी शिष्य को भेंट स्वरूप अर्पण किए।

अविनीत यह सब देख कर दुःखित होकर अपने मन में सोचने लगा—"निश्चय ही गुरु ने मुझे अच्छी तरह नहीं पढ़ाया, अन्यथा मुझे भी ऐसा ही ज्ञान प्राप्त होता, जैसा कि इसको है।" गुरु का कार्य करके दोनों गुरु के पास वापिस पहुंचे। विनयी ने गुरु को देखते ही बद्धाञ्जलि, सिर झुका, बहुमान-पूर्वक आनन्दाश्रुओं से भरे नेत्रों से गुरु के पादारविन्दों में अपने सिर को रख कर नमस्कार किया, किन्तु दूसरा किञ्चिन्मात्र भी न झुका, अभिमान की अग्नि के धूएं को अन्दर ही अन्दर धारण किये, पत्थर के स्तंभ की तरह खड़ा रहा। तब गुरु ने अविनीत को कहा—"अरे! तू नमस्कार क्यों नहीं करता?" वह बोला— "महाराज! आपने जिसको 'सम्यक् प्रकार से पढ़ाया है, वही आपके चरणों में पड़ेगा मैं नहीं।" गुरु ने उत्तर दिया—"क्या तुझे सम्यक्तया नहीं पढ़ाया?" तब उसने पूर्वोक्त सारा वृत्तान्त गुरु से कह दिया, यावत् इसका ज्ञान सत्य है और मेरा असत्य। पुनः गुरु ने विनयी से पूछा—"वत्स! कहो, तुमने यह कैसे जाना?" तब विनयी शिष्य ने कहा—"मैंने आपके चरणों के प्रताप से विचार किया कि—यह तो भली भान्ति ज्ञात है कि ये हाथी रूप के पैर हैं; विशेष विचार किया कि हाथी के पैर हैं या हथिनी के? पुनः पेशाब को देख कर जाना कि ये पांव हस्तिनी के हैं। मार्ग के दक्षिण पार्श्व में वाड़ के लिये लगाये गये वल्ली और पत्र आदि खाये हुये थे, इससे निश्चय किया कि वह हस्तिनी वाम नेत्र से काणी है। अन्य कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकता जो इस प्रकार जन समूह के साथ हाथी पर आरूढ़ होकर जाये। तब यह निश्चय किया कि अवश्य ही यह कोई राजकीय व्यक्ति है और उसने हस्तिनी से उतर कर लघुशंका की है,। लघुशंका से निश्चय किया कि यह रानी हो सकती है। वृक्ष के साथ लगे हुये रक्तवस्त्र के तन्तुओं से ज्ञात किया कि वह सधवा है। दक्षिण हाथ भूमि पर रख कर खड़ी हुई है, इससे जाना कि वह गर्भवती है। दक्षिण चरण अधिक भारी होने से जाना कि आज कल में प्रसव होगा। इन सब निमित्तों से मैं समझ गया कि उसके लड़का उत्पन्न होगा।"

वृद्धा स्त्री के प्रश्न के तत्काल ही घट के गिरने से विचार किया कि—यह घट जहां से उत्पन्न हुआ है, उसी में मिल गया। इससे मैंने जान लिया कि बुढ़िया का पुत्र घर आ गया है।" ऐसा कहने के अनन्तर गुरु ने विनयी शिष्य को स्नेहमयी दृष्टि से देखते हुए प्रशंसा की। द्वितीय शिष्य से कहा कि— "यह तेरा दोष है, जो तू न विचार कर काम करता है और न मेरी आज्ञा का ही पालन करता है। हमारा अधिकार तो तुम्हें शास्त्र का अध्ययन कराने का है, विमर्श तो तुमने ही करना है।" यह विनय से उत्पन्न शिष्य की विनैयिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२. अत्थसत्थे—अर्थशास्त्र पर कल्पक मन्त्री का उदाहरण है, जो कि टीकाकार ने नाम मात्र से संकेतित किया है। अतः इसका विवर्ण उपलब्ध नहीं हो सका।

३. लेख—लिपि का परिज्ञान—यह भी विनयवान् शिष्य को ही होता है।

४. गणित—गणित में प्रवीणता भी वैनयिकी का बुद्धि चमत्कार है।

५. कूप—किसी ग्रामीण ने एक भूमि के वैज्ञानिक से पूछा—कि "अमुक स्थल पर कितनी दूरी पर पानी निकलेगा ?" भूवेत्ता ने कहाकि—"अमुक परिमाण में भूमि को खोदो।" ग्रामीण ने उसी प्रकार खोदकर कहा—"यहाँ पानी नहीं निकला।" तब भूमि के परीक्षक ने कहा—"पार्श्व भूभाग पर एड़ी से प्रहार करो।" एड़ी से ताड़ित करने पर तत्काल ही जल निकल आया। यह भूगर्भवेत्ता पुरुष की वैनयिकी बुद्धि है।

६. अश्व—घोड़ा—बहुत से व्यापारी द्वारिकापुरी में घोड़े बेचने गये। नगरी के राजकुमारों ने बहुत बड़े डील-डौल के बड़े मोटे-ताजे घोड़े खरीद लिए। परन्तु, घोड़ों की परीक्षा में प्रवीण वासुदेव ने एक दुबले-पतले घोड़े का सौदा किया। जब घुड़सवारी का समय आता तो बड़े आकार प्रकार के घोड़े पीछे रह जाते और वासुदेव का दुबला-पतला घोड़ा सबसे आगे निकल जाता। यह वासुदेव की वैनयिकी बुद्धि है।

७. गर्दभ—एक राजा जब यौवनावस्था को प्राप्त हुआ, तो उसके मस्तिष्क में यह धुन सवार हो गई कि—"तरुण ही सब कार्यों में कुशल हो सकते हैं और तरुणावस्था ही सर्वश्रेष्ठ होती है। यह विचार कर राजा ने अपनी सेना से सभी अनुभवी और वयोवृद्ध योधाओं को निकाल, उनके स्थान पर युवा लड़कों की सेना भरती कर ली। एक बार राजा किसी देश पर चढ़ाई करने जा रहा था। मार्ग में एक बीहड़ अटवी में पथ-भ्रष्ट हो जाने से सभी युवा सैनिक और कर्म-चारियों समेत राजा पानी के अभाव में प्यास से व्याकुल हो गये। तब किंकर्त्तव्यविमूढ़ राजा से किसी ने प्रार्थना की कि "महाराज ! यह विपत्तिसागर, वृद्ध पुरुष की बुद्धि के विना पार नहीं किया जा सकता, इस लिए किसी वृद्ध पुरुष की खोज की जाए।" उसी समय राजा ने समस्त सैन्यदल में उद्घोषणा करवाई। यह घोषणा एक पितृभक्त सैनिक ने सुनी, जो अपने अनुभवी वृद्ध पिता को गुप्त वेष में साथ ले आया था। युवा सैनिक ने घोषणा सुन कर राजा से कहा—"महाराज ! मेरे पिता जी यहाँ उपस्थित हैं।" राजाज्ञा से वृद्ध को राजा के पास ले जाया गया। राजा ने गौरव से कहा—"महापुरुष ! मेरी सेना को पानी कैसे मिलेगा ?" वृद्ध बोला—"देव ! गधों को स्वतन्त्र रूप से छोड़ दीजिये, जहाँ पर वे भूमि को सूंघें, उसी स्थान पर पानी समझ लेना चाहिए।" राजा ने उसी प्रकार किया और पानी प्राप्त कर सभी सैनिक स्वस्थ हो, अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े। यह स्थविरपुरुष की वैनयिकी बुद्धि है।

८. लक्षण—घोड़ों के एक व्यापारी ने घोड़ों की रक्षा के लिये एक व्यक्ति को नियुक्त किया और उससे कहा—"कि वेतन में तुम्हें दो घोड़े मिलेंगे।" सेवक ने यह स्वीकार कर लिया। घोड़ों की रक्षा करते हुए घोड़ों के स्वामी की कन्या से उसका स्नेह हो गया। सेवक ने कन्या से पूछा—"कि कौन से घोड़े अच्छे हैं ?" लड़की ने उत्तर दिया—यूं तो सभी घोड़े अच्छे हैं, परन्तु पत्थरों से भरे कुप्पे को वृक्ष पर से गिराने के शब्द से जो घोड़े भय-भीत न हों, वही श्रेष्ठ हैं।" सेवक ने उसी प्रकार सभी घोड़ों की परीक्षा की। उनमें दो घोड़े जो लक्षण सम्पन्न थे, वे परीक्षण में निर्भय निकले। जब वेतन देने का

समय आया, तब उसने कहा—"मुझे अमुक दो घोड़े दे दीजिये।" अश्वस्वामी ने कहा—"अरे भाई ! इन दोनों का क्या करेगा ?" और जो मनोज्ञ हैं, ले ले। परन्तु वह नहीं माना। तत्पश्चात् अश्वस्वामी ने अपनी स्त्री से कहा—"कि यह सेवक वेतन में अमुक घोड़े मांगता है। अत: इसे गृहजामाता बना लेते हैं, नहीं तो यह इन जातिसम्पन्न श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त घोड़ों को वेतन में ले जायेगा।" किन्तु उसकी स्त्री नहीं मानी। तब स्वामी ने उसे समझाया कि इन घोड़ों के रहते हुए और भी गुणयुक्त घोड़े हो जायेंगे और अपने परिवार में भी सभी प्रकार से उन्नति होगी, अन्यथा घोड़े चले जाने से सभी प्रकार से हानी होगी। यह सुन कर वह मान गई और अश्वरक्षक से कन्या का विवाह करके गृहजामाता बना लिया। यह अश्वस्वामी की विनय से उत्पन्न बुद्धि है।

९. ग्रन्थि—पाटलीपुत्र में मुरुण्ड नामक राजा रहता था। किसी अन्य राजा ने मुरुण्ड राजा को तीन विचित्र वस्तुएँ भेजीं, जैसे—ऐसा सूत जिसका किनारा नहीं था। एक लाठी जिसकी गांठ का पता न लगे और एक डिब्बा जिसके द्वार का पता न लग सके। उन सब पर लाख को ऐसा चिपकाया था कि किसी को ज्ञात न हो सके। राजा मुरुण्ड ने यह कौतुक सभी सभासदों को दिखाया। परन्तु किसी को ज्ञात न हो सका कि क्या कारण है। तब राजा ने आचार्य पादलिप्त को सभा में बुलाकर पूछा—"भगवन् ! क्या आप जानते हैं—कि यह क्या रहस्य है ?" आचार्य बोले—"हाँ मैं जानता हूँ।" आचार्य ने गर्म पानी में सूत्र को डाला। गर्म पानी से लाक्षा गल गई और सूत्र का किनारा दिखाई दिया। इसी प्रकार यष्टि भी पानी में डाली जो गांठ वाला भारी किनारा था वह पानी में डूब गया, उससे ज्ञात हुआ कि यष्टि में अमुक किनारे पर गांठ है। फिर डिब्बे को भी गर्म पानी में डाला, लाक्षा पिघल जाने से डिब्बे का द्वार दिखाई दिया। राजा ने आचार्य से पूछा, "महाराज ! आप भी ऐसा कोई कौतुक करें, जिसे मैं वहाँ पर भेज सकूं।" तब आचार्य ने तुम्बे का एक खण्ड सावधानी से हटा कर उसमें रत्न भर दिये तथा तुम्बे को बड़ी सावधानी से बन्द कर दिया और परराष्ट्र के पुरुषों से कहा—"इसे तोड़े बिना इसमें से रत्न निकाल लेना। परन्तु वे ऐसा न कर सके। यह पादलिप्ताचार्य की विनयजा बुद्धि है।

१०. अगद—किसी नगर में एक राजा राज्य करता था। परन्तु उसके पास सेना बहुत थोड़ी थी। अत: उसके शत्रु राजा ने उसके राज्य को चारों ओर से घेर लिया। परचक्र से घिरने पर राजा ने कहा—"कि जिसके पास भी विष हो, वह ले आए, जिससे पानी में डाल कर शत्रुओं को नष्ट किया जा सके।" तब राजाज्ञा से पानी को विषमय बना दिया। उसी समय एक वैद्य जी परिमित विष लेकर आया और राजा को समर्पण कर कहा—"देव ! यह लीजिये विष लाया हूँ।" राजा अल्पमात्रा में विष को देख कर वैद्य पर क्रुद्ध हुआ। वैद्य ने निवेदन किया—"महाराज ! यह सहस्रभेदी विष है, आप क्रोध न करें।" राजा ने पूछा—"यह कैसे हो सकता है ?" तब वैद्य ने राजा से प्रार्थना की—"देव ! कोई बूढ़ा हाथी लाइए।" हाथी आने पर वैद्य ने उसकी पूंछ का एक बाल उखाड़ा और उस स्थान पर विष का संचार किया। विष जहाँ-जहाँ लगता गया वही स्थान नष्ट होता गया। वैद्य ने राजा से पुन: कहा—"महाराज ! यह हाथी विषमय हो गया है।" अत: जो भी इसको खायेगा, वह भी विषमय बन जायेगा। इसी लिए, इस विष को सहस्रवेधि कहा जाता है।" हाथी की हानि देख कर राजा बोला—"कोई उपाय है, जिससे यह फिर ठीक हो जावे।" वैद्य बोला—"हाँ देव ! उपाय है।" वैद्य ने पूंच्छ के उसी रन्ध्र में अन्य औषध का संचार किया और शीघ्र ही हाथी स्वस्थ हो गया। विष के प्रयोग में वैद्य की विनयजा बुद्धि का यह उदाहरण है।

११-१२. रथिक और गणिका—रथवान् और वेश्या के उदाहरण स्थूलभद्र के कथानक में आते हैं। वे दोनों उदाहरण वैनयिकी बुद्धि के हैं।

१३. शाटिका आदि—किसी नगर में एक राजा राज्य करता था। उसके राजकुमारों को कोई कलाचार्य शिक्षा देने लगा। उन राजकुमारों ने विद्याध्ययन के पश्चात् कलाचार्य को बहुत धन भेंट स्वरूप दिया। राजा लोभी था। जब उसे ज्ञात हुआ तो कलाचार्य को मार कर उससे सारा धन छीन लेना चाहा। राजकुमारों को राजा के विचार का पता किसी प्रकार लग गया। वे सोचने लगे—"कि विद्या का दान देने से कलाचार्य भी हमारे पिता के तुल्य ही हैं। इस लिए किसी प्रकार कलाचार्य को इस आपत्ति से बचाना चाहिए।" यह विचार कर कलाचार्य ने जब भोजन करने से पहिले स्नान के लिए राजकुमारों से सूखी धोती मांगी तो कुमार कहने लगे—"अहो शाटिका गीली है।" द्वार के सन्मुख शुष्क तिनका करके-कहने लगे—"तृण लम्बा है।" "पहिले क्रौञ्च सदा प्रदक्षिणा किया करता था, अब वह बायें ओर घूम रहा है।" इन विपरीत बातों को देख आचार्य को ज्ञान हुआ—"कि सभी मेरे से विरक्त हैं, केवल ये राजकुमार गुरुभक्ति के वशीभूत मुझे ज्ञापन कर रहे हैं।" इस लिए जब तक मुझे अन्य कोई नहीं देखता, यहाँ से भाग जाना ही श्रेयस्कर है।" यह कुमारों और कलाचार्य की वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है।

१४. नीव्रोदक—किसी वणिक् स्त्री का पति चिरकाल से परदेश में गया हुआ था। अतः वणिक् की स्त्री ने कामातुर हो अपनी दासी से कहा—"किसी पुरुष को लाओ।" दासी आज्ञा का पालन करते हुए किसी जार पुरुष को ले आयी। आगन्तुक व्यक्ति के नख व केशों को नापित बुला कर सँवारा गया और अच्छी प्रकार से उसकी सेवा की गई। रात्रि आने पर दोनों उपरि प्रकोष्ठक में व्यभिचार सेवनार्थ चले गये। रात्रि को वृष्टि आरम्भ हो गई। उस व्यक्ति ने प्यास लगने से तात्कालिक मेघ के पानी को पिया। वह जल मृतसर्प की त्वचा से संमिश्रित था। अतः उस पानी के पीने से उसकी मृत्यु हो गई। यह देख उस स्त्री ने रात्रि के अन्तिम भाग में मृतपुरुष को ले जाकर एक शून्य देवकुलिका में डाल दिया। प्रभात होने पर सिपाहियों ने उस मृत को वहाँ पड़ा पाया। राजपुरुष विचारने लगे कि इस व्यक्ति की मृत्यु कैसे हुई? विचारते २ उन्होंने देखा कि इसके नाखून और केश तत्कालिक ही संवारे हुए हैं। उन्होंने नगर के नाइयों को बुलाया और पूछा कि किसने इस व्यक्ति के नाखून और बाल काटे हैं? तब एक नाई ने कहा—"मैंने अमुक वणिक् की स्त्री की दासी के कहने से बाल और नख काटे हैं।" दासी ने पहिले तो कुछ न बताया। किन्तु मार पड़ने पर यथातथ्य बात कह दी। वैनयिकी बुद्धि का यह दण्डपाशिकों का उदाहरण है।

१५. बैलों की चोरी, घोड़े का मरण, वृक्ष से गिरना—कोई पुण्यहीन व्यक्ति जो कुछ भी करता उसके कारण वह विपत्ति में पड़ जाता है। एक दिन किसी किसान ने अपने मित्र से बैल माँग कर हल चलाया। कार्य समाप्त होने पर, असमय में मित्र के बाड़े में बैलों को छोड़ आया। उस समय मित्र भोजन कर रहा था। अतः वह उसके पास न गया। मित्र ने बैलों को बाड़े में छोड़ते समय उस व्यक्ति को देख लिया और मित्र से कुछ कहे बिना अपने घर चला गया। बैल बन्धे नहीं थे, इस लिए वे बाड़े से बाहिर निकल कर कहीं चले गए और उन्हें चोर पकड़ कर ले गए। बैलों को बाड़े में न पाकर, मित्र पुण्यहीन के पास जाकर बैल माँगने लगा। लेकिन वह कहाँ से देता। तब मित्र उसे राजकुल में ले चला।

जब दोनों रास्ते में जा रहे थे, सामने से एक घुड़सवार आता दिखाई दिया। घोड़ा उनको देख कर विदक गया और सवार को गिरा कर भागने लगा। तब सवार ने कहा—"घोड़े को दण्ड से मार कर रोक दो।" अकृतपुण्य ने यह सुना और दण्डा इस प्रकार ज़ोर से मारा कि घोड़े के मर्मस्थल पर लगा और उसी समय मर गया। यह देख घोड़े के स्वामी ने उसको पकड़ लिया और वह भी राजकुल में ले चला।

जब वे तीनों नगर के पास आए तो राजसभा समाप्त हो चुकी थी और सूर्य भी अस्त हो गया तथा नगर के द्वार भी बन्द हो गये थे। उन्होंने विचारा कि अब अन्दर नहीं जा सकते, इस लिए नगर के बाहिर ही रात को विश्राम करके प्रातः राजसभा में जायेंगे। नगर के बाहिर बहुत से नट भी सो रहे थे, वहीं वे भी सो गये। अकृतपुण्य सोचने लगा कि मरे विना इन विपत्तियों से छुटकारा नहीं होगा। अतः गले में फंदा डाल कर मर जाना चाहिए। ऐसा सोचकर अपने गले में फंदा डाल कर वृक्षपर लटकने लगा। जैसे ही गले में फंदा डाला तो जीर्णवस्त्र का होने से वह टूट गया और पुण्यहीन नटों के मुख्य सरदार पर जा गिरा और गिरने से मुखिया की मृत्यु हो गई। नटों ने भी उसे पकड़ लिया और सभी इकट्ठे हो कर प्रातः राज्यसभा में चले गये।

राजा के पास जा कर सभीने अपना अभियोग सुनाया। तब राजा ने उस विचारे पुण्यहीन से पूछा। उसने भी निराश और हताश हो कर कहा—"देव ! जो कुछ ये कहते हैं, वह सब सत्य है।" यह सुन कर राजा को उस दीन पर दया आई और कहने लगा—"भाई ! यह तेरे बैलों को दे देगा। परन्तु पहिले तेरी आंखों को उखाड़ेगा।" क्योंकि यह तो उसी समय उऋण हो गया था, जब तुमने अपनी आँखों से बाड़े में छोड़ते हुए बैलों को देखा। यदि तुम अपनी आँखों से बैलों को न देखते तो यह भी घर न जाता। क्योंकि जो, जिसके पास कोई वस्तु समर्पण करने जाता है, वह बिना संभाले नहीं जाता। तुमने उस समय दोनों बैलों को बाड़े में आते देख लिया था। अतः इसका कोई दोष नहीं है।" घोड़े के स्वामी को भी बुलाया और कहा—"यह तुम्हें घोड़ा दे देगा। परन्तु पहिले यह तुम्हारी जिह्वा को काट लेगा। क्योंकि जब तुम्हारी जिह्वा ने 'दण्डे से मारने के लिए कहा, तभी इसने तदनुसार किया, अपने आप नहीं।' यह कहाँ का न्याय है कि तुम्हारी जिह्वा तो बच जाए और इस दीन को दण्ड दिया जाए। इस लिए यहाँ से चले जाओ।" "तत्पश्चात् नटों को बुलाया और कहा—"इस गरीब के पास क्या है ? जो तुम्हें दिलाया जाये ? हाँ, इतना कर सकते हैं कि इस व्यक्ति को वृक्ष के नीचे सुला देते हैं, और जिस प्रकार गले में इसने फंदा डाला था, उसी प्रकार तुम्हारा मुख्य नेता गले में पाश डालकर इसके ऊपर गिर पड़े।" यह निर्णय सुन सबने उस पुण्यहीन पुरुष को छोड़ दिया। यह कुमार अमात्य की विनयजा बुद्धि का उदाहरण है।

उपरोक्त सभी उदाहरण विनय से उत्पन्न बुद्धि के हैं।

३. कर्मजा बुद्धि का लक्षण

मूलम्—१.उवओग-दिट्ठसारा, कम्म-पसंग-परिघोलण-विसाला।
साहुक्कार फलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥७६॥

छाया—१. उपयोग-दृष्टसारा, कर्म—प्रसंग-परिघोलन-विशाला।
साधुकारफलवती, कर्मसमुत्था भवति बुद्धिः ॥७६॥

पदार्थ—उवओग—उपयोग से दिट्ठसारा—परिणाम को देखने वाली कम्म-पसंग—कार्य के अभ्यास से परिघोलण—चिन्तन से विसाला—विशाल साहुक्कार—साधुवाद फलवई—फलवाली कम्म-समुत्था—कर्म से उत्पन्न बुद्धी—बुद्धि—कर्मजा हवइ—होती है।

भावार्थ—उपयोग पूर्वक चिन्तन-मनन से कार्यों के लिए परिणाम को देखनेवाली, तथा अभ्यास और विचारने से विशाल एवं विद्वज्जनों से साधुवाद रूप फलवाली, इस तरह कार्य के अभ्यास से समुत्पन्न बुद्धि कर्मजा होती है।

३. कर्मजा बुद्धि के उदाहरण

मूलम्—२. हेरण्णिए[१] करिसय[२], कोलिय[३] डोवे[४] य मुत्ति[५] घय[६] पवए[७]।
तुन्नाय[८] वड्ढइ[९] य, पूयइ[१०] घड[११] चित्तकारे[१२] य ॥७७॥

छाया—२. हैरण्यकः[१] कर्षकः[२] कौलिकः[३], डोवः[४](दर्वीकारश्च) मौक्तिक[५]घृत[६]-प्लवकः[७]।
तुन्नागो[८] वर्द्धिकश्च[९], आपूपिकः[१०] घट[११]-चित्रकारौ[१२] च ॥७७॥

१. हैरण्यक-सुवर्णकार—सुनार अपने कार्य के विज्ञान से अन्धकार में भी हाथ के स्पर्श मात्र से सुवर्ण, रुप्यक आदि की भली-भांति परीक्षा कर लेता है।

२. कर्षक-किसान—कोई तस्कर चोरी करने गया, उसने वणिक के घर में सेंध इस ढंग से लगायी की दीवार में पद्म-कमल की आकृति वन गयी।

लोगों ने जव प्रातः उठकर सेंध के स्थल को देखा तो वे चोर की चतुरता की प्रशंसा करने लगे। चोर भी छिप कर वहां जन समूह में आ खड़ा हुआ और अपनी प्रशंसा लोगों से सुनने लगा। उसी जन समुदाय में एक किसान भी था, वह चोर की प्रशंसा सुन कर कहने लगा—"इसमें प्रशंसा या आश्चर्य की क्या वात है?" जिसका जिस विषय में अभ्यास है, उसके लिए कोई दुष्कर नहीं है।" चोर कृषक के इस वाक्य को सुनकर क्रोधाग्नि से जल उठा, तव चोर ने किसी से पूछा—"यह कौन है? और कहाँ रहता है?" चोर सव वातें पूछने के पश्चात् एक दिन तेजधार की छुरी लेकर खेत में पहुंच गया और कहने लगा—"अरे! मैं तुझे अभी समाप्त करता हूं।" किसान ने कारण पूछा। चोर ने कहा—"तू ने उस दिन मेरी खोदी हुई सेंध की प्रशंसा नहीं की थी, इस कारण।" कर्षक फिर वोला—"हाँ, यह सत्य है, जो व्यक्ति जिस कर्म या कार्य में सदा अभ्यस्त होता है, वह उस विषय में प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है। यह देखो, मैं ही यहाँ

अपना उदाहरण उपस्थित हूं। यदि तुम कहो तो हाथ के इन, मूंगों को मैं अधोमुख डाल दूं या ऊर्ध्वमुख अथवा पार्श्व से गिरा दूँ ?" चोर यह सुन कर अधिक विस्मित हो कहने लगा—"तो, इन सबको अधोमुख डाल दो।" किसान ने भूमि पर कपड़ा फैला कर मूंग के सभी दाने अधोमुख बिखेर दिये। यह देख चोर को आश्चर्य हुआ और बार-बार किसान की कुशलता की प्रशंसा करने लगा—" अहो तुम्हारा विज्ञान इत्यादि।" चोर ने जाते समय कहा कि "यदि मूंग अधोमुख न डाले होते तो मैंने तुझे निश्चय ही मार देना था। यह कर्षक और तस्कर की कर्मजा बुद्धि का उदाहरण है।

३. **कौलिक-जुलाहा**—जुलाहा अपने हाथ में सूत के तन्तुओं को लेकर ही बता देता है कि अमुक परिमाण कण्डों से कपड़ा तैयार हो जायेगा।

४. **डोव-कडच्छी**—बढ़ई—तरखान जानता है कि इस कड़च्छी में कितनी वस्तु आ सकेगी।

५. **मोती**—मणिकार मोतियों को इस प्रकार उच्छालता है कि यत्नपूर्वक नीचे रखे हुए सुअर के बालों में आकर पिरोये जाते हैं।

६. **घृत**—घृत के बेचने वाला इतना विशेषज्ञ हो जाता कि यदि चाहो तो शकट पर बैठा-बैठा भी नीचे कुण्डियों में घी डाल सकता है।

७. **प्लवक**—नट अपने कृत्य में इतना सिद्ध हस्त हो जाता है कि रस्सी पर कई प्रकार के खेल दिखाता है।

८. **तुण्णग**—दर्जी—दर्जी सीने में इतना अभ्यस्त हो जाता है कि पता नहीं चलता कि सीवन कहाँ है ?

९. **बड्ढई**—बढई अपने कर्त्तव्य में इतना प्रवीण होता है कि अमुक मकान, रथ आदि में कितनी लकड़ी लगेगी।

१०. **आपूपिक**—हलवाई बिना माप के ही किसी मिष्टान्न को बनाने में कितना द्रव्य लगेगा, जान लेता है।

११. **घट**—कुम्हार प्रतिदिन के अभ्यास से जो वस्तु निर्माण करनी हो, उतनी ही मिट्टी का पिंड उठाता है।

१२. **चित्रकार**—चित्रकार चित्र की भूमि को विना मापे ही तत्परिमाण स्थल का अनुमान कर तूलिका में भी अमुक परिमाण रंग लगाता है, जिससे अभीष्ट चिन्ह या आकार बन जाये।

ऊपर लिखे गये १२ उदाहरण कर्म से उत्पन्न बुद्धि के हैं।

४. पारिणामिकी बुद्धि का लक्षण

मूलम्—१. अणुमान-हेउ-दिट्ठंत साहिआ, वय-विवाग-परिणामा।
हिय-निस्सेयस फलवई, बुद्धी परिणामिया नाम ॥७८॥

छाया—१. अनुमान-हेतु-दृष्टान्त-साधिका, वयो-विपाकपरिणामा।
हित-निःश्रेयसफलवती, बुद्धिः पारिणामिकी नाम ॥७८॥

पदार्थ—अणुमान—अनुमान हेउ—हेतु दिट्ठंत—दृष्टान्त से साहिया—कार्य को सिद्ध करने वाली, वय—आयु के विवाग—विपाक के परिणामा—परिणाम से हिय—लोकहित निस्सेयस—मोक्ष फलवई—फल देने वाली, परिणामिया—पारिणामिकी नाम—नामक बुद्धी—बुद्धि कही गयी है।

भावार्थ—अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से कार्य को सिद्ध करने वाली, आयु के परिपक्व होने से पुष्ट, लोकहित करने वाली तथा कल्याण—मोक्षरूप फल वाली बुद्धि पारिणामकी कही गयी है।

४. पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण

मूलम्—२. अभए[१] सिट्ठी[२] कुमारे[३], देवी[४] उदियोदए हवइ राया[५]।
साहू य नंदिसेणे[६], धणदत्ते[७] सावग[८] अमच्चे[९] ॥७९॥

छाया—२. अभयः[१] श्रेष्ठिकुमारौ[२][३], देवी[४] उदितोदयो भवति राजा[५]।
साधुश्च नन्दिषेणः[६], धनदत्तः[७] श्रावको[८]ऽमात्यः[९] ॥७९॥

मूलम्—३. खमए[१०] अमच्चपुत्ते[११], चाणक्के[१२] चेव थूलभद्दे[१३] य।
नासिक्क सुंदरीनंदे[१४], वइरे[१५] परिणामिया बुद्धीए ॥८०॥

४. चलणाहण[१६] आमंडे[१७], मणी[१८] य सप्पे[१९] य खग्गि।
थूभिंदे[२१] परिणामिय-बुद्धीए[२२], एवमाई उदाहरणा ॥८१॥
से त्तं असुयनिस्सियं।

छाया— ३. क्षपको[१०]ऽमात्यपुत्रः[११] चाणक्यश्चैव[१३] स्थूलभद्रश्च।
नासिक्ये सुन्दरीनन्दः[१४], वज्रः[१५] पारिणामिकी-बुद्धचा ॥८०॥

४. चलनाहत[१६] आमलके[१७], मणिश्च[१८] सर्पश्च[१९] खङ्गि[२०]-स्तूपभेदः[२१]।
पारिणामिक्या बुद्धचा, एवमादीनि उदाहरणानि ॥८१॥
तदेतदश्रुतनिश्रितम्।

१. अभयकुमार—मालव देश में उज्जयिनी नाम की एक नगरी थी। राजा चण्डप्रद्योतन वहाँ राज्य करता था। एक बार उसने राजगृह नगर में महाराजा श्रेणिक को दूत द्वारा कहला भेजा कि यदि अपना और राज्य का कल्याण चाहते हो तो प्रसिद्ध वंकचूड़ हार, सींचानकगन्ध हस्ती, अभयकुमार और चेलना रानी को मेरे पास शीघ्र भेज दो। चण्डप्रद्योतन का यह सन्देश लेकर दूत राजगृह में पहुँचा और राजा श्रेणिक की सभा में उपस्थित होकर सन्देश को सुनाया। महाराजा श्रेणिक यह सुन कर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और दूत से कहा—क्योंकि दूत अवध्य होता है, इसलिए तुम्हें क्षमा करता हूँ। तथा तुम अपने राजा से जाकर कहना कि "यदि वह अपनी कुशलता चाहता है तो अग्निरथ, अनिलगिरि हाथी, वज्रजंघ दूत तथा शिवादेवी रानी इन को शीघ्र मेरे यहाँ पर भेज दो।" महाराजा श्रेणिक की आज्ञा दूत ने चण्डप्रद्योतन को जाकर सुनायी। इसको सुनकर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ और अपने अपमान का बदला लेने के लिए राजगृह पर बड़ी भारी सेना से चढ़ाई कर दी। राजगृह नगर के बाहिर जाकर घेरा डाल दिया। श्रेणिक को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने भी अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयारी की आज्ञा दे दी। युद्ध की तैयारी का समाचार सुनकर अभयकुमार अपने पिता श्रेणिक के पास आए और निवेदन किया—"महाराज ! आप युद्ध की तैयारी का कष्ट न कीजिए। मैं ऐसा उपाय करूंगा कि जिससे मौसा चण्डप्रद्योतन स्वयं प्रातः काल ही पीछे लौट जायेगा। राजा ने अभयकुमार की बात स्वीकार कर ली।

रात्रि को अभयकुमार अपने साथ पर्याप्त धन लेकर राजभवन से निकला और नगर के बाहिर जहां पर चण्डप्रद्योतन के सेनापति और अधिकारी वर्ग पडाव डाले हुए थे, उनके पीछे वह धन गड़वा दिया। और इसके पश्चात् वह राजा चण्डप्रद्योतन के पास पहुँचा। प्रणाम करके बोला—"मौसाजी ! आप और पिता जी मेरे लिए समादरणीय हैं। अतः आप से हित की एकबात कहना चाहता हूँ। मैं नहीं चाहता कि किसी के साथ धोखा हो।" राजा चण्डप्रद्योतन ने उत्सुकता से पूछा—"वत्स ! मेरे साथ क्या धोखा होने वाला है ? शीघ्र बताओ ? अभयकुमार ने उत्तर दिया—"पिता जी ने आप के बड़े-बड़े सेनापतियों और अधिकारियों को रिश्वत देकर अपने वश कर लिया है और प्रातःकाल होते ही आपको वन्दी बनाकर पिता जी के पास ले जायेंगे। यदि आपको विश्वास न हो तो उनके पास आया रिश्वत का धन गड़ा हुआ दिखा सकता हूं। यह कह कर अभयकुमार ने चण्डप्रद्योतन को अपने साथ ले जाकर धन दिखा दिया। यह देखकर राजा को विश्वास हो गया और वह शीघ्रता से रातों-रात घोड़े पर सवार हो कर उज्जयिनी में वापिस लौट गया।

प्रातःकाल होते ही जब सेनापति और मुख्याधिकारियों को यह ज्ञात हुआ कि राजा भागकर उज्जयिनी चला गया है तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। 'नायक के विना सेना लड़ नहीं सकती' यह सोचकर सेना समेत सभी उज्जयिनी वापिस लौट आए। वहाँ जाकर जब वे राजा से मिलने गए तो उसने धोखे-बाज़ समझकर उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। बहुत प्रार्थना और अनुनय-विनय करने पर राजा ने उन्हें मिलने की आज्ञा दी। राजा से मिलने पर अधिकारियों ने राजा से लौटने का कारण पूछा। राजा ने सारी बात उन्हें सुनायी। सुन कर वे बोले !"महाराज ! अभयकुमार बड़ा चतुर और बुद्धिमान् है, उसने आपको धोखा देकर अपना बचाव किया है, अन्य कोई ऐसी बात नहीं है।" यह सुन कर चण्डप्रद्योतन बहुत गुस्से में आगया और उन्हे आज्ञा दी कि "जो अभय कुमार को पकड़ कर मेरे पास लाएगा, मैं उसे बहुत-सा इनाम दूंगा।"

राजा चण्डप्रद्योतन की यह आज्ञा एक वेश्या ने सुनी और कपट-श्राविका बन कर राजगृह में गई। वहाँ जा कर रहने लगी। कुछ समय के बाद एक दिन उसने अभयकुमार को अपने यहाँ भोजने के लिए निमन्त्रित किया। श्राविका समझ कर अभयकुमार ने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया तथा भोजन का समय आने पर उसके घर पर चला गया। वेश्या ने भोजन में किसी मादक द्रव्य का प्रयोग कर रखा था, जिसे खाने के पश्चात् अभयकुमार मूर्छित हो गया। मूर्छित होते ही वेश्या उसे रथ पर बैठाकर उज्जयिनी ले गयी और राजा चण्डप्रद्योतन की सेवा में उपस्थित कर दिया। अपने पास अभयकुमार को देख कर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे कहा—"अभयकुमार ! तू ने मेरे साथ धोखा किया, किंतु मैंने भी किस चातुर्य से तुझे यहाँ मंगवा लिया।" अभयकुमार ने उत्तर दिया—"मौसाजी! आप अभिमान क्यों करते हैं ?" यदि मैं उज्जयिनी के बाजार के बीचों-बीच आपके सिर पर जूते मारते हुए राजगृह ले जाऊं, तब मुझे अभयकुमार समझना।" राजा ने अभयकुमार के इस कथन को उपहास में टाल दिया।

कुछ कालान्तर अभयकुमार ने राजा जैसे स्वर वाले किसी व्यक्ति की खोज की। जब ऐसा पुरुष मिल गया तो उसे अपने पास रखकर सारी बात उसे समझा दी। एक दिन अभयकुमार उस व्यक्ति को रथ पर बैठाकर उज्जयिनी के बाज़ार के बीचों-बीच उसके सिर पर जूते मारता हुआ निकला। वह व्यक्ति चिल्ला कर कहने लगा—अभयकुमार जूतों से पीट रहा है, मुझे छुड़ाओ ! मुझे बचाओ !! राजा जैसी आवाज़ सुनकर लोग उसे छुड़ाने को आए। लोगों के आते ही वह व्यक्ति और अभयकुमार खिल-खिला कर हंसने लगे। यह देखकर लोग स्वस्थान चले गए।

अभयकुमार लगातार पांच दिन तक इसी प्रकार करता रहा। लोग समझते कि अभयकुमार बाल-क्रीड़ा करता है, इस कारण उस व्यक्ति को छुड़ाने के लिए कोई भी नहीं आता।

एक दिन अवसर देखकर अभयकुमार ने चण्डद्योतन को बान्ध लिया और अपनी कुशलता से रथ पर बैठाकर बाज़ार के बीच उसके सिर पर जूते मारता हुआ निकला। चण्डप्रद्योतन चिल्लाने लगा—"दौड़ो ! दौड़ो !! पकड़ो ! पकड़ो !! अभयकुमार मुझे जूते मारता हुए ले जा रहा है।।" लोगों ने इसे भी प्रतिदिन की भांति बाल-क्रीड़ा ही समझा और कोई भी उसे छुड़ाने लिए नहीं आया। अभयकुमार चण्डप्रद्योतन को बान्ध कर राजगृह ले आया। इस व्यवहार पर चण्डप्रद्योतन मन ही मन में लज्जित हुआ। राजा श्रेणिक की सभा में उसे ले जाया गया और श्रेणिक के पांव में पड़कर अपने किए अपराध के लिए क्षमा मांगी। राजा श्रेणिक ने उसे सम्मान पूर्वक वापिस उज्जयिनी में पहुँचाया और वहाँ पर वह अपना राज्य करने लगा। चण्डप्रद्योतन को इस प्रकार पकड़ कर लाना यह अभयकुमार की पारिणामिकी बुद्धि थी।

२. सेठ—एक सेठ की स्त्री दुराचारिणी थी, इस दुःख से दुःखित हो कर उसने प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना प्रकट की और अपने पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर दीक्षित हो गया। संयमधारण के पश्चात् उसके पुत्र को जनता ने अपना राजा स्थापित कर दिया। पुत्र जिस समय राज्य कर रहा था, मुनि विहार करते-करते उसी नगर में आ गये। राजा की प्रार्थना पर मुनि जी ने चातुर्मास वहीं स्वीकार कर लिया, चातुर्मास में जनता मुनि जी के प्रवचन से अत्यधिक प्रभावित हुई। शासन की इस प्रकार प्रभावना को जैन शासन के विरोधी सह न सके और एक षड्यंत्र रचा। मुनि जब वर्षावास के पश्चात् विहार करने लगे तो द्वेषी एक गर्भवती दासी को ले कर आ गये। राजा और जनता के सामने पहिले से शिक्षित दासी कहने लगी—"अरे मुनि ! यह गर्भ तुम्हारा है, तुम विहार करके ग्रामान्तर में जा रहे हो, मेरा पीछे से

क्या बनेगा ?"ऐसा कहती हुई से जब मुनिजी ने सुना तो वे विचारने लगे—"मैं तो सर्वथा निष्कलङ्क हूं। यदि विहार करके चला गया तो इससे धर्म की हानि और अपयश होगा, उसे निवारण के लिए मुनि तत्काल ही बोल उठे—"यदि यह गर्भ मेरा हो तो योनि से सम्यक्तया उत्पन्न हो, अन्यथा उदर को फाड़कर निकले।" दासी के गर्भ का समय चूंकि सम्पूर्ण हो चुका था। अतः बच्चा पैदा नहीं हो रहा था। दासी को बहुत वेदना होने लगी। मुनि शक्ति सम्पन्न थे, इस कारण बच्चा पैदा न हुआ। दासी को मुनि जी की सेवामें ले जाया गया। उसने मुनि जी से क्षमा याचना की और कहा—"महाराज! मैंने आपके प्रति जो शब्द कहे थे, वे द्वेषियों के कथनानुसार ही कहे थे। आप महान् हैं, दयालु हैं, मेरा अपराध क्षमा करें और मुझे विपत्ति से मुक्त करें।" मुनि क्षमा के सागर थे। तपस्वी थे, अतः उन्होंने दासी को क्षमा कर दिया और बच्चा पैदा हो गया। विरोधी निराश हो गये और मुनि के प्रभाव से धर्म का सुयश होने लगा। मुनि ने धर्म का अवर्णवाद न होने दिया और दासी की भी जान बचा ली। यह मुनि की पारिणामिकी बुद्धि है।

३. कुमार—एक राजकुमार बालकपन से ही मोदकप्रिय था। वयस्क होने पर उसका विवाह हो गया। एक समय कोई उत्सव आया। उत्सव पर राजकुमार ने अत्युत्तम और स्वादिष्ट मिष्टान्न, पक्वान्न और मोदक आदि बनवाए। अपने संगी-साथियों के साथ इतना अतीव गृद्ध होकर पर्याप्त मात्रा में मोदक आदि खा गया, जिसके परिणाम स्वरूप उसे अजीर्ण हो गया। भोजन आदि न पचने से शरीर से दुर्गन्ध आने लगी और वह बहुत दुःखी होगया। तब राजकुमार विचारने लगा—"अहो! इतने सुन्दर और स्वादिष्ट भक्ष्य पदार्थ शरीर के संसर्ग मात्र से उच्छिष्ट और दुर्गन्धमय बन गये। अहो! यह शरीर अशुचि पदार्थों से बना है, इसके सम्पर्क में आने से प्रत्येक वस्तु अशुचि बन जाती है। अतः धिक्कार है, इस शरीर को, जिस के लिये मनुष्य पापाचरण करता है।" इस प्रकार अशुचि भावना का अनुसरण करते हुए, उसके अध्यवसाय उत्तरोत्तर शुभ, शुभतर होते गये और अन्तर्मुहूर्त में उसे केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। इत्यादि अशुचि भावना आना राजकुमार की पारिणामिकी बुद्धि है।

४. देवी—बहुत समय की बात है। पुष्पभद्र नाम का एक नगर था। वहां का राजा पुष्पकेतु था। उसकी रानी पुष्पावती थी। राजा का एक लड़का और एक लड़की थी। लड़के का नाम पुष्पचूल और कन्या का पुष्पचूला। भाई बहन का परस्पर अत्यन्त स्नेह था। दोनों के वयस्क होने पर माता का स्वर्गवास हो गया और वह देवलोक में पुष्पवती नामक देवी के रूप में उत्पन्न हो गयी।

पुष्पवती ने देवी रूप में अपने पूर्वभव को अवधिज्ञान से देखा और अपने परिवार को भी। उस के मन में आया कि मेरी पुत्री पुष्पचूला आत्मकल्याण के पथ को भूल न जाये, इस लिए उसे प्रतिबोध देना चाहिये। यह विचार कर पुष्पवती देवी ने अपनी पूर्व भव की पुत्री पुष्पचूला को रात्रि में नरक और स्वर्ग के स्वप्न दिखलाये। स्वप्न देख कर पुष्पचूला को प्रतिबोध हो गया और संसारी झंझट को छोड़ कर संयम ग्रहण कर लिया। तप, संयम, स्वाध्याय के साथ ही वह अन्य साध्वियों की वैयावृत्य में भी रस लेने लगी। शीघ्र ही घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर बहुत समय तक दीक्षापर्याय को पाल कर निर्वाण प्राप्त किया। पुष्पचूला को प्रतिबोध देने का पुष्पवती देवी की पारिणामिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

५. उदितोदय—परिमताल पुर में उदितोदय नामक राजा राज्य करता ...

उसकी रूप-यौवन सम्पन्न रानी थी। दोनों ही धर्मिष्ट थे। अतः दोनों ने श्रावकवृत्ति धारण की हुई थी। इस प्रकार वे धर्म के अनुसार अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर रहे थे।

एक बार अन्तःपुर में एक परिव्राजिका आयी और रानी जी को शुचि धर्म का उपदेश दिया। परन्तु रानी ने उस की ओर ध्यान न दिया! परिव्राजिका अपना अनादर समझ कर वहां से कुपित होकर चली गयी। उसने रानी से अपने अपमान का बदला लेने के लिये वाराणसी के राजा धर्मरुचि के पास श्रीकान्ता रानी की प्रशंसा की और वह उसे प्राप्त करने के लिये पुरिमतालपुर नगर पर अपनी सेना लेकर चढ़ आया तथा नगर को चारों ओर से घेर लिया। राजा उदितोदय ने विचारा कि यदि मैं युद्ध करता हूं, तो व्यर्थ में सहस्रों निरापराधियों का वध होगा। ऐसा विचार कर जनसंहार को रोकने के लिये वैश्रवण देव की आराधना के लिये अष्टमभक्त ग्रहण किया। अष्टमभक्त की परिसमाप्ति पर देव प्रकट हुआ। अपनी भावना देव से प्रकट की और फलस्वरूप देव ने रातों-रात वैक्रिय शक्ति से सम्पूर्ण नगर को अन्य स्थान में संहरण कर दिया। वाराणसी के राजा ने जब अगले दिन देखा तो वहां साफ मैदान पाया और हताश होकर अपने नगर में वापिस लौटा गया। राजा उदितोदय ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि से अपनी और जनता की रक्षा की।

६. साधु और नन्दिषेण—नन्दिषेण राजगृहके राजा श्रेणिक का सुपुत्र था। यौवनावस्था को प्राप्त होने पर श्रेणिक ने अनेक कुमारियों से उसका पाणिग्रहण कराया। नवोढाएं रूप और सौन्दर्य में अप्सराओं को भी पराजित करती थीं। नन्दिषेन उन के साथ सांसारिक भोग भोगते हुए समय व्यतीत करने लगा

उसी समय श्रमण भगवान महावीर राजगृह नगर में पधारे। भगवान के पधारने का समाचार महाराज श्रेणिक को मिला और वह अपने अन्तःपुर के साथ भगवान के दर्शनार्थ गया। नन्दिषेन ने भी इस समाचार को सुना और वह भी अपनी पत्नियों सहित दर्शनों को गया। उपस्थित जनता को भगवान ने धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुनने पर नन्दिषेण को वैराग्य हो गया, वह घर वापिस गया और माता-पिता से आज्ञा लेकर संयम धारण कर लिया। कुशाग्रबुद्धि होने से उसने थोड़े ही समय में अङ्गोपाङ्ग शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। पश्चात् उपदेश देने लगे और बहुत सी भव्यात्माओं को प्रतिबोध देकर दीक्षित किया। फिर भगवान् की आज्ञा से अपने शिष्यों सहित राजगृह से बाहिर विहार कर गये।

ग्रामानुग्राम विचरण करते समय मुनि नन्दिषेण के किसी शिष्य के मनमें संयमवृत्ति के प्रति अरुचि पैदा हो गयी और वह संयम को छोड़ देने का विचार करने लगा। शिष्य की संयम के प्रति अरुचि जान कर श्री नन्दिषेण ने उसे पुनः संयम में स्थिर करने का विचार किया और राजगृह की ओर विहार कर दिया।

मुनि नन्दिषेण के राजगृह पधारने के समाचार सुन कर महाराजा श्रेणिक अपने अन्तःपुर और नन्दिषेण कुमार की धर्म पत्नियों को साथ लेकर उनके दर्शन करने गया। स्त्रियों के अनुपमरूप यौवन को देख कर वह चंचलचित्त मुनि सोचने लगा—"मेरे गुरुवर्य धन्य हैं जो देव कन्याओं के सदृश्य अपनी पत्नियों और राजसी ठाठ और वैभव को छोड़ कर सम्यक्तया संयम की आराधना कर रहे हैं। और मुझे धिक्कार है जो वमन किये विषय-भोगों का परित्याग कर के पुनः असंयम की ओर प्रवृत्त हो रहा
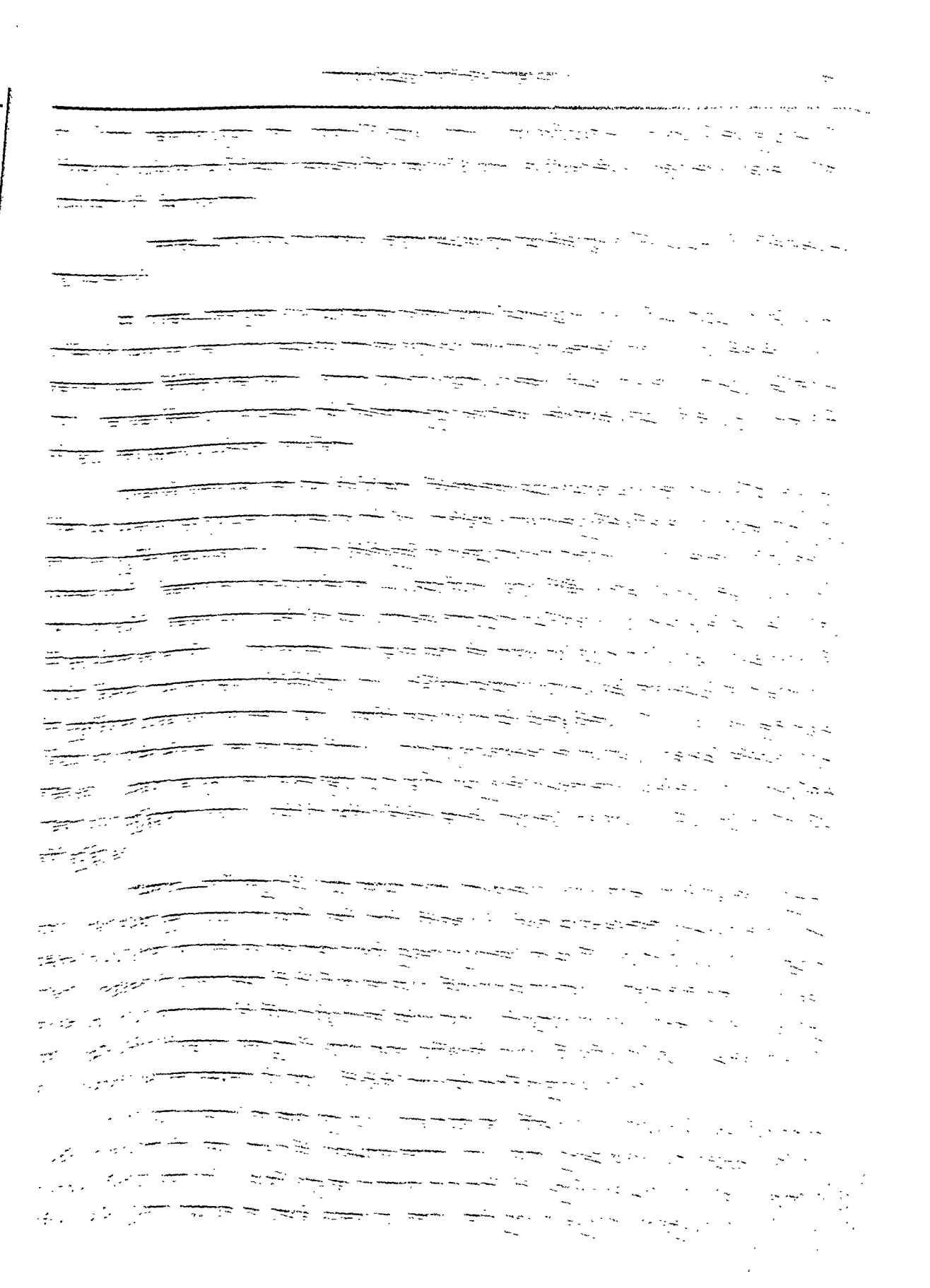
आदेश दिया। पुत्र ने माता का दुश्चरित्र सुना तो उसे क्रोध आया, उसे यह बात असह्य थी। राजकुमार ने माता को समझाने के लिये उपाय सोचा और वह एक कौआ और कोयल को पकड़ कर लाया। एक दिन अन्तःपुर में जाकर कहने लगा—"कि इन पक्षियों के समान जो वर्णशंकरत्व करेगा, मैं उसे अवश्य दण्ड दूंगा।" कुमार की बात सुन कर रानी से दीर्घपृष्ठ ने कहा—"यह कुमार जो कुछ कह रहा है, वह हमें लक्ष्य कर कहता है, मुझे कौआ और आप को कोयल बनाया है। यह हमें अवश्य दण्डित करेगा।" रानी ने कहा—"यह बालक है, इस की बात का ध्यान नहीं करना चाहिए।"

किसी दिन राजकुमार ने श्रेष्ठ हस्तिनी के साथ निकृष्ट हाथी को देखा, रानी और दीर्घपृष्ठ को लक्ष्य कर मृत्यु सूचक शब्द कहे। एक बार कुमार एक हंसनी और बगुले को पकड़ लाया और अन्तःपुर में जाकर तार स्वर में कहने लगा—"जो भी इनके सदृश रमण करेगा, उसे मैं मृत्यु दण्ड दूंगा।" कुमार के वचनों को सुन कर दीर्घपृष्ठ ने रानी से कहा—"देवी! यह कुमार जो कह रहा है, वह साभिप्राय है, बड़ा होकर अवश्य हमें दण्डित करेगा। नीति के अनुसार विषवृक्ष को पनपने नहीं देना चाहिए।" रानी ने भी समर्थन कर दिया। वे विचारने लगे कि ऐसा उपाय हो जिससे अपना कार्य सिद्ध हो जाए और लोक निन्दा भी न हो। यह विचार कर राजकुमार का विवाह करने का निर्णय किया और कुमार के निवास के लिये लाक्षागृह निर्माण करने का निश्चय किया तथा जब कुमार अपनी पत्नी सहित उस लाक्षागृह में सोने के लिये जायें तो उसमें आग लगा दी जाए, जिससे मार्ग निष्कण्टक हो जाए। कामान्ध रानी ने दीर्घपृष्ठ की बात को मान कर लाक्षागृह बनवाया और पुष्पचूल की कन्या से कुमार का विवाह कर दिया।

मन्त्री धनु को रानी और दीर्घपृष्ठ के षड्यन्त्र का पता चल गया। वह दीर्घपृष्ठ के पास जाकर कहने लगा—"स्वामिन्! मैं अब बूढ़ा हो गया हूं, शेष जीवन भगवद्भक्ति में व्यतीत करने की भावना है। मेरा पुत्र वरधनु अब सर्व प्रकार से योग्य हो गया है। अब आपकी सेवा वही करेगा। यह निवेदन कर मन्त्री वहां से चला गया और गङ्गा के किनारे दान शाला खोल कर दान देने लगा। दान शाला के बहाने उसने विश्वस्त पुरुषों से लाक्षागृह तक सुरङ्ग खुदवाई और साथ ही राजा पुष्पचूल को भी समाचार दे दिया। लाक्षागृह और विवाह सम्पन्न होने पर रात्रि के समय राजकुमार को उस घर में भेजा गया तदनन्तर अर्ध रात्रि के समय उस घर में आग लगा दी गयी, जो शीघ्र ही चारों ओर फैलने लगी। कुमार ब्रह्मदत्त ने जब आग को देखा तो वरधनु मंत्री से पूछा—"यह क्या बात है?" वरधनु ने रानी और दीर्घपृष्ठ का सारा षड्यंत्र कुमार को बतला दिया और कहा—"कुमार! आप घबरायें नहीं, मेरे पिता ने इस लाक्षागृह के नीचे सुरंग खुदवाई है जो गंगा के किनारे पर निकलती है, वहां दो घोड़े तैयार हैं जो आपको वहां से अभीष्ट स्थान पर ले जायेंगे। यह कह कर वे वहां से निकल गये और घोड़ों पर सवार होकर अनेक देशों में भ्रमण करने लगे। अपने बुद्धिबल से वीरता के अनेक कार्य किये और कई राज कन्याओं से विवाह किये तथा षट्खण्ड जीत कर चक्रवर्ती बने। धनु मन्त्री ने पारिणामिकी बुद्धि से लाक्षागृह के नीचे सुरंग बनवा कर राजकुमार ब्रह्मदत्त की रक्षा की।

१०. क्षपक—किसी समय एक तपस्वी साधु पारणे के दिन भिक्षा के लिये गया। लौटते समय मार्ग में उसके पैर के नीचे एक मेंढक आया और दब कर मर गया। शिष्य ने यह देख कर गुरु से शुद्धि करने के लिये प्रार्थना की किन्तु शिष्य की, बात पर तपस्वी ने ध्यान न दिया। सायंकाल प्रतिक्रमण के समय

शिष्य ने गुरु को मेंढक के मरने की बात याद कराई और प्रायश्चित्त लेने को कहा। परन्तु 'यह सुन कर तपस्वी को क्रोध आ गया और शिष्य को मारने के लिए उठा। मकान में अंधेरा था। अत: क्रोध के वशीभूत होकर कुछ भी दिखाई नहीं दिया और ज़ोर से स्तम्भ के साथ जा टकराया, टकराते ही तपस्वी की मृत्यु हो गई। मर कर वह तपस्वी ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यव कर दृष्टि-विष सर्प बना और जातिस्मरण ज्ञान से अपने पूर्व जन्म को देखा। तब वह पश्चात्ताप करने लगा कि मेरी दृष्टि से किसी प्राणी की घात न हो जाये। अत: वह प्राय: बिल में ही रहने लगा।

एक समय किसी राजपुत्र को किसी सांप ने काट खाया, जिससे तत्काल ही वह मर गया। इस कारण राजा को क्रोध आया और गारुडियों को बुला कर राज्य भर के सर्पों को पकड़ कर मारने की आज्ञा दी। सर्प पकड़ते समय वे उस दृष्टिविष के पास पहुंच गये और बिल पर ओषधि छिड़क दी, उसके प्रभाव से सर्प बाहिर आने लगा। "मेरी दृष्टि से मेरे मारने वालों का हनन न हो," इस उद्देश्य को सामने रख सर्प ने पूंछ को पहिले बाहिर निकाला। ज्यों-ज्यों वह बाहिर निकलता गया, वे उसके शरीर के टुकड़े करते गये। फिर भी सर्प ने समभाव रखा और मारने वालों पर किंचित्मात्र भी रोष नहीं किया। मरते समय परिणामों की शुद्धि के कारण वह उसी राजा के घर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम नागदत्त रखा गया। बाल्यावस्था में ही पूर्व के संस्कारों के कारण उसे वैराग्य हो गया और संयम धारण कर लिया। विनय, सरलता, क्षमा आदि असाधारण गुणों से वह मुनि देव-वन्दनीय हो गया। पूर्व भव में वह तिर्यंच था, अत: उसे भूख का परीषह अधिक पीड़ित करता, इसी कारण वह तपस्या करने में असमर्थ था।

उसी गच्छ में एक से एक अधिक चार तपस्वी थे। नागदत्त मुनि उन तपस्वियों की त्रिकरण से सेवा-भक्ति, वैयावृत्य करता था। एक बार नागदत्त मुनि की वन्दनार्थ देव आये। तपस्वियों को यह देख कर ईर्षाभाव उत्पन्न हो गया। एक दिन नागदत्त मुनि अपने लिये गोचरी लेकर आया। उसने विनय पूर्वक तपस्वी मुनियों को आहार दिखाया। परन्तु ईर्षावश उन्होंने उसमें थूक दिया। यह देख कर मुनि नागदत्त ने क्षमा धारण किये रखा, उसके मन में लेश मात्र भी रोष नहीं आया, वह अपनी निन्दा तथा तपस्वियों की प्रशंसा ही करता रहा। उपशान्त वृत्ति और परिणामों की विशुद्धता होने से नागदत्त मुनि को उसी समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवगण कैवल्य का उत्सव मनाने के लिए आये। यह देख तपस्वियों को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा और परिणामों की विशुद्धता से उन्हें भी केवलज्ञान हो गया। नागदत्त मुनि ने विपरीत परिस्थितियों में भी समता का आश्रयण किया, जिससे उसे कैवल्य उत्पन्न हुआ। यह नागदत्त मुनि की पारिणामिकी बुद्धि थी।

११. **अमात्यपुत्र**—काम्पिल्यपुर के राजा का नाम ब्रह्म, मन्त्री का धनु, राजकुमार का ब्रह्मदत्त और मन्त्रीपुत्र का नाम वरधनु था। राजा ब्रह्म की मृत्यु के पश्चात् राज्य का भार दीर्घपृष्ठ ने संभाला। रानी चुलनी का दीर्घपृष्ठ के साथ अनुचित सम्बन्ध हो गया। दीर्घपृष्ठ और रानी ने कुमार को अपने मार्ग में विघ्न समझ कर उसे समाप्त करने के लिए उसका विवाह कर लाक्षा महल में निवास करने का कार्यक्रम बनाया। कुमार का विवाह कर दिया और पति-पत्नी दोनों के साथ मन्त्री का पुत्र वरधनु भी लाक्षागृह में गया। आधी रात के समय पूर्व से शिक्षित दासों को भेजा और लाक्षाघर में आग लगा दी। तब मन्त्री द्वारा बनवाई गयी सुरंग से राजकुमार और वरधनु बाहिर निकल गये। भागते-भागते जब

वे एक जंगल में पहुंचे तो ब्रह्मदत्त को अत्यधिक प्यास लगी। राजकुमार को एक वृक्ष के नीचे बैठा कर वरधनु पानी लेने के लिए चला गया।

दीर्घपृष्ठ को जब ज्ञात हुआ तो राजकुमार और वरधनु को ढूंढने और पकड़ लाने के लिए उसने अपने सेवकों को भेजा। राजपुरुष खोज करते-करते उसी जंगल में पहुंच गए। वरधनु जिस समय सरोवर के पास पानी लेने के लिए पहुंचा तो राजपुरुषों ने उसे देखा और पकड़ लिया। अपने पकड़े जाने पर वरधनु ने ज़ोर से शब्द किया, जिसका संकेत पाकर राजकुमार भाग गया। राजपुरुषों ने वरधनु से राजकुमार का पता पूछा? परन्तु उसने कुछ न बताया तो उसे मारना-पीटना आरम्भ किया; जिससे वह निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा। राजपुरुष उसे मरा समझ वहां से चले गए। राजपुरुषों के चले जाने पर वरधनु वहां से उठा और राजकुमार को ढूंढने लगा, पर उसका कहीं पर पता न लगा और अपने सम्बन्धियों को मिलने के लिये वापिस घर पर आ गया। मार्ग में उसे संजीवन और निर्जीविन नामक दो ओषधियां मिलीं। कम्पिलपुर के पास जब वह पहुंचा तो उसे एक चाण्डाल मिला, जिसने वरधनु को बतलाया कि तुम्हारे परिवार के सभी व्यक्तियों को राजा ने बन्दी बना लिया है। यह सुनकर चाण्डाल को प्रलोभन देकर अपने वश करके उसे निर्जीविन ओषधि दी और शेष संकेत समझा दिये। आदेशानुसार चाण्डाल ने निर्जीविन ओषधि कुटुम्ब के मुखिया को दी और उसने अपने सभी कुटुम्ब की आँखों में उसे आँज दिया, जिससे वे तत्काल निर्जीव सदृश हो गये। मरा जान कर राजा ने चाण्डाल को उन्हें श्मशान में ले जाने की आज्ञा दी और वह वरधनु के संकेतानुसार यथोदिष्ट स्थान पर रख आया। वरधनु ने आकर उन सबकी आँखों में संजीवन ओषधि को आंजा और तत्काल सभी स्वस्थ होकर बैठ गये। वरधनु को अपने बीच देख वे बहुत प्रसन्न हुए। वरधनु ने सारा वृत्तान्त उनसे कहा और उनको अपने किसी सम्बन्धी के घर छोड़ कर स्वयं राजकुमार की खोज में निकला। बहुत दूर कहीं जंगल में राजकुमार को ढूंढ लिया। दोनों वहां से चले और अनेक राजाओं के साथ युद्ध करते हुए आगे बढ़ने लगे। अनेक कन्याओं से विवाह किया और छः खण्ड को जीत कर कम्पिलपुर में आये तथा दीर्घपृष्ठ को मार कर स्वयं राज्य को संभाला ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की ऋद्धि का उपभोग करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगा। मन्त्रीपुत्र वरधनु ने ब्रह्मदत्त तथा अपने कुटुम्ब की पारिणामिकी बुद्धि से रक्षा की।

१२. चाणक्य—पाटलिपुत्र के राजा नन्द ने कुपित होकर चाणक्य नामक ब्राह्मण को अपने नगर से निकल जाने की आज्ञा दी। चाणक्य संन्यासी का वेष धारण कर वहां से चल पड़ा और घूमता-फिरता हुआ मौर्य ग्राम में जा पहुँचा। उस ग्राम की किसी क्षत्राणी को चन्द्रपान का दौहृद उत्पन्न हुआ था। उसका पति असमञ्जस में पड़ गया कि किस प्रकार स्त्री की भावना पूरी की जाये? दोहला पूरा न होने से उसकी स्त्री प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। एक दिन संन्यासी के वेष में घूमते हुए चाणक्य से क्षत्री ने पूछा तब चाणक्य ने स्त्री का दोहला पूरा कर देने का वचन दिया। तत्पश्चात् ग्राम के बाहिर एक मण्डप बनवाया उसके ऊपर एक वस्त्र तान दिया गया। चाणक्य ने उस वस्त्र में चंद्राकार छिद्र निकाला और पूर्णिमा की रात्रि को छिद्र के नीचे थाली में पेय-पदार्थ रख दिया तथा क्षत्राणी को भी बुला लिया। जब चन्द्र उस छिद्र के ऊपर आया और उसका प्रतिबिम्ब थाली में पड़ने लगा तब चाणक्य ने स्त्री से कहा—"लो, यह चन्द्र है, इसे पी जाओ।" स्त्री प्रसन्नता से उसे पीने लगी, जैसे ही वह पी चुकी, ऊपर से छिद्र पर कपड़ा डाल कर बन्द कर दिया। चन्द्र का प्रकाश आना भी बन्द हो गया तो क्षत्राणी ने भी समझ

लिया कि मैं वास्तव में चन्द्रपान कर गयी हूं। अपने दौहृद को पूर्ण हुआ जान क्षत्राणी बहुत प्रसन्न हुई और पूर्ववत् स्वस्थ हो गई तथा सुख से गर्भ का पालन करने लगी। गर्भ का समय पूर्ण होने पर क्षत्राणी ने चन्द्र जैसे बच्चे को जन्म दिया। बच्चा गर्भ में आने पर माता को चन्द्र का दोहला उत्पन्न हुआ था। अतः उस बच्चे का नाम भी चन्द्रगुप्त रखा गया। चन्द्रगुप्त जब जवान हो गया तो उसने मन्त्री चाणक्य की सहायता से नन्द को मार कर पाटलिपुत्र का राज्य संभाला। क्षत्राणी को चन्द्रपान कराना चाणक्य की पारिणामिकी बुद्धि थी।

१३. **स्थूलभद्र**—पाटलिपुत्र में नन्द नामक राजा राज्य करता था। उसके मंत्री का नाम शकटार था। नन्द के स्थूलभद्र और श्रियक नाम के दो पुत्र थे तथा यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा नाम से सात कन्यायें थीं। उन कन्याओं की स्मरणशक्ति विलक्षण थी। यक्षा की स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि जिस बात को वह एक बार सुन लेती, उसे वह ज्यों की त्यों याद हो जाती। इसी प्रकार यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा भी क्रमशः दो, तीन, चार, पांच, छ और सात बार किसी बात को सुन लेतीं, तो उन्हें याद हो जाती थी।

उसी नगर में वररुचि नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह बहुत बड़ा विद्वान था। वह प्रतिदिन एक सौ आठ श्लोकों की रचना कर लाता और राजसभा में राजा नन्द की स्तुति करता। राजा नित्य नये श्लोकों द्वारा अपनी स्तुति सुनता और फिर मन्त्री की ओर देखता, किन्तु मन्त्री कुछ न कह कर चुप-चाप बैठा रहता। राजा मन्त्री को मौन देख कर वररुचि को कुछ भी पारितोषिक रूप में न देता और वर-रुचि प्रतिदिन खाली हाथ घर लौटता। वररुचि की स्त्री उसे उपालम्भ देती कि तुम कुछ भी कमाकर नहीं लाते, इस प्रकार घर का कार्य कैसे चलेगा ? स्त्री की बार-बार इस तरह की बातें सुन कर वररुचि ने सोचा—'जब तक मन्त्री राजा से कुछ न कहेगा, तब तक राजा कुछ भी न देगा।' यह सोच कर वह शकटार मन्त्री के घर गया और उसकी स्त्री की प्रशंसा करने लगा। स्त्री ने पूछा—"पण्डितराज ! आज यहाँ आप के आने का क्या प्रयोजन है ?" वररुचि ने उसके आगे सारी बात कह दी। स्त्री ने सब सुन कर कहा—"अच्छा, आज मन्त्री जी से मैं इस विषय में कहूँगी।" तत्पश्चात् वररुचि वहाँ से चला गया।

सायं काल शकटार की स्त्री ने उसे कहा—"स्वामिन् ! वररुचि प्रतिदिन एक सौ आठ नये श्लोको की रचना करके राजा की स्तुति करता है, क्या वे श्लोक आप को अच्छे नहीं लगते ?" उसने उत्तर में कहा—"मुझे अच्छे लगते हैं।" तब स्त्री ने कहा—"फिर आप पण्डित जी की प्रशंसा क्यों नहीं करते ?" उत्तर में मन्त्री बोला—"वह मिथ्यात्वी है, अतः मैं उसकी प्रशंसा नहीं करता।" स्त्री ने पुनः कहा—"नाथ ! यदि आप के कहने मात्र से किसी दीन का भला हो जाए तो इसमें हानि की कौन-सी बात है ?" "अच्छा, कल देखा जायेगा।" मन्त्री ने उत्तर दिया।

दूसरे दिन नित्य की भाँति वररुचि ने एक सौ आठ श्लोकों द्वारा राजा की स्तुति की। राजा ने मन्त्री की ओर देखा। मन्त्री ने कहा—"सुभाषित हैं।" ऐसा कहने पर राजा ने पंडित जी को एक सौ आठ सुवर्ण मुद्राएँ दीं और वह हर्षित होता हुआ अपने घर वापिस आगया। वररुचि के चले जाने पर, मन्त्री ने राजा से पूछा—"आज आप ने मोहरें क्यों दीं ?" राजा ने कहा—"वह प्रतिदिन नवीन श्लोक बना कर लाता है, और आज तुमने उसकी प्रशंसा की, इस कारण उसे पारितोषिक रूप में, मैंने मोहरें दे दीं।"

शकटार ने राजा से कहा—"महाराज ! वह तो लोक में प्रचलित पुराने ही श्लोकों को सुना देता है। राजा ने पूछा—"यह तुम कैसे कहते हो ?" मन्त्री बोला—"मैं सत्य कहता हूँ, जो श्लोक वररुचि सुनाता है, वे तो मेरी कन्यायें भी जानती हैं। यदि आप को विश्वास न हो तो कल ही वररुचि द्वारा सुनाये गये श्लोकों को मेरी कन्यायें आप को सुना देंगी। "राजा ने यह बात स्वीकार कर ली। अगले दिन अपनी कन्याओं को साथ लेकर मन्त्री राजसभा में आया और अपनी कन्याओं को पर्दे के पीछे बैठा दिया। तत्पश्चात् वररुचि राजसभा में आया और एक सौ आठ श्लोक पढ़ कर सुनाये। उसके बाद शकटार की बड़ी कन्या सामने आई और वररुचि के सुनाये हुए श्लोक ज्यों के त्यों सुना दिये। यह देख राजा वररुचि पर क्रुद्ध हुआ और उसे राजसभा से निकलवा दिया।

वररुचि इससे बहुत खिन्न हुआ और शकटार को अपमानित करने का निर्णय किया। वह लकड़ी का एक लम्बा तखता ले कर गंगा के किनारे गया। उसने लकड़ी का एक किनारा जल में डाल दिया और दूसरा बाहिर रखा। रात को उसने थैली में एक सौ आठ मोहरें डालीं और गंगा के किनारे जाकर जल निमग्न भाग पर थैली को रख दिया। प्रातःकाल होने पर वह सूखे भाग पर बैठ गया और गंगा की स्तुति करने लगा। जब स्तुति पूर्ण हो चुकी तो तखते को दबाया, जिससे थैली बाहिर आ गई। थैली दिखाते हुए उसने लोगों से कहा—'यदि राजा मुझे इनाम नहीं देता तो क्या हुआ, गंगा तो मुझे प्रसन्न होकर देती है।" ऐसा कहता हुआ वह वहाँ से चला गया। लोग वररुचि के इस कार्य को देख कर आश्चर्य करने लगे। जब शकटार को यह ज्ञात हुआ तो उसने खोज करके रहस्य को जान लिया।

जनता वररुचि के इस कार्य को देख कर उसकी प्रशंसा करने लगी और धीरे-धीरे यह बात राजा तक जा पहुँची। राजा ने शकटार से पूछा, तो मन्त्री बोला—"देव ! यह सब वररुचि का ढौंग है, इससे वह लोगों को भ्रम में डालता है। सुनी सुनाई बात पर एक दम विश्वास नहीं करना चाहिये।" राजा ने कहा ठीक है, कल हमें स्वयं गंगा के किनारे जा कर देखना चाहिये। मन्त्री ने इस बात को स्वीकार कर लिया।

घर आकर उसने अपने विश्वस्त सेवक को बुलाया और कहा जाओ और आज रात गंगा के किनारे छिप कर बैठे रहो। रात को वररुचि मोहरों की थैली रख कर जब चला जाये तो तुम वह उठा कर मेरे पास ले आना। सेवक ने वैसा ही किया। वह गंगा के किनारे छिप कर बैठ गया। आधी रात को वररुचि आया और पानी में मोहरों की थैली रख गया। नौकर वररुचि के जाने के पीछे वहाँ से थैली उठा लाया और मन्त्री को सौंप दी। प्रातःकाल वररुचि आया और नित्य की भाँति तखते पर बैठ कर स्तुति करने लगा। इतने में मंत्री और राजा दोनों वहाँ पर आ गये। स्तुति समाप्त होने पर जब तखते को दबाया तो थैली बाहिर नहीं आई। इतने में शकटार ने कहा—"पण्डितराज ! पानी में क्या देखते हो, आप की थैली तो मेरे पास है।" यह कह थैली सबको दिखाई और उसका रहस्य भी जनता को समझाया। मायावी, कपटी आदि शब्द कह कर लोग पण्डितजी की निन्दा करने लगे। वररुचि इससे लज्जित हुआ और मन्त्री से बदला लेने के लिए उसके छिद्र देखने लगा। कुछ समय पश्चात् शकटार अपने पुत्र श्रियक का विवाह करने की तैयारी में लग गया। मन्त्री विवाह की प्रसन्नता में राजा को भेंट करने के लिये शस्त्रास्त्र बनवाने लगा। वररुचि को भी इस बात का पता लगा और बदला लेने का अच्छा अवसर देख कर अपने शिष्यों को निम्नलिखित श्लोक स्मरण करवा दिया।

"तं न विजाणेइ लोओ, जं सकडालो करेस्सइ।
नन्दराउं मारेवि करि, सिरियउं रज्जे ठवेस्सइ॥"

अर्थात्—जनता इस बात को नहीं जानती कि शकटार मन्त्री क्या कर रहा है ? वह राजा नन्द को मार कर अपने लड़के श्रियक को राजा बनाना चाहता है। शिष्यों को यह श्लोक कण्ठस्थ करवा कर आज्ञा दी कि नगर में जा कर इसका प्रचार करो। शिष्य उसी प्रकार करने लगे। राजा ने भी एक दिन यह श्लोक सुन लिया और विचारने लगा कि मन्त्री के षड्यन्त्र का मुझे कोई पता ही नहीं है।

अगले दिन प्रातःकाल सदा की भाँति शकटार ने राजसभा में आ कर राजा को प्रणाम किया। परन्तु राजा ने मुंह फेर लिया। राजा का यह व्यवहार देख मन्त्री भय-भीत हुआ और घर में आकर सारी बात अपने लड़के श्रियक से कही। वह बोला—"पुत्र ! राजा का कोप भयंकर होता है, कुपित राजा वंश का नाश कर सकता है। इस लिए, हे पुत्र ! मेरा यह विचार है कि—कल प्रातःकाल जब मैं राजा को नमस्कार करने जाऊँ और यदि राजा मुंह फेर ले तो तू तलवार से मेरी उसी समय गर्दन काट देना।" पुत्र ने उत्तर दिया—"पिता जी ! मैं ऐसा घातक और लोक निन्दनीय नीच कार्य कैसे कर सकता हूँ ?" मन्त्री बोला—"पुत्र ! मैं उस समय तालपुट नामक विष मुंह में डाल लुंगा। मेरी मृत्यु तो उससे होगी किन्तु तलवार मारने से राजा का कोप तुम्हारे ऊपर नहीं होगा। इससे अपने वंश की रक्षा होगी। श्रियक ने वंश की रक्षार्थ पिता की आज्ञा को मान लिया।

अगले दिन मन्त्री अपने पुत्र श्रियक के साथ राजसभा में राजा को प्रणाम करने के लिये गया। मन्त्री को देखते ही राजा ने मुंह फेर लिया और ज्यों ही प्रणाम करने के लिए मन्त्री ने सिर झुकाया, उसी समय श्रियक ने तलवार गर्दन पर मार दी। यह देख राजा ने श्रियक से पूछा—"अरे! यह क्या कर दिया ?" उत्तर में श्रियक ने कहा—" देव ! जो व्यक्ति आप को इष्ट नहीं, वह हमें कैसे अच्छा लग सकता है ?" श्रियक के उत्तर से राजा प्रसन्न हो गया और श्रियक से कहा—"अब तुम मन्त्री पद को स्वीकार करो।" श्रियक ने कहा—"देव ! मैं मन्त्री नहीं बन सकता। क्योंकि मेरे से बड़ा भाई स्थूलभद्र है, जो बारह वर्ष से कोशा वेश्या के घर पर रहता है, वह इस पद का अधिकारी है।" श्रियक की बात सुन कर राजा ने अपने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि "कोशा के घर जाओ और स्थूलभद्र को सम्मान पूर्वक लाओ, उसे मन्त्री पद दिया जायेगा।"

राजकर्मचारी कोशा के पास गये और स्थूलभद्र से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। पिता की मृत्यु का समाचार सुन कर स्थूलभद्र को अत्यन्त दुःख हुआ। राजपुरुषों ने स्थूलभद्र से विनयपूर्वक प्रार्थना की—"हे महाभाग ! आप राजसभा में पधारें, महाराज आप को सादर बुला रहे हैं।" यह सुन कर स्थूलभद्र राज्यसभा में आया। राजा ने सम्मान से आसन पर बिठलाया और कहा—"तुम्हारे पिताजी की मृत्यु हो चुकी है, अतः तुम मन्त्री पद को सुशोभित करो।" राजा की आज्ञा सुन कर स्थूलभद्र विचारने लगा कि—"जो मन्त्रीपद मेरे पिता की मृत्यु का कारण बना, वह मेरे लिए हितकर कैसे हो सकता है? माया-धन संसार में दुःखों का कारण विपत्तियों का घर है, क्योंकि—

"मुद्रेयं खलु पारवश्यजननी, सौख्यच्छिदा देहिनां।
नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी, धर्मान्तरायावहा ॥
राजार्थैकपरैव सम्प्रति पुनः, स्वार्थप्रजार्थापहृत्।
तद्ब्रूमः किमतः परं मतिमतां, लोकद्वयापायकृत् ॥"

अर्थात्—यह धन स्वतन्त्रता का अपहरण करके परतन्त्र बनाने वाला है। मनुष्यों के सुख को नष्ट करने वाला है। सदैव कठोर कर्मबन्धन करने वाला है। धर्म में विघ्न डालने वाला है, और राजा लोग तो केवल धनार्थी होते हैं, वे अपने स्वार्थ के लिए प्रजा का धन हरण कर लेते हैं। हम मतिमानों को अधिक क्या कहें! यह माया दोनों लोक में दुःख देने वाली है।

इस प्रकार विचार करते २ स्थूलभद्र के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह आर्य सम्भूतविजय जी के पास आया और दीक्षा ग्रहण कर ली। स्थूलभद्र के दीक्षा ग्रहण करने पर श्रियक को मन्त्री बनाया और वह बड़ी कुशलता से राज्य को चलाने लगा।

मुनि स्थूलभद्र संयम धारण करने के पश्चात् ज्ञान-ध्यान में रत रहने लगे। ग्रामानुग्राम विचरते हुए स्थूलभद्र मुनि अपने गुरु के साथ पाटलिपुत्र पहुँचे। चातुर्मास का समय समीप देख गुरु ने वहीं वर्षा-वास विताने का निर्णय किया। उनके चार शिष्यों ने आकर अलग-अलग चतुर्मास करने की आज्ञा माँगी। एक ने सिंह की गुफा में, दूसरे ने सर्प के बिल पर, तीसरे ने कूंए के किनारे पर और स्थूलभद्र मुनि ने कोशा वेश्या के घर पर। गुरु ने उन्हें आज्ञा दे दी और वे अपने-अपने अभीष्ट स्थान पर चले गये।

देर से बिछड़े हुए अपने प्रेमी को देखकर कोशा बहुत प्रसन्न हुई। मुनि स्थूलभद्र ने कोशा से वहां ठहरने की आज्ञा माँगी। वेश्या ने अपनी चित्रशाला में स्थूलभद्रजी को ठहरने की आज्ञा देदी। वेश्या पूर्व की भान्ति श्रृंगार करके अपने हाव-भाव प्रदर्शित करने लगी। परन्तु वह अब पहिले वाला स्थूल-भद्र न था, जो उसके श्रृंगारमय कामुक प्रदर्शनों से विचलित हो जाये। वह तो कामभोगों को किम्पाक फल सदृश समझकर छोड़ चुका था। वह वैराग्य रंग से रञ्चित था। उसकी धमनियों में वैराग्य प्रवाहित हो चुका था। अतः वह शरीर से तो क्या मन से भी विचलित न हुआ। मुनि स्थूलभद्र के निर्विकार मुखमण्डल को देखकर वेश्या का विलासी हृदय शांत हो गया। तब अवसर देखकर मुनिजी ने कोशा को हृदयस्पर्शी उपदेश दिया, जिसे सुनकर कोशा को प्रतिबोध हो गया। उसने भोगों को दुःखों का कारण जान श्रावक वृत्ति धारण कर ली।

वर्षावास की समाप्ति पर सिंहगुफा, सर्पद्वार और कुएं के किनारे चतुर्मास करनेवाले मुनियों ने आकर गुरु के चरणों में नमस्कार किया। गुरुजी ने उनकी प्रशंसा करते हुए 'कृतदुष्करः' अर्थात् हे मुनियो! आपने 'दुष्कर कार्य किया।' परन्तु, जब मुनि स्थूलभद्र ने गुरु चरणों में आकर नमस्कार किया तब गुरु ने 'कृतदुष्कर-दुष्करः' का प्रयोग किया, अर्थात् हे मुने! तुमने 'अतिदुष्कर कार्य किया है।' स्थूल-भद्र के प्रति प्रयुक्त शब्दों पर तीनों मुनियों को ईर्षाभाव उत्पन्न हुआ।

जब अगला चतुर्मास आया तो सिंहगुफा में वर्षावास करनेवाले मुनि ने कोशा वेश्या के घर पर चतुर्मास की आज्ञा मांगी, किन्तु गुरु के आज्ञा न देने पर भी वह चतुर्मास के लिए कोशा के घर पर चला गया। वेश्या के रूप-लावण्य को देखकर मुनि का मन विचलित हो गया, वह वेश्या से प्रार्थना करने लगा।

वेश्या ने मुनि से कहा—"मुझे एक लाख मोहरें दो।" मुनि ने उत्तर दिया—"मैं तो भिक्षु हूं, मेरे पास धन कहां ? वेश्या ने फिर कहा—"नैपाल का राजा प्रत्येक साधु को एक रत्नकंबल देता है, उसका मूल्य एक लाख रुपया है। तुम वहां जाओ और मुझे एक कम्बल लाकर दो।" कामराग के वशीभूत वह मुनि नैपाल गया और कम्बल लेकर वापिस लौटा। परन्तु मार्ग में लौटते समय चोरों ने उससे वह छीन लिया। वह दूसरी बार फिर नैपाल गया और राजा से अपना वृत्तान्त कह कर पुनः कम्बल की याचना की। राजा ने उसकी प्रार्थना पुनः स्वीकार की और वह अबके रत्नकम्बल को बांस में छिपाकर वापिस लौटा। मार्ग में फिर चोर मिले; वे उसे लूटने लगे। मुनि ने कहा—"मैं तो भिक्षु हूं, मेरे पास कुछ नहीं है।" उसका उत्तर सुन चोर चले गये। मार्ग में भूख-प्यास और चलने के कष्ट तथा चोरों के दुर्व्यवहार को सहन कर वेश्या को रत्नकम्बल लाकर समर्पण किया। कोशा ने रत्नकम्बल लेकर अशुचि स्थान पर फेंक दिया। यह देखकर खिन्न हुए मुनि ने कोशा से कहा—"मैंने अनेक कष्टों को सहकर यह कम्बल तुम्हें लाकर दिया है और तुमने इसे यों ही फेंक दिया।" वेश्या बोली—हे मुने ! यह सब-कुछ, मैंने तुम्हें समझाने के लिए किया है। जिस प्रकार अशुचि में पड़ने से यह रत्नकम्बल दूषित हो गया है, उसी प्रकार काम-भोगों में पड़ने से तुम्हारी आत्मा मलिन हो जायेगी। मुने ! विचार करो, जिन विषय-भोगों को विषके समान समझ कर तुमने ठुकरा दिया था, अब पुनः उस वमन को स्वीकार करना चाहते हो, यह तुम्हारे पतन का कारण है, इसलिए संभलो और संयम का आराधन करने में तत्पर हो जाओ।" मुनि को वेश्या का उपदेश अंकुश सदृश लगा और अपने किए हुए पर पश्चात्ताप किया और कहने लगा—

"स्थूलभद्रः स्थूलभद्रः स एकोऽखिलसाधुषु।
युक्तं दुष्करदुष्करकारको गुरुणा जगे॥"

अर्थात्—"सब साधुओं में एक स्थूलभद्र मुनि ही दुष्कर-दुष्कर क्रिया करने वाला है, जो बारह वर्ष वेश्या की चित्रशाला में रहा और संयम धारण कर पुनः उसके मकान पर चतुर्मास करने गया तथा वेश्या के कामुक हाव-भाव दिखाने पर एवं कामभोग सेवन करने की प्रार्थना करने पर भी मेरु के समान अविचल रहा। इसी कारण गुरु ने जो 'दुष्करदुष्कर' शब्द स्थूलभद्र के लिए कहे थे, वे यथार्थ थे।" इस प्रकार कहने पर वह गुरु के पास आया और आलोचना करके शुद्धि की।

मुनि स्थूलभद्र के इसी दुष्कर-दुष्कर कार्य पर ही तो किसी ने कहा है—

"गिरौ गुहायां विजने वनान्ते, वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः।
हर्म्येऽतिरम्ये युवतिजनान्तिके, वशी स एकः शकटालनन्दनः॥"

इसी विषय में और भी कहा है—

"वेश्या रागवती सदा तदनुगा, षड्भी रसैर्भोजनं।
शुभ्रं धाममनोहरं वपुरहो ! नव्यो वयः संगमः॥
कालोऽयं जलदानिलस्तदपि यः, कामं जिगायादरात्।
तं वन्दे युवतिप्रबोधकुशलं, श्रीस्थूलभद्रं मुनिम्॥"

अर्थात्—पर्वत पर, पर्वत की गुफा में, श्मशान में, और वन में रहकर मन वश करनेवाले तो हजारों मुनि हैं, किन्तु सुन्दर स्त्रियों के समीप रमणीय महल के अन्दर रहकर यदि आत्मा को वश में रखनेवाला है, तो केवल एक स्थूलभद्र मुनि ही है—

प्रेम करनेवाली तथा उसमें अनुरक्त वेश्या, षड्रस भोजन, मनोहर महल, सुन्दर शरीर, तरुणावस्था, वर्षाऋतु का समय, इन सब सुविधाओं के होने पर भी जिसने कामदेव को जीत लिया, ऐसे वेश्या को प्रबोध देकर, धर्म मार्ग पर लाने वाले मुनि-स्थूलभद्र को मैं प्रणाम करता हूं।

राजा नन्द ने स्थूलभद्र को मन्त्री पद देने के लिये वहुत प्रयत्न किया, किन्तु भोगों को नाश और संसार के सम्बन्ध को दुःख का हेतु जान, उन्होंने मन्त्री पद को ठुकरा, संयम स्वीकार कर आत्मकल्याण में जीवन को लगाया, यह स्थूलभद्र की पारिणामिकी बुद्धि थी।

१४. नासिकपुर का सुन्दरीनन्द—नासिकपुर में एक सेठ रहता था, उसका नाम नन्द था। उसकी पत्नी का नाम सुन्दरी था। नाम के अनुसार वह बड़ी सुन्दरी भी थी। नन्द का उसके साथ बहुत प्रेम था। उसे वह अति बल्लभ और प्रिय थी। वह सेठ स्त्री में इतना अनुरक्त था कि क्षणभर के लिए भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकता था। इसी कारण लोग उसे सुन्दरीनन्द के नाम से पुकारते थे।

सुन्दरीनन्द का एक छोटा भाई था, जिसने दीक्षा धारण करली थी। जब मुनि को यह ज्ञात हुआ कि बड़ा भाई सुन्दरी में अत्यन्त आसक्त है, तो उसे प्रतिबोध देने के लिए नासिकपुर में आए। वहां आकर मुनि नगर के बाहिर उद्यान में ठहर गए। नगर की जनता धर्मोपदेश सुनने के लिये आई, किन्तु सुन्दरीनन्द नहीं गया। धर्मोपदेश के पश्चात् मुनि गोचरी के लिये नगर में पधारे। घूमते हुए अनुक्रम से वे अपने भाई के घर पर पहुंच गये। अपने भाई की स्थिति को देखकर मुनि को बहुत विचार हुआ और सोचने लगा कि यह स्त्री में अति लुब्ध है। अतः जब तक इससे अधिक प्रलोभन न दिया जायेगा, तब तक इसका अनुराग नहीं हट सकता। यह विचार कर मुनि ने वैक्रिय लब्धि द्वारा एक सुन्दर बानरी बनाई और नन्द से पूछा—"क्या यह सुन्दरी जैसी सुन्दर हैं ?" वह बोला—"यह सुन्दरी से आधी सुन्दर है", फिर विद्याधरी बनाई और पूछा—"यह कैसी है ?" नन्द ने कहा—"यह सुन्दरी जैसी है।" तत्पश्चात् मुनि ने देवी की विकुर्वणा की और भाई से पूछा—"यह कैसी है ?" वह बोला—"यह तो सुन्दरी से भी सुन्दर है।" मुनि ने तब फिर कहा—"यदि तुम धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण करो तो तुम्हें ऐसी अनेक सुन्दरियां प्राप्त हो सकती हैं।" मुनि के इस प्रकार प्रतिबोध से सुन्दरीनन्द का अपनी स्त्री में राग कम हो गया और कुछ समय पश्चात् उसने भी दीक्षा ले ली। अपने भाई को प्रतिबोध देने के लिए मुनि ने जो कार्य किया, वह उसकी पारिणामिकी बुद्धि थी।

१५. वज्रस्वामी—अवन्ती देश में तुम्बवन नामक सन्निवेश था। वहां एक धनी सेठ रहता था। उसके पुत्र का नाम धनगिरि था। उसका विवाह धनपाल सेठ की सुपुत्री सुनन्दा से हुआ। विवाह के कुछ ही दिनों पीछे धनगिरि दीक्षा लेने के लिये तैयार हो गया, किन्तु उस समय उसकी स्त्री ने रोक दिया। कुछ समय पश्चात् देवलोक से च्यवकर एक पुण्यवान् जीव सुनन्दा की कुक्षि में आया। धनगिरि ने सुनन्दा से कहा—"यह भावी पुत्र आपका जीवनाधार होगा, अतः मुझे दीक्षा की आज्ञा देदो।" धनगिरि की उत्कट वैराग्य भावना देख, सुनन्दा ने दीक्षा की आज्ञा दे दी। आज्ञा मिलने पर धनगिरि ने आचार्य श्री सिंहगिरि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। इसी आचार्य के पास सुनन्दा के भाई आर्यसमित ने पहिले ही दीक्षा ले रखी थी।

नौ मास पूर्ण होने पर सुनन्दा की गोद को एक अत्यन्त पुण्यशाली पुत्र ने अलंकृत किया। जिस समय बच्चे का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था, उस समय किसी स्त्री ने कहा—"यदि इस बालक के पिता

ने दीक्षा न ली होती तो अच्छा होता।" बालक बहुत मेधावी था, स्त्री के वचनों को सुनकर विचारने लगा कि—"मेरे पिता ने तो दीक्षा लेली है, मुझे अब क्या करना चाहिए ?" इस विषय पर चिन्तन-मनन करते हुए बालक को जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। वह विचारने लगा कि मुझे कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे मैं सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाऊं तथा माता को भी वैराग्य हो और वह भी इन बन्धनों से छूट जाये। इस प्रकार विचार कर बच्चे ने रात-दिन रोना आरम्भ कर दिया। माता ने उस का रोना बन्द करने के लिये अनेकों प्रयत्न किए, परन्तु निष्फल। माता इससे दु:खी हो गई।

इधर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए आचार्य सिंहगिरि पुनः तुम्बवन में पधारे। भिक्षा का समय होने पर गुरु की आज्ञा लेकर धनगिरि और आर्यसमित नगर में जाने लगे। उस समय के शुभ शकुनों को देख, गुरु ने शिष्यों से कहा—"आज तुम्हें कोई महान् लाभ होगा, इसलिये सचित्त-अचित्त जो भी भिक्षा में मिले तुम ग्रहण कर लेना।" गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके मुनि युगल नगर में चले गये।

सुनन्दा उस समय अपनी सखियों के साथ बैठी बालक को शान्त करने का प्रयत्न कर रही थी। उसी समय दोनों मुनि उधर आ निकले। मुनियों को देखकर सुनन्दा ने मुनि धनगिरि से कहा—"मुनिवर ! आज तक इसकी रक्षा मैं करती रही, अब इसे आप सम्भालिये और रक्षा करें।" यह सुनकर मुनि धन-गिरि पात्र निकालकर खड़े रहे और सुनन्दा ने बालक को पात्र में डाल दिया। श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति में बच्चे को मुनि ने ग्रहण कर लिया और उसी समय बालक ने रोना भी बन्द कर दिया। बालक को लेकर दोनों गुरु के पास वापिस चल दिए। भारी झोली उठाए हुए शिष्य को दूर से ही देख कर गुरु बोल उठे—"यह वज्र सदृश भारी पदार्थ क्या लाये हो ?" धनगिरि ने प्राप्त भिक्षा गुरु के चरणों में रखदी। अत्यन्त तेजस्वी और प्रतिभाशाली बालक को देखकर गुरु बहुत हर्षित हुए और बोले—"यह बालक शासन का आधारभूत होगा और उसका नाम वज्र रख दिया।

तत्पश्चात् लालन-पालन के लिए बच्चा संघ को सौंप आचार्य वहां से विहार कर गये। बच्चा दिनों-दिन बढ़ने लगा। कुछ दिनों के पीछे माता सुनन्दा अपना पुत्र वापिस लेने के लिए गई। परन्तु, संघ ने "यह दूसरों की धरोहर है।" यह कहकर देने से इनकार कर दिया।

किसी समय आचार्य सिंहगिरि अपने शिष्यों समेत फिर वहाँ पधारे। सुनन्दा आचार्य का आगमन सुनकर उनके पास बालक को मांगने गई। आचार्य के न देने पर वह राजा के पास पहुंची और अपना पुत्र वापिस लौटाने के लिए प्रार्थना की। राजा ने कहा—"एक तरफ बालक की माता बैठ जाए और दूसरी तरफ उसका पिता, बुलाने पर बालक जिधर चला जाए, वह उसी का होगा।"

राजा का यह निर्णय देने पर अगले दिन राजसभा में माता सुनन्दा अपने पास खाने-पीने के पदार्थ और बहुत-से खिलौने लेकर नगर निवासियों के साथ बैठ गई तथा एक ओर संघ के साथ आचार्य तथा धनगिरि आदि मुनि विराजमान हो गये। राजा ने उपस्थित जन समूह के सामने कहा—"पहिले बालक को उसका पिता बुलाए।" यह सुन कर नगर निवासियों ने कहा—"देव ! बच्चे की माता दया की पात्र है, पहिले उसे बुलाने की आज्ञा होनी चाहिए।" उपस्थित जनता की बात मान कर राजा ने पहिले माता को बुलाने की आज्ञा दी। आज्ञा प्राप्त कर माता ने बच्चे को बुलाया तथा उसे बहुत प्रलोभन, खिलौने और खाने पीने की वस्तुएं देकर अपने पास बुलाने का यत्न किया। बालक ने सोचा—"यदि मैं इस समय दृढ़ रहा तो माता का मोह दूर हो जायेगा और वह भी व्रत धारण कर लेगी, जिससे दोनों का

कल्याण होगा।" यह विचार बालक अपने स्थान से किञ्चिन्मात्र भी न हिला। तत्पश्चात् पिता से बालक को बुलाने के लिए कहा। पिता ने कहा—

"जइसि कयज्झवसाओ, धम्मज्झयमूसिअं इमं वइर !
गिण्ह लहुँ रयहरणं, कम्म रय पमज्जणं धीर !!"

अर्थात् हे वज्र ! यदि तुम ने निश्चय कर लिया है तो धर्माचरण का चिन्हभूत तथा कर्मरज को प्रमार्जन करने वाले इस रजोहरण को ग्रहण करो।

यह सुनते ही बालक मुनियों की ओर गया और रजोहरण उठा लिया। इस पर बालक साधुओं को सौंप दिया और राजा तथा संघ की आज्ञा से आचार्य ने उसी समय बालक को दीक्षा दे दी। यह देखकर, सुनन्दा ने विचारा—"मेरा भाई, पति और पुत्र सब संसारी बन्धनों को तोड़ कर दीक्षित हो गये हैं, अब मैं गृहस्थ में रह कर क्या करूंगी ?" तत्पश्चात् वह दीक्षित हो गई।

आचार्य सिंहगिरि बालक मुनि को कुछ अन्य साधुओं की सेवा में छोड़ कर अन्यत्र विहार कर गये। कालान्तर में बालक मुनि भी आचार्य की सेवा में चला गया और उनके साथ विहार करने लगा। आचार्य द्वारा मुनियों को वाचना देते समय वह बालक मुनि भी दत्तचित्त हो, सुनता और इसी तरह उसने ११ अङ्गों का ज्ञान स्थिर कर लिया और क्रमशः सुनते-सुनते ही पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक बार आचार्य शौच निवृत्ति के लिए गये हुए थे तथा अन्य साधु इधर उधर गोचरी आदि के लिए। उपाश्रय में वज्रमुनि अकेले ही रह गये थे। उन्होंने गोचरी आदि के वास्ते गये हुए साधुओं के वस्त्र-पात्र आदि को क्रमश: पंक्ति में स्थापित किया। और स्वयं मध्य में बैठ, उपकरण में शिष्यों की कल्पना करके शास्त्र वाचना देने लगे। आचार्य जब शौच आदि से निवृत्त होकर वापिस उपाश्रय में आ रहे थे, तब उन्होंने दूर से ही सूत्र वाचने की ध्वनि सुनी। आचार्य ने समीप आकर विचारा—"क्या शिष्य इतनी जल्दी गोचरी लेकर आ गये हैं ?" निकट आने पर आचार्य ने वज्रमुनि की ध्वनि को पहिचाना और अलक्षित हो कर वज्रमुनि का वाचना देने का ढंग देखते रहे। वाचना देने की शैली देख आचार्य आश्चर्य में पड़ गये। तत्पश्चात् साक्षात् वज्रमुनि को सावधान करने के लिए उच्च स्वर में नैषेधिकी २ उच्चारण किया। मुनि ने आचार्य का आगमन जान उपकरणों को यथास्थान रख कर विनय पूर्वक गुरु के चरणों पर लगी रज को पोंछा। इतनेमें अन्य मुनि भी आ गए और आहार आदि ग्रहण करके सब अपने-अपने आवश्यक कार्यों में निरत हो गए।

आचार्य ने विचारा कि यह वज्रमुनि श्रुतधर है। अत: इसे छोटा समझकर अन्य मुनि इस की अवज्ञा न कर दें, अत एव कुछ दिनों के लिए वहाँ से विहार कर दिया। आचार्य ने वाचना देने का कार्य वज्रमुनि को सौंपा और अन्य साधु विनय पूर्वक वाचना लेने लगे। वज्रमुनि आगमों के सूक्ष्म रहस्य को इस ढंग से समझाने लगे कि मन्दबुद्धि भी तत्त्वार्थ को सुगमता से हृदयंगम कर लेता। पहिले पढ़े हुए शास्त्रों में मुनियों को कइ प्रकार की शंकाएं थीं, उनको भी मुनि जी ने विस्तार से व्याख्या कर समझाया। साधुओं के मन में वज्रमुनि के प्रति आगाध भक्ति हो गई। थोड़े दिन विचरने के अनन्तर आचार्य पुन: उसी स्थान पर लौट आये। आचार्य ने वज्रमुनि की वाचना के विषय में साधुओं से पूछा। मुनि बोले—"आचार्य देव ! हमारी शास्त्र वाचना भली-भांति चल रही है, कृपा कर के वाचना का कार्य अब सदा के लिए वज्रमुनि को ही सौंप दीजिए।" आचार्य बोले—"आप लोगों का कथन ठीक है, वज्रमुनि के प्रति

आप का सद्भाव और विनय प्रशंसनीय है। मैंने भी वज्रमुनि का महात्म्य समझाने के लिए ही वाचना का कार्य उसे सौंपा था।" वज्रमुनि का यह समग्र श्रुतज्ञान गुरु से दिया हुआ नहीं, अपितु सुनने मात्र से प्राप्त हुआ है। गुरुमुख से ज्ञान ग्रहण किए बिना कोई वाचनागुरु नहीं बन सकता। अत: गुरु ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान वज्रमुनि को सिखला दिया।

ग्रामानुग्राम विहार-यात्रा करते हुए एक समय आचार्य दशपुर नगर में पधारे। उस समय आचार्य भद्रगुप्त वृद्धावस्था के कारण अवन्ती नगरी में स्थिरवास से विराजमान थे। आचार्य सिंहगिरि ने दो मुनियों के साथ वज्रमुनि को उनकी सेवा में भेजा। वज्रमुनि ने उनकी सेवा में रह कर दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। मुनिवज्र को आचार्य पद पर स्थापना कर आचार्य सिंहगिरि अनशन कर स्वर्ग सिधार गये।

आचार्य श्री वज्र ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश द्वारा जन-कल्याण में संलग्न हो गये। सुन्दर स्वरूप, शास्त्रीयज्ञान, विविध लब्धियों और आचार्य की अनेक विशेषताओं से आचार्य वज्र का प्रभाव दिग्दिगान्तरों में फैल गया। तत्पश्चात् चिरकाल तक संयम व्रत का अराधन कर पीछे अनशन द्वारा देवलोक में पधारे। वज्रमुनि जी का जन्म विक्रम संवत् २६ में हुआ था और संवत् ११४ वि० में स्वर्गवास हुआ। उनकी आयु ८८ वर्ष की थी। वज्रमुनि ने बचपन में ही माता के प्रेम की उपेक्षा कर संघ का बहुमान किया। ऐसा करने से माता का मोह भी दूर किया और स्वयं संयम ग्रहण कर शासन के प्रभाव को बढ़ाया। यह वज्रमुनि की पारिणामिकी बुद्धि थी।

१६. चरणाहत—एक राजा तरुण था। एकबार तरुण सेवकों ने आकर उससे प्रार्थना की—"देव ! आप तरुण हैं, इस कारण आपकी सेवा में नवयुवक ही होने चाहियें। वे आप का प्रत्येक कार्य योग्यता पूर्वक सम्पादित करेंगे। वृद्ध कार्यकर्त्ता अवस्था के परिपक्व होने से किसी काम को भी अच्छी तरह नहीं कर पाते। अत: वृद्ध लोग आप की सेवा में शोभा नहीं देते।

यह बात सुनकर नवयुवकों की बुद्धि की परीक्षा करने के लिए राजा ने उन से पूछा—"यदि मेरे सिर पर कोई व्यक्ति पैर का प्रहार करे, उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए ? नवयुवकों ने उत्तर में कहा—"महाराज ! ऐसे नीच को तिल-तिल जितना काट कर मरवा देना चाहिए।" वृद्धों से भी राजा ने यही प्रश्न किया। वृद्धों ने उत्तर दिया—"देव! हम विचार कर इसका उत्तर देंगे।', वृद्ध एकत्रित होकर विचारने लगे—"राजा के सिर पर रानी के अतिरिक्त अन्य कौन व्यक्ति है जो पैर का प्रहार कर सके ?" रानी तो विशेष सम्मान करने योग्य होती है। यह सोच, राजा के पास उपस्थित हुए और कहा—"महाराज ! जो व्यक्ति आप के सिर पर प्रहार करे, उसका विशेष आदर करके वस्त्राभूषणों से उसकी सेवा करनी चाहिए।" वृद्धों का उत्तर सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हीं को अपनी सेवा में रखा और प्रत्येक कार्य में उन्हीं की सहायता लेता। इससे राजा हर स्थान पर सफलता प्राप्त करता था। यह राजा और वृद्धों की पारिणामिकी बुद्धि है।

१७. आंवला—किसी कुम्हार ने एक व्यक्ति को कृत्रिम आंवला दिया। वह रंग-रूप, आकार-प्रकार और वजन में आंवले के समान ही था। आंवला लेकर पुरुष विचारने लगा—"यह आकृति आदि में तो आंवले जैसा ही है, किन्तु यह कठोर है और यह ऋतु भी आंवलों की नहीं है।" इस प्रकार उसने निर्णय किया कि असली नहीं, अपितु बनावटी है। यह उस पुरुष की पारिणामिकी बुद्धि है।

१८. मणि—जंगल में एक सर्प रहता था। उसके मस्तक पर मणि थी। वह रात्रि को वृक्षों पर चढ़कर पक्षियों के बच्चों को खाता था। एक दिन वह अपने भारी शरीर को न सम्भाल सकने से नीचे गिर पड़ा और सिर की मणि वृक्ष पर ही रह गयी। वृक्ष के नीचे एक कुआं था। मणि की प्रभा से उसका पानी लाल दिखायी देने लगा। प्रातः काल कुएं के पास खेलते हुए बालक ने यह दृश्य देखा। वह दौड़ा हुआ घर पर आया और अपने वृद्ध पिता से सारी बात कह सुनाई। बालक की बात सुन कर वह वृद्ध वृक्ष के पास आया और कुंए की अच्छी प्रकार से देख-भाल कर पता चला, तो वृक्ष पर मणि को देखा और उसे लेकर घर चला गया। यह वृद्ध की पारिणामिकी बुद्धि थी।

१९. सर्प—दीक्षा लेकर भगवान महावीर ने प्रथम वर्षावास अस्थिक ग्राम में विताया। चतुर्मासानन्तर भगवान विहार कर श्वेताम्बिका नगरी की ओर पधारने लगे। कुछ दूर जाने पर ग्वालों ने भगवान से प्रार्थना की—"भगवन् ! श्वेताम्बिका जाने के लिए यद्यपि यह मार्ग छोटा है, किन्तु मार्ग में एक दृष्टिविष सर्प रहता है, हो सकता है कि आप को मार्ग में उपसर्ग में आये।" बाल ग्वालों की बात सुन भगवान ने विचारा—'वह सर्प तो बोध पाने योग्य है', यह सोचकर उसी मार्ग से चले गये और सर्प के बिल के पास पहुंच गये तथा बिल के समीप ही कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। थोड़ी ही देर में सर्प बाहिर निकला। क्या देखता है कि यहां पर एक व्यक्ति मौन धारण किए खड़ा है। विचारने लगा—"यह कौन है, जो मेरे द्वार पर इस तरह निर्भीक होकर खड़ा है ?" यह सोच कर उसने अपनी विषाक्त दृष्टि भगवान पर डाली, किन्तु भगवान का इससे कुछ भी न बिगड़ा। अपने प्रयास में असफल होकर सर्प का क्रोध उग्र रूप धारण कर गया। और सूर्य की ओर देख कर पुनः विषैली दृष्टि भगवान पर फैंकी, किन्तु वह भी असफल रही। तब वह भगवान् के पास रोष से भरा हुआ आया और उनके चरण के अंगूठे को डस लिया। इस पर भी भगवान अपने ध्यान में तल्लीन रहे। अंगूठे के रक्त का आस्वाद सर्प को विलक्षण ही प्रतीत हुआ। वह सोचने लगा—"यह कोई सामान्य नहीं, अलौकिक पुरुष है।" यह विचारते ही सर्प का क्रोध शान्त हो गया। वह शान्त और कारुणिक दृष्टि से भगवान के सौम्य मुख मण्डल को देखने लगा। उपदेश का यह समय देख भगवान ने फर्माया—"चण्ड कौशिक ! बोध को प्राप्त हो, पूर्व भव को स्मरण करो।" "हे चण्ड कौशिक ! तुम ने पूर्व भव में दीक्षा ली थी। तुम एक साधु थे। पारणे के दिन गोचरी से लौटते समय तुम्हारे पैर से दब कर एक मेंडक मर गया, उस समय तुम्हारे शिष्य ने आलोचना करने के लिए कहा, किन्तु तुम ने ध्यान न दिया। गुरु महाराज तपस्वी हैं, सायं काल आलोचना कर लेंगे।' ऐसा विचार कर शिष्य मौन रहा। सायं काल प्रतिक्रमण के समय तुमने उस पाप की आलोचना नहीं की। 'संभव है गुरु महाराज आलोचना करना भूल गये हों।' इस सरल बुद्धि से तुम्हें शिष्य ने याद कराया। परन्तु शिष्य के वचन सुनते ही तुम्हें क्रोध आगया। क्रोध से उत्तप्त होकर तुम शिष्य को मारने के लिये उसकी ओर दौड़े, किन्तु बीच में स्थित स्तम्भ से जोर से टकराये, जिससे तुम्हारी मृत्यु हो गई।" "हे चण्ड कौशिक ! तुम वही हो। क्रोध में मृत्यु होने से तुम्हें यह योनि प्राप्त हुई। अब पुनः क्रोध के वशीभूत हो कर तुम अपना जन्म क्यों बिगाडते हो। समझो ! समझो !! प्रतिबोध को प्राप्त करो।"

भगवान् के उपदेश से उसी समय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चण्ड कौशिक को जाति स्मरण ज्ञान पैदा हो गया। अपने पूर्व भव को देखा और भगवान को पहचान कर विनय पूर्वक वन्दना की तथा अपने अपराध के लिये पश्चात्ताप करने लगा।

'जिस क्रोध से सर्प की योनि मिली, उस पर विजय प्राप्त करने के लिए तथा इस दृष्टि से अन्य किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचे।' इस लिए भगवान के समक्ष ही सर्प ने अनशन कर लिया तथा अपना मुंह विल में डाल कर शरीर बाहिर रहने दिया। थोड़ी देर के पीछे ग्वाले वहाँ आये और भगवान को कुशल पाया तो उन के आश्चर्य की सीमा न रही। सर्प को इस प्रकार देख, वे उस पर लकड़ी तथा पत्थर आदि से प्रहार करने लगे। चण्डकौशिक इस कष्ट को समभाव से सहन करता रहा। यह देख कर ग्वालोंने लोगों से जा कर सारी बात कही। बहुत से स्त्री-पुरुष उसे देखने के लिए आने लगे। कई ग्वालिनें दूध-घी से उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगीं। घृत आदि की सुगन्धि से सर्प पर बहुत-सी चींटियाँ चढ़ गयीं और काट-काट कर छलनी वना दिया। इन सभी कष्टों को सर्प अपने पूर्व कृत कर्मों का फल मान कर समभावपूर्वक सहता रहा। विचारता, कि ये कष्ट मेरे पापों की तुलना में कुछ भी नहीं। चींटियां मेरे भारी शरीर के नीचे दबकर मर न जाएं, इस लिए शरीर को तनिक भी नहीं हिलाया और सम भाव से वेदना को सहन कर पन्द्रह दिन का अनशन पूरा कर सहस्रार नामक आठवें देव लोक में उत्पन्न हुआ। भगवान महावीर के अलौकिक रक्त का आस्वादन कर चण्डकौशिक ने बोध को प्राप्त कर अपना जन्म सफल किया। यह उसकी पारिणामिकी बुद्धि थी।

२०. गेंडा—एक गृहस्थ था। युवावस्था में उसने श्रावक के व्रतों को धारण कर लिया। परन्तु यौवन अवस्था के कारण व्रतों को सम्यक्तया पालता नहीं था। इसी बीच वह रोग ग्रस्त हो गया और व्रतों की आलोचना नहीं कर पाया। धर्म से वह पतित हो, मरकर गैण्डे के रूप में जंगल में पैदा हो गया। वह क्रूर परिणामों से जंगल में अनेक जीवों की घात करने लगा और आते जाते मनुष्यों को भी मार डालता था।

एक बार उसी जंगल में से मुनि जन विहार करते हुए जा रहे थे। साधुओं को देखकर उसे क्रोध आया और उन पर आक्रमण के लिए आगे बढ़ा और उन पर आक्रमण करने का यत्न किया। परन्तु वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। मुनियों के तपस्तेज और अहिंसा धर्म के आगे उस का हिंसक बल निस्तेज और स्तम्भित हो गया। वह उन्हें देख कर विचार में पड़ गया कि यह क्या कारण है? यह सोचने पर उसका क्रोधावेश शान्त हो गया और विचार करते करते ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होते ही जाति स्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्व भव को जान कर अनशन कर दिया और आयुष्य कर्म पूरा होने पर देवलोक में उत्पन्न हो गया। यह गैण्डे की पारिणामिकी बुद्धि थी।

२१. स्तूप-भेदन—राजा श्रेणिक के छोटे पुत्र का नाम विहल्लकुमार था। महाराजा श्रेणिक ने अपने जीवन काल में ही विहल्लकुमार को सेचानक हाथी और अठारह-सार वङ्कचूड़ हार दे दिया था। विहल्ल कुमार अपनी रानियों के साथ हाथी पर सवार होकर सदैव गङ्गा तट पर जाता और अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता। हाथी रानियों को अपनी सूंड से उठा कर पानी में विविध प्रकार से उन का मनोरञ्जन करता। विहल्लकुमार और रानियों की इस प्रकार की मनोरञ्जक क्रीड़ाएं देख कर जनता के मुंहपर यह बात थी कि वास्तव में राज्य लक्ष्मी का उपभोग तो विहल्लकुमार ही करता है। जब यह समाचार राजा कुणिक की रानी पद्मावती ने सुना तो उस के मन में ईर्ष्या पैदा हुई और विचारने लगी—यदि सेचानक गन्धहस्ति मेरे पास नहीं है तो मैं रानी किस नाम की? अतः उसने हाथी लेने के लिए कुणिक से प्रार्थना की। कुणिक ने पहले तो उसकी बात को टाल दिया। परन्तु उसके बार-बार आग्रह करने पर विहल्लकुमार से हार और हाथी मांगे। विहल्लकुमार ने उत्तर में कहा—यदि आप

और हाथी लेना चाहते हैं, तो मेरे हिस्से का राज्य मुझे दे दीजिए। परन्तु कुणिक ने इस उचित बात पर ध्यान न रख कर उस से बलात् हार और हाथी छीनने का विचार किया। इस बात का पता लगने पर विहल्लकुमार हार-हाथी और अपने अन्त:पुर के साथ अपने नाना राजा चेड़ा के पास विशाला नगरी में चला गया। कुणिक ने दूत भेज कर चेड़ा राजा से विहल्लकुमार और अन्त:पुर सहित हार और हाथी को वापिस भेजने के लिए कहा।

दूत के द्वारा कुणिक का सन्देश सुन कर चेड़ा राजा ने उत्तर में कहा—कि जिस प्रकार कुणिक राजा श्रेणिक का पुत्र और चेलना रानी का आत्मज और मेरा दुहित्र है, वैसे ही विहल्लकुमार भी है। अपने जीवन काल में श्रेणिक ने दोनों हार और हाथी विहल्लकुमार को दिए हैं। यदि कुणिक इन्हें लेना चाहता है, तो विहल्लकुमार को राज्य का हिस्सा दे देवे। दूत ने राजा चेड़ा का सन्देश कुणिक को जाकर सुनाया, जिसे सुन कर वह गुस्से में आगया और दूत से पुन: कहा—राज्य में जो श्रेष्ठ वस्तुएं पैदा होती हैं। वे राजा की होती हैं, गन्ध हस्ती और वंकचूड़ हार मेरे राज्य में पैदा हुए हैं। अत: मैं उन का स्वामी हूं और उन का उपभोग करना मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है। अत:तुम जाओ और यह आज्ञा चेड़ा राजा से कह दो कि वह विहल्लकुमार और हाथी तथा हार को लौटा देवें अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाए।

दूत ने कुणिक का सन्देश चेड़ा राजा से कह सुनाया। चेड़ा राजा ने उत्तर दिया—यदि कुणिक अन्याय पूर्वक युद्ध करना चाहता है, तो न्याय के लिए मैं भी युद्ध करने को तैयार हूं। दूत ने चेड़ा राजा का सन्देश जाकर कुणिक को कह सुनाया। तत्पश्चात् राजा कुणिक अपने भाईयों और अपनी सेना को लेकर विशाला नगरी पर चढ़ाई करने के लिए चल दिया। उधर चेड़ा राजा ने अपने साथी राजाओं को बुला कर सब स्थिति को स्पष्ट किया। वे मित्र राजा भी चेड़ा राजा की न्यायसंगत बात सुन कर शरणागत की रक्षा के लिए और राजा चेड़ा की सहायता के लिए तैयार हो गए। दोनों पक्ष के राजा अपनी-अपनी सेना को लेकर युद्ध के मैदान में डट गए और घोर संग्राम हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप लाखों व्यक्तियों का निर्मम वध हुआ। राजा चेड़ा पराजित होकर विशाला नगरी में घुस गए और नगर के चारों ओर के द्वार बन्द करवा दिए। राजा कुणिक ने नगर के कोट को तोड़ने की अत्यन्त कोशिश की। परन्तु निष्फल। तभी आकाश वाणी हुई—"यदि कूलवालक साधु चारित्र से पतित होकर मागधिका वेश्या से गमन करे तो कुणिक राजा विशाला का कोट गिरा कर नगरी पर अधिकार कर सकता है।" कुणिक ने उसी समय राजगृह से मागधिका वेश्या को बुलाया और उसे सारी स्थिति समझा दी। वेश्या ने कुणिक की आज्ञा स्वीकार करके कूलवालक को लाने का वचन दिया।

किसी आचार्य का एक शिष्य था। आचार्य जब भी कोई हित शिक्षा उसे देते, तो उसका विपरीत अर्थ निकाल कर उलटा गुरु पर क्रोध करता। एक बार आचार्य के साथ वह साधु किसी पहाड़ी प्रदेश से जा रहा था, तो आचार्य पर द्वेष-बुद्धि से उन्हें मार देने के लिए पीछे से एक पत्थर लुढ़का दिया। आचार्य ने जब पत्थर आते देखा तो शीघ्रता से रास्ता बचा कर निकल गए। पत्थर नीचे जा गिरा। आचार्य, साधु के इस घृणित कृत्य को देख कर कोप में आकर कहने लगे—ओ दुष्ट! तेरी इतनी धृष्टता! इस प्रकार का जघन्य—नीच कार्य भी तू कर सकता है? अच्छा' तेरा पतन भी किसी स्त्री के द्वारा ही होगा। शिष्य सदैव गुरु की आज्ञा विरुद्ध कार्य करता था। अत: इस वचन को भी झूठा सिद्ध करने के

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान

मूलम्—से किं तं सुयनिस्सियं ? सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—१. उग्गहे, २. ईहा, ३. अवाओ, ४. धारणा ॥ सूत्र २७ ॥

छाया—अथ किं तत् श्रुतनिश्रितम् ? श्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. अवग्रहः, २. ईहा, ३. अवायः, ४. धारणा ॥ सूत्र २७ ॥

पदार्थ—**से किं तं सुयनिस्सियं ?**—वह श्रुतनिश्रित कितने प्रकार का है ? **सुयनिस्सियं**—श्रुतनिश्रित **चउव्विहं**—चार प्रकार से **पण्णत्तं**—प्रतिपादन किया है **तं जहा**—वह इस प्रकार है **उग्गहे**—अवग्रह **ईहा**—ईहा **अवाओ**—अवाय और **धारणा**—धारणा।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—गुरुदेव ! वह श्रुतनिश्रित कितने प्रकार का है ? गुरुजी ने उत्तर दिया—वह चार प्रकार से है, जैसे—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा। सूत्र २७ ॥

टीका—प्रस्तुत सूत्र में श्रुतनिश्रित मतिज्ञान का विषय वर्णन किया गया है। कभी तो मतिज्ञान स्वतंत्र कार्य करता है और कभी श्रुतज्ञान के सहयोग से। जब मतिज्ञान श्रुतज्ञान के निश्रित उत्पन्न होता है, तब उसके क्रमशः चार भेद हो जाते हैं, जैसे कि—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनकी संक्षेप में निम्न प्रकार से व्याख्या की जाती है, जैसे—

अवग्रह—जो अनिर्देश्य सामान्यमात्र रूप आदि अर्थों का ग्रहण किया जाता है अर्थात् जो नाम-जाति, विशेष्य-विशेषण आदि कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहा जाता है, ऐसा चूर्णिकार का अभिमत है।[1] इसी विषय में वादिदेवसूरि लिखते हैं, कि—विषय—पदार्थ और विषयी इन्द्रिय, नो-इन्द्रिय आदि का यथोचित देश में सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र को जानने वाला दर्शन उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सबसे पहिले मनुष्यत्व, जीवत्व, द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को जाननेवाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है।[2]

जैन आगमों में दो उपयोग वर्णन किए गए हैं—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। दूसरे शब्दों में इन्हीं को ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग भी कहा जाता है। यहां ज्ञानोपयोग का वर्णन करने के लिए उससे पूर्वभावी दर्शनोपयोग का भी उल्लेख किया गया है। ज्ञान की यह धारा उत्तरोत्तर विशेष की ओर झुकती जाती है।

ईहा—अवग्रह से उत्तर और अवाय से पूर्व सद्भूत अर्थ की पर्यालोचनरूप चेष्टा को ईहा कहते हैं

---

१. सामण्णस्स रूवादि-विसेसणरहियस्स अनिद्देसस्स अवग्गहणं अवग्गहो।

२. विषय-विषयि सन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यम्, अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तु-ग्रहणमवग्रहः। —प्रमाणनयतत्त्वालोक, परि० २, सू० ७।

अथवा अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की जिज्ञासा को ईहा कहते हैं।[1] या अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है, उसे ही ईहा कहते हैं।[2]

इस विषय को भाष्यकार ने बहुत ही अच्छी शैली से स्पष्ट किया है। अवग्रह में सत् और असत् दोनों प्रकार से ग्रहण हो जाता है, किन्तु उसकी छानबीन करके सद्रूप को ग्रहण करना और असद्रूप का परिवर्जन करना, यह ईहा का कार्य है।[3]

अवाय—उसी ईहितार्थ के निर्णय रूप जो अध्यवसाय हैं, उन्हें अवाय कहते हैं। अवाय, निश्चय, निर्णय, ये सब पर्यायान्तर नाम हैं। निश्चयात्मक एवं निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं। ईहा द्वारा जाने हुए पदार्थ में विशिष्ट का निर्णय हो जाना अवाय है।[4]

धारणा—निर्णीत अर्थ को धारण करना ही धारणा है। निश्चय कुछ काल तक स्थिर रहता है, फिर विषयान्तर में उपयोग चले जाने पर वह निश्चय लुप्त हो जाता है। पर उससे ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं, जिनसे भविष्य में कदाचित् कोई योग्य निमित्त मिल जाने पर निश्चित किए हुए उस विषय का स्मरण हो जाता है। जब अवायज्ञान, अत्यन्त दृढ़ हो जाता है, तब उसे धारणा कहते हैं।[5] धारणा तीन प्रकार की होती है, जैसे कि अविच्युति, वासना और स्मृति। अवाय में लगे हुए उपयोग से च्युति न होना उसे अविच्युति कहते हैं, वह अविच्युति अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रहती है। अविच्युति से उत्पन्न हुए संस्कार को वासना कहते हैं, वह संस्कार संख्यात, व असंख्यात काल पर्यन्त रह सकता है। कालान्तर में किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष करने से तथा किसी निमित्त के द्वारा संस्कार प्रबुद्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्मृति कहते हैं। जैसे कि कहा भी है—

"तदनन्तरं तदत्था विच्चवणं, जो उ वासणा जोगो।
कालान्तरेण जं पुण, अनुसरणं धारणा सा उ॥"

अवग्रह के बिना ईहा नहीं होती, ईहा के बिना निश्चय नहीं होता, निश्चय हुए बिना धारणा नहीं होती। सूत्र २७॥

१- अवग्रह

मूलम्—से किं तं उग्गहे? उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—१. अत्थुग्गहे य, २. वंजणुग्गहे य॥ सूत्र २८॥

---

१. अवगृहीतार्थ विशेषाकांक्षणमीहा। प्रमाण० मी० ॥८॥
२. तत्वार्थ सू०, पं० सुखलालजी कृत अनुवाद।
३. भूताभूतविशेषादानत्यागाभिमुखमीहा।
४. ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।
५. स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा।

(४-५) प्रमाणनयतत्त्वालोक, परिच्छेद २ सू० ६-१० वां।

छाया—अथ कः सोऽवग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—१. अर्थावग्रहश्च, २. व्यंजनावग्रहश्चः ।। सूत्र २८ ।।

पदार्थ—से किं तं उग्गहे ?—वह अवग्रह कितने प्रकार का है ? उग्गहे—अवग्रह दुविहे—दो प्रकार का पण्णत्ते—कहा गया है तंजहा—यथा अत्थुग्गहे य—अर्थावग्रह और वंजणुग्गहे य—व्यंजनावग्रह ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—देव ! वह अवग्रह कितने प्रकार का है ?

गुरुजी बोले—वह दो प्रकार का प्रतिपादन किया है, जैसे–१. अर्थावग्रह और २. व्यंजनावग्रह ।। सूत्र २८ ।।

टीका—इस सूत्रमें अवग्रह और उसके भेदों का निरूपण किया गया है । अवग्रह दो प्रकार का होता है, एक अर्थावग्रह, दूसरा व्यंजनाग्रह । अर्थ कहते हैं—वस्तुको, वस्तु और द्रव्य ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । द्रव्य में सामान्य विशेष दोनों धर्म रहते हैं । अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इनके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण नहीं होता, प्रायः पर्यायों का ही ग्रहण होता है । पर्याय से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण स्वतः हो जाता है । द्रव्य के एक अंश को पर्याय कहते हैं । जब तक आत्मा कर्मों से आवृत है, अशक्त है, तबतक उसे किसी के माध्यम से ज्ञान हो सकता है । शरीर में रहते हुए वह पांच इन्द्रियों एवं मन के द्वारा बाह्यवस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है । औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय से द्रव्येन्द्रियां प्राप्त होती हैं । ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से भावेन्द्रियें प्राप्त होती हैं ।

द्रव्येन्द्रियों के विना भावेन्द्रियां अकिंचित्कर हैं, एवं भावेन्द्रियों के बिना द्रव्येन्द्रियां । अतः जिस-जिस जीव को जितनी-जितनी इन्द्रियां मिली हैं, वह उतना-उतना उन इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता है । एकेन्द्रियजीव केवल स्पर्शन्द्रिय के द्वारा अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह करता है । अर्थावग्रह पटुक्रमी होता है और व्यंजनावग्रह मन्दक्रमी । अर्थावग्रह अभ्यस्तावस्था तथा विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है और व्यंजनावग्रह अनभ्यस्तावस्था तथा क्षयोपशम की मन्दता में होता है । अर्थावग्रह के द्वारा अत्यल्प समय में ही वस्तु की पर्याय का ग्रहण हो जाता है, किन्तु व्यंजनावग्रह में अत्यल्प समय में नहीं, अल्प समयों में पर्याय का "यह कुछ है" ज्ञान होता है । उपकरणेन्द्रिय और वस्तु के संयोग से व्यंजनावग्रह होता है । चक्षु और मन इन का अर्थावग्रह ही होता है, व्यंजनावग्रह नहीं । शेप चार इन्द्रियां वस्तु की पर्याय को अर्थावग्रह से भी ग्रहण करती हैं और व्यंजनावग्रह से भी । जैसे सुपुप्ति अवस्था में तथा मूर्छितावस्था में उपकरणेन्द्रिय और वाह्य वस्तु का सम्बन्ध होने से अव्यक्त मात्रा में ज्ञान होता है, यद्यपि उसका संवेदन प्रकट रूप में प्रतीत नहीं होता, तदपि अव्यक्तरूप होने से कोई दोपापत्ति नहीं है, क्योंकि व्यंजनावग्रह के पश्चात् वह ज्ञानमात्रा विकसित होती हुई, ईहा आदि रूप में परिणत हो जाती है, जैसे सर्पप में तेल मात्रा होने से ही सर्पप के समूह को पीडने से तेलधारा निकल पड़ती है, नतु सिक्ता आदि के समूह से । अतः सिद्ध हुआ व्यंजनावग्रह भी ज्ञानरूप है । सूत्रकार ने पहले अर्थावग्रह तदनु व्यंजनावग्रह कहा है, इस का कारण यही हो सकता है कि अर्थावग्रह सर्वेन्द्रिय और मनोभावी है, तद्वत् व्यंजनावग्रह नहीं । इनकी विशेष व्याख्या यथास्थान आगे की जाएगी ।। सूत्र २८ ।।

मूलम्—से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—१. सोइंदिअवंजणुग्गहे, २. घाणिंदियवंजणुग्गहे, ३. जिब्भिंदियवंजणुग्गहे, ४. फासिंदियवंजणुग्गहे, से त्तं वंजणुग्गहे ॥सूत्र २९॥

छाया—अथ कः स व्यञ्जनावग्रहः ? व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—१. श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः, २. घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः, ३. जिह्वेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः, ४. स्पर्शेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः, स एष व्यञ्जनावग्रहः ॥सूत्र २९॥

पदार्थ—से किं तं वंजणुग्गहे ?—वह व्यञ्जनावग्रह कितने प्रकार का है ? वंजणुग्गहे—व्यञ्जनावग्रह चउव्विहे—चार प्रकार का पण्णत्ते—कहा गया है, तं जहा—यथा सोइंदिअवंजणुग्गहे—श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह घाणिंदियवंजणुग्गहे—घ्राणेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह जिब्भिंदियवंजणुग्गहे—जिह्वेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह फासिंदियवंजणुग्गहे—स्पर्शेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह। से त्तं—वह इस प्रकार वंजणुग्गहे—व्यञ्जनावग्रह कहा गया है।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—देव ! वह व्यञ्जन-अवग्रह कितने प्रकार का है ? गुरु जी उत्तर में बोले—वह चार प्रकार से प्रतिपादन किया है, जैसे—१. श्रोत्रेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह, २. घ्राणेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह, ३. जिह्वेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह, ४. स्पर्शेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह। यह व्यञ्जन अवग्रह हुआ ॥सूत्र २९॥

टीका—इस सूत्र में व्यंजनावग्रह का निरूपण किया गया है। चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। श्रोत्रेन्द्रिय अपने विषय को केवल स्पृष्ट होने मात्र से ही ग्रहण करती है। स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियां अपने विषय को बद्ध स्पृष्ट होने पर ग्रहण करती हैं। जब तक रस का रसनेन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक रसनेन्द्रिय का अवग्रह नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य-अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। किन्तु चक्षु और मन ये अपने विषय को न स्पृष्ट से और न बद्ध-स्पृष्ट से अपितु दूर से ही ग्रहण करते हैं। नेत्र में डाले हुए अंजन को या पड़े हुए रज-कण को नेत्र स्वयं नहीं देख सकते, इसी प्रकार मन भी शरीर के अन्दर रहे हुए मांस, अस्थि-रक्त आदि को विषय नहीं कर सकता, किन्तु वह दूर रहे हुई वस्तु का चिन्तन स्वस्थान में ही कर लेता है। अपने विषय को वह दूर से ही ग्रहण कर लेता है। यह विशेषता चक्षु और मन में ही है, अन्य इन्द्रियों में नहीं है। इसी कारण चक्षु और मन को अप्राप्यकारी कहा है, क्योंकि इन पर विषयकृत अनुग्रह-उपघात नहीं होता, जब कि चारों पर होता है।

बौद्ध श्रोत्रेन्द्रिय को भी अप्राप्यकारी मानते हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय विषयकृत अनुग्रह—उपघात से प्रभावित होती है, घ्राणेन्द्रियवत्। अतः यह इन्द्रिय अप्राप्यकारी नहीं है। वृत्तिकार ने इस विषय पर स्पर्श-अस्पर्श का उदाहरण दिया है, जो कि बड़ा ही मनोरंजक है, उसका भाव यह है कि चाण्डाल और श्रोत्रिय ब्राह्मण का परस्पर शब्द आदि का सम्बन्ध

होने पर स्पर्श-अस्पर्श व्यवस्था कहां रह सकती है ? जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए वृत्ति का पाठ ज्यों का त्यों यहां उद्धृत किया जाता है—

"यद्यपि चोक्तं—चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोति—इति, तदपि चेतनाविकलपुरुषभाषितमिवासमीचीनं, स्पर्श-अस्पर्शव्यवस्थाया लोके काल्पनिकत्वात्, तथाहि न स्पर्शव्यवस्था लोके पारमार्थिकी, तथाहि यामेव भुवमग्रे चण्डालः स्पृशन् प्रयाति, तामेव पृष्ठतः श्रोत्रियोऽपि, तथा यामेव नावमारोहति स्म चाण्डालस्तामेवारोहति श्रोत्रियोऽपि, तथा स एव मारुतश्चाण्डालमपि स्पृष्ट्वा श्रोत्रियमपि स्पृशति, न च तत्र लोके स्पर्शास्पर्शदोषव्यवस्था। तथा शब्दपुद्गलस्पर्शेऽपि न भवतीति न कश्चिद्दोषः, अपि च यथा केतकीदलनिचयं शतपत्रादिपुष्पनिचयं वा शिरसि निबध्य वपुषि वा मृगमदचन्दनाद्यवलेपनमारचय्य विपणि—वीथ्यामागत्य चाण्डालोऽवतिष्ठते तदा तद्गतकेतकीदलादिगन्धपुद्गलाः श्रोत्रियादिनासिकास्वपि प्रविशन्ति, ततस्तत्रापि चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तद् दोषभयान्नासिकेन्द्रियमप्राप्यकारि प्रतिपत्तव्यं, न चैतद्भवतोऽप्यागमे प्रतिपाद्यते, ततो बालिशजल्पितमेतदिति कृतं प्रसङ्गेन"।

वृत्तिकार ने स्पर्श-अस्पर्श व्यवस्था और शब्द को पुद्गल जन्य सिद्ध करके बड़े ही मनोरञ्जक भाव प्रकट किए हैं।

कुछ एक दर्शनकार शब्द को आकाश का गुण मानते हैं।[1] उनका यह कथन युक्तिसंगत न होने से अप्रामाणिक माना जाता है, क्योंकि शब्द ऐन्द्रियक है और आकाश अतीन्द्रिय। नियम यह है, कि यदि द्रव्य अतीन्द्रिय है तो उसके गुण भी अतीन्द्रिय ही होंगे, जैसे कि आत्मा अतीन्द्रिय है, तो उसके चेतनादि गुण भी अतीन्द्रिय हैं। यदि द्रव्य ऐन्द्रियक हो, तो उसके गुण भी नियमेन ऐन्द्रियक ही होते हैं, जैसे—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु आदि ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष हैं, वैसे ही उनके गुण भी क्रमशः गन्ध, शीत, ऊष्ण, स्पर्श आदि भी ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष हैं। इस पर वृत्तिकार मलयगिरि जी निम्न प्रकार से लिखते हैं—

"आकाशगुणतायां शब्दस्यामूर्त्तत्वप्रसक्तेः, यो हि यद् गुणः, स तत्समानधर्मा, यथा ज्ञानमात्मनः, तथाहि—अमूर्त आत्मा, ततस्तद्गुणो ज्ञानमप्यमूर्त्तमेव, एवं शब्दोऽपि यद्याकाशगुणस्तर्ह्याकाशस्यामूर्त्तत्वाच्छब्दस्यापि तद्गुणत्वेनामूर्त्तता भवेत्।"

इसका सारांश यह है, कि आत्मा के समान अमूर्तिक पदार्थ आकाश को माना गया है। जब गुणी अमूर्तिक हो, तब उसका गुण मूर्तिक कैसे हो सकता है ? शब्द ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष, मूर्तिक एवं स्पर्श वाला होने से, उसे पुद्गल की पर्याय मानना ही युक्तियुक्त है। जैसे कि कहा भी है—

"स्पर्शवन्तः शब्दाः, तत्सम्पर्कादुपघातदर्शनाल्लोष्टवत्, न चायमसिद्धो हेतुः, यतो दृश्यते सद्योजातबालकानां कर्णदेशाभ्यर्णीकृतगाढास्फालितझल्लरीझात्कार-श्रवणतः श्रवणस्फोटो, न चेत्थमुपघातकृत्त्वमस्पर्शवत्त्वेसम्भवति।"

अतः सिद्ध हुआ कि शब्द स्पर्शवाला है। मेघ-गर्जन आदि प्रबल शब्द से जन्म-जात बालक के कान के पर्दे फट जाते हैं। यदि शब्द स्पर्श वाला न होता तो वह किसी के कानों के पर्दों की घात कैसे कर सकता है ? सारांश यह है, कि शब्द पुद्गल की पर्याय है। सूत्रकार ने व्यञ्जनावग्रह के चार भेद किए हैं, चक्षु और मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं होता ॥सूत्र २६॥

---

१. शब्दगुणकमाकाशम्, तर्कसंग्रहः।

मूलम्—से किं तं अत्थुग्गहे? अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—१. सोइंदिय-अत्थुग्गहे, २. चक्खिंदिय-अत्थुग्गहे, ३. घाणिंदिय-अत्थुग्गहे, ४. जिब्भिंदिय-अत्थुग्गहे, ५. फासिंदिय-अत्थुग्गहे, ६. नोइंदिय-अत्थुग्गहे ॥सूत्र ३०॥

छाया—अथ कोऽसावर्थावग्रहः? अर्थावग्रहः षड्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा— १. श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहः, २. चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रहः, ३. घ्राणेन्द्रियार्थावग्रहः, ४. जिह्वेन्द्रियार्थावग्रहः, ५. स्पर्शेन्द्रियार्थावग्रहः, ६. नोइन्द्रियार्थावग्रहः ॥सूत्र ३०॥

भावार्थ—गुरु से शिष्य ने फिर पूछा—भगवन् ! वह अर्थावग्रह कितने प्रकार का है? गुरुजी बोले—वह छः प्रकार से वर्णित है, यथा—१. श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, २. चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह, ३. घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ४. जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ५. स्पर्शेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ६. नोइन्द्रिय-अर्थावग्रह ॥सूत्र ३०॥

टीका—इस सूत्र में अर्थावग्रह के ६ भेदों का उल्लेख किया गया है। जो सामान्य मात्र रूपादि अर्थों का ग्रहण होता है, उसी को अर्थावग्रह कहते हैं, जैसे छोटी चिंगारी का सद् प्रयत्न से प्रकाशपुञ्ज बनाया जा सकता है तथा छोटे चित्र से बड़ा चित्र बनाया जा सकता है। वैसे ही सामान्यावबोध होने पर विचार-विमर्श, चिन्तन-मनन, निदिध्यासन, अनुप्रेक्षा से उस सामान्यावबोध का विराट् रूप बनाया जा सकता है। जब अवग्रह ही नहीं हुआ, तो ईहा का प्रवेश कैसे हो सकता है? जो अर्थ की पहली धुंधली सी झलक अनुभव होती है, वही अर्थावग्रह है।

'नो इंदिय अत्थुग्गहे'—जो सूत्रकार ने यह पद दिया है, इसका अर्थ मन है। मन भी दो प्रकार का होता है—द्रव्य रूप और भाव रूप।

मनःपर्याप्ति नाम कर्मोदय से जीव में वह शक्ति पैदा होती है, जिसके द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके द्रव्य मन की रचना की जाती है, जैसे योग्य आहार आदि से देह पुष्ट होता है, तभी वह कार्य करने में समर्थ होता है, वैसे ही जब मन से काम लिया जाता है, तब वह मनोवर्गणा के नए नए पुद्गलों को ग्रहण करता है, बिना ग्रहण किए, वह कार्य करने में समर्थ नहीं होता। अतः उसे द्रव्य मन कहते हैं। इसी प्रकार चूर्णिकार जी भी लिखते हैं—

'मणपज्जत्तिनामकम्मोदयओ तज्जोगे मणोदव्वे घेत्तुं मणत्तणेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भण्णइ' द्रव्यमन के होते हुए जीव का मनन रूप जो परिणाम है, उसी को भाव मन कहते हैं। इसी प्रकार भाव मन के विषय में चूर्णिकारजी लिखते हैं—"जीवो पुण मण परिणामकिरियावन्नो भावमणो किं भणियं होइ? मणदव्वालंबणो जीवस्स मणणवावारो भावमणो भण्णइ।" यहां भाव मन का ही ग्रहण किया गया है। भावमन के ग्रहण करने से द्रव्यमन का भी ग्रहण हो जाता है। द्रव्य मन के बिना भाव मन का कार्यान्वित नहीं हो सकता। भाव मन के बिना द्रव्य मन हो सकता है, जैसे भवस्थ केवली के द्रव्यमन होता है। जब वह इन्द्रियों के व्यापार से निरपेक्ष काम करता है, तब नोइन्द्रिय अर्थावग्रहण होता है, अन्यथा वह इन्द्रियों का सहयोगी बना रहता है। जब वह मनन अभिमुख एक सामयिक रूपादि अर्थों का पहली बार सामान्यमात्र से अवबोध करता है, तब उसे नोइन्द्रिय अर्थावग्रह कहते हैं ॥सूत्र ३०॥

मूलम्—तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नाम-धिज्जा भवंति, तं जहा—ओगेण्हणया, उवधारणया, सवणया, अवलंबणया, मेहा, से त्तं उग्गहे ॥ सूत्र ३१ ॥

छाया—तस्येमानि एकार्थिकानि नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि पञ्च नाम-धेयानि भवन्ति. तद्यथा—अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता, मेधा, स एष अवग्रहः ॥ सूत्र ३१ ॥

पदार्थ—तस्स णं—उस अर्थावग्रह के 'णं' वाक्य अलङ्कारार्थ में **इमे**—ये **एगट्ठिया**—एक अर्थ वाले **नाणाघोसा**—उदात्त आदि नाना घोष वाले **नाणावंजणा**—'क' आदि नाना व्यञ्जन वाले **पंच नामधिज्जा**—पांच नामधेय **भवंति**—होते हैं, **तं जहा**—यथा **ओगहगहणया**—अवग्रहणता, **उवधारणया**—उपधरणता, **सवणया**—श्रवनता, **अवलंबणया**—अवलम्बनता, **मेहा**—मेधा, **से त्तं**—वह यह **उग्गह**—अवग्रह है ।

भावार्थ—उस अर्थ अवग्रह के ये एक अर्थ वाले, उदात्त आदि नाना घोष वाले, 'क' आदि नाना व्यञ्जन वाले पांच नाम होते हैं, जैसे कि—

१. अवग्रहणता, २. उपधारणता, ३. श्रवणता, ४. अवलम्बनता, ५. मेधा । वह यह अवग्रह है ॥सूत्र ३१॥

टीका—इस सूत्र में अर्थावग्रह के पर्यायान्तर नाम दिए गए हैं । प्रथम समय में आए हुए शब्द, रूपादि पुद्गलों का ग्रहण करना अवग्रह कहलाता है । अवग्रह तीन प्रकार का होता है, जैसे कि व्यंजना-वग्रह, २. सामान्यार्थावग्रह, ३. विशेष सामान्यार्थावग्रह, किन्तु विशेष सामान्य अर्थावग्रह औपचारिक है, जिस का स्वरूप आगे वर्णन किया जाएगा ।

१. **अवग्रहणता**—जिस के द्वारा शब्दादि पुद्गल ग्रहण किए जाएं, उसे अवग्रह कहते हैं । व्यंजना-वग्रह आन्तर्मौहूर्त्तिक होता है, उसके पहले समय में जो अव्यक्त झलक ग्रहण की जाती है, उसे अवग्रहणता कहते हैं ।

२. **उपधारणता**—व्यंजनावग्रह के शेष समयों में नवीन २ ऐन्द्रियक पुद्गलों का प्रति समय ग्रहण करना और पूर्व गृहीत का धारण करना, इसे उपधारणता कहते हैं । क्योंकि यह ज्ञान व्यापार को आगे २ के समयों के साथ जोड़ता रहता है, अव्यक्त से व्यक्ताभिमुख होजाने वाले अवग्रह को उपधारणता कहते हैं ।

३. **श्रवणता**—जो अवग्रह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा हो, उसे श्रवणता कहते हैं । एक समय में होने वाले सामान्यार्थावग्रह बोधरूप परिणाम को श्रवणता कहते हैं, इस का सीधा सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है ।

४. **अवलम्बनता**—अर्थ का ग्रहण करना ही अवलंबनता है, क्योंकि जो अवग्रह सामान्य ज्ञान

से विशेषाभिमुख तथा उत्तरवर्ती ईहा, अवाय और धारणा तक पहुंचने वाला हो, उसे अवलम्बनता कहते हैं।

५. मेधा—यह सामान्य और विशेष दोनों को ही ग्रहण करती है। पहले दो भेद व्यंजनावग्रह से सम्बन्धित हैं। तीसरा केवल श्रोत्रेन्द्रिय के अवग्रह से सम्बन्धित है। चौथा और पांचवां अर्थावग्रह नियमेन ईहा, अवाय और धारणा तक पहुंचने वाले हैं। कुछ ज्ञानधारा सिर्फ अवग्रह तक ही रह जाती है और कुछ आगे बढने वाली होती है।

एगट्ठिया—इस पद का भाव है, यद्यपि अवग्रह के पांच नाम वर्णित किए हैं, तदपि ये पांच नाम शब्दनय की दृष्टि से एकार्थक समझने चाहिए। समभिरूढ और एवंभूत नय की दृष्टि से नहीं, क्योंकि उन पांचों के अर्थ भिन्न २ करते हैं।

नाणा घोसा—जो उक्त पांच पर्यायान्तर नाम अवग्रह के बताए हैं, उनका उच्चारण भिन्न २ एक है,—जैसा नहीं।

नाणा वंजणा—इस पद से यह सिद्ध होता है कि ऊपर जो पांच नाम अवग्रह के बताए हैं, उन में स्वर और व्यंजन भिन्न २ हैं। इस से यह भी सूचित होता है कि स्वर और व्यंजन से शब्द शास्त्र बनता है और साथ ही शब्द कोष का भी संकेत मिलता है। शब्द कोष में एकार्थिक अनेक शब्द मिलते हैं। इन पांचों में से कोई एक शब्द यदि किसी शास्त्र में श्रुतनिश्रित मति ज्ञान के प्रसंग में मिल जाए, तो उस का अर्थ—अवग्रह समझना चाहिए। जो २ शब्द अवग्रह को सूचित करते हैं, उन का नाम निर्देश सूत्रकार ने स्वयं किया है, जिस से अध्येता को सुविधा रहे॥ सूत्र ३१॥

२. ईहा

मूलम्—से किं तं ईहा ? ईहा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—१. सोइंदिय-ईहा, २. चक्खिंदिय-ईहा, ३. घाणिंदिय-ईहा, ४. जिब्भिदिय-ईहा, ५. फासिंदिय-ईहा, ६. नो इंदिय-ईहा। तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणा घोसा, नाणा वंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—१. आभोगणया, २. मग्गणया, ३. गवेसणया, ४. चिंता, ५, विमंसा, से त्तं ईहा ॥सूत्र ३२॥

छाया—अथ का सा ईहा ? ईहा षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—१. श्रोत्रेन्द्रियेहा, २. चक्षुरिन्द्रियेहा, ३. घ्राणेन्द्रियेहा, ४. जिह्वेन्द्रियेहा, ५. स्पर्शेन्द्रियेहा, ६. नोइन्द्रियेहा, तस्या इमानि एकार्थिकानि नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि पंच नामधेयानि भवन्ति, तद्यथा—१. आभोगनता, २. मार्गणता, ३. गवेषणता, ४. चिन्ता, ५. विमर्शः (मीमांसा)—सा एषा ईहा ॥सूत्र ३२॥

पदार्थ—से किं तं ईहा ?—अथ वह ईहा कितने प्रकार की है ? ईहा छव्विहा पण्णत्ता—ईहा छ प्रकार की कही गयी है, जैसे सोइंदिय-ईहा—श्रोत्र-इन्द्रिय-ईहा, चक्खिंदिय-ईहा—चक्षु-इन्द्रिय-ईहा, घाणिंदिय-ईहा—घ्राण-इन्द्रिय-ईहा, जिब्भिंदिय-ईहा—जिह्वा-इन्द्रिय-ईहा, फासिंदिय-ईहा—स्पर्श-इन्द्रिय-ईहा, नोइंदिय-ईहा—नो इन्द्रिय-ईहा, तीसे णं—उसके इमे —ये एगट्ठिया—एक अर्थ वाले नाणा घोसा—नाना घोष, नाणा वंजणा—नाना व्यंजन पंच नामधिज्जा—पांच नामधेय भवंति—होते हैं, तं जहा—जैसे कि आभोगणया—आभोगनता, मग्गणया—मार्गणता, गवेसणया—गवेषणता, चिंता—चिन्ता, विमंसा—विमर्श से त्तं—यह ईहा—ईहा का स्वरूप है ।

भावार्थ—शिष्यने प्रश्न किया—गुरुदेव ! इन्द्रियों के विषय और हर्ष-विषाद आदि मानसिक भावों के सम्बन्ध में निर्णय के लिये विचार रूप ईहा कितने प्रकार की है ? गुरुदेव बोले ! वह ईहा छ प्रकार की होती है, जैसे कि-१. श्रोत्र-इन्द्रिय-ईहा, २. चक्षु-इन्द्रिय-ईहा, ३. घ्राण-इन्द्रिय-ईहा, ४. जिह्वा-इन्द्रिय-ईहा, ५ स्पर्श-इन्द्रिय-ईहा और ६. नोइन्द्रिय-ईहा । उनके ये एकार्थक नाना घोष और नाना व्यञ्जन वाले पांच नाम होते हैं, जैसे कि—

१. आभोगनता—अर्थावग्रह के पश्चात् ही सद्भूत अर्थ विशेष का पर्यालोचन करना ।

२. मार्गणता—अन्वय-व्यतिरेक धर्म का अन्वेषण करना ।।

३. व्यतिरेक—विरुद्ध धर्म के त्यागपूर्वक अन्य धर्म का अन्वेषण करना ।

४. चिन्ता—सद्भूत अर्थ का बारम्बार चिन्तन करना ।

५. विमर्श—स्पष्ट विचार करना ।

इस प्रकार ईहा का स्वरूप है ।।सूत्र ३२।।

टीका—इस सूत्र में ईहा का उल्लेख किया गया है । इसके छ भेद ऊपर लिखे जा चुके हैं । अब पहले एकार्थक नाना घोष, नाना व्यंजनों से युक्त ईहा के पाँच नामों का विवरण किया जाता है ।

१. आभोगनता—अर्थावग्रह के अनन्तर सद्भूत अर्थ विशेष के अभिमुख पर्यालोचन को आभोगनता कहते हैं—जैसे कहा भी है—"अर्थावग्रहसमनन्तरमेवसद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनं तस्य भाव आभोगनता ।"

२. मार्गणता—अन्वय व्यतिरेक धर्म के द्वारा पदार्थों के अन्वेषण करने को मार्गणा कहते हैं । कहा भी है—मार्ग्यतेऽनेनेति मार्गणं, सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेवतदूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकधर्मान्वेषणं तद्भावो मार्गणता ।

३. गवेषणता—व्यतिरेक धर्म को त्याग कर, अन्वय धर्म के साथ पदार्थों के पर्यालोचन करने को गवेषणता कहते हैं, जैसे कि कहा भी है—गवेष्यतेऽनेनेति गवेषणं, तत ऊर्ध्वंसद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मत्यागतोऽन्वयधर्माध्यासालोचनं तद्भावो गवेषणता ।"

४. चिन्ता—पुनः पुनः विशिष्ट क्षयोपशम से स्वधर्मानुगत सद्भूतार्थ के विशेष चिंतन को चिन्ता कहते हैं, जैसे कि कहा भी है—ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेष चिन्तन चिन्ता ।"

४. विमर्श—क्षयोपशम विशेष से स्पष्टतर सद्भूतार्थ के अभिमुख, व्यतिरेक धर्म के त्याग करने से और अन्वय धर्म के अपरित्याग से स्पष्टतया विचार करना विमर्श कहलाता है, जैसे कि कहा भी है—"तत ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात् स्पष्टतरं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मा-परित्यागतोऽन्वयधर्मविमर्शनं विमर्शः।" इस प्रकार ईहा के पर्यायान्तर नाम व्युत्पत्ति के साथ कहे गए हैं ।।सूत्र ३२।।

३. अवाय

मूलम्—से किं तं अवाए ? अवाए छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—१ सोइंदिय-अवाए, २. चक्खिंदिय-अवाए ३. घाणिंदिय-अवाए ४. जिब्भिंदिय-अवाए, ५. फासिंदिय-अवाए, ६. नो इंदिय-अवाए। तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणा घोसा, नाणा वंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—१. आउट्टणया, २. पच्चाउट्टणया ३. अवाए, ४. बुद्धी, ५. विण्णाणे, से त्तं अवाए ।।सूत्र ३३।।

छाया—अथ कः सोऽवायः ? अवायः पड्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—१. श्रोत्रेन्द्रिय-अवाय २. चक्षुरिन्द्रिय-अवायः, ३. घ्राणेन्द्रिय-अवायः, ४. जिह्वेन्द्रिय-अवायः ५. स्पर्शेन्द्रिय-अवायः। तस्य इमानि एकार्थिकानि नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि पञ्च नामधेयानि भवन्ति, तद्यथा—१. आवर्त्तनता, २. प्रत्यावर्त्तनता, ३. अवायः (अपायः), ४. बुद्धिः, ५. विज्ञानं, स एषोऽवायः ।।सूत्र ३३।।

पदार्थ—से किं तं अवाए—वह अवाय कितने प्रकार का है ? अवाए छव्विहे—छ प्रकार का पण्णत्ते—प्रतिपादन किया गया है, तं जहा—जैसे कि—सोइंदिय-अवाए—श्रोत्रेन्द्रिय-अवाय, चक्खिंदिय-अवाए—चक्षु इन्द्रिय-अवाय, घाणिंदिय-अवाए—घ्राणेन्द्रिय-अवाय जिब्भिंदिय-अवाए—जिह्वेन्द्रिय-अवाय फासिंदिय-अवाए—स्पर्शेन्द्रिय-अवाय, नोइंदिय-अवाए—नो इन्द्रिय-अवाय, तस्स णं—उसके णं—वाक्यालङ्कार में इमे—ये एगट्ठिया—एकार्थक नाणाघोसा—नाना घोष नाणा वंजणा—नाना व्यञ्जनवाले पंच—पांच नामधिज्जा—नामधेय भवंति—होते हैं, तं जहा—जैसे आउट्टणया—आवर्त्तनता, पच्चाउट्टणया—प्रत्यावर्त्तनता, अवाए—अवाय-अपाय, बुद्धी—बुद्धि विण्णाणे—विज्ञान, से त्तं—यह वह अवाए—अवाय-मतिज्ञान है।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह अवाय मतिज्ञान कितने प्रकार का है ? गुरु ने उत्तर दिया—अवाय छ प्रकार का है ? जैसे कि—

१. श्रोत्रेन्द्रिय-अवाय, २. चक्षुरिन्द्रिय-अवाय, ३. घ्राणेन्द्रिय-अवाय, ४. रसनेन्द्रिय-अवाय, ५. स्पर्शेन्द्रिय-अवाय, ६. नोइन्द्रिय-अवाय। उसके एकार्थक नानाघोष और नाना व्यञ्जन वाले ये पाँच नाम हैं, जैसे—

१. आवर्त्तनता, २. प्रत्यावर्त्तनता, ३. अवाय, ४. बुद्धि, ५. विज्ञान। यह अवाय का वर्णन हुआ ।।सूत्र ३३।।

टीका—इस सूत्र में अवाय और उसके भेद तथा पर्यायान्तर नाम दिए गए हैं। क्योंकि ईहा के पश्चात् विशिष्ट बोध कराने वाला अवाय है। इसके भी पहले की तरह ६ भेद बतलाए गए हैं, तत्पश्चात् उसके एकार्थक, नानाघोष और नाना व्यञ्जनों से युक्त निम्न लिखित पांच नाम हैं—

१. आवर्त्तनता—ईहा के पश्चात् निश्चय-अभिमुख बोधरूप परिणाम से पदार्थों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना, उसे आवर्तनता कहते हैं।

२. प्रत्यावर्त्तनता—ईहा के द्वारा अर्थों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना, उसे प्रत्यावर्तनता कहते हैं।

३. अवाय—सब प्रकार से पदार्थों के निश्चय को अवाय कहते हैं।

४. बुद्धि—निश्चयात्मक ज्ञान को बुद्धि कहते हैं।

५. विज्ञान—विशिष्टतर निश्चय किए हुए ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान के यदि हम पांच भाग करें तो वह क्रमशः उत्तरोत्तर स्पष्ट, स्पष्टतर, और स्पष्टतम बढ़ता ही जाता है। अवग्रह और ईहा ये दोनों दर्शनोपयोग होने से अनाकारोपयोग में गर्भित हो जाते हैं तथा अवाय और धारणा ये दोनों ज्ञान रूप होने से साकारोपयोग में। बुद्धि और विज्ञान से ही पदार्थों का सम्यक्तया निश्चय होता है ।।सूत्र ३३।।

४. धारणा

मूलम्—से किं तं धारणा ? धारणा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—१. सोइंदिय-धारणा, २. चक्खिंदिय-धारणा, ३. घाणिंदिय-धारणा, ४. जिब्भिंदिय-धारणा, ५. फासिंदिय-धारणा, ६. नोइंदिय-धारणा। तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—१. धारणा, २. साधारणा, ३. ठवणा, ४. पइट्ठा, ५. कोट्ठे, से त्तं धारणा ।।सूत्र ३४।।

छाया—अथ का सा धारणा? धारणा षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—१. श्रोत्रेन्द्रिय-धारणा, २. चक्षुरिन्द्रिय-धारणा, ३. घ्राणेन्द्रिय-धारणा, ४. जिह्वेन्द्रिय-धारणा, ५. स्पर्शेन्द्रिय-धारणा, ६. नोइन्द्रिय-धारणा। तस्या इमानि एकार्थिकानि नानाघोषाणि, नानाव्यंजनानि पञ्च नामधेयानि भवन्ति, तद्यथा—१. धारणा, २. साधारणा, ३. स्थापना, ४. प्रतिष्ठा, ५. कोष्ठः, सा एषा धारणा ।।सूत्र ३४।।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—गुरुदेव! वह धारणा कितने प्रकार की है ? उत्तर

में गुरुजी बोले—भद्र ! वह छ प्रकार की है, जैसे—१. श्रोत्रेन्द्रिय-धारणा, २. चक्षुरिन्द्रिय-धारणा, ३. घ्राणेन्द्रिय-धारणा, ४. रसनेन्द्रिय-धारणा, ५. स्पर्शेन्द्रिय-धारणा, ६. नोइन्द्रिय-धारणा। उसके ये एक अर्थ वाले, नानाघोष और नाना व्यंजन वाले पाँच नाम होते हैं—जैसे—१. धारणा, २. साधारणा, ३ स्थापना, ४. प्रतिष्ठा, और ५. कोष्ठ, इस प्रकार यह वह धारणा मतिज्ञान है ॥सूत्र ३४॥

टीका—इस सूत्र में धारणा का उल्लेख किया गया है। उसके भी पूर्ववत् ६ भेद हैं तथा एकार्थक नानाघोष तथा नानाव्यंजन वाले धारणा के पांच पर्यायवाची नाम कहे हैं—

१. धारणा—जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट असंख्यात काल व्यतीत होने पर भी योग्य निमित्त मिलने पर जो स्मृति जाग उठे, उसे धारणा कहते हैं।

२. साधारणा—जाने हुए अर्थ को अविच्युति पूर्वक अंतर्मुहूर्त तक धारण किए रखना।

३. स्थापना—निश्चय किए हुए अर्थ को हृदय में स्थापन करना, उसे वासना भी कहते हैं।

४. प्रतिष्ठा—अवाय के द्वारा निर्णीत अर्थों को भेद, प्रभेदों सहित हृदय में स्थापन करना प्रतिष्ठा कहलाती है।

५. कोष्ठ—जैसे कोष्ठ में रखा हुआ धान्य विनष्ट नहीं, वल्कि सुरक्षित रहता है, वैसे ही हृदय में सूत्र और अर्थ को सुरक्षित एवं कोष्ठक की तरह धारण करने से ही इसे कोष्ठ कहते हैं। यद्यपि सामान्य रूप से इनका एक ही अर्थ प्रतीत होता है, तदपि भिन्नार्थ भी पर्यायान्तर में कथन किए गए हैं। जिस क्रम से ज्ञान उत्तरोत्तर विकसित होता है, उसी क्रम से सूत्रकार ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का भी निर्देश किया है। अवग्रह के विना ईहा नहीं, ईहा के विना अवाय नहीं और इसी प्रकार अवाय के विना धारणा नहीं हो सकती। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के विषय में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणजी निम्न प्रकार से लिखते हैं—

"सामण्णमेत्तगहणं, निच्छयओ समयमोग्गहो पढमो।
तत्तोऽणंतरमीहिय वत्थु, विसेसस्स जोऽवाओ॥
सो पुणरीहावायविक्खाओ, उग्गहत्ति उवयरिओ।
एस विसेसावेक्खा, सामन्न गेण्हए जेण॥
तत्तोऽणंतरमीहा तओ, अवाओ य तव्विसेसस्स।
इह सामन्न विसेसावेक्खा, जावन्तिमो भेओ॥
सव्वत्थेहावाया निच्छयओ, मोत्तुमाइ सामन्नं।
संववहारत्थं पुण, सव्वत्थावग्गहोऽवाओ॥
तरतम जोगाभावेऽवाओ, च्चिय धारणा तदन्तम्मि।
सव्वत्थ वासणा पुण, भणिया कालन्तर सई य॥"

॥सूत्र ३४॥

अवग्रहादि का काल परिमाण

मूलम्—१. उग्गहे इक्कसमइए, २. अंतोमुहुत्तिआ ईहा, ३. अंतोमुत्तिए अवाए। ४. धारणा संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं ॥सूत्र ३५॥

छाया—अवग्रह एकसामयिकः, २. आन्तर्मुहूर्तिकीहा, ३. आन्तर्मुहूर्तिकोऽवायः, ४. धारणा संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम् ॥सू० ३५॥

पदार्थ—**उग्गहे**—अवग्रह **इक्कसमइए**—एक समय का होता है **ईहा**—ईहा **अंतोमुहुत्तिया**—अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, **अवाए**—अवाए **अंतोमुहुत्तिए**—अन्तर्मुहूर्त्त का होता है, **धारणा**—धारणा **संखेज्जं वा कालं**—संख्येय काल और **असंखेज्जं वा कालं**—यौगलिक आदि की अपेक्षा से असंख्यात काल की है।

भावार्थ—१. अवग्रह ज्ञान का काल प्रमाण एक समय मात्र का है, २. अन्र्मुतहूर्त्त प्रमाण ईहा का समय है, ३. अवाय भी अन्तमुहूर्त्त परिमाण में होता है, ४. धारणा का काल परिमाण संख्यात काल अथवा युगलियों की अपेक्षा से असंख्यात काल पर्यन्त भी है ॥सूत्र ३५॥

टीका—इस सूत्र में उक्त चारों का काल प्रमाण का निरूपण किया है। अर्थावग्रह एक समय का होता है। ईहा और अवाय ये दोनों प्रत्येक २ अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण तक रहते हैं तथा धारणा अन्तर्मुहूर्त से लेकर संख्यात काल और असंख्यात काल पर्यन्त रह सकती है। इसका कारण यह है कि यदि किसी संज्ञी प्राणी की आयु संख्यात काल की हो, तो धारणा संख्यात काल पर्यन्त और यदि असंख्यात काल की हो, तो असंख्यात काल पर्यन्त होती है।

यदि किसी को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह भी धारणा की प्रबलता से ही हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान भी इसी की देन है। अवाय हो जाने के पश्चात् फिर भी उपयोग यदि उसी में लगा हुआ हो, तो उसे अवाय नहीं, अपितु अविच्युति धारणा कहते हैं।

अविच्युति धारणा ही वासना को दृढ करती है। वासना जितनी दृढ होगी, निमित्त मिलने पर वह स्मृति को उद्बुद्ध करने में कारण बनती है। भाष्यकार ने भी उक्त चारों प्रकार का काल मान निम्न लिखित बताया है—

"अत्थोग्गहो जहन्नं समओ, सेसोग्गहादओ वीसुं।
अन्तोमुहुत्तमेगन्तु, वासणा धारणं मोत्तुं ॥"

इस का भाव ऊपर लिखा जा चुका है ॥सूत्र ३५॥

प्रतिबोधक के दृष्टान्त से व्यञ्जनावग्रह

मूलम्—एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि, पडिबोहगदिट्ठंतेण मल्लगदिट्ठंतेण य।

से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ? पडिबोहगदिट्ठंतेणं, से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा—"अमुगा ! अमुगत्ति !!" तत्थ चोयगे पन्नवगं एवं वयासी–किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? जाव दससमय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ?

एवं वदंतं चोयगं पण्णवए एवं वयासी—नो एगसमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, जाव—नो दस समय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमय-पविट्ठा पुग्गलागहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से त्तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ।

छाया—एवमष्टाविंशतिविधस्य आभिनिबोधिकज्ञानस्य व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणं करिष्यामि प्रतिबोधकदृष्टान्तेन मल्लकदृष्टान्तेन च ।

अथ किं तत्प्रतिबोधकदृष्टान्तेन ? प्रतिबोधकदृष्टान्तेन, स यथानामकः कश्चित्पुरुषः कंचित्पुरुषं सुप्तं प्रतिबोधयेत्—"अमुक ! अमुक !!" इति, तत्र चो (नो) दकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—किमेकसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ? द्विसमय प्रविष्टा पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ? यावद्दशसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ? संख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ? असंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ?

एवं वदंतं नोदकं प्रज्ञापक एवमवादीत्—नो एकसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, नो द्विसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, यावन्नो दशसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, नो संख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, असंख्येय समय प्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, तदेतत् प्रतिबोधकदृष्टान्तेन ।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार का अट्ठावीसइविहस्स—अठाइस प्रकार के आभिणिबोहियनाणस्स—आभिनिबोधिक ज्ञान का वंजणुग्गहस्स—व्यञ्जन अवग्रह की परूवणं—प्ररूपणा करिस्सामि—करूंगा, पडिबोहगदिट्ठंतेण—प्रतिबोधक के दृष्टान्त से और मल्लगदिट्ठंतेण य—मल्लक के दृष्टान्त से, से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ?—अथ वह प्रतिबोधक के दृष्टान्त द्वारा व्यञ्जनावग्रह का स्वरूप किस प्रकार है ? से—वह पडिबोहगदिट्ठंतेणं—प्रतिबोधक का दृष्टान्त जहानामए—जैसे यथानामक केइ पुरिसे—कोई पुरुष कंचि—किसी सुत्तं—सोए हुए पुरिसं—पुरुष को त्ति—इस प्रकार पडिबोहिज्जा—प्रतिबोधन करे

जगाए अमुगा!अमुग !—हे अमुक ! हे अमुक !! तत्थ—तब चोयगे—शिष्य पन्नवगं—गुरु को एवं वयासी—इस प्रकार से बोला—किं—क्या एग—एक समय—समय के पविट्ठा—प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणमागच्छंति—ग्रहण करने में आते हैं ? दुसमय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ?—दो समय के प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण करने में आते हैं ? जाव—यावत् दससमयपविट्ठा—दस समय के प्रविष्ट पुद्गल गहणमागच्छंति ?—ग्रहण करने में आते हैं? संखिज्जसमय—संख्यात समय में पविट्ठा—प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणमागच्छंति ?—ग्रहण करने में आते हैं ? असंखिज्जसमय—असंख्यात समय में पविट्ठा—प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणमागच्छंति ? ग्रहण करने में आते हैं ? एवं—इस प्रकार वदंतं—कहते हुए चोयगं—शिष्य को पण्णवए—गुरुजी एवं—इस प्रकार वयासी—कहने लगे एगसमयपविट्ठा—एक समय में प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणं—ग्रहण में नो—नहीं आगच्छंति—आते, दुसमयपविट्ठा—दो समय में प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणं—ग्रहण में नो—नहीं आगच्छंति—आते जाव—यावत् दससमयपविट्ठा—दस समय में प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणं—ग्रहण में नो—नहीं आगच्छंति—आते, संखिज्जसमय—संख्यात समय में पविट्ठा—प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणं—ग्रहण में नो—नहीं आगच्छंति—आते असंखिज्जसमय पविट्ठा—असंख्यात समय में प्रविष्ट पुग्गला—पुद्गल गहणं—ग्रहण में आगच्छंति—आते हैं। से त्तं पडिबोहग—इस प्रकार यह प्रतिबोधक के दिट्ठंतेणं—दृष्टान्त से व्यञ्जन अवग्रह का वर्णन हुआ।

भावार्थ—चार प्रकार का व्यञ्जन अवग्रह, छ प्रकार का अर्थावग्रह, छ प्रकार की ईहा, छ प्रकार का अवाय और छ प्रकार की धारणा—इस प्रकार अठाईसविध आभिनिबोधिक—मतिज्ञान के व्यञ्जन अवग्रह की प्रतिबोधक और मल्लक के उदाहरण से प्ररूपणा करूंगा।

शिष्यने पूछा—गुरुदेव ! प्रतिबोधक के उदाहरण से व्यञ्जन अवग्रह का निरूपण किस प्रकार है ?

गुरुजी उत्तर में वोले—प्रतिवोधक के दृष्टान्त से, जैसे—यथानामक कोई व्यक्ति किसी सोये हुये पुरुष को "हे अमुक ! हे अमुक !!" इस प्रकार से जगाए। शिष्यने गुरु से पूछा—भगवन् ! क्या ऐसा कहने पर, उस पुरुष के कानों में एक समय के प्रवेश किए हुए पुद्गल-ग्रहण करने में आते हैं, दो समय के यावत् दस समय के, या संख्यात समय, व असंख्यात समय के प्रविष्ट पुद्गल ग्रहण करने में आते हैं ?

ऐसा पूछने पर पन्नवक—गुरु ने शिष्य को उत्तर दिया—वत्स ! एक समय के प्रविष्ट पुद्गल ग्रहण करने में नहीं आते, न दो समय के यावत् दस समम के और न संख्यात समय के, अपितु असंख्यात समय के प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण करने में आते हैं। इस तरह यह प्रतिवोधक के दृष्टान्त से व्यञ्जन अवग्रह का स्वरूप हुआ।

टीका—इस सूत्र में व्यंजनावग्रह को समझाने के लिए सूत्रकार ने प्रतिवोधक का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है। जैसे कोई व्यक्ति गाढ़ निद्रा में सो रहा है, तव अन्य कोई आकर विशेष

कारण से उस का नाम लेकर जगाता है, ओ देवदत्त ! ओ देवदत्त !! इस प्रकार उस सुप्त व्यक्ति को जगाने के लिए अनेक बार सम्बोधित किया। ऐसे प्रसंग को लक्ष्य में रखकर शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—भगवन् ! क्या एक समय के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल श्रोत्र के द्वारा अवगत हो सकते हैं ? गुरु ने इन्कार में उत्तर दिया। शिष्यने पुनः प्रश्न किया—क्या दो समय यावत् दस, संख्यात तथा असंख्यात समय के प्रविष्ट हुए शब्दपुद्गल ग्रहण किए हुए अवगत होते हैं ? गुरु ने उत्तर दिया—एक समय से लेकर संख्यात समय तक के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किए हुए अवगत नहीं हो सकते, अपितु असंख्यात समय तक के प्रविष्ट हुए शब्दपुद्गल ग्रहण किए जा सकते हैं।[1] हाँ, यह बात ध्यान में अवश्य रखने योग्य है कि पहले समय से लेकर संख्यात समय पर्यन्त श्रोत्र में जो शब्द-पुद्गल प्रविष्ट हुए हैं, वे सब अव्यक्त ज्ञान के परिचायक हैं, जैसे कि कहा भी है—"जं वंजणोग्गहणमिति भणियं विण्णाणं अव्वत्तमिति।" इस का भाव ऊपर स्पष्ट हो चुका है। असंख्यात समय के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल ही ज्ञान के उत्पादक होते हैं।

व्यंजनावग्रह का कालमान जघन्य आवलिका के असंख्येय भाग मात्र होता है और उत्कृष्ट संख्येय आवलिका प्रमाण होता है, वह भी पृथक्त्व[2] आणापाणू प्रमाण[3] जानना चाहिए, जैसे कि कहा भी है—

"वंजणोवग्गहकालो, आवलियाऽसंखभागतुल्लो उ। थोवा उक्कोसा पुण, आणापाणू पुहुत्तं ति॥"

इस सूत्र में शिष्य के लिए चोयग शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि वह अपने किए हुए प्रश्न के उत्तर के लिए प्रेरक है और प्रज्ञापक पद गुरु का वाचक है। वह यथावस्थित सूत्र और अर्थ का प्रतिपादक होने से प्रज्ञापक कहलाता है।

मल्लक के दृष्टान्त से व्यञ्जनावग्रह

मूलम्—से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं? मल्लगदिट्ठंतेणं, से जहानामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खेविज्जा, से नट्ठे, अण्णेऽवि पक्खित्ते सेऽवि नट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु २ होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं राविहिइ त्ति, होही से उदगबिंदू जेणं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं पवाहेहिति।

एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं २ अणंतेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरिअं होइ, ताहे 'हुं' ति करेइ, नो चेव णं जाणइ केवि एस सद्दाइ ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

---

१. आंखों की पलकें झपकने मात्र में असंख्यात समय लग जाते हैं।

२. पृथक्त्व शब्द दो से लेकर ९ तक की संख्या के लिए रूढ़ है।

३. स्वस्थ व्यक्ति की नब्ज (नाड़ी) एक बार हरकत करने मात्र काल को आणपाणू कहते हैं। एक बार हरकत हुई तो एक आणपाणू और नौ बार हरकत हुई तो नौ आणपाणू हुए।

छाया—अथ किं तत् (प्ररूपणं) मल्लकदृष्टान्तेन ? मल्लकदृष्टान्तेन, यथानामकः कश्चित्पुरुषः आपाकशीर्षतो मल्लकं गृहीत्वा तत्रैकमुदकबिन्दुं प्रक्षिपेत्, स नष्टः, अन्योऽपि प्रक्षिप्तः, सोऽपि नष्टः, एवं प्रक्षिप्यमाणेषु २ भविष्यति स उदकबिन्दुर्यस्तं मल्लकं रावेहिति—आर्द्रयिष्यति, भविष्यति स उदुकबिन्दुर्यस्तं मल्लकं भरिष्यति, भविष्यति स उदकबिन्दुर्यस्तं मल्लकं प्रवाहयिष्यति ।

एवमेव प्रक्षिप्यमाणैः २ अनन्तैः पुद्गलैर्यदा तद्व्यञ्जनं पूरितं भवति तदा 'हु' मिति करोति, नो चैव जानाति, क एष शब्दादिः ? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति अमुक एष शब्दादिः, ततोऽवायं प्रविशति ततः स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम् ।

पदार्थ—**से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं**—अथ मल्लक के दृष्टान्त से वह व्यञ्जनावग्रह क्या है ? **मल्लगदिट्ठंतेणं**—मल्लकदृष्टान्तसे **से जहानामए**—जैसे **केई**—कोई **पुरिसे**—पुरुष **आवागसीसाओ**—आपाकशीर्ष—आवे से **मल्लगं**—मल्लक-शराव, **गहाय**—ग्रहण करके **तत्थेगं**—उसमें एक **उदगबिंदुं**—पानी की बून्द **पक्खिविज्जा**—डाले **से नट्ठे**—वह नष्ट हो गई, **अन्नेऽवि**—अन्य भी **पक्खित्ते**—डाली **सेऽवि**—वह भी नष्ट हो गयी, **एवं**—इस तरह **पक्खिप्पमाणेसु** २—निरन्तर डालते-डालते **से**—वह **उदगबिंदू**—उदक बिंदु **होई**—होगा, **जे**—जो **णं**—वाक्यालङ्कारार्थ **तं**—उस **मल्लगं**—प्याले को **रावेहिइत्ति**—गीला कर देगा, **होही से-उदगबिंदू**—वह उदक बिन्दु होगा **जे णं**—जो **तंसि**—उस **मल्लगंसि**—शराव में **ठाहिति**—ठहरता है, **होही से उदगबिंदू**—वह उदक बिन्दु होगा— **जे णं**—जो **तं**—उस **मल्लगं**—मल्लक को **भरिहिति**—भर डालेगा, **होही से उदगबिंदू**—वह उदक बिन्दु होगा **जे णं**—जो **तं**—उस **मल्लगं**—प्याले से **पवाहेहिति** बाहिर उछलेगा ।

एवामेव—इसी प्रकार **पक्खिप्पमाणेहिं** २—बार-बार डालने पर **अणंतेहिं**—अनन्त **पुग्गलेहिं**—पुद्गलों से **जाहे**—जब **तं**—वह **वंजणे**—व्यञ्जन **पूरिअं**—पूरित होता है, **ताहे**—तब **'हुं' ति**—'हुं' ऐसा शब्द **करेइ**—करता है, किन्तु, **नो चेव णं**—वह निश्चित रूप से नहीं **जाणइ**—जानता **के वि एस-सद्दाइ ?**—यह शब्द किसका है ? **तओ**—तब **ईहं**—ईहा में **पविसइ**—प्रवेश करता है, **तओ**—तब **जाणइ** जानता है **एस**—यह **सद्दाइ**—शब्द **अमुगे**—अमुक व्यक्ति का है **तओ**—तब **अवायं**—अवाय में **पविसइ** प्रवेश करता है **तओ**—तब **उवगयं**—उपगत **भवइ**—होता है, **तओ णं**—तत्पश्चात् **धारणं**—धारणा में **पविसइ**—प्रवेश करता है **तओ णं**—तब **संखिज्जं वा कालं**—संख्यात काल अथवा **असंखिज्जं वा कालं**—असंख्यात काल पर्यन्त **धारेइ**—धारण करता है ।

भावार्थ—शिष्यने गुरु से प्रश्न किया, वह मल्लक के दृष्टान्त से व्यंञ्जनावग्रह का स्वरूप किस प्रकार है ?

गुरुजी—भद्र ! मल्लक का दृष्टान्त—जिस प्रकार कोई पुरुष आपाकशीर्ष अर्थात् आवा—कुम्हार के वर्तन पकाने के स्थान से एक शराव यानि प्याले को लेकर, उसमें पानी की एक बून्द डाले, वह बून्द नष्ट हो गयी, तत्पश्चात् अन्य बिन्दु डाला, वह भी नष्ट हो

गया। इसी तरह निरन्तर विन्दु डालते रहने से वह पानी की बून्द हो जाएगी, जो उस शराव—प्याले को गीला करती है, तत्पश्चात् पानी ठहरता है, वह पानी का बिन्दु इस प्याले को भर देगा और भरने पर पानी वाहिर उच्छल कर गिरने लगेगा।

इसी प्रकार वार-बार पानी की वून्दें डालते रहने पर वह व्यञ्जन अनन्त पुद्गलों से पूरित होता है अर्थात् जब श्रुत के पुद्गल द्रव्य-श्रोत्र में परिणत हो जाते हैं, तव वह पुरुष हुंकार करता है, किन्तु वह निश्चय से यह नहीं जानता कि यह किस व्यक्ति का शब्द है ? तत्पश्चात् वह ईहा में प्रवेश करता है और तब जानता है कि यह अमुक व्यक्ति का शव्द है। तत्पश्चात् अवाय में प्रवेश करता है, तब वह उपगत होता है अर्थात् शव्दादि आत्म ज्ञान में परिणत हो जात है। तत्पश्चात् धारणा में प्रवेश करता है और संख्यात व असंख्यात काल पर्यन्त धारण किये रहता है।

टीका—अब सूत्रकार उक्त विषय और उदाहरण की पुष्टि के लिए आबाल-गोपाल प्रसिद्ध एक व्यावहारिक दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट करते हैं। किसी पुरुष ने कुम्भकार के आवे से शुद्ध मिट्टी का पका हुआ एक कोरा प्याला लिया। अपने निवास-स्थान में आकर उसने अनुभव शक्ति को बढ़ाने के लिए उस प्याले में जल की एक बूंद डाली, वह तुरन्त वीच में ही समा गई, दूसरी बून्द और डाली, वह भी वीच में ही लुप्त हो गयी। इसी क्रम से जल की बूंदें डालते-डालते वह प्याला समयान्तर में शां-शां इस प्रकार अव्यक्त शब्द करने लगा। ज्यों-ज्यों वह पूर्णतया आर्द्रित होता जाता है, त्यों-त्यों प्रक्षिप्त की हुई बूंदें ठहरती जातीं हैं। वह इसी क्रम से कुछ समय तक निरन्तर बूंदें डालता रहा, परिणाम स्वरुप वह प्याला पानी से लबालब भर गया। तत्पश्चात् वह जितनी बूंदें डालता रहा, उतनी बूंदें प्याले में से निकलती गई। इस उदाहरण से उसने व्यंजनावग्रह का रहस्य समझा। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सुपुप्ति काल में चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों को व्यंजनावग्रह ही होता है, किन्तु जाग्रतावस्था में अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह इस प्रकार दोनों तरह का होता है। श्रोत्रगत उपकरण-इन्द्रिय के साथ समय-समय में जब शव्दपुद्गल सुपुप्तिकाल में क्षयोपशम की मंदता में या अनभ्यस्तदशा में और अनुपयुक्त अवस्था में टकराते रहते हैं। तब असंख्यात समयों में उसे कुछ अव्यक्त ज्ञान होता है, बस वही व्यंजनावग्रह कहलाता है। जैसे कहा भी है—

"तोएण मल्लगंपिव, वंजणमापूरियंति जं भणियं।
तं दव्वमिंदियं वा, तस्संबन्धो व न विरोहो॥"

जब श्रोत्रेन्द्रिय शब्द पुद्गलों से परिव्याप्त हो जाता है, तभी वह सुपुप्त व्यक्ति "हुं" कार शब्द करता है। उस सोए हुए व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता कि यह शब्द क्या है ? किसका है ? उस समय वह जाति-स्वरूप-द्रव्य-गुण-क्रिया-नाम इत्यादि विशेष कल्पना रहित अनिर्दिश्य सामान्यमात्र ही ग्रहण करता है। हुंकार करने से पहले व्यंजनावग्रह होता है। हुंकार भी बिना शब्द पुद्गल टकराए नहीं निकलता। और कभी हुंकार करने पर भी उसे यह भान नहीं रहता कि मैंने हुंकार किया। बार-बार संबोधित करने से जब निद्रा कुछ भंग हो जाती है और अंगड़ाई लेते हुए फिर भी शब्द पुद्गल टकराते ही रहते हैं, वहां तक अवग्रह ही रहता है। यह शब्द किसका है ? मुझे किसने संबोधित किया ? कौन

मुझे जगा रहा है ? यह अवग्रह में नहीं जानता। जब ईहा में प्रवेश करता है तब विचारसरणि से उस ग्रहण किए हुए शब्द की छानबीन करता है। ऊहापोह करने से जब निश्चय की कोटि में पहुंच जाता है, तब वह जानता है कि यह अमुक का शब्द है, उसे अवाय कहते हैं। जब उस सुने हुए शब्द को संख्यात एवं असंख्यात काल तक धारण करके रखता है, तब उसे धारणा कहते हैं। प्रतिबोधक और मल्लक (मिट्टी का प्याला) इन दोनों दृष्टान्तों का सम्बन्ध यहां केवल श्रोत्रेन्द्रिय से है। उपलक्षण से घ्राण-रसना और स्पर्शन का भी समझना चाहिए।

सूत्र में उवगयं पद आया है, इसका सारांश यह है कि जिस ज्ञान से आत्मा पहले अपरिचित था, वह ज्ञान आत्मपरिणत हो गया है "उपगतं भवति सामीप्येनात्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति।" पहले और इस दृष्टन्त में जो श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सूत्र में उल्लेख किया गया है, वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान से सम्बन्धित है, क्योंकि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा श्रुतज्ञान का निकटतम सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है। आत्मोत्थान और कल्याण में मुख्यतया श्रुतज्ञान की प्रधानता है। अतः यहां श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के योग से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह का उल्लेख किया गया है।

अवग्रह आदि के छः उदाहरण

मूलम्—से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा, तेणं 'सद्दो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ, 'के वेस सद्दाइ' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सद्दे।' तओ णं अवायं पविसइ, तओ से अवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा, तेणं 'रूवं' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस रूवं' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस-रूवे त्ति' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं भवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ, संखेज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा, तेणं 'गंध' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस गंधे' त्ति? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस गंधे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं 'रसो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस रसे' त्ति? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस

रसे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा, तेणं 'फासे' त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ 'के वेस फासओ' त्ति? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस फासे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं ,असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा, तेणं 'सुमिणो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस सुमिणे' त्ति, ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सुमिणे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं होइ, तओ धारणं पविसइ, तओ धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं। से त्तं मल्लग-दिट्ठंतेणं ॥सूत्र ३६॥

छाया—स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं शृणुयात्, तेन 'शब्द' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'को वैष शब्दादिः' ? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एष शब्दः'। ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणं प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं रूपं पश्येत्, तेन 'रूप' मित्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'किं वैतद् रूपमिति' ? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुकमेतद्रूपम्'। ततोऽवायं प्रविशति, ततस्तदुपगतं भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं गन्धमाजिघ्रेत्, तेन 'गन्ध' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'को वैष गन्ध' इति ? ततो ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एष गन्ध' इति। ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित् पुरुषोऽव्यक्तं रसमास्वादयेत्, तेन 'रस' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'को वैष रस' इति ? ततः ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एव रसः।' ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं स्पर्शं प्रतिसंवेदयेत्, तेन 'स्पर्श' इत्यवगृहीतम्,

मुझे जगा रहा है ? यह अवग्रह में नहीं जानता। जब ईहा में प्रवेश करता है तब विचारसरणि से उस ग्रहण किए हुए शब्द की छानबीन करता है। ऊहापोह करने से जब निश्चय की कोटि में पहुंच जाता है, तब वह जानता है कि यह अमुक का शब्द है, उसे अवाय कहते हैं। जब उस सुने हुए शब्द को संख्यात एवं असंख्यात काल तक धारण करके रखता है, तब उसे धारणा कहते हैं। प्रतिबोधक और मल्लक (मिट्टी का प्याला) इन दोनों दृष्टान्तों का सम्बन्ध यहां केवल श्रोत्रेन्द्रिय से है। उपलक्षण से घ्राण-रसना और स्पर्शन का भी समझना चाहिए।

सूत्र में उवगयं पद आया है, इसका सारांश यह है कि जिस ज्ञान से आत्मा पहले अपरिचित था, वह ज्ञान आत्मपरिणत हो गया है "उपगतं भवति सामीप्येनात्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति।" पहले और इस दृष्टन्त में जो श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सूत्र में उल्लेख किया गया है, वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान से सम्बन्धित है, क्योंकि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा श्रुतज्ञान का निकटतम सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है। आत्मोत्थान और कल्याण में मुख्यतया श्रुतज्ञान की प्रधानता है। अत: यहां श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के योग से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह का उल्लेख किया गया है।

अवग्रह आदि के छः उदाहरण

मूलम्—से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा, तेणं 'सद्दो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ, 'के वेस सद्दाइ' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सद्दे।' तओ णं अवायं पविसइ, तओ से अवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा, तेणं 'रूवं' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस रूवं' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस-रूवे त्ति' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं भवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ, संखेज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा, तेणं 'गंध' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस गंधे' त्ति? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस गंधे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं 'रसो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस रसे' त्ति? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस

रसे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा, तेणं 'फासे' त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ 'के वेस फासओ' त्ति? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस फासे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं ,असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा, तेणं 'सुमिणो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस सुमिणे' त्ति, ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सुमिणे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं होइ, तओ धारणं पविसइ, तओ धारेइ संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं। से त्तं मल्लग-दिट्ठंतेणं ॥सूत्र ३६॥

छाया—स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं शृणुयात्, तेन 'शब्द' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'को वैष शब्दादिः' ? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एष शब्दः'। ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणं प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं रूपं पश्येत्, तेन 'रूप' मित्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'किं वैतद् रूपमिति' ? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुकमेतद्रूपम्'। ततोऽवायं प्रविशति, ततस्तदुपगतं भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं गन्धमाजिघ्रेत्, तेन 'गन्ध' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'को वैष गन्ध' इति ? ततो ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एष गन्ध' इति। ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित् पुरुषोऽव्यक्तं रसमास्वादयेत्, तेन 'रस' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानाति 'को वैष रस' इति ? ततः ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एव रसः।' ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम्।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं स्पर्शं प्रतिसंवेदयेत्, तेन 'स्पर्श' इत्यवगृहीतम्,

नो चैव जानाति 'को वैष स्पर्श' इति ? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एष स्पर्श' इति । ततोऽवायं प्रविशति, ततः स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम् ।

स यथानामकः कश्चित्पुरुषोऽव्यक्तं स्वप्नं पश्येत्, तेन 'स्वप्न' इत्यवगृहीतम्, नो चैव जानानि 'को वैष स्वप्न' इति? तत ईहां प्रविशति, ततो जानाति 'अमुक एष स्वप्नः' । ततोऽवायं प्रविशति, ततो स उपगतो भवति, ततो धारणां प्रविशति, ततो धारयति संख्येयं वा कालमसंख्येयं वा कालम् । सैषा (प्ररूपणा) मल्लकदृष्टान्तेन ।।सूत्र ३६।।

पदार्थ—से जहानामए—अथ जैसे यथानामक केइ पुरिसे—कोई व्यक्ति अव्वत्तं—अव्यक्त सद्दं—शब्द को सुणिज्जा—सुनकर तेणं सद्दोत्ति—यह कोई शब्द है, इस प्रकार उग्गहिए—ग्रहण किया, किन्तु वह नो चेव णं जाणइ—निश्चय ही नहीं जानता है कि के वेस सद्दाइ ?—यह किसका शब्द है ? तओ—तब ईहं—ईहा में पविसइ—प्रवेश करता है तओ जाणइ—तब जानता है अमुगे एस सद्दे—यह अमुक शब्द है तओ अवायं पविसइ—तत्पश्चात् अवाय में प्रविष्ट होता है तओ से उवगयं हवइ—तब उसे उपगत हो जाता है तओ धारणं पविसइ—तब धारणा में प्रवेश करता है तओ णं—तब संखिज्जं वा कालं—संख्यातकाल अथवा असंखिज्जं वा कालं—असंख्यातकाल पर्यन्त धारेइ—धारण करता है ।

से जहानामए—अथ जैसे केइ पुरिसे—कोई पुरुष अव्वत्तं रूवं—अव्यक्त रूप को पासिज्जा—देखे तेणं—उसने रूवेत्ति—यह कोई रूप है, इस प्रकार उग्गहिए—ग्रहण किया, परन्तु नो चेव णं जाणइ—वह यह नहीं जानता कि के वेस रूवत्ति—यह किस का रूप है ? तओ ईहं पविसइ—तत्पश्चात् ईहा में प्रवेश करता है तओ—तब अमुगे एस रूवे त्ति—यह अमुक रूप है, इस प्रकार जाणइ—जानता है तओ—तब अवायं पविसइ—अपाय में प्रविष्ट होता है तओ—पश्चात् से—उसे उवगयं—उपगत भवइ—हो जाता है तओ धारणं पविसइ—तदनन्तर धारणा में प्रवेश करता है तओ णं—तब संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं—संख्यात व असंख्यातकाल तक धारेइ—धारण करता है ।

से जहानामए—अथ—यथानामक केइ पुरिसे—कोई पुरुप अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा—अव्यक्त गन्ध को सूंघता है तेणं—उसने गंधत्ति—यह कोई गन्ध है, इसप्रकार उग्गहिए—ग्रहण किया, नो चेव णं जाणइ—परन्तु वह यह नहीं जानता कि के वेस गंधत्ति ?—यह कौन-सी गन्ध है ? तओ ईहं पविसइ—तदनन्तर ईहा में प्रवेश करता है तओ—तब अमुगे एस गंधे—यह अमुक प्रकार की गन्ध है जाणइ—ऐसा जानता है तओ अवायं पविसइ—तब अवाय में प्रवेश करता है तओ से उवगयं भवइ—तब उसे उपगत होता है तओ धारणं पविसइ—तब धारणा में प्रवेश करता है तओ णं—तब संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं—संख्यात व असंख्यात काल तक धारेइ—धारण करता है ।

से जहानामए—अथ यथानामक केइ पुरिसे—कोई पुरुप अव्वत्तं—अव्यक्त रसं—रस को आसाइज्जा—आस्वादन करे तेणं—उस ने रसोत्ति—यह कोई रस है, इस प्रकार उग्गहिए—ग्रहण किया नो चेव णं जाणइ—परन्तु वह यह नहीं जानता कि के वेस रसे त्ति ?—यह कौन-सा रस है ? तओ ईहं पविसइ—तदनन्तर ईहा में प्रवेश करता है तओ जाणइ—तब वह जानता है कि अमुगे एस रसे—यह अमुक रस है, तओ अवायं पविसइ—तब अवाय में प्रवेश करता है तओ से—तब वह उवगयं हवइ—उप-

गत होता है **तओ धारणं पविसइ**—तब धारणा में प्रवेश करता है **तओ णं**—तब **संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं**—संख्यात या असंख्यात काल तक **धारेइ**—धारण किए रहता है।

से जहानामए—यथानामक **केइ पुरिसे**—कोई पुरुष **अव्वत्तं फासं**—अव्यक्त स्पर्श को **पडिसंवेइज्जा**—स्पर्श करे **तेणं**—उसने **फासत्ति**—यह कोई स्पर्श है इस प्रकार **उग्गहिए**—ग्रहण किया **नो चेव णं जाणइ**—किन्तु वह यह नहीं जानता कि **के वेस फासओ त्ति?**—यह किस का स्पर्श है? **तओ ईहं पविसइ**—तब ईहा में प्रवेश करता है **तओ जाणइ**—तब जानता है कि **अमुगे एस फासे**—यह अमुक स्पर्श है **तओ अवायं पविसइ**—तब अवाय में प्रवेश करता है, **तओ से उवगयं हवइ**—तब वह उपगत होता है **तओ धारणं पविसइ**—तब धारणा में प्रवेश करता है **तओ णं**—तब **संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं कालं**—संख्यात और असंख्यात काल तक **धारेइ**—धारण करता है।

से जहानामए—अथ यथानामक **केइ पुरिसे**—कोइ पुरुष **अव्वत्तं**—अव्यक्त **सुविणं**—स्वप्न को **पासिज्जा**—देखे **तेणं**—उसने **सुमिणो त्ति**—यह स्वप्न है, इस प्रकार **उग्गहिए**—ग्रहण किया **नो चेव णं जाणइ**—परन्तु वह यह नहीं जानता कि **के वेस सुमिणे त्ति?**—यह कैसा स्वप्न है? **तओ ईहं पविसइ**—तब ईहा में प्रवेश करता है **तओ जाणइ**–तब जानता है कि **अमुगे एस सुमिणे त्ति**–यह अमुक स्वप्न है **तओ अवायं पविसइ**—तदनन्तर अवाय में प्रवेश करता है **तओ से उवगयं होइ**—तब वह उपगत होता है **तओ धारणं पविसइ**–तब धारणा में प्रविष्ट होता है **तओ**—तब **संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं**—सँख्यात व असंख्यातकाल तक **धारेइ**—धारण किए रहता है। **से त्त मल्लग-दिट्ठंतेणं**—इस प्रकार यह मल्लक के दृष्टान्त से व्यंजन अवग्रह का स्वरूप पूर्ण हुआ है।

भावार्थ—जैसे यथानामक किसी व्यक्ति ने अव्यक्त शब्द को सुनकर 'यह कोई शब्द है' इस प्रकार ग्रहण किया, किन्तु वह निश्चय ही यह नहीं जानता है कि 'यह शब्द किस का है?' तब ईहा में प्रवेश करता है, फिर यह जानता है कि 'यह अमुक शब्द है'। तब अवाय—निश्चयज्ञान में प्रवेश करता है। तदनन्तर उसे उपगत हो जाता है, तत्पश्चात् धारणा में प्रवेश करता है, तब संख्यातकाल और असंख्यातकाल पर्यन्त उसे धारण करता है।

जैसे—अज्ञात नामवाला कोई पुरुष अव्यक्त—अस्पष्ट रूप को देखे, उसने 'यह कोई रूप है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह किस का रूप है'? तत्पश्चात् ईहा—तर्क में प्रविष्ट होता है फिर 'यह अमुक रूप है' इस प्रकार जानता है। फिर अपाय में प्रविष्ट होता है। तब वह उपगत हो जाता है, फिर धारणा में प्रवेश करता है और संख्यात अथवा असंख्यातकाल तक उसे धारण करके रखता है।

जैसे—यथानामक कोई पुरुष अव्यक्त गन्ध को सूंघता है, उसने 'यह कोई गन्ध है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह कौन-सी गन्ध है?' तदनन्तर ईहा में प्रवेश करता है, तब 'यह अमुक प्रकार का गन्ध है' ऐसा जानता है। फिर अवाय

में प्रवेश करता है, तब वह गन्ध उसे उपगत हो जाता है। तत्पश्चात् संख्यात व असंख्यात काल तक उसे धारण किए रहता।

जैसे—यथानामक कोई पुरुष किसी रसका आस्वादन करे, उसने 'यह रस है' इस प्रकार ग्रहण किया, किन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह कौन-सा रस है ?' तब वह ईहा में प्रवेश करता है, तब वह जानता है कि 'यह अमुक रस है।' तब अवाय में प्रवेश करता है, फिर उसे वह उपगत होता है, तब धारणा में प्रवेश करता है। तदनन्तर संख्यात व असंख्यात काल तक धारण किए रहता है।

जैसे—यथानामक कोई पुरुष अव्यक्त स्पर्श को स्पर्श करता है, उसने 'यह कोई स्पर्श है' इस प्रकार ग्रहण किया ? किन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह किस प्रकार का स्पर्श है ? तब ईहा में प्रवेश करता है, फिर जानता है कि 'यह अमुक का स्पर्श है'। फिर अवाय में प्रवेश करता है, तब वह उपगत होता है, फिर धारणा में प्रवेश करता है। तब संख्यात व असंख्यातकाल पर्यन्त धारण करता है।

जैसे—यथानामक कोई पुरुष अव्यक्त स्वप्न को देखे, उसने 'यह स्वप्न है, इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह कैसा स्वप्न है ?' तब ईहा में प्रवेश करता है, तब जानता है, कि 'यह अमुक स्वप्न है।' तदनन्तर अवाय में प्रवेश करता है, फिर वह उपगत होता है। तत्पश्चात् धारणा में प्रविष्ट होता है और संख्यात व असंख्यात-काल तक धारण किए रहता है।

इस प्रकार यह मल्लक के दृष्टान्त से यंव्जन-अवग्रह का स्वरूप सम्पन्न हुआ ॥सूत्र ३६॥

टीका--इस सूत्र में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन का सोदाहरण सविस्तर वर्णन किया गया है। जैसे कि जाग्रत अवस्था में किसी व्यक्ति ने अव्यक्त शब्द को सुना, किन्तु उसे मालूम नहीं कि यह शब्द किस का है ? जीव का है या अजीव का ? अथवा यह शब्द किस व्यक्ति का है ? तत्पश्चात् ईहा में प्रवेश करता है, तब वह जानता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का होना चाहिए, क्योंकि यह अन्वय व्यतिरेक से ऊहापोह करके निर्णय कर लेता है। निर्णय हो जाने पर कि यह शब्द अमुक का ही है, इस को अवाय कहते हैं। निश्चय किए हुए दृढनिर्णय को संख्यात काल एवं असंख्यात काल तक धारण किए रखना, इसी को धारणा कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय का अर्थावग्रह होता है, व्यंजनावग्रह नहीं। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। नोइन्द्रिय पद मन का वाचक है, उस की स्पष्टता के लिए सूत्रकार ने स्वप्न का उदाहरण दिया है। स्वप्न में द्रव्य इन्द्रियां काम नहीं करती, भावेन्द्रियां और मन, ये ही काम करते हैं। व्यक्ति जो स्वप्न में सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है, छूता है और चिन्तन-मनन करता है, इन में मुख्यता मन की है।

बहुग्राही	६ अवग्रह	६ ईहा	६ अवाय	६ धारणा
अल्पग्राही	"	"	"	"
बहुविधग्राही	"	"	"	"
एकविधग्राही	"	"	"	"
क्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अक्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अनिश्रितग्राही	"	"	"	"
निश्रितग्राही	"	"	"	"
असंदिग्धग्राही	"	"	"	"
संदिग्धग्राही	"	"	"	"
ध्रुवग्राही	"	"	"	"
अध्रुवग्राही	"	"	"	"

१. बहु—इसका अर्थ अनेक से है, यह संख्या और परिमाण दोनों की अपेक्षा से हो सकता है। वस्तु की अनेक पर्यायों को तथा बहुत परिमाण वाले द्रव्य को जानना या किसी बहुत बड़े परिमाण वाले विषय को जानना।

२. अल्प—किसी एक ही विषय को, या एक ही पर्याय को स्वल्पमात्रा में जानना।

३. बहुविध—किसी एक ही द्रव्य को, या एक ही वस्तु को, या एक ही विषय को बहुत प्रकार से जानना, जैसे वस्तु का आकार, प्रकार, रंग-रूप, लंबाई-चौड़ाई, मोटाई, उस की अवधि इत्यादि अनेक प्रकार से जानना।

४. अल्पविध—किसी भी वस्तु को या पर्याय को जाति या संख्या आदि को अत्यल्प प्रकार से जानना, अधिक भेदों सहित न जानना।

५. क्षिप्र—किसी वक्ता के या लेखक के भावों को यथाशीघ्र किसी भी इन्द्रिय या मन के द्वारा जान लेना। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा अन्धकार में भी व्यक्ति को या वस्तु को पहचान लेना।

६. अक्षिप्र—क्षयोपशम की मन्दता से या विक्षिप्त उपयोग से किसी भी इन्द्रिय या मन के विषय को अनभ्यस्तावस्था में कुछ विलंब से जानना, यथाशीघ्र नहीं।

७. अनिश्रित—विना ही किसी हेतु के, विना किसी निमित्त के वस्तु की पर्याय और गुण को जानना। व्यक्ति के मस्तिष्क में ऐसी सूझ बूझ पैदा होना जबकि वही बात किसी शास्त्र या पुस्तक में भी लिखी हुई मिल जाए।

८. निश्रित—किसी हेतु, युक्ति, निमित्त, लिंग, प्रमित आदि के द्वारा जानना। एक ने शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को ही उपयोग की एकाग्रता से अकस्मात् चन्द्र दर्शन कर लिए, दूसरे ने किसी बाह्य निमित्त से चन्द्र दर्शन किए, इन में पहला, पहली कोटि में और दूसरा, दूसरी कोटि में गर्भित हो जाता है।

९. असंदिग्ध—किसी व्यक्ति ने जिस पर्याय को जाना, वह भी विना ही संदेह के जाना, जैसे यह माल्टे का रस है, यह नारंगी का है, यह सन्तरे का रस है। यह गुलाब, गेन्दा, चम्पा, चमेली, जूही, मौलसरी, इत्यादि। स्पर्श से, तथा गन्ध से अन्धकार में भी उन्हें पहचान लेना। अपने अभीष्ट व्यक्ति

को दूर से आते हुए ही पहचान लेना। यह सोना है, यह पीतल है, यह वैडूर्य मणि है, यह काचमणि है, इस प्रकार बिना संदेह किए पहचानना।

१०. संदिग्ध—कुछ अन्धेरे में यह ठूंठ है या कोई महाकाय वाला व्यक्ति है ? यह धूआं है या बादल ? यह पीतल है या सोना ? यह रजत है, या शुक्ति ? इस प्रकार किसी वस्तु को संदिग्ध रूप से जनना, क्योंकि व्यावर्तक के बिना सन्देह दूर नहीं होता।

११. ध्रुव—इन्द्रिय और मन, इन का निमित्त सही मिलने पर विषय को नियमेन जानना। कोई मशीन का पुर्जा खराब होने से मशीन अपना काम ठीक नहीं कर रही। यदि तद्विषयक विशेषज्ञ चीफ इंजनियर आकर नुक्स को देखता है, तो यह अवश्यंभावी है, कि वह खराब हुए पुर्जे को पहचान लेता है। इसी प्रकार जो जिस विषय का विशेषज्ञ है, उसे तद्विषयक गुण-दोष का जान लेना अवश्यंभावी है।

१२. ध्रुव—निमित्त मिलने पर भी कभी ज्ञान हो जाता है, और कभी नहीं, कभी चिरकाल तक रहने वाला होता है, कभी नहीं।

वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव इन में विशिष्ट क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता, अभ्यस्तता, ये असाधारण कारण हैं। तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव, इन से होने वाले ज्ञान में क्षयोपशम की मन्दता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्तता, ये अन्तरङ्ग असाधारण कारण हैं। किसी के चक्षुरिन्द्रिय की प्रबलता होती है, तो अपने अनुकूल-प्रतिकूल को तथा शत्रु-मित्र को और किसी अभीष्ट वस्तु को बहुत दूर से ही देख लेता हैं। किसी के श्रोत्रेन्द्रिय बड़ी प्रबल होती है, वह मन्दतम शब्द को भी बड़ी आसानी से सुन लेता है। जिस से वह साधक और बाधक कारणों को पहले से ही जान लेता है। किसी की घ्राणेन्द्रिय तीव्र होती है, वह परोक्ष में रही हुई वस्तु को भी ढूंढ लेता है। मिट्टी को सूंघ कर ही जान लेता है कि इस भूगर्भ में किस धातु की खान है ? कुत्ते पद चिन्हों को सूंघकर अपने स्वामी को या चोर को ढूंढ लेते हैं। कीड़ी-चींटी सूंघ कर ही परोक्ष में रहे हुए खाद्य पदार्थ को ढूंढ लेती है। विशेषज्ञ भी सूंघ कर ही असली नकली वस्तु की पहचान कर लेते हैं। कोई रसीले पदार्थों को चखकर ही उस का मूल्यांकन कर लेते हैं। उस में रहे हुए गुण दोष को भी जान लेते हैं। प्रज्ञाचक्षु या कोई अन्य व्यक्ति लिखे हुए अक्षरों को स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा पढकर सुना देते हैं। यह कौन व्यक्ति है ? वे स्पर्श करते ही पहचान लेते है। किसी का नोइन्द्रिय उपयोग तीव्र होता है, ऐसे व्यक्ति की चिन्तन शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जो आगे आने वाली घटना है या शुभाशुभ परिणाम है, उसे वह पहले ही जान लेता है। ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम के विचित्र परिणाम हैं।

पांच इन्द्रियां और छठा मन, इन के माध्यम से मतिज्ञान उत्पन्न होता है, इन छहों को अर्थावग्रह एवं ईहा, अवाय, धारणा के साथ जोड़ने से २४ भेद बन जाते हैं। चक्षु और मन को छोड़ कर चार इन्द्रियों के साथ व्यंजनावग्रह भी होता है। २४ में चारकी संख्या जोड़ने से २८ हो जाते हैं। २८ को बारह भेदों से गुणा करने पर ३३६ भेद हो जाते हैं।

प्रकारान्तर से ३३६ भेद इस तरह हैं—उपर्युक्त छहों का अर्थावग्रह एवं छहों की ईहा, इसी प्रकार अवाय और धारणा के भी ६-६ भेद बनते हैं। कुल मिला कर २४ भेद बनते हैं। २४ को उक्त

बारह भेदों से गुणाकार करने पर २८८ भेद बनते हैं। व्यंजनावग्रह प्राप्यकारी इन्द्रियों का ही होता है। चार को उक्त बारह भेदों से गुणा करने से ४८ भेद बनते हैं। २८८ में ४८ की संख्या जोड़ने से ३३६ भेद बन जाते हैं। मतिज्ञान के जो ३३६ भेद दिखलाए हैं, ये सिर्फ स्थूल दृष्टि से ही समझने चाहिए, वैसे तो मतिज्ञान के अनन्त भेद होते हैं।

अवग्रह दो प्रकार का होता है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक अवग्रह एक समय का होता है और व्यावहारिक असंख्यात समय का। नैश्चयिक अवग्रह होने से ही व्यावहारिक अवग्रह हो सकता है। विषय ग्रहण तो पहले समय में ही हो जाता है, किन्तु अव्यक्त रूप होने से संख्यातीत समयों में ज्ञात होता है। 'अ' के उच्चारण करने में भी असंख्यात समय लग जाते हैं। अनेक अक्षरों का पद और अनेक पदों का वाक्य बनता है। जब एक अक्षर के उच्चारण में भी असंख्यात समय लगते हैं, तब एक शब्द या वाक्य के उच्चारण में असंख्यात समय क्यों न लगें? यदि विषय को पहले समय में ही ग्रहण न किया होता तो दूसरा समय अकिंचित्कर ही होता। वस्त्र फाड़ने के समय जब पहली तार टूटती है, तो दूसरी भी और तीसरी भी टूटेगी, किन्तु जब उसकी पहली ही तार नहीं टूटी, तब दूसरी तार कैसे टूटेगी? बस यही उदाहरण अवग्रह के विषय में समझना चाहिए। पहले समय में नैश्चयिक अवग्रह से ही विषय को ग्रहण कर लिया जाता है, वही आगे चलकर विकसित हो जाता है।

दूसरा उदाहरण—उचित समय में बुवाई करने पर, जब बीज को मिट्टी और पानी का संयोग हुआ, उसी समय में वह बीज उगने लग जाता है। प्रतिक्षण वह उग रहा है, किन्तु बाहिर कुछ घंटों में या दिनों में अंकुर दृष्टिगोचर होता है। बीज में अंकुर होने की तैयारी पहले समय में ही हो जाती है। जो बीज अंकुर के अभिमुख होने वाला है, परन्तु हुआ नहीं। बस इसी तरह अवग्रह भी पहले समय से चालू होता है, उसी अव्यक्त अवस्था को अवग्रह कहते हैं। किन्हीं का अभिमत है कि जो अर्थावग्रह के अभिमुख है, उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं, जो ईहा के अभिमुख है, वह अर्थावग्रह कहलाता है। वास्तव में देखा जाए तो जो ग्रहण किया हुआ विषय अत्यल्प समय में ईहा के अभिमुख होता है, वह अर्थावग्रह कहलाता है। जो बहुत विलंब से ईहा के अभिमुख होता है, वह व्यंजनावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह पटुक्रमी होता है और व्यंजनावग्रह मन्दक्रमी। लगते दोनों में ही असंख्यात समय हैं, परन्तु असंख्यात के भी असंख्यात भेद होते हैं। कल्पना करो सौ में से दस को संख्यात और ग्यारह से लेकर १०० तक असंख्यात मान लें, तो पहला हिस्सा भी असंख्यात है और पिछला भाग भी असंख्यात है, दोनों में अन्तर बहुत है। वैसे ही अर्थावग्रह में असंख्यात समय अल्पमात्रा में लगते हैं, जब कि व्यंजनावग्रह में अधिक मात्रा में असंख्यात समय लगते हैं।

किन्हीं की मान्यता है कि बहु, बहुविध, इत्यादि छ अर्थावग्रह है और अल्प, अल्पविध इत्यादि छ व्यंजनावग्रह है। क्या दोनों अवग्रहों की ऐसी परिभाषा उचित है? नहीं, क्योंकि १२ भेद अर्थावग्रह के हैं और १२ ही व्यंजन-अवग्रह से भी सम्बन्धित हैं।

क्या अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रमशः होते हैं या व्यतिक्रम से भी? जो भी ज्ञान होता है, इसी क्रम से होता है, व्यतिक्रम से नहीं। ज्ञान कभी अवग्रह तक ही सीमित रह जाता है, कभी अवग्रह, ईहा तक रह जाता है, कभी अवग्रह, ईहा और अवाय तक होकर रह जाता है और कभी अवग्रह से लेकर धारणा तक पहुंच जाता है, इसी को विकसित ज्ञान कहते हैं। यदि धारणा शक्ति दृढ़तम हो, तो वह ज्ञान पूर्णतया विकसित कहलाता है। व्यतिक्रम से ज्ञान का होना नितान्त असंभव है। अवग्रह

में आया हुआ विषय प्रयत्न से विकासोन्मुख किया जाता है, स्वतः नहीं। इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि कुछ एक विचारक ईहा को संशयात्मिका मानते हैं, यह कैसे ? इसका समाधान है—अवग्रह और ईहा के अन्तराल में संशय हो सकता है। ईहा तो संशयातीत विचारणा का नाम है। संशय अज्ञान रूप होने से अप्रामाणिक है, किन्तु ईहा प्रमाण की कोटि में गर्भित होने से ज्ञान रूप है, क्योंकि विवेक सहित विचारणा ही ईहा है ।।सूत्र ३६।।

पुनः द्रव्यादि से मतिज्ञान का स्वरूप

मूलम्—तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ।

१. तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ।

२. खेत्तओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ।

३. कालओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वं कालं जाणइ, न पासइ।

४. भावओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ।

छाया—तत्समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतः।

१. तत्र द्रव्यतो आभिनिबोधिकज्ञानी-आदेशेन सर्वाणि द्रव्याणि जानाति, न पश्यति।

२. क्षेत्रत आभिनिबोधिकज्ञानी—आदेशेन सर्वं क्षेत्रं जानाति, न पश्यति।

३. कालत आभिनिबोधिकज्ञानी—आदेशेन सर्वं कालं जानाति, न पश्यति।

४. भावत आभिनिबोधिकज्ञानी—आदेशेन सर्वान् भवान् जानाति, न पश्यति।

भावार्थ—वह आभिनिबोधिक—मतिज्ञान संक्षेप में चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भाव से। इनमें—

१. द्रव्य से मतिज्ञान का धर्त्ता सामान्य प्रकार से सब द्रव्यों को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

२. क्षेत्र से मतिज्ञानी सामान्यरूप से सर्व क्षेत्र को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

३. काल से मतिज्ञानी सामन्यतः तीन काल को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

४. भाव से मतिज्ञान वाला सामन्यतः सब भावों को जानता है, परन्तु देखता नहीं।

आभिनिबोधिक ज्ञान का उपसंहार

मूलम्—१. उग्गह ईहाऽवाओ य, धारणा एव हुंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाणस्स, भेयवत्थू समासेणं ॥८३॥

छाया—१. अवग्रह ईहाऽवायश्च, धारणा-एवं भवन्ति चत्वारि।
आभिनिबोधिकज्ञानस्य, भेदवस्तूनि समासेन ॥८३॥

पदार्थ—आभिणिबोहियनाणस्स—आभिनिबोधिक ज्ञान के उग्गह ईहाऽवाय—अवग्रह, ईहा, अवाय य—और धारणा—धारणा चत्तारि—चार एव—क्रम प्रदर्शन के लिए, भेयवत्थू—भेद—विकल्प हुंति—होते हैं।

भावार्थ—आभिनिबोधिकज्ञान—मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रम से ये चार भेद—वस्तु-विकल्प संक्षेप में होते हैं।

मूलम्—२. अत्थाणं उग्गहणम्मि, उग्गहो तह वियालणे ईहा।
ववसायम्मि अवायो, धरणं पुण धारणं बिंति ॥८३॥

छाया—२. अर्थानामवग्रहणे, अवग्रहस्तथा विचारणे-ईहा।
व्यवसायेऽवायः, धरणं पुनर्धारणां ब्रुवते ॥८३॥

पदार्थ—अत्थाणं—अर्थों के उग्गहणम्मि—अवग्रहण को उग्गहो—अवग्रह तह—तथा वियालणे अर्थों के पर्यालोचन को ईहा—ईहा, ववसायम्मि—अर्थों के निर्णय को अवायो—अपाय पुण—पुनः धरणं अर्थों की अविच्युति स्मृति और वासना रूप को धारणं—धारणा बिंति—कहते हैं।

भावार्थ—अर्थों के अवग्रहण को अवग्रह, तथा अर्थों के पर्यालोचन को ईहा, अर्थों के निणर्यात्मक ज्ञान को अपाय और उपयोग की अविच्युति, स्मृति और वासना रूप को धारणा कहते हैं।

मूलम्—३. उग्गह इक्कं समयं, ईहावाया मुहुत्तमद्धं तु।
कालमसंखं संखं च, धारणा होइ नायव्वा ॥८४॥

छाया—३. अवग्रह एकं समयं, ईहावायौ मुहूर्त्तमर्द्धन्तु।
कालमसंख्येयं संख्येयञ्च, धारणा भवति ज्ञातव्या ॥८४॥

पदार्थ—उग्गह—अवग्रह इक्कं समयं—एक समय प्रमाण, ईहावाया—ईहा और अवाय मुहु-

समद्धं—अर्द्ध मुहूर्त प्रमाण तु—विशेषणार्थ च—और धारणा—धारणा कालमसंखं संखं—संख्यात व असंख्यात काल पर्यन्त होती है, नायव्वा—इस प्रकार जानना चाहिए।

भावार्थ—अवग्रह-नैश्चयिक ज्ञान का काल परिमाण एक समय, ईहा और अपायज्ञान का समय अर्द्धमुहूर्त्त प्रमाण तथा धारणा का काल परिमाण संख्यात व असंख्यात काल पर्यन्त है। इस प्रकार समझना चाहिए।

मूलम्—४. पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥८५॥

छाया—४. स्पृष्टं शृणोति शब्दं, रूपं पुनः पश्यत्यस्पृष्टन्तु।
गन्धं रसं च स्पर्शञ्च, बद्धस्पृष्टञ्च व्यागृणीयात् ॥८५॥

पदार्थ—आत्मा सद्दं—शब्द को पुट्ठं—श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा स्पृष्ट हुए को सुणेइ—सुनता है, किन्तु रूवं—रूप को पुण—फिर अपुट्ठं—बिना स्पृष्ट हुए ही पासइ—देखता है, 'तु'—शब्द एवकार अर्थ में आया हुआ है, इससे चक्षु इन्द्रिय अप्राप्य कारी सिद्ध किया गया है। गंधं च—गन्ध रसं च—और रस फासं च—और स्पर्श को बद्धपुट्ठं—बद्धस्पृष्ट को जानता है, वियागरे—ऐसा कहना चाहिए।

भावार्थ—श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा स्पृष्ट हुआ शब्द सुना जाता है, किन्तु रूप को बिना स्पृष्ट किए ही देखता है, 'तु' शब्द का प्रयोग 'एवकार' के अर्थ में हैं, इससे चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। गन्ध, रस और स्पर्श को बद्ध-स्पृष्ट अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियों से बद्ध और स्पृष्ट हुए को ही कहना चाहिए अर्थात् घ्राण, रसन और स्पर्शन इन्द्रियों से बद्धस्पृष्ट हुआ पुद्गल जाना जाता है।

मूलम्—५. भासा-समसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसियं सुणइ।
वीसेढी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पराघाए ॥८६॥

छाया—५. भाषा-समश्रेणीतः, शब्दं यं शृणोति मिश्रितं शृणोति।
विश्रेणिं पुनः शब्दं, शृणोति नियमात्पराघाते ॥८६॥

पदार्थ—भासा—वक्ता द्वारा छोड़े जाते हुए पुद्गल-समूह को समसेढीओ—समश्रेणियों में स्थित जं—जिस सद्दं—शब्द को सुणइ—सुनता है उसको मीसियं—मिश्रित को सुणइ—सुनता है। पुण—पुनः वीसेढी—विश्रेणि व्यवस्थित सद्दं—शब्द को श्रोता नियमा—नियम से पराघाए—पराघात होने पर ही सुनता है।

भावार्थ—वक्ता द्वारा छोड़े जाते हुए भाषारूप पुद्गल समूह को समश्रेणियों में

स्थित जिस शब्द को श्रोता सुनता है, उसे नियमेन अन्य शब्दों से मिश्रित ही सुनता है। विश्रेणि व्यवस्थित शब्द को श्रोता—सुनने वाला नियम से पराघात होने पर ही सुनता है।

मूलम्—६. ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सन्ना-सई-मई-पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं ॥८७॥
से त्तं आभिणिबोहियनाण-परोक्खं, से त्तं मइनाणं ॥सूत्र ३७॥

छाया—६. ईहा अपोह-विमर्शः, मार्गणा च गवेषणा ।
संज्ञा-स्मृतिः मति-प्रज्ञा, सर्वमाभिनिबोधिकम् ॥८७॥
तदेतदाभिनिबोधिकज्ञान-परोक्षं, तदेतन्मतिज्ञानम् ॥सूत्र ३७॥

पदार्थ—**ईहा**—सदर्थ पर्यालोचन रूप, **अपोह**—निश्चय रूप, **वीमंसा**—विमर्श रूप, **य**—और **मग्गणा**—अन्वयधर्म रूप **गवेसणा**—व्यतिरेक धर्म रूप तथा **सन्ना**—संज्ञा **सई**—स्मृति **मई**—मति और **पन्ना**—प्रज्ञा ये **सव्वं**—सब **आभिणिबोहियं**—आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं। **से त्तं आभिणिबोहियनाण-परोक्खं**—इस प्रकार यह मतिज्ञान का स्वरूप है। **से त्तं मइनाणं**—मतिज्ञान सम्पूर्ण हुआ।

भावार्थ—ईहा—सदर्थ पर्यालोचन रूप, अपोह—निश्चयात्मकज्ञान, विमर्श, मार्गणा-अन्वयधर्मरूप और गवेषणा—व्यतिरेक धर्मरूप तथा संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा ये सब आभिनिबोधिक—मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं। यह आभिनिबोधिकज्ञान-परोक्ष का विवरण पूर्ण हुआ। इस प्रकार मतिज्ञान का प्रकरण सम्पूर्ण हुआ ॥सूत्र ३७॥

टीका—इस सूत्र में मतिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संक्षेप में चार भेद वर्णन किए गए हैं, जैसे—

१. **द्रव्यतः**—द्रव्य से आभिनिबोधिकज्ञानी आदेश से सभी द्रव्यों को जानता है, परन्तु देखता नहीं। प्रस्तुत प्रकरण में 'आदेश' शब्द प्रकार का वाची है, वह सामान्य और विशेषरूप, इस प्रकार दो भेदों में विभक्त है, किन्तु यहाँ पर तो केवल सामान्यरूप ही ग्रहण करना चाहिए। अतः मतिज्ञानी सामान्य आदेश के द्वारा धर्मास्तिकायादि सर्व द्रव्यों को जानता है, किन्तु कुछ विशेषरूप से भी जानता है अथवा मतिज्ञानी सूत्रादेश के द्वारा सर्व द्रव्यों को जानता है, परन्तु साक्षात् रूप से नहीं देखता है। यहाँ शंका हो सकती है कि जो सूत्र के आदेश से द्रव्यों का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो श्रुत-ज्ञान हुआ, किन्तु यह प्रकरण है, मतिज्ञान का ? इस शंका का निराकरण करते हुए कहा जाता है कि यह श्रुत है, न तु श्रुतज्ञान, क्योंकि श्रुतनिश्रित को भी मतिज्ञान प्रतिपादन किया गया है। इस विषय में भाष्यकार का भी यही अभिमत है, यथा—

"आदेसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं ।
पसरइ तब्भावणया, विणावि सुत्ताणुसारेणं ॥"

अतः इसे मतिज्ञान ही जानना चाहिए, श्रुतज्ञान नहीं। तथा सूत्रकार ने आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं

जाणइ न पासइ इसमें 'न पासइ पद' दिया है, किन्तु व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र[1] में—"दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्व दव्वाइं जाणइ, पासइ" ऐसा पाठ दिया गया है। इसके विषय में वृत्तिकार अभयदेवसूरि निम्न प्रकार से लिखते हैं—

"दव्वओ णं, इति द्रव्यमाश्रित्याभिनिबोधिकज्ञानविषयं द्रव्यं वाश्रित्य यदा आभिनिबोधिकज्ञानं तत्र आएसेणं ति आदेशः—प्रकारः सामान्यविशेषरूपस्तत्र चादेशेन–ओघतो द्रव्यमात्रतया न तु तद्गत सर्वविशेषापेक्षयेति भावः, अथवा आदेशेन श्रुतपरिकर्मितया सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, अवायधारणापेक्षयाऽवबुध्यते, ज्ञानस्यावायधारणारूपत्वात्, 'पासइ' ति पश्यति, अवग्रहेहापेक्षयाऽवबुध्यते, अवग्रहेहयो दर्शनत्वात्, आह च भाष्यकार—

"नाणमवायधिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ।
तह तत्तरूई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं॥"

तथा जं सामान्नग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं, अवग्रहेहे च सामान्यार्थग्रहणरूपे, अवाय धारणे च विशेषग्रहणस्वभावे इति। नन्वष्टाविंशति भेदमानमाभिनिबोधिकज्ञानमुच्यते, यदाह—आभिनिबोहियनाणे अट्ठावीसं हवंति पयडीओ त्ति, इह च व्याख्याने श्रोत्रादिभेदेन षड्भेदतयाऽवायधारणयोर्द्वादशविधं मतिज्ञानं प्राप्तं तथा श्रोत्रादिभेदेन षड्भेदतयाऽर्थावग्रहईहयोर्व्यञ्जनावग्रहस्य च चतुर्विधतया षोड्शविधं चक्षुरादिदर्शनमिति प्राप्तमिति कथं न विरोधः? सत्यमेतत्, किन्त्वविवक्षयित्वा मतिज्ञानचक्षुरादिदर्शनयोर्भेदं मतिज्ञानमष्टाविंशतिधोच्यते इति पूज्या व्याचक्षते-इति।"

इस वृत्ति का सारांश यह है कि मतिज्ञानी सर्व द्रव्यों को अवाय और धारणा की अपेक्षा से जानता और अवग्रह तथा ईहा की अपेक्षा से देखता है, क्योंकि अवाय और धारणा ज्ञान के बोधक हैं और अवग्रह व ईहा ये दोनों दर्शन के बोधक हैं। अतः पासइ यह क्रिया ठीक ही है, किन्तु नन्दीसूत्र के वृत्तिकार यह लिखते हैं कि न पासइ से यह अभिप्राय है कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के सर्व पर्याय आदि को नहीं देखता। वास्तव में दोनों ही अर्थ यथार्थ हैं।

२. क्षेत्रतः—मतिज्ञानी आदेश से सभी लोकालोक क्षेत्र को जानता है, किन्तु देखता नहीं।
३. कालतः—मतिज्ञानी आदेश से सभी काल को जानता है, किन्तु देखता नहीं।
४. भावतः—आभिनिबोधिकज्ञानी आदेश से सभी भावों को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

भाष्यकार ने दो गाथाओं में उक्त विषय को स्पष्ट किया है, यथा—

"आएसो त्ति पगारो, ओघाएसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिकाइयाइं, जाणइ न उ सव्वभावेणं॥
खेत्तं लोकालोकं, कालं सव्वद्धमहव तिविहं वा।
पंचोदयाईए भावे, जं नेयमेवइयं॥"

अतः अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा में चारों संक्षेप से मतिज्ञान के वस्तु भेद वर्णन किए गए हैं। अर्थों के सामान्य रूप से तथा अव्यक्त रूप से ग्रहण करना अवग्रह, तत्पश्चात् पदार्थों के पर्यालोचन

---

१. भगवत सू० श० ८, उ० २, सू० ३२२।

रूप विचार को ईहा। पदार्थों के यथार्थ निर्णय को अवाय और धारण करने को धारणा कहते हैं। किन्तु ७६वीं गाथा पाठान्तर रूप में इस प्रकार भी देखी जाती है—

"अत्थाणं उग्गहणं च, उग्गहं तह वियालणं ईहं।
ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं विंति॥"

अब सूत्रकर्त्ता इन चारों के काल-मान के विषय में कहते हैं—

अवग्रह का नैश्चयिक काल पहला समय, (जिसके दो भाग न हो सकें, अविभाज्य काल को समय कहा जाता है।) ईहा और अवाय का कालपरिमाण अन्तर्मुहूर्त, (दो समय से लेकर कुछ न्यून ४८ मिनट पर्यन्त को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।) धारणा संख्यातकाल तथा असंख्यात काल प्रमाण रह सकती है। यह कालमान आयु की दृष्टि से और भव की दृष्टि से समझना चाहिए। जैसे—किसी की आयु पल्योपम अथवा सागरोपम परिमित है। जीवन के पहले भाग में कोई विशेष शुभाशुभ कारण होगया, उसे आयु पर्यन्त स्मृति में रखना, वह धारणा कही जाती है। भव आश्रय से भी जैसे किसी को जातिस्मरण ज्ञान हो जाने से गत अनेक भवों का स्मरण हो आना, असंख्यातकाल को सूचित करता है।

श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट होने पर ही अपने विषय को ग्रहण करता है। चक्षुरिन्द्रिय विना स्पृष्ट किए ही रूप को ग्रहण करता है। घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय ये अपने-अपने विषय को बद्धस्पृष्ट होने पर ही ग्रहण करते हैं। इस विषय में वृत्तिकार के निम्न शब्द हैं—

"तत्र स्पृष्टमित्यात्मनाऽलिङ्गितं बद्धं—तोयवदात्मप्रदेशैरात्मीकृतम्—आलिङ्गितानन्तरमात्मप्रदेशैरा-गृहीतमित्यर्थः।"

१२ योजन से आए हुए शब्द को सुनना, यह श्रोत्रेन्द्रिय कि उत्कृष्ट शक्ति है। ९ योजन से आए हुए गन्ध, रस, और स्पर्श के पुद्गलों का ग्रहण करने की घ्राण, रसना एवं स्पर्शन इन्द्रियों की उत्कृष्ट शक्ति है। चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति रूप को ग्रहण करने की लाख योजन से कुछ अधिक है। यह कथन अभास्वर द्रव्य की अपेक्षा से समझना चाहिए, किन्तु भास्वर द्रव्य तो २१ लाख योजन से भी देखा जा सकता है। जघन्य से तो अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र पुद्गलद्रव्य को सभी इन्द्रियें अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती हैं।

शब्द रूप में परिणत भाषा के पुद्गल यदि समश्रेणि में लहर की तरह फैलते हुए हमारे सुनने में आते हैं तो उसी सम श्रेणी में विद्यमान अन्य भाषा वर्गणा के पुद्गल से मिश्रित सुनने में आते हैं। यदि विश्रेणि में भाषा के पुद्गल चले जाएं, तो नियमेन अन्य प्रबल पुद्गल से टकराकर, अन्य-अन्य शब्दों से मिश्रित होकर सुनने में आते हैं। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

"भाष्यत इति भाषा-वाक् शब्दरूपतया उत्सृज्यमाना द्रव्यसंततिः, सा च वर्णात्मिका भेरीभांकारादि-रूपा वा द्रष्टव्या, तस्याः समाः श्रेणयः, श्रेणयो नाम क्षेत्रप्रदेशपंक्तयोऽभिधीयन्ते, ताश्च सर्वस्यैव भाषमाणस्य षट्सु दिक्षु विद्यन्ते यासूत्सृष्टा सती भाषा प्रथमसमय एव लोकान्तमनुधावति—इत्यादि।"

इससे भली-भांति सिद्ध हुआ कि भाषा पुद्गल मिश्र रूप में सुने जाते हैं। वे चतुःस्पर्शी भाषा के पुद्गल जब बाहिर के पुद्गलों से संमिश्र हो जाते हैं, तब वे आठ स्पर्शी हो जाते हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

सादिकश्रुत, ८. अनादिकश्रुत, ९. सपर्यवसितश्रुत, १०. अपर्यवसितश्रुत, ११. गमिकश्रुत, १२. अगमिकश्रुत, १३. अङ्गप्रविष्टश्रुत और १४. अनङ्गप्रविष्टश्रुत ॥सूत्र ३८॥

टीका—मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान भी परोक्ष है, श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन प्रारम्भ किया है। इस सूत्र में श्रुतज्ञान के १४ भेदों का नामोल्लेख किया है—जैसे कि अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असंज्ञी, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सान्त, अनन्त, गमिक, अगमिक, अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाहिर ये १४ भेद श्रुतज्ञान के कथन किए गए हैं। इनकी व्याख्या क्रमशः सूत्रकर्त्ता स्वयमेव आगे करेंगे। किन्तु यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि जब अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत दोनों में शेष भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है, तब शेष १२ भेदों का नामोल्लेख क्यों किया है ?

इसका उत्तर यह है कि जिज्ञासु मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, व्युत्पन्नमति वाले और अव्युत्पन्नमति वाले। इनमें जो अव्युत्पन्नमति वाले व्यक्ति हैं, उनके विशिष्ट बोध के लिए सूत्रकार ने उपर्युक्त १२ भेदों का उपन्यास किया है, क्योंकि ये अक्षरश्रुत एवं अनक्षरश्रुत इन दोनों भेदों के द्वारा उपर्युक्त शेष भेदों का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। उन्हें भी इस गहन विषय का ज्ञान हो सके, इस पुनीत लक्ष्य को दृष्टिगोचर रखते हुए सूत्रकार ने शेष भेदों का भी उल्लेख किया है। यह श्रुतज्ञान का विषय, केवल विद्वज्जन भोग्य ही न बन सके, अपितु सर्वसाधारण जिज्ञासु व्यक्तियों की रुचि भी श्रुतज्ञान की ओर बढ़ सके, इसलिए शेष १२ भेदों का वर्णन करना भी अनिवार्य हो जाता है ॥सूत्र ३८॥

१. अक्षरश्रुत

मूलम्—से किं तं अक्खर-सुअं ? अक्खर-सुअं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा—१. सन्नक्खरं, २. वंजणक्खरं, ३. लद्धिअक्खरं।

१. से किं तं सन्नक्खरं ? सन्नक्खरं अक्खरस्स संठाणागिई, से त्तं सन्नक्खरं।

२. से किं तं वंजणक्खरं ? वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो, से त्तं वंजणक्खरं।

३. से किं तं लद्धि-अक्खरं ? लद्धि-अक्खरं अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तं जहा—सोइंदिअ-लद्धि-अक्खरं, चक्खिंदिय-लद्धि-अक्खरं, घाणिंदिय-लद्धि-अक्खरं, रसणिंदिय-लद्धि-अक्खरं, फासिंदिय-लद्धि-अक्खरं, नोइंदिय-लद्धि-अक्खरं से, त्तं लद्धि-अक्खरं, से त्तं अक्खरसुअं।

छाया—२. अथ किं तदक्षर-श्रुतम् ? अक्षर-श्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. संज्ञाक्षरं, २. व्यञ्जनाक्षरं, ३. लब्ध्यक्षरम्।

१. अथ किं तत् संज्ञाक्षरम् ? अक्षरस्य संस्थानाऽकृतिः, तदेतत्संज्ञाक्षरम् ।

२. अथ किं तद्व्यञ्जनाक्षरं ? व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभिलापः, तदेतद्-व्यञ्जनाक्षरम् ।

३. अथ किं तल्लब्ध्यक्षरं ? लब्ध्यक्षरम्—अक्षरलब्धिकस्य लब्ध्यक्षरं समुत्पद्यते, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-लब्ध्यक्षरं. चक्षुरिन्द्रिय-लब्ध्यक्षरं घ्राणेन्द्रिय-लब्ध्यक्षरं, रसनेन्द्रिय-लब्ध्यक्षरं, स्पर्शेन्द्रिय-लब्ध्यक्षरं, नोइन्द्रिय-लब्ध्यक्षरं, तदेतल्लब्ध्यक्षरं, तदेतदक्षरश्रुतम् ।

पदार्थ—से किं तं अक्खरसुअं ?—अथ वह अक्षरश्रुत कितने प्रकार का है? अक्खरसुअं—अक्षरश्रुत तिविहं—तीन प्रकार से पण्णत्तं—प्रतिपादन किया गया है । तं जहा—जैसे सन्नक्खरं—संज्ञा अक्षर वंजणक्खरं—व्यञ्जनाक्षर, लद्धिअक्खरं—लब्धि अक्षर ।

से किं तं सन्नक्खरं—वह संज्ञाक्षर क्या है ? सन्नक्खरं—संज्ञा-अक्षर अक्खरस्स—अक्षर की संठाणागिई—संस्थान-आकृति, से त्तं सन्नक्खरं—इस प्रकार संज्ञा अक्षर है ।

से किं तं वंजणक्खरं ?—वह व्यञ्जन अक्षर किस प्रकार है ? वंजणक्खरं—व्यञ्जनाक्षर अक्ख-रस्स—अक्षर का वंजणाभिलावो—व्यञ्जन अभिलाप, से त्तं वंजणक्खरं—यह व्यञ्जन अक्षर है ।

से किं तं लद्धि-अक्खरं—वह लब्धि अक्षर किस प्रकार है ? लद्धि अक्खरं—लब्धि अक्षर अक्खरल-द्धियस्स—अक्षर लब्धि का लद्धि अक्खरं—लब्धि अक्षर समुप्पज्जइ—समुत्पन्न होता है, तं जहा—जैसे सोइंदिय-लद्धिअक्खरं—श्रोत्रेन्द्रिय-लब्धि अक्षर, चक्खिंदिय-लद्धिअक्खरं—चक्षुरिन्द्रिय-लब्धि अक्षर, घाणिंदिअ लद्धिअक्खरं—घ्राणेन्द्रिय-लब्धि अक्षर, रसणिंदिय लद्धिअक्खरं—रसनेन्द्रिय-लब्धि अक्षर, फासिंदिअ लद्धिअक्खरं—स्पर्शेन्द्रिय-लब्धि अक्षर, नोइंदिअ-लद्धिअक्खरं—नोइन्द्रिय-लब्धि अक्षर, से त्तं लद्धिअक्खरं यह लब्धि-अक्षरश्रुत है, से त्तं अक्खरसुअं—इस प्रकार यह अक्षरश्रुत का निरूपण किया गया है ।

भावार्थ—१. शिष्य ने पूछा—देव ! वह अक्षरश्रुत कितने प्रकार का है ?

गुरु उत्तर में बोले—भद्र ! अक्षरश्रुत तीन प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसे—१. संज्ञा-अक्षर, २. व्यञ्जन-अक्षर और ३. लब्धि-अक्षर ।

१. वह संज्ञा-अक्षर किस तरह का है ? संज्ञा-अक्षर—अक्षर का संस्थान और आकृति आदि । यह संज्ञा-अक्षर का स्वरूप है ।

२. वह व्यञ्जन-अक्षर क्या है ? व्यञ्जन-अक्षर—अक्षर का उच्चारण करना, इस प्रकार व्यञ्जन-अक्षर का स्वरूप है ।

३. वह लब्धि-अक्षर क्या है ? लब्धि-अक्षर—अक्षर-लब्धि का लब्धि-अक्षर समुत्पन्न होता है अर्थात् भावरूप श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-लब्धि-अक्षर, चक्षुरि-न्द्रिय-लब्धि-अक्षर, घ्राण-इन्द्रिय-लब्धि-अक्षर, रसनेन्द्रिय-लब्धि-अक्षर, स्पर्शनेन्द्रिय-लब्धि-

अक्षर, नो-इन्द्रिय-लब्धि-अक्षर। यह लब्धि-अक्षरश्रुत है। इस प्रकार यह अक्षरश्रुत का वर्णन है।

२. अनक्षरश्रुत

मूलम्—से किं तं अणक्खरं-सुअं ? अणक्खर-सुअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा

१. ऊससियं-नीससियं, निच्छूढं-खासियं च छीयं च।
निस्सिंघिय-मणुसारं, अणक्खरं छेलिआईअं ॥८८॥
से त्तं अणक्खरसुअं ॥सूत्र ३९॥

छाया—२. अथ किं तदनक्षर-श्रुतम्? अनक्षर श्रुतमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. उच्छ्वसितं-निश्श्वसितं, निष्ठ्यूतं काशितञ्च क्षुतञ्च।
निस्सिङ्घित-मनुस्वार-मनक्षरं सेटितादिकम् ॥८८॥
तदेतदनक्षर-श्रुतम् ॥सूत्र ३९॥

से किं तं अणक्खरसुअं !—अथ वह अनक्षरश्रुत कितने प्रकार का है ? अणक्खरसुअं—अनक्षरश्रुत अणेगविहं—अनेक प्रकार का पण्णत्तं—प्रतिपादन किया गया है, तं जहा—जैसे—

ऊससियं—उच्छ्वसितं, नीससियं—निच्छ्वसित, निच्छूढं—थूकना और खासियं च—खांसना, छीयं च—तथा छींकना, निस्सिंघियमणुसारं—निःसिंघना नाक साफ करने की ध्वनि और अनुस्वार की भान्ति चेष्टा करना, छेलियाइयं—सेटित आदिक अणक्खरं—अनक्षर श्रुत है, से त्तं अणक्खरसुअं—इस प्रकार यह अनक्षर श्रुत है।

२. शिष्य ने फिर पूछा—वह अनक्षरश्रुत कितने प्रकार का है ?

गुरुजी ने उत्तर दिया—अनक्षरश्रुत अनेक तरह से वर्णित है, जैसे—ऊपर को श्वास लेना, नीचे श्वास लेना, थूकना, खाँसना, छींकना, निःसिंघना अर्थात् नाक साफ करने की ध्वनि और अनुस्वार युक्त चेष्टा करना। यह सभी अनक्षरश्रुत है ॥सूत्र ३९॥

टीका—उपरोक्त सूत्र में अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत का वर्णन किया गया है 'क्षर संचलने' धातु से अक्षर शब्द वनता है, जैसे कि न क्षरति न चलति—इत्यक्षरम्—अर्थात् ज्ञान का नाम अक्षर है, ज्ञान जीव का स्वभाव है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता। जीव भी एक द्रव्य है, जो उसका स्वभाव तथा गुण है, वह जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। जो अन्य द्रव्यों में गुण-स्वभाव हैं, वे जीव में नहीं पाए जाते। ज्ञान आत्मा से कभी भी नहीं हटता, सुषुप्ति अवस्था में भी जीव का स्वभाव होने से वह ज्ञान रहता ही है। उस भावाक्षर के कारण श्रुतज्ञान ही अक्षर है। यहाँ भावाक्षर का कारण होने से 'अकार' आदि को भी उपचार से अक्षर कहा जाता है, अक्षर श्रुत, भावश्रुत का कारण है। भावश्रुत को लब्धि-अक्षर भी कहते हैं। संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर ये दोनों द्रव्यश्रुत में

अन्तर्भूत होते हैं। अतः सूत्रकर्त्ता ने अक्षरश्रुत के तीन भेद किए हैं। जैसे कि संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर।

संज्ञाक्षर—जो अक्षर की आकृति, संस्थान, बनावट है, जिसके द्वारा यह जाना जाए कि यह अमुक अक्षर है। वह संज्ञाक्षर कहलाता है। विश्व में जितनी लिपियां प्रसिद्ध हैं, उदाहरण के रूप में जैसे कि अ, आ, इ ई, उ ऊ इत्यादि। A. B. C. D इत्यादि। इसी प्रकार अन्य-अन्य लिपियों के विषय भी में समझना चाहिए।

व्यंजनाक्षर—जिससे अकार आदि अक्षरों के अर्थ का स्पष्ट बोध हो, उस प्रकार से उच्चारण करना व्यंजनाक्षर है। संसार भर में जितनी भाषाएँ हैं, जितनी लिपियां हैं, उनके उच्चारण करने के ढंग सब अलग २ हैं। हिन्दी की वर्णमाला, ऊर्दू की, इंगलिश की, पंजाबी की, बंगला की, गुजराती की, बहियों की, जितनी भी लिपियाँ हैं, उनके उच्चारण करने का ढंग सबका एक नहीं है, भिन्न २ है। जहाँ छात्रों को लिपि की बनावट, लिखाई सिखाई जाती है, वहाँ उनके उच्चारण करने का ढंग भी सिखाया जाता है। कुछ अनपढ़ व्यक्ति बोल सकते हैं, परन्तु लिख नहीं सकते। कुछ अक्षरों को देखकर उसकी नकल कर सकते हैं, परन्तु उन्हें उच्चारण का ज्ञान नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो लिख भी सकते हैं और पढ़ भी सकते हैं। परन्तु वे अर्थ को नहीं समझ सकते हैं। व्यंजनाक्षर तो केवल अक्षरों के उच्चारण का नाम है। जैसे दीपक के द्वारा घटादि पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही जिसके द्वारा अर्थ का प्रकाशन हो उसे व्यंजनाक्षर कहते हैं। जिस २ अक्षर की जो २ संज्ञा है, उस २ का उच्चारण तदनुकूल ही हो, तभी वे द्रव्याक्षर भावश्रुत के कारण बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। अक्षरों के यथार्थ मेल से शब्द बनता है एवं पद और वाक्य बनते हैं। उनसे पुस्तकें बनकर तैयार हो जाती हैं।

लब्ध्यक्षर—लब्धि उपयोग का नाम है। शब्द को सुन कर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना ही लब्धि-अक्षर कहलाता है। इसी को भावश्रुत कहते हैं, क्योंकि अक्षर के उच्चारण से जो उसके अर्थ का बोध होता है, उससे भावश्रुत उत्पन्न होता है। जैसे कि कहा भी है—

"शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिशांखोऽयमित्याद्यक्षरानुविद्धं ज्ञानमुपजायते इत्यर्थः।"

शब्द ग्रहण होनेके पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो शब्दार्थ पर्यालोचनानुसार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को लब्ध्यक्षर कहते हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि यह उपर्युक्त लक्षण संज्ञी जीवों में ही घटित हो सकता है, किन्तु असंज्ञी विकलेन्द्रिय आदि जीवों के अकार आदि वर्णों के सुनने व उच्चारण करने का सर्वथा अभाव ही है, तो फिर उन जीवों के लब्धि अक्षर किस प्रकार संभव हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि श्रोत्रेन्द्रिय का अभाव होने पर भी तथाविध क्षयोपशमभाव उन जीवों के अवश्य होता है। इसी कारण से उनको भावश्रुत की प्राप्ति होती है, वह भावश्रुत उनके अव्यक्त होता है। उन जीवों के आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा होती है। संज्ञा तीव्र अभिलाषा को कहते हैं, अभिलाषा ही प्रार्थना है। यदि यह प्राप्त हो, तो अच्छा है। भय का कारण हट जाए तो अच्छा है, इस प्रकार की अभिलाषा अक्षरानुसारी होने से उनके भी नियमेन लब्ध्यक्षर होता है।

वह लब्ध्यक्षर ६ प्रकार का होता है, पांच इन्द्रियां और छठा मन।

१. शब्द सुन कर या भाषा सुन कर—यह जीवशब्द है, यह अजीवशब्द है, यह मिश्रशब्द है। भाषा सुनकर दूसरों के अभिप्राय को समझ लेना यह व्यक्ति हित से कह रहा है ? या अहित से ? अभिधावृत्ति से कह रहा है, लक्षणा से, या व्यंजनावृत्ति से ? तथा हिनहिनाने से, रेंकने से, अरडाने से, गर्जना से शब्द सुन कर तिर्यंचों के भावों को समझ लेना श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर है।

२. पत्र, विज्ञापन, वृत्तपत्र, पुस्तक आदि पढ़कर, संकेत, व इशारे से दूसरे के अभिप्राय को याथातथ्य समझ लेना चक्षुरिन्द्रिय—लब्ध्यक्षर कहलाता है क्योंकि देखकर उसके जवाब के लिए तथा उसकी प्राप्ति के लिए और उसे हटाने के लिए, जो भाव पैदा होते हैं, वे अक्षर रूप होते हैं।

३. सूंघ कर जान लेना—यह अमुक जाति के फूल की एवं फल की गन्ध है, यह अमुक वस्तु की गन्ध है। अमुक स्त्री, पुरुष, पशु पक्षी की गन्ध है। यह अमुक भक्ष्य तथा अभक्ष्य की गन्ध है। ऐसा समझना अक्षर रूप है। उस वस्तु के अक्षर रूप ज्ञान को घ्राणेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहते हैं।

४. रस चखकर जान लेना कि यह अमुक पदार्थ है, इस प्रकार जो ज्ञान अक्षर रूप में परिणत हो जाए, इसे जिह्वेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहते हैं। क्योंकि वह ज्ञान रसजन्य हो जाने से ऐसा कहा जाता है। जिस अक्षर का जो भी कारण है, जिस कारण से कार्यरूप अक्षर ज्ञान हुआ है। उसको, उसी इंद्रिय से सूत्रकार ने सम्बन्धित किया है।

५. स्पर्श से, प्रज्ञाचक्षु या चक्षुष्मान भी गाढ अन्धकार में अक्षर पढ़ कर सुनाते हैं। स्पर्श से, यह क्या वस्तु है ? शीत है ? उष्ण है ? हल्का है ? भारी है ? रुक्ष है ? स्निग्ध है ? कर्कश है ? या सुकोमल है ? इन्हें जीव जानता भी है, और इनका उत्तर भी दिया जाता है। स्पर्श से यह जान लेना कि यह वस्तु भक्ष्य है या अभक्ष्य, इसको भली-भांति जान लेता है। एकेन्द्रियों को स्पर्शन इन्द्रिय से श्रुत-सम्बन्धित अक्षर ज्ञान होता है।

६. जिस वस्तु का जीव चिन्तन करता है, उसकी अक्षर रूप में वाक्यावली बन जाती है, जैसे कि यदि "अमुक वस्तु मुझे मिल जाए, तो मैं अपने आप को धन्य या पुण्यशाली समझूंगा," यह मनोजन्य लब्धि अक्षर हैं।

अब यहां प्रश्न पैदा होता है कि पांच इन्द्रियों तथा मन से मतिज्ञान भी पैदा होता है और श्रुतज्ञान भी, जब उन ६ निमित्तों में से किसी भी निमित्त से ज्ञान हो सकता है, तब उत्पन्न हुए ज्ञान को मतिज्ञान कहें ? या श्रुत ?

इसके उत्तर में कहा जाता है, जब ज्ञान अक्षर रूप में हो, तब श्रुत होता है अर्थात् मतिज्ञान कारण है जब कि श्रुतज्ञान कार्य है, मतिज्ञान सामान्य है जब कि श्रुतज्ञान विशेष है। मतिज्ञान मूक है जब कि श्रुतज्ञान मुखर है। मतिज्ञान अनक्षर है जबकि श्रुतज्ञान अक्षर परिणत है। जब छहों साधनों से आत्मा को स्वानुभूति रूप ज्ञान होता है, तब मतिज्ञान, जब वह ज्ञान अक्षर रूप में अनुभव करता है या दूसरे को अपना अभिप्राय किसी भी चेष्टा के द्वारा जितलाता है, तब वह अनुभव और चेष्टा आदि श्रुतज्ञान कहलाता है। उक्त दोनों ज्ञान सहचारी हैं। एक समय में दोनों में से एक ओर ही उपयोग लग सकता है, दोनों में युगपत् नहीं, जीव का ऐसा ही स्वभाव है।

अनक्षर श्रुत—जो शब्द अभिप्रायपूर्वक व वर्णात्मक नहीं बल्कि ध्वन्यात्मक किया जाता है, उसे अनक्षर श्रुत कहते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी विशेष बात को समझाने के लिए इच्छापूर्वक किसी के प्रति अनक्षर शब्द करता है, तब अनक्षर श्रुत कहलाता है, अन्यथा नहीं। उच्छ्वसितं निःश्वसितं लंबे-लंबे श्वास लेना और छोड़ना। निष्ठ्यूतं—थूकना। कासितं—खांसना। क्षुत—छींकना। निःसिङ्घितं—नासिका से शब्द करना। श्लेष्मितं—कफ निकालने का शब्द करना, अनुस्वारं—हूंकार करना, इसी प्रकार उपलक्षण से सीटी बजाना, घंटी बजाना, नगारा बजाना, भोंपू बजाना, बिगुल बजाना, अलार्म करना आदि शब्द यदि बुद्धि पूर्वक दूसरों को सूचित करने के लिए, हित अहित जताने के लिए, सावधान करने के लिए प्रेम, द्वेष, भय जताने के लिए, अपने आने की सूचना देने के लिए, ड्यूटी पर पहुँचने के लिए, मार्गप्रदर्शन के लिए, रोकने के लिए अन्य जो भी शब्द किसी संकेत के लिए नियत किया हुआ है वैसा शब्द करना, ये सब अनक्षर श्रुत है। यदि बिना ही प्रयोजन के शब्द किया जाता है, तो उसका अन्तर्भाव अनक्षर श्रुत में नहीं होता। उक्त कारणों को, भावश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत कहा जाता है। जैसे कि वृत्तिकार ने लिखा है—

"तथाहि यदाभिसन्धिपूर्वकं सविशेषतरमुच्छ्वसितादिकस्यापि पुंसः कस्यचिदर्थस्य ज्ञप्तये प्रयुङ्क्ते, तदा तदुच्छ्वसितादिप्रयोक्तुर्भावश्रुतस्य फलं, श्रोतुश्च भावश्रुतस्य कारणं भवति, ततो द्रव्यश्रुतमित्युच्यते।"

चूर्णिकार के एतद् विषयक शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

"से किं तं सुयणाणं इत्यादि—तं च सुयावरणखओवसमत्तणतो एगविधं पि तं अक्खरादिभावे पडुच्च अङ्गबाहिरादिचोद्दसविहं भण्णइ, तत्थ अक्खरं तिविहं, तं नाणक्खरं, अभिलावक्खरं वण्णक्खरं च, तत्थ नाणक्खरं—खर् संचरणे, न क्षरतीत्यक्षरं न प्रच्यवतेऽनुपयोगेऽपीत्यर्थः, अभिलावणतो तं च नाणं से सतो चेतनेत्यर्थः, आह एवं सव्वमपि सेसं तो नाणक्खरं, कम्हा सुतं अक्खरमिति भण्णइ? उच्यते रूढिविसेसतो, अभिलावणा अक्खरं भणितो, पंकजवत् एवं ताव अभिलावहेतुत्तणतो सुतविण्णाणस्स अक्खरया भणिया। इयाणिं वण्णक्खरं वण्णिज्जइ—अणेणाभिधिता अत्था इति वाऽत्थस्स वा वाच्यं चित्रे वर्णकवत्, अहवा द्रव्ये गुणविशेष वर्णकवत् वर्ण्यतेऽभिलाप्यते तेन वण्णक्खरं॥"

इस उद्धरण का आशय यह है कि श्रुतावरण के क्षयोपशम से एकविध होने पर भी अक्षरादि भाव से श्रुतज्ञान चौदह प्रकार से वर्णन किया गया है। ज्ञानाक्षर, अभिलापाक्षर और वर्णाक्षर इस प्रकार अक्षर श्रुत तीन भेदों सहित वर्णन किया गया, जिनकी व्याख्या पहले लिखी जा चुकी है। सूत्र ॥३६॥

३-४. संज्ञि-असंज्ञिश्रुत

मूलम्— से किं तं सण्णिसुअं? सण्णिसुअं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—
१. कालिओवएसेणं, २. हेऊवएसेणं, ३. दिट्ठिवाओवएसेणं।

१. से किं तं कालिओवएसेणं? कालिओवएसेणं—जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा, से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा, से णं असण्णीति लब्भइ। से त्तं कालिओवएसेणं।

२. से किं तं हेऊवएसेणं ? हेऊवएसेणं—जस्स णं अत्थि अभिसंधारण-पुव्विआ करण-सत्ती, से णं सण्णीत्ति लब्भइ। जस्स णं नत्थि अभिसंधारण-पुव्विआ करणसत्ती, से णं असण्णीत्ति लब्भइ। से त्तं हेऊवएसेणं।

से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं ? दिट्ठिवाओवएसेणं, सण्णिसुअस्स खओवस-मेणं सण्णी लब्भइ। असण्णिसुअस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ। से त्तं दिट्ठिवाओवएसेणं। से त्तं सण्णिसुअं, से त्तं असण्णिसुअं ॥सूत्र ४०॥

छाया—३-४. अथ किं तत् संज्ञिश्रुतं ? संज्ञिश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. कालिक्युपदेशेन, २. हेतूपदेशेन, ३. दृष्टिवादोपदेशेन।

१. अथ कोऽयं कालिक्युपदेशेन ? कालिक्युपदेशेन—यस्यास्ति ईहा, अपोहः, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्शः, स संज्ञीति लभ्यते। यस्य नास्ति ईहा, अपोहः मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्शः, सोऽसंज्ञीति लभ्यते। सोऽयं कालिक्युपदेशेन।

२. अथ कोऽयं हेतूपदेशेन ? हेतूपदेशेन—यस्याऽस्ति-अभिसन्धारणपूर्विका करणशक्तिः, स संज्ञीति लभ्यते। यस्य नास्ति-अभिसंधारणपूर्विका करणशक्तिः, सोऽसंज्ञीति लभ्यते। सोऽयं हेतूपदेशेन।

३. अथ कोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन ? दृष्टिवादोपदेशेन—संज्ञिश्रुतस्य क्षयोशमेन संज्ञी लभ्यते, असंज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन—असंज्ञी लभ्यते, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन (संज्ञी)। तदेतत् संज्ञिश्रुतम्। तदेतदसंज्ञिश्रुतम् ॥सूत्र ४०॥

भावार्थ—शिष्यने पूछा—गुरुदेव ! वह संज्ञिश्रुत कितने प्रकार का है ?

गुरुजी ने उत्तर दिया—संज्ञिश्रुत तीन प्रकार का वर्णन किया है, जैसे—

१. कालिकी-उपदेश से, २. हेतु-उपदेश से और ३. दृष्टिवाद-उपदेश से।

१. वह कालिकी-उपदेश से संज्ञिश्रुत किस प्रकार का है ? कालिकी-उपदेश से—जिसे ईहा, अपोह—निश्चय, मार्गणा—अन्वय-धर्मान्वेषणरूप, गवेषणा—व्यतिरेक-धर्मस्वरूप पर्या-लोचन, चिन्ता—कैसे या कैसे हुआ अथवा होगा ? इस प्रकार पर्यालोचन, विमर्श—यह वस्तु इस प्रकार संघटित होती है, ऐसा विचारना। उक्त प्रकार जिस प्राणी की विचारधारा है, वह संज्ञी कहा जाता है। जिसके ईहा, अपाय, मार्गणा, गवेपणा, चिन्ता, विमर्श ये नहीं हैं, वह प्राणी असंज्ञी होता है। सो यह कालिकी उपदेश से संज्ञी व असंज्ञीश्रुत कहलाता है।

२. वह हेतु-उपदेश से संज्ञिश्रुत किस प्रकार है ? हेतु-उपदेश से—जिस जीव की अव्यक्त व व्यक्त से विज्ञान के द्वारा आलोचन पूर्वक क्रिया करने की शक्ति—प्रवृत्ति है, वह

संज्ञी, इस प्रकार उपलब्ध होता है। जिस प्राणी की अभिसंधारणपूर्विका करण-शक्ति—विचारपूर्वक क्रिया करने में प्रवृत्ति नहीं है, वह असंज्ञी—इस प्रकार उपलब्ध होता है। इस प्रकार हेतूपदेश से संज्ञी कहा जाता है।

३. दृष्टिवाद-उपदेश से संज्ञीश्रुत किस प्रकार है? दृष्टिवाद-उपदेश की अपेक्षा से संज्ञिश्रुत के क्षयोपशम से संज्ञी—इस प्रकार कहा जाता है, असंज्ञिश्रुत के क्षयोपशम से असंज्ञी, ऐसा उपलब्ध होता है। यह दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी है। इस प्रकार संज्ञिश्रुत है। इस तरह असंज्ञिश्रुत पूर्ण हुआ ॥सूत्र ४०॥

टीका—इस सूत्र में संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत की परिभाषा बतलाई है। जिसके संज्ञा हो, वह संज्ञी और जिसके संज्ञा न हो, वह असंज्ञी कहलाता है। संज्ञी और असंज्ञी तीन प्रकार के होते हैं, न कि एक ही प्रकार के। इसके तीन भेद वर्णन किए हैं—दीर्घकालिकी उपदेश, हेतूपदेश और दृष्टिवाद-उपदेश, इन की अलग-अलग व्याख्या सूत्रकार स्वयं करते हैं, जैसे कि—

दीर्घकालिकी उपदेश—जिसके ईहा–सदर्थ के विचारने की बुद्धि है। अपोह–निश्चयात्मक विचारणा है। मार्गणा—अन्वयधर्मान्वेषण करना। गवेषणा–व्यतिरेक धर्म स्वरूप पर्यालोचन। चिन्ता—यह कार्य कैसे हुआ? वर्तमान में कैसे हो रहा है और भविष्य में कैसे होगा? इस प्रकार के विचार विमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की शक्ति है, उसे संज्ञी कहते हैं। जो गर्भज, औपपातिक देव और नारकी, मनः-पर्याप्ति से सम्पन्न हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं। कारण कि त्रैकालिक विषयक चिन्ता विमर्श आदि उन्हीं के संभव हो सकता है। भाष्यकार भी इसी मान्यता की पुष्टि करते हैं, जैसे कि—

[१] "इह दीहकालिगी कालिगित्ति, सण्णा जया सुदीहंपि।
संभरइ भूयमेस्सं चिंतेइ य, किण्णु कायव्वं? ॥
कालिय सन्निति तओ जस्स मई, सो य तो मणो जोग्गे।
खंधेऽणंते घेत्तुं, मन्नइ तल्लद्धि संपत्तो ॥"

इसकी व्याख्या ऊपर लिखी जा चुकी है। जिस प्रकार चक्षु होने पर प्रदीप के प्रकाश से अर्थ स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनोलब्धि सम्पन्न मनोद्रव्य के आधार से विचार विमर्श आदि द्वारा जो वस्तु तत्त्व को भली भांति जानता है, वह संज्ञी और जिसे मनोलब्धि प्राप्त नहीं है, उसे असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी में, सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रयजाति, त्रीन्द्रियजाति. द्वीन्द्रियजाति के जीवों का अन्तर्भाव हो जाता है। शंका पैदा होती है कि सूत्र में जब कालिकी उपदेश है, तब दीर्घकालिकी उपदेश कैसे है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि भाष्यकर ने भी दीर्घकालिकी ही लिखा है। वृत्तिकार ने कारण बताया है—"तत्र कालिक्युपदेशेनेत्यत्रादिपदलोपाद्दीर्घकालिक्युपदेशेनेतिद्रष्टव्यम्।"

---

१. इह दीर्घकालिकी, कालिकीति संज्ञा यया सुदीर्घमपि।
स्मरति भूतमेष्यं, चिन्तयति च कथं नु कर्त्तव्यम् ॥
कालिकी संज्ञीति, सको यस्य मतिः स च ततो मनोयोग्यान्।
स्कन्धाननन्तान् गृहीत्वा, मन्यते तल्लब्धि सम्पन्नः ॥

जिस प्रकार मनोलब्धि, स्वल्प, स्वल्पतर और स्वल्पतम होती है, उसी प्रकार अस्पष्ट, अस्पष्टतर और अस्पष्टतम अर्थ की प्राप्ति हो सकती है। वैसे ही संज्ञी पंचेन्द्रिय से सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय में अस्पष्ट ज्ञान होता है, उससे चतुरिन्द्रिय में न्यून, त्रीन्द्रिय में कुछ कम और द्वीन्द्रिय में अस्पष्टतर होता है। एकेन्द्रिय में अस्पष्टतम अर्थ की प्राप्ति हो सकती है। अतः असंज्ञिश्रुत होने से ये सब असंज्ञी जीव कहलाते हैं।

हेतु-उपदेश—जो बुद्धिपूर्वक स्वदेह पालन के लिए इष्ट आहार आदि में प्रवृत्ति और अनिष्ट आहार आदि से निवृत्ति पाता है, वह हेतु उपदेश से संज्ञी कहा जाता है, इससे विपरीत असंज्ञी। इस दृष्टि से चार त्रस संज्ञी हैं और पाँच स्थावर असंज्ञी। जैसे गौ-बैल आदि पशु अपने घर स्वयमेव आ जाते हैं, मधु-मक्खी इतस्ततः मकरन्द पान कर पुनः अपने स्थान में पहुंचजाती है, निशाचर, मच्छर आदि जीव दिन में छिपे रहते हैं, रात को बाहर निकलते हैं। मक्खियाँ भी सायंकाल होने पर सुरक्षित स्थान में बैठ जाती हैं, वे धूप से छाया में और छाया से धूप में आते-जाते हैं, दुःख से बचने का प्रयास करते हैं, वे संज्ञी हैं। और जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती, वे असंज्ञी, जैसे—वृक्ष, लता, पाँच स्थावर। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाए तो पांच स्थावर ही असंज्ञी होते हैं, शेष सब संज्ञी। इस विषय में भाष्यकार का भी यही अभिमत है, जैसे कि—

"जो पुण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं।
वत्तंति नियत्तंति य, सदेह परिपालणा हेउं॥
पाएण संपइ च्चिय, कालम्मि न याइ दीहकालएणू।
ते हेउवायसन्नी, निच्चिट्ठा होंति असरणी॥

इसका भाव यह है कि ईहा आदि चेष्टा द्वारा संज्ञी और अचेष्टा द्वारा असंज्ञी जाने जाते है।

"अन्यत्रापि हेतूपदेशेन संज्ञित्वमाश्रित्योक्तम्—

कृमिकीटपतङ्गाद्याः, समनस्काः जंगमाश्चतुर्भेदाः।
अमनस्काः पंचविधाः, पृथिवीकायादयो जीवाः॥"

इससे भी उपर्युक्त दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी और असंज्ञी

दृष्टिवादोपदेश—दृष्टि दर्शन का नाम है—सम्यग्ज्ञान का नाम संज्ञा है, ऐसी संज्ञा जिसके हो, वह संज्ञी कहलाता है।

"संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं तदस्यास्तीति संज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुतं, तत्संज्ञिश्रुतं सम्यक् श्रुतमिति।" जो सम्यग्दृष्टि क्षयोपशम ज्ञान से युक्त है, वह दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी कहलाता है। वह यथा-शक्ति राग आदि भाव शत्रुओं के जीतने में प्रयत्नशील होता है। वस्तुतः हिताहित, प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकती, जैसे कि कहा भी है—

"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणाः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्ति-र्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्॥"

अर्थात् वह ज्ञान ही नहीं है, जिसके प्रकाशित होने से राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-लोभ, मोह ठहर सकें ? भला सूर्य के उदय होने पर क्या अन्धकार ठहर सकता है ? कदापि नहीं । मिथ्यादृष्टि असंज्ञी कहलाते हैं, क्योंकि मिथ्याश्रुत के क्षयोपशम से असंज्ञी होता है । यह दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा से संज्ञी और असंज्ञीश्रुत का वर्णन किया गया है ।

यदि इस स्थान पर यह शंका की जाए कि पहले सूची-कटाह न्याय से हेतु-उपदेश के द्वारा संज्ञीश्रुत एवं असंज्ञी श्रुत का उल्लेख करना चाहिए था, क्योंकि इसका विषय भी अल्प है, हेतु-उपदेश सबसे अशुद्ध एवं अप्रधान है । तदनन्तर दीर्घकालिकी उपदेश का वर्णन अधिक उचित प्रतीत होता है, फिर सूत्रकार ने इस क्रम को छोड़कर उत्क्रम की शैली क्यों ग्रहण की ?

इसके उत्तर में यह कहा जाता है—कि सूत्रकार का विज्ञान सर्वतोमुखी होता है । आगमों में यत्र-तत्र सर्वत्र दीर्घ कालिकी उपदेश के द्वारा संज्ञी और असंज्ञी का वर्णन मिलता है, क्योंकि दीर्घकालिकी उपदेश प्रधान है, और हेतु-उपदेश अप्रधान, जैसे कि कहा भी है—

"सण्णित्ति असण्णित्ति य, सव्व सुए कालिओवएसेणं । पायं संववहारो कीरइ, तेणाइओ स कओ ॥"

यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम अत्यन्तोपयोगी दीर्घकालिकी उपदेश से संज्ञी का होना अनिवार्य है । जो सम्यक्त्व के अभिमुख हैं, ऐसे संज्ञी जीव पहले भेद में समाविष्ट हैं । जिन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है और सम्यक्त्व अवस्था में ही हैं, ऐसे जीव दृष्टिवादोपदेश में समाविष्ट हैं । जो एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं, वे हेतुवादोपदेश में अन्तर्भूत हो जाते हैं । जो कालिकी-उपदेश से संज्ञी हैं, वे हेतु-उपदेश से संज्ञी कहलाते हैं । दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा से पूर्वोक्त दोनों प्रकार के संज्ञी, असंज्ञी ही हैं । निश्चय में सम्यग्दृष्टि ही संज्ञी हैं । सूत्र व्यवहार में दीर्घकालिकी-उपदेश से समनस्क सम्यक्त्वाभिमुख जीव संज्ञी हैं । शेष अमनस्क जीव असंज्ञी कहलाते हैं । लोक-व्यवहार में चलने-फिरने वाले सूक्ष्म-स्थूल, कीटाणु से लेकर हाथी, मच्छ आदि तक, तिर्यंच मनुष्य, नारकी-देव सभी हेतु उपदेश से संज्ञी हैं । इसकी दृष्टि में असंज्ञी तो केवल पाँच स्थावर ही हैं । उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि संसार में जितने भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व हैं, उन सभी में श्रुत विद्यमान है । भले ही वे असंज्ञी ही क्यों न हों, फिर भी श्रुत उनमें यत् किंचित् होता ही है ॥सूत्र ४०॥

५. सम्यक्श्रुत

मूलम्—से किं तं सम्मसुअं ? सम्मसुअं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्ण-नाणदंसणधरेहिं, तेलुक्क-निरिक्खिअ-महिअ-पूइएहिं, तीय-पडुप्पण्ण-मणागय-जाणएहिं, सव्वण्णूहिं, सव्वदरिसीहिं, पणीअं दुवालसंगं गणि-पिडगं, तं जहा—

१. आयारो, २. सूयगडो, ३. ठाणं, ४. समवाओ, ५. विवाहपण्णत्ती, ६. नायाधम्मकहाओ, ७. उवासगदसाओ, ८. अंतगडदसाओ, ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ, १०. पण्हावागरणाइं, ११. विवागसुअं, १२. दिट्ठिवाओ, इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं—चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुअं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा, से त्तं सम्मसुअं ॥सूत्र ४१॥

छाया—५. अथ किं तत् सम्यक्-श्रुतम् ? सम्यक्-श्रुतं—यदिदम् अर्हद्भिर्भगवद्भिरुत्पन्नज्ञान-दर्शनधरैस्त्रैलोक्य-निरीक्षित-महित-पूजितैः, अतीत-प्रत्युत्पन्नानागतज्ञायकैः, सर्वज्ञैः, सर्वदर्शिभिः, प्रणीतं द्वादशाङ्गं-गणि-पिटकं, तद्यथा—

१. आचारः, २. सूत्रकृतम्, ३. स्थानम्, ४. समवायः, ५. व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ६. ज्ञाता-धर्मकथाः, ७. उपासकदशाः, ८. अन्तकृद्दशाः, ९. अनुत्तरौपपातिकदशाः, १०. प्रश्नव्याकरणानि, ११ विपाक्-श्रुतम्, १२ दृष्टिवादः, इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं–चतुर्दश-पूर्विणः सम्यक्श्रुतम्, अभिन्न-दशपूर्विणः सम्यक्-श्रुतं, ततः, परं भिन्नेषु भजना, तदेतत् सम्यक्-श्रुतम् ॥सूत्र ४१॥

पदार्थ—**से किं तं सम्मसुग्रं**—अथ वह सम्यक्श्रुत क्या है ? **सम्मसुग्रं**—सम्यक्-श्रुत **उप्पण्णनाण-दंसणधरेहिं**—उत्पन्न ज्ञान-दर्शन को धरने वाले **तिलुक्क**—त्रिलोक द्वारा **निरिक्खिग्र**—आदरपूर्वक देखे हुए **महिग्र**—भावयुक्त नमस्कृत**य तीय-पडुप्पण्ण-मणागय**—अतीत, वर्तमान और अनागत के **जाणएहिं**—जानने वाले **सव्वण्णूहिं**—सर्वज्ञ और **सव्वदरिसीहिं**—सर्वदर्शी **ग्ररहंतेहिं**—अर्हंत **भगवंतेहिं**—भगवन्तों द्वारा **पणीग्रं**—प्रणीत–अर्थ से कथन किया हुआ **जं**—जो **इमं**—यह **दुवालसंगं**—द्वादशाङ्गरूप **गणिपिडगं**—गणिपिटक है, जैसे—**ग्रायारो**—आचाराङ्ग **सूयगडो**—सूत्रकृताङ्ग, **ठाणं**—स्थानाङ्ग, **समवाग्रो**—समवायाङ्ग, **विवाहपण्णत्ती**—व्याख्याप्रज्ञप्ति, **नायाधम्मकहाग्रो**—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग **उवासगदसाग्रो**—उपासकदशाङ्ग **ग्रंतगडदसाग्रो**—अन्तकृद्दशाङ्ग **ग्रणुत्तरोववाइग्रदसाग्रो**—अनुत्तरौपपातिकशाङ्ग **पण्हावागरणाइं**—प्रश्नव्याकरण **विवागसुग्रं**—विपाकश्रुत **दिट्ठिवाग्रो**—दृष्टिवाद **इच्चेग्रं**—इस प्रकार यह **दुवालसंगं**—द्वादशाङ्ग **गणिपिडगं**—गणिपिटक **चोद्दसपुव्विस्स**—चतुर्दशपूर्वधारी का **सम्मसुग्रं**—सम्यक्श्रुत है, **ग्रभिण्णदसपुव्विस्स**—सम्पूर्णदशपूर्वधारी का **सम्मसुग्रं**—सम्यक्श्रुत है, **तेण परं**—उसके उपरान्त **भिण्णेसु**—दशपूर्व से कम धरनेवालों में **भयणा**—भजना है। **से त्तं सम्मसुग्रं**—इस प्रकार यह सम्यक्श्रुत है।

भावार्थ—गुरु से प्रश्न किया—देव ! वह सम्यक्-श्रुत क्या है ?

उत्तर देते हुए गुरुजी बोले—सम्यक्श्रुत उत्पन्नज्ञान और दर्शन को धरनेवाले, त्रिलोक—भवनपति, व्यन्तर, विद्याधर, ज्योतिष्क और वैमानिकों द्वारा आदर-सन्मानपूर्वक देखे गए, तथा यथावस्थित उत्कीर्तित, भावयुक्त नमस्कृत, अतीत, वर्त्तमान और अनागत के जाननेवाले सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हंत-तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रणीत-अर्थ से कथन किया हुआ, जो यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक है, जैसे—

१. आचाराङ्ग, २. सूत्रकृताङ्ग, ३. स्थानाङ्ग, ४. समवायाङ्ग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातधर्मकथाङ्ग, ७. उपासकदशाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, २. अनुत्तरौपपातिकदशाङ्ग, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकश्रुत और, १२. दृष्टिवाद, इस प्रकार यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक चौदह पूर्वधारी का सम्यक्श्रुत होता है। सम्पूर्ण दशपूर्वधारी का भी सम्यक्-श्रुत होता है।

उससे कम अर्थात् कुछ कम दशपूर्व और नव आदि पूर्व का ज्ञान होने पर भजना है अर्थात् सम्यक्-श्रुत हो और न भी। इस प्रकार यह सम्यक्-श्रुत का वर्णन पूरा हुआ ।।सूत्र ४१।।

टीका—इस सूत्र में सम्यक्-श्रुत का विश्लेषण किया गया है। इससे हमें अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। वे ही संकेत आगे चलकर प्रश्न का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे कि सम्यक्-श्रुत के प्रणेता कौन हो सकते हैं ? सम्यक्-श्रुत किस को कहते हैं ? गणिपिटक का क्या अर्थ है ? आप्त किसे कहते हैं ? इन सब का उत्तर विवेचन पूर्वक क्रमशः दिया जाता है।

सम्यक्-श्रुत के प्रणेता देवाधिदेव अरिहन्त भगवान् हैं। अरिहन्त शब्द गुणवाचक है, न कि व्यक्तिवाचक। यदि किसी का नाम अरिहन्त है तो उसका नामनिक्षेप यहां अभिप्रेत नहीं है। यहां अरिहन्त के चित्र या प्रतिमा आदि स्थापना निक्षेप से भी प्रयोजन नहीं है। भविष्य में जिस जीव ने अरिहन्त पद प्राप्त करना है या जिन अरिहन्तों ने शरीर का परित्याग कर सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है, ऐसे परित्यक्त शरीर जो कि द्रव्य निक्षेप के अन्तर्गत हैं, वे भी सम्यक्-श्रुत के प्रणेता नहीं हो सकते। अतः जो भावनिक्षेप से अरिहन्त हैं, वे ही सम्यक्-श्रुत के प्रणेता होते हैं। भाव अरिहन्त कौन होते है ? इसे सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने सात विशेषण दिए हैं, जैसे कि—

१. **अरिहन्तेहिं**—जिन्होंने राग-द्वेष काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, माया, मल-आवरण,—विक्षेप, और घनघाति कर्मों की सत्ता ही निर्मूल करदी है, ऐसे उत्तम पुरुष जीवन्मुक्त भाव अरिहन्त कहलाते हैं, जो इन्सान से साकार-भगवान् बन गए हैं, उन्हें दूसरे शब्दों में भाव तीर्थंकर भी कहते हैं।

२. **भगवन्तेहिं**—भगवान् शब्द, साहित्य में बहुत ही उच्चकोटि का है अर्थात् जिस महान् आत्मा में सम्पूर्ण ऐश्वर्य, निःसीम उत्साह-शक्ति, त्रिलोक व्यापी-यश, सम्पूर्ण श्री-रूप-सौन्दर्य्य, सोलह कलापूर्ण-धर्म, उद्देश्यपूर्ति के लिए किया जाने वाला अनथक परिश्रम, ये सब पाए जाएं, उसे भगवान् कहते हैं। भगवन्त शब्द सिद्धों के लिए भी प्रयुक्त होता है तो क्या वे भी सम्यक्-श्रुत के प्रणेता हो सकते हैं ? इस शंका का निराकरण इस प्रकार किया जाता है—अनादि सिद्धों के रूपमात्र का सर्वथा अभाव है, अशरीरी होने से, उनमें समग्ररूप कहां ? शरीर की निष्पत्ति रागादि से होती है, अतिशायी रूप एवं सौन्दर्य्य सशरीरी में ही हो सकता है, अशरीरी में नहीं। सम्पूर्ण प्रयत्न भी सशरीरी ही कर सकता है, अशरीरी नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि सिद्ध भगवान् श्रुत के प्रणेता नहीं हैं और भगवान् शब्द का उचित प्रयोग यहां अरिहन्तों के लिए ही किया गया है।

३. **उप्पण्ण-नाणदंसणधरेहिं**—उत्पन्न ज्ञानदर्शन के धारण करनेवाले। ज्ञान दर्शन तो अध्ययन और अभ्यास से भी हो सकता है। अतः यहां उत्पन्न विशेषण जोड़ा है। यहां शंका हो सकती है जो तीसरा विशेषण है, वही पर्याप्त है, अरिहन्त-भगवान् ये दो विशेषण क्यों जोड़े हैं ? इसका उत्तर यह है कि तीसरा विशेषण सामान्य केवली में भी पाया जाता है, वे सम्यक्-श्रुत के प्रणेता नहीं होते। अतः यह विशेषण पहले दोनों पदों की पुष्टि करता है। जो एक तथा अनादि विशुद्ध परमेश्वर है, उसमें यह विशेषण घटित नहीं होता, वह ज्ञान-दर्शन का धरता हो सकता है। किन्तु उत्पन्न हो गया है ज्ञान-दर्शन जिनमें, यह विशेषण उनमें ही पाया जाता है, जिनके ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गए हैं।

४. **तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं**—तीन लोक में रहनेवाले असुरेन्द्रों, नरेन्द्रों तथा देवेन्द्रों के द्वारा

तीव्र श्रद्धा-भक्ति से जो अवलोकित हैं, असाधारण गुणों से प्रशंसित हैं तथा प्रशस्त मन-वचन और काय के द्वारा वन्दनीय एवं नमस्करणीय हैं, सर्वोत्कृष्ट आदर एवं बहुमान आदि से पूजित हैं। यह पद मायावियों में भी पाया जाता है, जैसे कि कहा भी है—

"देवागम-नभोयान, चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्।

इसलिए इसका व्यवच्छेद करने के लिए विशेषणान्तर प्रयुक्त किया है—

५. तीयपडुप्पन्नमणागयजाणएहिं—जो तीनों काल को जानने वाले हैं। यह विशेषण मायावियों में तो नहीं पाया जाता, किन्तु कतिपय व्यवहार नय का अनुसरण करनेवाले कहते हैं कि—

"ऋषयः संयतात्मानः, फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति, त्रैलोक्यं सचराचरम्॥"

अर्थात् विशिष्ट ज्योतिषी तथा अवधिज्ञानी भी तीन काल को उपयोग पूर्वक जान सकते हैं, इसलिए सूत्रकार ने कहा है—

६. सव्वण्णूहिं—जो विश्व के उदरवर्ती सभी पदार्थों को हस्तामलकवत् जानते हैं, जिनके ज्ञानदर्पण में सभी द्रव्य और सभी पर्याय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। जिनका ज्ञान इतना महान् है, जोकि निःसीम है। अतः यह विशेषण प्रयुक्त किया है—

७. सव्वदरिसीहिं—जो सभी द्रव्यों और उनकी सभी पर्यायों का साक्षात्कार करते हैं। जो इन सात विशेषणों से सम्पन्न होते हैं, वस्तुतः सर्वोत्तम आप्त वे ही होते हैं। वे ही द्वादशाङ्ग गणिपिटक के प्रणेता हैं। वे ही सम्यक्श्रुत के रचयिता होते हैं। सातों विशेषण तृतीयान्त हैं और ये तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवन्मुक्त उत्तम पुरुषों के हैं, न कि अन्य पुरुषों के। पणीअं यह क्रिया है। दुवालसंगं गणिपिडगं यह कर्म है। अतः यह वाक्य कर्मवाच्य है, न कि कर्तृवाच्य।

वे बारह अङ्ग सम्यक्-श्रुत हैं, उन्हें गणिपिटक भी कहते हैं। गणिपिटक—जैसे बहुत बड़े धनाढ्य या महाराजा के यहां पेटी या सन्दूक उत्तमोत्तम रत्न, मणि, हीरे, पन्ने, वैडूर्य आदि पदार्थों और सर्वोत्तम आभूषणों से भरे हुए होते हैं, वैसे ही गणपति आचार्य के यहाँ विचित्र प्रकार की शिक्षाएं, उपदेश, नव-तत्त्व निरूपण, द्रव्यों का विवेचन, धर्मकथा, धर्म की व्याख्या, आत्मवाद, क्रियावाद, कर्मवाद, लोकवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्रमाणवाद, नयवाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद- तीर्थंकर बनने के उपाय, सिद्ध भगवन्तों का निरूपण, तप का विवेचन, कर्मग्रंथी भेदन के उपाय, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रति-वासुदेव के इतिहास, रत्नत्रय का विश्लेषण इत्यादि अनेक विषयों का जिनमें यथार्थ निरूपण किया गया है। ऐसी भगवद्वाणी को गणधरों ने बारह पिटकों में भर दिया है। जिस पिटक का जैसा नाम है, उसमें वैसे ही सम्यक्श्रुतरत्न निहित हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं—

१. आचाराङ्ग, २. सूत्रकृताङ्ग, ३. स्थानाङ्ग, ४. समवायाङ्ग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाता धर्मकथाङ्ग, ७. उपासकदशाङ्ग, ८. अन्तकृत्दशाङ्ग, ९. अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकश्रुत, १२. दृष्टिवादाङ्ग। ये बारह पिटकों के पवित्र नाम हैं। यही आचार्य के पिटक हैं। वृत्तिकार भी इस विषय में लिखते हैं—

"गणिपिडगं त्ति गणो-गच्छो गुणगणो वाऽस्यास्तीति गणी—आचार्यस्तस्य पिटकमिवपिटकं. सर्वस्वमित्यर्थः,गणिपिकम् । अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनोऽप्यस्ति, तथा चोक्तम्—

"आयरम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥

गणीनां पिटकं गणिपिटकं परिच्छेद समूह इत्यर्थः ।

अङ्ग—परमपुरुष के अंग की भान्ति ये सम्यक्-श्रुत के अंग कहलाते हैं, जैसे कि कहा भी है—

प्रणीतम्, अर्थकथनद्वारेण प्ररूपितं, किं तदित्याह 'द्वादशाङ्ग' श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्याङ्ग, नीवाङ्गानि, द्वादशाङ्गानि, आचाराङ्गादीनि यस्मिन् तद् द्वादशाङ्गम् ।"

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि अरिहन्त भगवन्तों के अतिरिक्त अन्य जो श्रुतज्ञानी हैं, वे भी क्या आप्त पुरुष हो सकते हैं ? हाँ, हो समते हैं । सम्पूर्ण दस पूर्वधर से लेकर चौदह पूर्वधर तक जितने भी ज्ञानी हैं, उनका कथन नियमेन सम्यक्श्रुत ही होता है, ऐसा सूत्रकार का अभिमत है । किंचिन्न्यून दस पूर्व से पहले-पहले जो पूर्वधर हैं, उन में सम्यक् श्रुत की भजना है अर्थात् विकल्प है, कदाचित् सम्यक्श्रुत हो, कदाचित् मिथ्याश्रुत । एकान्त मिथ्यादृष्टि जीव भी पूर्वो का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु वे अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्वो का अध्ययन कर सकते हैं, क्योंकि उनका ऐसा ही स्वभाव है । जैसे अभव्यात्मा यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थिदेश में पहुंचने पर भी उस का भेदन नहीं कर सकता, तथास्वभाव होने से । इस विषय में वृत्तिकार के निम्न लिखित शब्द हैं, जैसे कि—

"एतदेव श्रुतं परिमाणतो व्यक्तं दर्शयति—इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं यच्चतुर्दशपूर्वी तस्य सकलमपि सामायिकादिविन्दुसारपर्यवसानं नियमात् सम्यक्श्रुतं, ततोऽधोमुखपरिहान्या नियमतः सर्वं सम्यक्श्रुतं तावद् वक्तव्यं यावदभिन्नदशपूर्विणः—सम्पूर्णदशपूर्वधरस्य, सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वादिकं हि नियमतः सम्यग्दृष्टेरेव, न मिथ्यादृष्टेस्तथास्वभाव्यात् ।" तथा हि यथा अभव्यो ग्रन्थिदेशमुपागतोऽपि तथास्वभावत्वान्न ग्रन्थिभेदमाधातुमलम्—एवं मिथ्यादृष्टिरपि श्रुतमवगाहमानः प्रकर्षतोऽपि तावदवगाहते यावत्किञ्चिन्न्यूनानि दशपूर्वाणि भवन्ति परिपूर्णानि तानि नावगाढुं शक्नोति तथास्वभावत्वादिति ।"

इस का सारांश इतना ही है कि चौदह पूर्व से लेकर यावत् सम्पूर्ण दश पूर्वो के ज्ञानी निश्चय ही सम्यग्दृष्टि होते हैं । अतः उनका कथन किया हुआ प्रवचन भी सम्यक्श्रुत होता है, क्योंकि वे भी जैन दर्शनानुसार आप्त ही है । शेष अङ्गधरों या पूर्वधरों में सम्यक्श्रुत का होना नियमेन नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि हो तो उसका प्रवचन सम्यक्श्रुत है, अन्यथा मिथ्याश्रुत है ॥सूत्र ४१॥

६. मिथ्या-श्रुत

मूलम्—से किं तं मिच्छासुअं ? मिच्छासुअं, जं इमं अण्णाणिएहिं, मिच्छादिट्ठिएहिं, सच्छंदबुद्धि-मइविगप्पिअं, तं जहा—१. भारहं, २. रामायणं, ३. भीमासुरुक्खं, ४. कोडिल्लयं, ५. सगडभद्दिआओ, ६. खोड-(घोडग) मुहं, ७. कप्पासिअं, ८. नागसुहुमं, ९. कणगसत्तरी, १०. वइसेसिअं, ११. बुद्धवयणं, १२. तेरासिअं, १३. काविलिअं, १४. लोगायथं १५.

क्योंकि सम्मत्तहेउत्तणओ—ये सम्यक्त्व में हेतु हैं, जम्हा—जिससे ते—वे मिच्छदिट्ठिआ—मिथ्यादृष्टि तेहिं चेव समएहिं—उन ग्रन्थों से चोइआ समाणा—प्रेरित किए गए केइ—कई सपक्खदिट्ठिओ—अपने पक्ष दृष्टि को चयंति—छोड़ देते हैं, से त्तं मिच्छासुअं—यह मिथ्याश्रुत का वर्णन हुआ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—देव ! उस मिथ्या-श्रुत का स्वरूप क्या है ? गुरुजी उत्तर में बोले—मिथ्याश्रुत अल्पज्ञ, मिथ्यादृष्टि और स्वाभिप्राय, बुद्धि व मति से कल्पित किए हुए ये जो भारत आदि ग्रन्थ हैं, अथवा ७२ कलाएं, चार वेद अङ्गोपाङ्ग सहित हैं, ये सभी मिथ्यादृष्टि के मिथ्यारूप में ग्रहण किए हुए, मिथ्या-श्रुत हैं। यही ग्रन्थ सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व रूप में ग्रहण किए गए सम्यक्-श्रुत हैं। अथवा मिथ्यादृष्टि के भी, यही ग्रन्थ-शास्त्र सम्यक्-श्रुत हैं, क्योंकि ये उन के सम्यक्त्व में हेतु हैं, जिससे कई एक मिथ्यादृष्टि उन ग्रन्थों से प्रेरित होकर स्वपक्ष—मिथ्यादृष्टित्व को छोड देते हैं। इस तरह यह मिथ्याश्रुत का स्वरूप है ॥ सूत्र ४२ ॥

टीका—इस सूत्र में मिथ्याश्रुत का उल्लेख किया गया है। मिथ्याश्रुत किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानी जो भी अपनी सूझ-बूझ एवं कल्पना से जनता के सम्मुख विचार रखते हैं, वे विचार तात्विक न होने से मिथ्याश्रुत हैं। अर्थात् जिन की दृष्टि—विचार-सरणि मिथ्यात्व से अनुरंजित है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यात्व दस प्रकार का होता है, उसमें से यदि किसी जीव में एक प्रकार का भी हो तो, वह मिथ्यादृष्टि है, जैसे—

१. **अधम्मे धम्मसण्णा**—अधर्म में धर्म समझना, संज्ञा शब्द 'सम्' पूर्वक 'ज्ञा' धातु से बना है, जिस का अर्थ होता है—विपरीत होते हुए भी जिसे सम्यक् समझा जाए। जैसे देव-देवी के नाम पर, ईश्वर के नाम पर, पितरों के नाम पर, हिंसा आदि पाप कृत्य को धर्म समझना, शिकार खेलने में धर्म समझना, मांस-अण्डा, मदिरा आदि के सेवन करने में धर्म मानना, अन्याय-अनीति में धर्म मानना मिथ्यात्व है।

२. **धम्मे अधम्मसण्णा**—अहिंसा, संयम, तप तथा ज्ञान-दर्शनादि रत्नत्रय को अधर्म समझना। आत्मशुद्धि के मुख्य कारण को धर्म कहते हैं। धर्म में अधर्म संज्ञा रखना भी मिथ्यात्व है।

३. **उम्मग्गे मग्गसण्णा**—उन्मार्ग में सन्मार्ग संज्ञा, संसार मार्ग को मोक्ष मार्ग, दुःखपूर्ण मार्ग को सुख का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

४. **मग्गे उम्मग्गसण्णा**—मोक्ष मार्ग को संसार का मार्ग समझना, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः" इसे संसार का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

५. **अजीवेसु जीवसण्णा**—अजीवों में जीव संज्ञा, जड़ पदार्थ में भी जीव समझना अर्थात् जो कुछ भी दृश्यमान है, वे सब जीव ही जीव हैं, अजीव पदार्थ विश्व में है ही नहीं, इस प्रकार अजीवों में जीव समझना मिथ्यात्व है।

६. **जीवेसु अजीवसण्णा**—जीवों में अजीव की संज्ञा, जैसे चार्वाक दर्शनानुयायी शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व से सर्वथा इन्कार करते हैं तथा कुछ एक विचारक जानवरों में जीवात्मा नहीं मानते, इनमें

केवल प्राण ही मानते हैं, इसी कारण उन्हें मारने व खाने में पाप नहीं मानते। इस प्रकार की मान्यता को भी मिथ्यात्व कहा जाता है।

७. **असाहूसु साहुसण्णा**—असाधुओं में साधु संज्ञा, जो जर, जोरू जमीन के त्यागी नहीं हैं, ऐसे वेषधारी को भी साधु समझना या अपनी संप्रदाय में असाधुओं को भी साधु समझना मिथ्यात्व है।

८. **साहूसु असाहुसण्णा**—साधुओं में असाधु संज्ञा, श्रेष्ठ संयत, पांच महाव्रत तथा समिति, गुप्ति के पालक मुनियों को भी असाधु समझना, उन का मज़ाक उड़ाना, उन्हें ढोंगी-पाखण्डी समझना मिथ्यात्व है।

९. **अमुत्तेसु मुत्तसण्णा**—अमुक्तों में मुक्त संज्ञा, जो कर्म बन्धन से मुक्त नहीं हुए, जो भगवत् पदवी को प्राप्त नहीं हुए, उन्हें कर्मबन्धन से रहित या भगवान समझना मिथ्यात्व है।

१०. **मुत्तेसु अमुत्तसण्णा**[1]—जो आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा विमुक्त हो गए हैं, उनमें अमुक्त संज्ञा रखना। आत्मा कभी भी परमात्मा नहीं बन सकता, अल्पज्ञ से सर्वज्ञ नहीं बन सकता, आत्मा कर्मबन्धन से न कभी मुक्त हुआ और न होगा, ऐसी मान्यता को भी मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे असली रत्न-जवाहिरात को नकली और नकली को असली समझने वाला झवेरी नहीं कहलाता; वैसे ही असत्-सत् की जिसे पहचान नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं, मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

कोई मुक्त होने पर भी पुनः समयान्तर में संसार में लौटना मानते हैं। कोई स्त्रियों के साथ रंगलीला करते हुए को भी भगवान मानते हैं। कोई परमदयालु भगवान को भी शस्त्र-अस्त्रों से सुसज्जित तथा दुष्टोंका विनाशक मानते हैं।

कोई अभीष्ट ग्रन्थ को अपौरुषेय मानते हैं। कोई शून्यवाद को ही अभीष्ट तत्त्व मानते हैं। उन का कहना है कि विश्व में न जीव है और न अजीव ही।

इस प्रकार की विपरीत दृष्टि को मिथ्यात्व कहते हैं। जब जीवात्मा मिथ्यात्व से अनुरंजित होता है, तब उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अर्थात् मिथ्या है दृष्टि जिस की, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके द्वारा रचित ग्रन्थ-शास्त्र को मिथ्याश्रुत कहा गया है।

मनुष्य जिस ग्रन्थ-शास्त्र के पढ़ने व सुनने से हिंसा में प्रवृत्त हो। शान्तहृदय में द्वेषाग्नि भड़क उठे, कामाग्नि प्रचण्ड हो जाए, अभक्ष्य पदार्थों के सेवन करने में प्रोत्साहन मिले, सभी प्रकार की बुराईयों का जन्म हो, ऐसा साहित्य मिथ्याश्रुत है। विश्व में जितना भी अवगुणपोषक एवं परिवर्द्धक साहित्य है, वह सब मिथ्याश्रुत है।

यदि किसी ग्रन्थ व साहित्य में प्रसंगवश व्यावहारिक तथा धार्मिक शिक्षाएं और जीवन-उत्थान में कुछ सहयोगी उपदेश भी हों, और साथ ही अनुपयुक्त बातें भी हों तो भी वह साहित्य मिथ्याश्रुत है, उदाहरण के रूप में मानो किसी ने सर्वोत्तम खीर परोसी और खाने वाले के सामने ही उसने थाली में विष की पुड़िया झाड़ दी, या उसमें रक्त-राध-मल-मूत्र आदि डाल दिया, जैसे वह खाद्य पदार्थ विजातीय तत्त्व के मिल जाने से अखाद्य बन जाता है। वैसे ही जिस साहित्य में पूर्व-अपर विरोधी तत्त्व या वचन पद्धति विरुद्ध

१. स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०।

पाई जाए, वह साहित्य मिथ्याश्रुत है। वह चाहे किसी संप्रदाय में, किसी देश में या किसी भी काल में विद्यमान हो, वह मिथ्याश्रुत है।

आगमकार ने ७२ कलाओं को मिथ्याश्रुत कहा है, जब कि उनका आविष्कार ऋषभदेव भगवान ने किया, फिर उन्हें मिथ्याश्रुत कहने या लिखने का क्या अभिप्राय है ?

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरक को समाप्त होने में जब चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहते थे, तब ऋषभदेव जी का जन्म हुआ। बीस लाख पूर्व तक उन्होंने राजपाट करने योग्य भूमिका तैयार की। ६३ लाख पूर्व तक उन्होंने राजपाट किया। उस समय लोग राजनीति से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। राजनीति के अभाव में धर्मनीति नहीं चल सकती। अराजकता में धर्म का प्रादुर्भाव नहीं होता, यह विश्व का अनादि नियम है। ऋषभदेव जी गृहवास में आदर्श गृहस्थ बनकर रहे और राजावस्था में आदर्श राजा हुए। उन्होंने राजावस्था में राज- नीति से सम्बन्धित अनेक प्रकार की कलाएँ और शिल्प अनभिज्ञ प्रजा को सिखाए। असि-मसि और कृषि विद्या से जनता को परिचित कराया। साम, दाम, भेद और दण्ड इस प्रकार चार तरह की राजनीति का श्रीगणेश किया। ८३ लाख पूर्व तक राजनीति से सम्बन्धित सभी ज्ञातव्य विषयों से जनता को अवगत कराया। इतने लम्बे काल में उन्होंने धर्मबीज का वपन प्रजा के हृदय में नहीं किया, क्योंकि राजनीति धर्मनीति की भूमिका है। ऋषभदेव जी से पहले इस अवसर्पिणीकाल में कोई भी राजा नहीं हुआ। ७२ कलाएं पुरुषों की, ६४ कलाएँ महिलाओं की, १०० प्रकार का शिल्प, ये सब विद्याएं राजनीति से ओत-प्रोत हैं अथवा इन्हें राज-नीति की भूमिका भी कह सकते हैं। महामानव जिस कर्त्तव्य के स्तर पर खड़े होते हैं, वे उसका पालन उचित रीति से करते हैं। जब उन्होंने राजपाट को छोड़कर संन्यासाश्रम को अपनाया तब वे धर्म में संलग्न होगए। साधना की चरम सीमा में पहुँच कर उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया। तत्पश्चात्, उन्होंने ७२ कलाएँ सीखने-सीखाने के लिए उपदेश नहीं दिया। जो आध्यात्मिक तत्त्व के पोषक—परिवर्द्धक हैं, उनका अपने प्रवचन में प्रकाश किया और उनके पालन करने के लिए आज्ञा दी है। धर्मकला के अतिरिक्त शेप कला के सीखने-सिखाने का स्पष्ट निषेध किया है। क्योंकि वे कलाएं धर्म मार्ग में हेय एवं त्याज्य है। धर्ममार्ग में धर्मनीति से भिन्न यावन्मात्र विश्व में कलाएँ हैं, वे सब मिथ्याश्रुत हैं अर्थात् जो क्रियाएं राजनीति से सर्वथा भिन्न हैं। वही धर्मनीति है। सभी भावी तीर्थंकर गृहस्थाश्रम में राजनीति की मर्यादा में रहते हुए स्व-कर्त्तव्य का पालन करते हैं, मिथ्यात्व के अतिरिक्त सभी आश्रवों का सेवन करते हैं, और तो क्या समय आने पर रणाङ्गण में रणकौशल भी दिखाते हैं। सप्त कुव्यसनों का सेवन करना राजनीति से विरुद्ध है। अतः वे उनका सेवन नहीं करते और न दूसरों को प्रेरणा करते हैं। देववाचक जी के युग में ७२ कलाओं से सम्बन्धित जितने सूत्र, वार्तिका और भाष्य थे, वे सब उन्होंने मिथ्याश्रुत के अन्तर्भूत कर दिए। उन्होंने जिनवाणी को ही मुख्यतया सम्यक्श्रुत माना है। शेष सब मिथ्याश्रुत।

जो साहित्य अवगुणों के पोषक, विषय कषाय के वर्द्धक एवं सद्गुणों के शोषक हैं। उसे मिथ्या-श्रुत कहा जाए तो कोई हानि नहीं, किन्तु इस सूत्र में तो व्याकरण को भी मिथ्याश्रुत कहा है, इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि केवल व्याकरण के अध्ययन करने मात्र से आत्म-तत्त्व का बोध नहीं होता, वह तो मात्र शब्द शुद्धि का एक साधन है। व्याकरण के अध्ययन करने से

कोई जीव सम्यग्दृष्टि नहीं बन जाता । यदि वह पतन में कारण नहीं तो आत्मबोध में भी वह परम-सहयोगी नहीं है । जिससे आत्मबोध हो, वह सम्यक् श्रुत है और जिससे न सर्वथा पतन ही हो और न उत्थान ही, वह मिथ्याश्रुत कहलाता है । जैसे न्यायशास्त्र में पांच अन्यथा-सिद्ध बतलाए हैं, वैसे ही सम्यक्त्व लाभ तथा चारित्रशुद्धि में व्याकरण अन्यथा सिद्ध है, उससे मिथ्यात्व मल दूर नहीं होता । वह आध्यात्मिक शास्त्र या सम्यक्श्रुत में प्रवेश करने के लिए सहायक अवश्य है, किन्तु आत्मबोध सम्यक्श्रुत से ही हो सकता है, न कि व्याकरण के अध्ययनमात्र से ।

अब सूत्रकार मिथ्याश्रुत और सम्यक्श्रुत का अन्तिम निर्णय देते हैं—

एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं—जो मिथ्यादृष्टि के बनाए ग्रन्थ व साहित्य हैं, वे द्रव्य मिथ्याश्रुत हैं, उनके प्रणेता नियमेन मिथ्यादृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि में भावमिथ्याश्रुत होता है । उनके अध्येता यदि मिथ्यादृष्टि हैं, तो उनमें भी वही भावमिथ्याश्रुत होता है । जिस निमित्त से इन्सान कर्म-चाण्डाल कहलाता है । उच्चकुल एवं जाति में जन्मे हुए व्यक्ति में भी यदि वे ही निमित्त पाए जाएं, तो वह भी कर्मचाण्डाल कहलाता है । इन्सान बुरा नहीं, इन्सान में रही हुई बुराईयां बुरी हैं । बुराइयों से ज्ञानधारा भी मलिन हो जाती है और दृष्टि भी । जब दृष्टि ही गलत है, तब ज्ञान सच्चा कैसे हो सकता है ? जब निशान ही गलत है, तब तीर से लक्ष्य वेध कैसे हो सकता है ? जो अपरिचित जंगल में स्वयं भटका हुआ है, उसके कथनानुसार यदि कोई अन्य पथिक चलेगा तो वह भी भटकता ही रहेगा । इसी प्रकार जो अध्यात्म मार्ग से जो भटके हुए हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं । उनके कथनानुसार जो व्यक्ति चलता है, वह पथभ्रष्ट भी ही कहलाता है ।

एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं—उन्हीं ग्रन्थों को यदि सम्यग्दृष्टि यथार्थरूप से ग्रहण करते हैं तो वे ही मिथ्याश्रुत सम्यक्श्रुत के रूप में परिणत हो जाते हैं । जैसे वैद्य विशिष्ट क्रिया से विष को भी अमृत बना देते हैं । समुद्र में पानी खारा होता है, जब समुद्र में से मान-सून उठती हैं, तो वे कालान्तर में अन्य किसी क्षेत्र में बादल बन कर बरसती हैं, तब वही खारा पानी मधुर बन जाता है । सम्यक्त्व के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि में मिथ्याश्रुत को भी सम्यक्श्रुत के रूप में परिणत करने की शक्ति हो जाती है । जैसे न्यारिया रेत में से भी स्वर्ण निकालता है, असार को फेंक देता है । जैसे हंस दूध को ग्रहण करता है, पानी को छोड़ देता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि की दृष्टि ठीक होने से, जिस दृष्टिकोण से मौलिक सिद्धान्त से समन्वित हो सकता है, उसी प्रकार से वह समन्वय करता है । और वह सर्वगुणों की आकर (खान) बन जाता है ।

अहवा मिच्छदिट्ठिस्सवि एयाइं चेव 'सम्मसुयं' कम्हा ? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छ-दिट्ठिया, तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केई सपक्खदिट्ठिओ चयंति ।

मिथ्यादृष्टियों को भी पूर्वोक्त सब ग्रन्थ सम्यक्श्रुत हो सकते हैं, जैसे कि सम्यग्दृष्टि के द्वारा जब उपर्युक्त शास्त्रों का पूर्वापर विरोध या असंगत बातें उन्हीं ग्रन्थों में मिलती हैं, तब उन्हीं मिथ्यादृष्टि जीवों के जो पहले अभीष्ट ग्रन्थ थे, वे पीछे से अरुचिकर हो जाते हैं । कोई-कोई मनुष्य गलत स्वपक्ष को छोड़ कर सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं, फिर वे ही उन ग्रन्थ-शास्त्रों के विषयों की कांट-छांट करके उन्हें सम्यक्श्रुत के रूप में परिणत कर लेते हैं । जैसे कोई कारीगर अनघड़ लकड़ी आदि को लेकर उसे छीलकर, तराशकर उस पर मीनाकारी करता है, तब वही वस्तु उत्तम-बहुमूल्य एवं जन-मनोरंजन का एक साधन बन जाती

७-८, ९-१० सादिसान्त, अनादि-अनन्त श्रुत

मूलम्—से किं तं साइअं-सपज्जवसिअं ?
अणाइअं-अपज्जवसिअं च ?

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइअं सपज्जवसिअं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए-अणाइअं अपज्जवसिअं। तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ—

१. दव्वओ णं सम्मसुअं एगं पुरिसं पडुच्च-साइअं सपज्जवसिअं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

२. खेत्तओ णं पंच भरहाइं, पंचेरवयाई, पडुच्च-साइअं सपज्जवसिअं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च-अणाइयं अपज्जवसिअं।

३. कालओ णं उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च-साइअं सपज्जवसिअं, नो उस्सप्पिणिं नो ओसप्पिणं च पडुच्च-अणाइयं अपज्जवसिअं,

४. भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, तया (ते) भावे पडुच्च-साइअं सपज्जवसिअं। खाओवसमिअं पुण भावं पडुच्च-अणाइअं अपज्जवसिअं।

अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसिअं च, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं (च)।

सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंत गुणिअं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ, सव्वजीवाणंपि अ णं अक्खरस्स अणंत भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा—तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा, 'सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंद-सूराणं।' से त्तं साइअं सपज्जवसिअं, से त्तं अणाइयं अपज्जवसिअं ॥सूत्र ४३॥

छाया—७-८ अथ किं तत्सादिकं सपर्यवसितम् ?
९-१० अनादिकमपर्यवसितञ्च ?

इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं व्युच्छित्तिनयार्थतया-सादिकं सपर्यवसितम्, अव्युच्छित्तिनयार्थतयाऽनादिकमपर्यवसितम्।

तत्समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो भावतः, तत्र–

१. द्रव्यतः सम्यक्-श्रुतम्—एकं पुरुषं प्रतीत्य—सादिकं सपर्यवसितम्, बहून् पुरुषांश्च प्रतीत्य—अनादिकमपर्यवसितम् ।

२. क्षेत्रतः पञ्च भरतानि, पञ्चैरावतानि प्रतीत्य—सादिकं सपर्यवसितम्, पञ्च-महाविदेहानि प्रतीत्य–अनादिकमपर्यवसितम् ।

३. कालत उत्सर्पिणीमवसर्पिणीञ्च प्रतीत्य—सादिकं सपर्यवसितम्, नो-उत्सर्पिणीं नो-अवसर्पिणीञ्च प्रतीत्य—अनादिकमपर्यवसितम् ।

४. भावतो ये यदा जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते, तदा तान् भावान् प्रतीत्य–सादिकं सपर्यवसितम् । क्षायोपशमिकं पुनर्भावं प्रतीत्य–अनादिकमपर्यवसितम् ।

अथवा भवसिद्धिकस्य श्रुतं–सादिकं सपर्यवसितञ्च, अभवसिद्धिकस्य श्रुतम्–अनादि-कमपर्यवसितञ्च ।

सर्वाकाशप्रदेशाग्रं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणितं पर्यवाक्षरं निष्पद्यते, सर्वजीवानामपि च अक्षरस्याऽनन्तभागो नित्यमुद्घाटितः (तिष्ठति), यदि पुनः सोऽपि–आव्रियेत तेन जीवोऽ-जीवत्वं प्राप्नुयात् । 'सुष्ठ्वपि मेघसमुदये, भवति प्रभा चन्द्रसूर्याणाम् ।'

तदेतत् सादिकं सपर्यवसितम्, तदेतदनादिकमपर्यवसितम् ।।सूत्र ४३।।

पदार्थ—से किं तं साइअं सपज्जवसिअं ?—वह सादि सपर्यवसित च—और अणाइअं अपज्ज-वसिअं ?—अनादि अपर्यवसित-श्रुत क्या है ? इच्चेइयं—इस प्रकार यह दुवालसंगं—द्वादशाङ्ग गणि-पिडगं—गणिपिटक वुच्छित्तिनयट्ठयाए—पर्यायनय की अपेक्षा से साइअं सपज्जवसिअं—सादि सपर्यवसित है, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए—द्रव्यार्थकनय की अपेक्षा से अणाइअं अपज्जवसिअं—अनादि अपर्यवसित है, तं—वह श्रुतज्ञान समासओ—संक्षेप में चउव्विहं—चार प्रकार से पण्णत्तं—प्रतिपादन किया गया है, तं जहा—जैसे दव्वओ—द्रव्य से, खित्तओ—क्षेत्र से कालओ—काल से भावओ—भाव से तत्थ—उन चारों में—

दव्वओ णं—द्रव्य की अपेक्षा 'णं' वाक्यालङ्कार में सम्मसुअं—सम्यक्श्रुत एगं पुरिसं पडुच्च—एक पुरुष की अपेक्षा से साइयं सपज्जवसिअं—सादि सपर्यवसित है, बहवे पुरिसे य पडुच्च—और बहुत पुरुषों की अपेक्षा से अणाइयं अपज्जवसिअं—अनादि अपर्यवसित है ।

खेत्तओ णं—क्षेत्र की अपेक्षा से पंच भरहाइं—पांच भरत, पंचेरवयाइं—पांच ऐरावत की पडुच्च—अपेक्षा साइअं सपज्जवसिअं—सादि सपर्यवसित है, पंच—पांच महाविदेहाइं पडुच्च—महाविदेह की अपेक्षा से अणाइयं अपज्जवसिअं—अनादि अपर्यवसित है ।

कालओ णं—काल से उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की अपेक्षा

से साइअं सपज्जवसिअं—सादि सपर्यवसित है, नो उस्सप्पिणिं नो ओसप्पिणिं च पडुच्च—न उत्सर्पिणी और न अवसर्पिणी की अपेक्षा से अणाइयं अपज्जवसिअं—अनादि अपर्यवसित है।

भावओ णं—भाव से जे—जो जिणपण्णत्ता भावा—जिन-सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित भाव पदार्थ जया—जिस समय आघविज्जंति—सामान्य रूप से कहे जाते हैं, पण्णविज्जंति—नाम आदि भेद दिखलाने से जो कथन किए जाते हैं, निदंसिज्जंति—हेतु-दृष्टान्त के उपदर्शन से स्पष्टतर किए जाते हैं, उवदं-सिज्जंति—उपनय और निगमन से जो स्थापित किए जाते हैं, तया—तब ते भावे पडुच्च—उन भावों-पदार्थों की अपेक्षा से साइयं सपज्जवसिअं—सादि सपर्यवसित है, पुण—और खओवसमिअं भावं पडुच्च—क्षयोपशम भावों की अपेक्षा आणाइअं अपज्जवसिअं—अनादि अपर्यवसित है।

अहवा—अथवा भवसिद्धियस्स सुयं—भवसिद्धिक जीव का श्रुत साइयं सपज्जवसिअं च—सादि सपर्यवसित है, अभवसिद्धियस्स सुयं—अभवसिद्धिक जीव का श्रुत अणाइयं अपज्जवसियं च—अनादि अपर्यवसित है, सव्वागासपएसग्गं—सर्वाकाश प्रदेशाग्र सव्वागासपएसेहिं—सर्वाकाश प्रदेशों से अणंत गुणियं —अनन्त गुणा करने से पज्जवक्खरं—पर्याय अक्षर निप्फज्जइ—उत्पन्न होता है, अ—और सव्व जीवाणं पि—सब जीवों का 'णं' वाक्यालाङ्कारार्थ में अक्खरस्स—अक्षर-श्रुतज्ञान का—अणंत भागो —अनन्तवां भाग निच्चुग्घाडिओ—नित्य उद्घाटित चिट्ठइ—रहता है, जइ पुण—यदि फिर सोऽवि—वह भी आवरिज्जा—आवरण को प्राप्त हो जाए ते णं—तो उस से जीवो अजीवत्तं—जीव-आत्मा अजीव भाव को पाविज्जा—प्राप्त हो जाए मेहसमुदए—मेघका समुदाय सुट्ठुवि—अत्यधिक होने पर भी चंद-सूराणं—चन्द्र-सूर्य की पभा—प्रभा होइ—होती ही है। से त्तं साइअं सपज्जवसिअं—इस प्रकार यह सादि सपर्यवसित और अणाइयं अपज्जवसिअं—अनादि अपर्यवसितश्रुत का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

भावार्थ—शिष्यने प्रश्न किया-भगवन् ! वह सादि सपर्यवसित और अनादि अपर्यवसितश्रुत किस प्रकार है ?

आचार्य उत्तर में कहने लगे—भद्र ! यह द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक (सेठ के रत्नों के डब्बे सदृश आचार्य की श्रुतरत्नों की पेटी,) पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से—सादि-सान्त है, और द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से आदि अन्त रहित है। वह श्रुतज्ञान संक्षेप में चार प्रकार से कथन किया गया है, जैसे–

द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। उन चारों में—

१. द्रव्यसे सम्यक्-श्रुत, एक पुरुष की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित–सादि और सान्त है। बहुत से पुरुषों की अपेक्षा से अनादि अपर्यवसित–आदि और अन्त रहित है।

२. क्षेत्र से सम्यक्-श्रुत—पांच भरत और पांच ऐरावत की दृष्टि से सादि-सान्त है। पांच महाविदेह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

३. काल से सम्यक-श्रुत—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की अपेक्षा से सादि-सान्त है। नो उत्सर्पिणी नो अवसर्पिणी—अवस्थित अर्थात् काल की हानि और वृद्धि न होने की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

४. भाव से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिन—तीर्थंकरों द्वारा जो भाव–पदार्थ जिस समय सामान्यरूप से कहे जाते हैं, जो नाम आदि भेद दिखलाने से कथन किए जाते हैं, हेतु-दृष्टान्त के उपदर्शन से जो स्पष्टतर किए जाते हैं और उपनय और निगमन से जो स्थापित किये जाते हैं, तब उन भावों—पदार्थों की अपेक्षा से सादि-सान्त है। क्षयोपशम भावों की अपेक्षा से सम्यक्-श्रुत अनादि-अनन्त है।

अथवा भवसिद्धिक प्राणी का श्रुत सादि-सान्त है, अभवसिद्धिक जीव का मिथ्याश्रुत अनादि और अनन्त है।

सम्पूर्ण आकाश-प्रदेशाग्र को सब आकाश प्रदेशों से अनन्तगुणा करने से पर्याय अक्षर निष्पन्न होता है। सभी जीवों का अक्षर—श्रुतज्ञान का अनन्तवां भाग नित्य उद्घाटित–खुला रहता है। यदि वह भी आवरण को प्राप्त हो जाए तो उससे जीव-आत्मा अजीव भाव को प्राप्त हो जाए। क्योंकि चेतना जीव का लक्षण है। बादलों का अत्यधिक पटल ऊपर आ जाने पर भी चन्द्र और सूर्य की प्रभा तो होती ही है। इस प्रकार सादि सान्त और अनादि-अनन्तश्रुत का वर्णन है ॥सूत्र ४३॥

टीका—इस सूत्र में सादि-श्रुत सान्त-श्रुत, अनादि-श्रुत और अनन्त-श्रुत का विषय वर्णित है। इसी लिए सूत्रकार ने 'साइयं सपज्जवसियं, अणाइयं, अपज्जवसियं ये पद दिए हैं। यद्यपि ३८ वें सूत्र के क्रम से यहाँ उन का नामोल्लेख नहीं किया गया, तदपि व्याख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पहले सूत्र में सादि-अनादि, सान्त-अनन्त का युगल किया है, जबकि, इस सूत्र में सादि-सान्त और अनादि-अनन्त शब्दों का युगल बनाया है। यह चिन्तक के विचारों पर निर्भर है, वह इन में से चाहे किसी पर भी चिन्तन-मनन कर सकता है। सपर्यवसित सान्त को कहते हैं और अपर्यवसित अनन्त का द्योतक है। यह द्वादशाङ्ग, गणिपिटक, व्यवच्छित्ति नय की अपेक्षा से सादि-सान्त है, किन्तु अव्यवच्छित्तिनय की अपेक्षा से अनादि अनन्त है। कारण कि व्यवच्छित्तिनय पर्यायास्ति का अपर नाम है, और अव्यवच्छित्तिनय द्रव्यार्थिक नय का पर्यायवाची नाम है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

"इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं, वोच्छित्तिनयट्ठयाए, इत्यादि व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो व्यवच्छित्तिनयः पर्यायार्थिकनय इत्यर्थः तस्यार्थो व्यवच्छित्तिनयार्थः पर्याय इत्यर्थः, तस्य भावो व्यवच्छित्तिनयार्थता, तया पर्यायापेक्षयेत्यर्थः, किमित्याह—सादि-सपर्यवसितं नारकादिभवपरिणत्यपेक्षया जीव इव अवोच्छित्तिनयट्ठयाए, त्ति अव्यवच्छित्ति प्रतिपादनपरो नयोऽव्यवच्छित्तिनयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थोऽव्यवच्छित्तिनयार्थो द्रव्यमित्यर्थः, तद्भावस्तता तया द्रव्यार्थिकापेक्षया इत्यर्थः, किमित्याह अनादि अपर्यवसितंत्रिकालावस्थायित्वाज्जीवम्।"

इस का भावार्थ पहले लिखा जा चुका है। उस श्रुतज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार भेद किए गए हैं।

द्रव्यतः—एक जीव की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है। जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, तब सम्यक्श्रुत की आदि और जब वह तीसरे या पहले गुणस्थान में प्रवेश कर जाता है तब मिथ्यात्व

के उदय होने के साथ ही सम्यक्श्रुत भी लुप्त हो जाता है, जब प्रमाद के कारण, मनोमालिन्य से, महावेदना उत्पन्न होने से, विस्मृति से अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने से सीखा हुआ श्रुतज्ञान लुप्त हो जाता है, तब उस पुरुष की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सान्त हो जाता है। तीनों काल की अपेक्षा अथवा बहुत पुरुषों की अपेक्षा अनादि अनन्त है, क्योंकि ऐसा कोई समय न हुआ, और न होगा जब सम्यक्श्रुत वाले ज्ञानी जीव न हों। सम्यक्श्रुत का सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। अतः एक पुरुष और एकभव की अपेक्षा सम्यक्श्रुत द्वादशाङ्गवाणी सादि है, भव बदलने से तथा उपर्युक्त कारणों से वह सम्यग्वाणी सान्त है।

क्षेत्रतः—पांच भरत, पांच ऐरावत इन दस क्षेत्रों की अपेक्षा गणिपिटक सादि सान्त है, क्योंकि अवसर्पिणी के सुषमदुषम के अन्त में और उत्सर्पिणीकाल में दुःषमसुषम के प्रारंभ में तीर्थंकर भगवान सर्वप्रथम धर्मसंघ स्थापनार्थ द्वादशाङ्गगणिपिटक की प्ररूपणा करते हैं। उसी समय सम्यक्श्रुत का प्रारंभ होता है। इस अपेक्षा से सादि, तथा दुःषमदुःषम आरे में सम्यक्श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है, इस अपेक्षा से सम्यक्श्रुत गणिपिटक सान्त है। किन्तु पाँच महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा गणिपिटक अनादि-अनन्त है। महाविदेह क्षेत्र में सदा-सर्वदा सम्यक्श्रुत का सभद्‌व पाया जाता है।

कालतः—काल से जहां उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल वर्तते हैं, वहां सम्यक्श्रुत गणिपिटक सादिसान्त है, क्योंकि कालचक्र के अनुसार ही धर्म प्रवृत्ति होती है। पांच महाविदेह में १६० विजय हैं, उन में न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणी, इस अपेक्षा से द्वादशाङ्ग गणिपिटक अनादि-अनन्त है, क्योंकि महाविदेह क्षेत्रों में उक्त कालचक्र की प्रवृत्ति नहीं होती, वहां सदैव सम्यक्श्रुत अवस्थित रहता है, इसलिए वह अनादि अनन्त है।

भावतः—जिस तिर्थकर ने जो भाव वर्णन किए हैं, उन की अपेक्षा सादि-सान्त है, किन्तु क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। इस स्थान पर चतुर्भङ्ग होते हैं, जैसे कि—

१. सादि-सान्त, २. सादि-अनन्त, ३. अनादि-सान्त और ४. अनादि-अनन्त।

पहला भंग भव-सिद्धिक में पाया जाता है, कारण कि सम्यकत्व होने पर अंग सूत्रों का अध्ययन किया जाता है, वह तो सादि हुआ, मिथ्यात्व के उदय से या क्षायिक ज्ञान हो जाने से वह सम्यक्श्रुत उस में नहीं रहता। इस दृष्टि से सम्यक्श्रुत सान्त कहलाता है, क्योंकि सम्यक्श्रुत क्षायोपशमिक ज्ञान है। सभी क्षायोपशमिक ज्ञान सीमित होते हैं, निःसीम नहीं। द्वितीय भंग शून्य है, क्योंकि सम्यक्श्रुत तथा मिथ्याश्रुत सादि होकर अपर्यवसित नहीं होता। मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्श्रुत नहीं रहता और सम्यक्त्व का लाभ होने से मिथ्याश्रुत नहीं रहता। केवलज्ञान होने पर सम्यक्श्रुत एवं मिथ्याश्रुत दोनों का विलय हो जाता है। तीसरा भंग मिथ्याश्रुत की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि भव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टि का मिथ्याश्रुत अनादि काल से चला आ रहा है, किन्तु सम्यक्त्व लाभ हो जाने से मिथ्याश्रुत का अन्त हो जाता है, इसलिए अनादिसान्त कहा है। चौथा भंग अनादि अनन्त है, अभव्यसिद्धिक का मिथ्याश्रुत अनादि-अनन्त है, क्योंकि उन जीवों को कदाचिदपि सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता, जैसे काक कभी भी मनुष्य की भाषा नहीं सीख सकता। वैसे ही अभव्यजीव भी सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर सकता।

पर्यायाक्षर

सर्वाकाश प्रदेशों को सर्वाकाश प्रदेशों से एक बार नहीं, दस बार नहीं, सौ बार नहीं, संख्यात बार नहीं उत्कृष्ट असंख्यात बार नहीं, प्रत्युत अनन्तवार गुणाकार करने से, फिर प्रत्येक आकाश प्रदेश में जो अनन्त अगुरुलघु पर्याय हैं, उन सब को मिलाकर पर्यायाक्षर निष्पन्न होता है। धर्मास्तिकाय आदि के प्रदेश स्तोक होने से सूत्रकार ने उनका ग्रहण नहीं किया, उपलक्षण से उन का भी ग्रहण करना चाहिए।

अक्षर दो प्रकार से वर्णन किए जाते हैं, ज्ञान रूप से और अकार आदि वर्ण रूप से। यहां दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए। अक्षर शब्द से केवलज्ञान ग्रहण किया जाता है, अनन्त पर्याय युक्त होने से। लोक में यावन्मात्र रूपी द्रव्यों की गुरुलघु पर्याय हैं और यावन्मात्र अरूपी द्रव्यों की अगुरुलघु पर्याय हैं, उन सब पर्यायों को केवलज्ञानी हस्तामलकवत् जानते व देखते हैं अर्थात् यावन्मात्र परिच्छेद्य पर्याय हैं, तावन्मात्र परिच्छेदक, उस केवलज्ञान के जानने चाहिएं। सारांश इतना ही है कि सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय-परिमाण केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अकार आदि वर्ण स्व-पर पर्याय भेद से भिन्न सर्वद्रव्य पर्याय परिमाण समझना चाहिए, जैसे कि भाष्यकारलिखते हैं—

"एक्केक्कमक्खरं पुण, स-पर पज्जाय भेयओ भिन्नं।
तं सव्व दव्व पज्जाय, रासिमाणं मुणेअव्वं॥"

जो वर्ण पर्याय है, वह सर्वद्रव्य पर्यायों के अनन्तवें भाग मात्र है, जैसे कि अ, अ, अ, ये उदात्त अनुदात्त और स्वरित्त के भेद से तीन प्रकार का होता है, फिर प्रत्येक के दो-दो भेद हो जाते हैं, जैसे कि सानुनासिक और निरनुनासिक, इन छ भेदों को ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत ऐसे अन्य भी तीन २ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार 'अ' वर्ण के अठारह भेद बन जाते हैं।

इसी प्रकार 'क' से लेकर 'ह' तक जितने व्यञ्जन हैं, उन के साथ मिलकर भी अठारह-अठारह भेद बन जाते हैं। घट, पट, कर, एवं सकल-शकल, मकर आदि जितने भी शब्द हैं, उन के साथ अकार के अठारह-अठारह भेद बन जाने से अनगिनत भेद बन जाते हैं। पदार्थ में अनन्त धर्म हैं, उन में जो अभिलाप्य हैं, वे अनन्तवें भाग मात्र हैं, वे अभिलाप्य वर्णात्मक हैं। जैसे घटादि पर्याय अकार से सम्बन्धित हैं। पुनः स्व-पर पर्याय की अपेक्षा से 'अ' कार सर्व द्रव्य पर्याय परिमाण कथन किया गया है। वृत्तिकार के इस विषय में निम्न लिखित शब्द हैं—

"घटादि पर्याया अपि अकारस्य सम्बन्धिन इति स्व-पर पर्यायापेक्षया अकारः सर्वद्रव्यपर्याय—परिमाणः, एवमाकारादयोऽपि वर्णाः, सर्वे प्रत्येकं सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणा वेदितव्या, एवं घटादिकमपि प्रत्येकं सर्ववस्तुजातं परिभावनीयम्।"

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए आचाराङ्ग सूत्र में एक महत्त्व पूर्ण सूत्र है—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

जो एक वस्तु की सर्व पर्यायों को जानता है, वह स्वपर्याय भिन्न अन्य वस्तुओं की सब पर्यायों को भी जानता है, जो सर्व पर्यायों को जानता है वह एक को भी जानता है। अतः केवलज्ञानवत् अकार आदि वर्ण भी सर्वद्रव्य पर्याय परिमाण जानना चाहिए। घटादि पदार्थ स्व-पर्याय युक्त हैं और पट आदि

पदार्थ उनसे भिन्न परपर्याय युक्त हैं किन्तु अकार आदि वर्ण केवलज्ञान की सर्व पर्यायों का अनन्तवां भाग जानना चाहिए।

वस्तुत: देखा जाए तो यहाँ अक्षर श्रुत का विषय है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। इसलिए यहाँ दोनों ही ग्रहण किए गए हैं। अतः सर्व जीवों के अक्षर का अनन्तवां भाग खुला रहता है, जिसको श्रुतज्ञान कहा जाता है। यदि वह भी अनन्त कर्म वर्गणाओं से आवृत हो जाए, फिर तो जीव, अजीव के रूप में परिणत हो जाएगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। जैसे बहुत सघन श्याम घटा से अच्छादित होने पर भी चन्द्र-सूर्य की प्रभा, सर्वथा आवृत्त नहीं हो सकती, कुछ न कुछ प्रकाश रहता ही है। इसी प्रकार अनन्त ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म परमाणुओं से प्रत्येक आत्मप्रदेश आवेष्टित होने पर भी चेतना का सर्वथा अभाव नहीं होता, इसलिए कहा है—मतिपूर्वकश्रुत सर्वजघन्य अक्षर के अनन्तवें भागमात्र तो नित्य उद्घाटित रहता ही है।

सूक्ष्म निगोद में रहे हुए जीव में भी श्रुत यत्किंचित् रहता ही है, वहां भी श्रुत या चेतना सर्वथा लुप्त नहीं होती।

वृत्तिकार इस विषय को निम्न शब्दों में लिखते हैं—

"सव्वागासेत्यादि सर्वं च तदाकाशञ्च सर्वाकाशं, लोकाकाशमित्यर्थः, तस्य प्रदेशाः—निर्विभागाभागाः सर्वाऽऽकाशप्रदेशास्तेषामग्रं—प्रमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रं, तत्सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणितम्—अनन्तशो गुणितमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तागुरुलघुपर्यायभावात् पर्यायाग्राक्षरं निष्पद्यते—पर्यायपरिमाणाक्षरं निष्पद्यते।

इयमत्रभावना—सर्वाकाशप्रदेशपरिमाणं-सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तशो गुणितं यावत्परिमाणं भवति, तावत् परिमाणं सर्वाकाशपर्यायाणामग्रं भवति, एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे यावन्तोऽगुरुलघुपर्यायास्तेसर्वेऽपि एकत्र पिण्डिता एतावन्तो भवन्तीत्यर्थः, एतावत् प्रमाणं चाक्षरं भवति।

इह स्तोकत्वाद्धर्मास्तिकायादयः साक्षात्सूत्रे नोक्ताः, परमार्थतस्तु तेऽपि गृहीत्वा द्रष्टव्याः, ततोऽयमर्थः सर्वद्रव्यप्रदेशाग्रं सर्वद्रव्यप्रदेशैरनन्तशो गुणितं यावत्परिमाणं भवति, तावत्प्रमाणं सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणं, एतावत्परिमाणं चाक्षरं भवति, तदपि चाक्षरं द्विधा—ज्ञानमकारादिवर्णजातं च, उभयत्रापि-अक्षर, शब्दप्रवृत्ते रूढत्वाद्, द्विविधमपि चेहगृह्यते विरोधाभावात्।" ननु ज्ञानं सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणं सम्भवतु, यतो ज्ञानमिहाविशेषोक्तौ सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणतुल्यताऽभिधानात्, प्रक्रमाद्वा केवलज्ञानं ग्रहीष्यते, तच्च सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणं घटत एवेत्यादि।

केवलज्ञान स्वपर्यायों से ही सर्व द्रव्यपर्याय परिमाण कथन किया गया है, किन्तु 'अ' कार आदि वर्ण स्व-पर पर्यायों से ही सर्व द्रव्यपर्याओं के परिमाण तुल्य कथन किये गए हैं, जैसे कि भाष्यकार लिखते हैं।

सय पज्जाएहिं उ केवलेण, तुल्लं न होइ न परेहिं।
सय पर पज्जाएहिं, तु तं तुल्लं केवलेणेव॥
स्वपर्यायैस्तु केवलेन, तुल्यं न भवति न परैः॥
स्वपरपर्यायैस्तु तत्तुल्यं केवलेनैव॥

सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंत भागो निच्चुग्घाडियो ।—

इस सूत्र में आए हुए इस पाठ की व्याख्या यद्यपि हम पहले कर चुके हैं, तदपि इस पाठ से सम्बन्धित सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम में दी गई एक टिप्पणी इस पाठ को बिल्कुल स्पष्ट करती है, पाठकोंकी जानकारी के लिए अक्षरशः यहाँ उसका उद्धरण दिया जा रहा है—"जैसे कि सभी जीवों के अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण ज्ञान कम से कम नित्य उद्घाटित रहता ही है, यह ज्ञान निगोदिया के जीवों में ही पाया जाता है । इसको पर्यायज्ञान तथा लब्धि-अक्षर भी कहते हैं । क्योंकि लब्धि नाम ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम प्राप्त विशुद्धि का है और अक्षर नाम अविनश्वर का है, ज्ञानावरणकर्म का इतना क्षयोपशम तो रहता ही है, अत एव इसको लब्ध्यक्षर भी कहते हैं । इसे स्पष्ट करने के लिए उदाहरण है ६५५३६ को पण्णट्ठी कहते हैं । ६५५३६ को पण्णट्ठी से गुणा करने पर जो गुणन फल निकलता है, उसे वादाल कहते हैं । उसकी संख्या यह है—४,२९,४९,६७,२,९६, । वादाल को वादाल से गुणा करने पर जो गुणन फल निकले, उसे एकट्ठी कहते हैं, जैसे कि १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ । केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में एक कम एकट्ठी का भाग देने से जो लब्ध आए, उतने अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह को अक्षर कहते हैं । इस अक्षर प्रमाण में अनन्त का भाग देने से जितने अभिभाग प्रतिच्छेद लब्ध आएं, उतने अविभाग प्रतिच्छेद पर्याय ज्ञान में पाए जाते हैं । वे नित्योद्घाटित हैं ।" यह सादि-अनादि, सान्त-अनन्तश्रुत का विवरण सम्पूर्ण हुआ ।।सूत्र ४३।।

११-१२,१३-१४. गमिक-अगमिक, अङ्गप्रविष्ट-अङ्गबाहिर,

मूलम्—से किं तं गमिअं ? गमिअं दिट्ठिवाओ । से किं तं अगमिअं ? अगमिअं-कालिअं सुअं । से त्तं गमिअं, से त्तं अगमिअं ।

अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं ? अंगबाहिरं च २ ।

से किं तं अंगबाहिरं ? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. आवस्सयं च २. आवस्सय-वइरित्तं च ।

१. से किं तं आवस्सयं ? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

१. सामाइयं. २. चउवीसत्थवो, ३. वंदणयं, ४. पडिक्कमणं, ५. काउस्सग्गो, ६. पच्चक्खाणं-से त्तं आवस्सयं ।

छाया—११. अथ किन्तद् गमिकम् ? गमिकं दृष्टिवादः ।

१२. अथ किन्तदगमिकम् ? अगमिकं कालिकं श्रुतम्, तदेतद् गमिकम्, तदेतदगमिकम् ।

अथवा तत्समासतो द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१३-१४. अङ्गप्रविष्टम् १, अङ्गबाह्यञ्च २ ।

अथ किंतद्–आङ्गबाह्यम् ? अङ्गबाह्यं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–

१. आवश्यकञ्च, २. आवश्यकव्यतिरिक्तञ्च ।

१. अथ किंतदावश्यकम् ? आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–

१. सामायिकं, २. चतुर्विंशतिस्तवः, ३. वन्दनकं, ४. प्रतिक्रमणं, ५. कायोत्सर्गः, ६. प्रत्याख्यानं, तदेतदावश्यकम् ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा–भगवन् ! वह गमिक-श्रुत क्या है ? आचार्य उत्तर में कहने लगे–गमिक-श्रुत आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशेषता से उसी सूत्र को वारम्बार कहना गमिक-श्रुत है, दृष्टिवाद गमिक-श्रुत है ।

वह अगमिक-श्रुत क्या है ? गमिक से भिन्न—आचाराङ्ग अगमिक-श्रुत है । इस प्रकार गमिक और अगमिक-श्रुत का स्वरूप है ।

अथवा वह संक्षेप में दो प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे १.—अङ्गप्रविष्ट और २. अङ्गबाह्य ।

वह अङ्गबाह्य-श्रुत कितने प्रकार का है ? अङ्गबाह्य दो प्रकार का वर्णित है, जैसे–१. आवश्यक और २. आवश्यक से भिन्न ।

वह आवश्यक-श्रुत कैसा है ? आवश्यक-श्रुत ६ प्रकार का कथन किया गया है, जैसे कि–१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ५. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान । इस प्रकार आवश्यकश्रुत का वर्णन है ।

टीका—इस सूत्र में गमिक श्रुत, अगमिक श्रुत, अङ्गप्रविष्टश्रुत और अनङ्गप्रविष्ट श्रुत का वर्णन किय ागया है ।

गमिकश्रुत—जिस श्रुत के आदि, मध्य और अवसान में किंचित् विशेषता रखते हुए पुनःपुनः पूर्वोक्त शब्दों का उच्चारण होता है, जैसे कि—

> अजयं चरमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
> बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।

अजयं चिट्ठमाणो अ ·· ·····इत्यादि तथा उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्ययन में—

समयं गोयम ! मा पमाए—यह प्रत्येक गाथा के चौथे चरण में जोड़ दिया गया है ।

अगमिकश्रुत—जिसमें एक सदृश पाठ न हों, वह अगमिक श्रुत कहलाता है । अथवा दृष्टिवाद गमिकश्रुत से अलंकृत है और कालिक श्रुत सभी अगमिक हैं । चूर्णिकार का भी यही अभिमत है, उनके शब्द निम्न लिखित हैं—

> "आइ मज्झेऽवसाणे वा, किंचिविसेस जुत्तं ।
> दुगाइ सयग्गसो तमेव, पढिज्जमाणं गमियं भण्णइ ॥

अगमिक श्रुत के विषय में लिखा है—

असदृशपाठात्मकत्वात् —अर्थात् जिस शास्त्र में पुनः पुनः एक सरीखे पाठ न आते हों, उसे अगमिक कहते हैं।

मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के दो भेद हैं, अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। आचाराङ्ग सूत्र से लेकर दृष्टिवाद तक अङ्गसूत्र कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त सभी सूत्र अङ्गबाह्य कहलाते हैं, जैसे सर्व लक्षणों से सम्पन्न परमपुरुष के १२ अंग हैं—दो पैर, दो जंघाएं, दो उरू, दो पार्श्व (पसवाड़े) दो भुजाएं, १ गर्दन, १ सिर ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुत देवता के भी १२ अंग हैं शरीर के असाधारण अवयव को अङ्ग कहते हैं। इस पर वृत्तिकार लिखते हैं—

"इह पुरुषस्य द्वादशाङ्गानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरूणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवाशिरश्च एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याऽऽचारादीनि द्वादशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि, तथा चोक्तम्—

पाय दुगं जंघोरू गाय दुगद्धंतु दो य बाहू।
गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगो सुयं विसिट्ठो॥

जिन शास्त्रों की रचना तीर्थंकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं, वे अंग सूत्र कहे जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त, अंगों का आधार लेकर जो स्थविरों के द्वारा प्रणीतशास्त्र हैं, वे अंगबाह्य कहलाते। वृत्तिकार के शब्द एतद् विषयक निम्नलिखित हैं—

"अथवा यद्गणधरदेवकृतं तदङ्गप्रविष्टं मूलभूतमित्यर्थः, गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमुपरचयन्ति, तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नतया तद्रचयितुमीशत्वात्, न शेषाणां, ततस्तत्कृतसूत्रं मूलभूतमित्यङ्गप्रविष्टमुच्यते, यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैस्तदेकदेशमुपजीव्य विरचितं तदनङ्गप्रविष्टम्।"

अथवा यत् सर्वदैव नियतमाचारादिकं श्रुते तदङ्गप्रविष्टम्, तथाहि आचारादिकं श्रुतं सर्वेषु सर्वकालं चार्थक्रमं चाधिकृत्यैवमेवव्यवस्थितं ततस्तमङ्गप्रविष्टमङ्गभूतं मूलभूतमित्यर्थः, शेषं तु यच्छ्रुतं तदनियतमतस्तदनङ्गप्रविष्टमुच्यते, उक्तञ्च—

गणहरकयमङ्गकयं, जं कय थेरेहिं, बाहिरं तं तु।
निययं वाङ्गपविट्ठं, अणियय सुयं बाहिरं भणियं॥"

अंगबाह्य सूत्र दो प्रकार के होते हैं—आवश्यक और आवश्यक से व्यतिरिक्त। आवश्यक सूत्र में अवश्यकरणीय क्रिया-कलाप का वर्णन है। गुणों के द्वारा आत्मा को वश करना आवश्यकीय है। ऐसा वर्णन जिसमें हो, उसे आवश्यक श्रुत कहते हैं। इसके छः अध्ययन हैं, जैसे कि सामायिक, जिनस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छहों में सभी क्रिया-कलापों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अंगबाह्य सूत्रों में सर्वप्रथम नामोल्लेख आवश्यक सूत्र का मिलता है, तत्पश्चात् अन्यान्य सूत्रों का। दूसरा कारण ३४ असज्झाइयों में आवश्यक सूत्र की कोई असज्झाई नहीं है। तीसरा कारण इसका विधिपूर्वक अध्ययन, संध्या के उभय काल में करना आवश्यकीय है, इसी कारण इसका नामोल्लेख अंगबाह्य सूत्रों में सर्वप्रथम किया है।

मूलम्—से किं तं आवस्सय-वइरित्तं ? आवस्सय-वइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. कालिअं च २. उक्कालिअं च।

अथ किंतद्–आङ्गबाह्यम् ? अङ्गबाह्यं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–

१. आवश्यकञ्च, २. आवश्यकव्यतिरिक्तञ्च ।

१. अथ किंतदावश्यकम् ? आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–

१. सामायिकं, २. चतुर्विंशतिस्तवः, ३. वन्दनकं, ४. प्रतिक्रमणं, ५. कायोत्सर्गः, ६. प्रत्याख्यानं, तदेतदावश्यकम् ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा–भगवन् ! वह गमिक-श्रुत क्या है ? आचार्य उत्तर में कहने लगे–गमिक-श्रुत आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशेषता से उसी सूत्र को वारम्बार कहना गमिक-श्रुत है, दृष्टिवाद गमिक-श्रुत है ।

वह अगमिक-श्रुत क्या है ? गमिक से भिन्न—आचाराङ्ग अगमिक-श्रुत है । इस प्रकार गमिक और अगमिक-श्रुत का स्वरूप है ।

अथवा वह संक्षेप में दो प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे १.—अङ्गप्रविष्ट और २. अङ्गबाह्य ।

वह अङ्गबाह्य-श्रुत कितने प्रकार का है ? अङ्गबाह्य दो प्रकार का वर्णित है, जैसे–१. आवश्यक और २. आवश्यक से भिन्न ।

वह आवश्यक-श्रुत कैसा है ? आवश्यक-श्रुत ६ प्रकार का कथन किया गया है, जैसे कि–१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ५. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान । इस प्रकार आवश्यकश्रुत का वर्णन है ।

टीका—इस सूत्र में गमिक श्रुत, अगमिक श्रुत, अङ्गप्रविष्टश्रुत और अनङ्गप्रविष्ट श्रुत का वर्णन किय ।गया है ।

गमिकश्रुत—जिस श्रुत के आदि, मध्य और अवसान में किंचित् विशेषता रखते हुए पुनःपुनः पूर्वोक्त शब्दों का उच्चारण होता है, जैसे कि—

अजयं चरमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।

अजयं चिट्ठमाणो अ ·· ·····इत्यादि तथा उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्ययन में—

समयं गोयम ! मा पमाए—यह प्रत्येक गाथा के चौथे चरण में जोड़ दिया गया है ।

अगमिकश्रुत—जिसमें एक सदृश पाठ न हों, वह अगमिक श्रुत कहलाता है । अथवा दृष्टिवाद गमिकश्रुत से अलंकृत है और कालिक श्रुत सभी अगमिक हैं । चूर्णिकार का भी यही अभिमत है, उनके शब्द निम्न लिखित हैं—

"आइ मज्झेऽवसाणे वा, किंचिविसेस जुत्तं ।
दुग्गाइ सयग्गसो तमेव, पढिज्जमाणं गमियं भण्णइ ॥

अगमिक श्रुत के विषय में लिखा है—

असदृशपाठात्मकत्वात् —अर्थात् जिस शास्त्र में पुनः पुनः एक सरीखे पाठ न आते हों, उसे अगमिक कहते हैं।

मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के दो भेद हैं, अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। आचाराङ्ग सूत्र से लेकर दृष्टिवाद तक अङ्गसूत्र कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त सभी सूत्र अङ्गबाह्य कहलाते हैं, जैसे सर्व लक्षणों से सम्पन्न परमपुरुष के १२ अंग हैं—दो पैर, दो जंघाएं, दो उरू, दो पार्श्व (पसवाड़े) दो भुजाएं, १ गर्दन, १ सिर ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुत देवता के भी १२ अंग हैं शरीर के असाधारण अवयव को अङ्ग कहते हैं। इस पर वृत्तिकार लिखते हैं—

"इह पुरुषस्य द्वादशाङ्गानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरूणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवाशिरश्च एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याऽऽचारादीनि द्वादशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि, तथा चोक्तम्—

पाय दुगं जंघोरू गाय दुगद्धंतु दो य बाहू।
गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगो सुयं विसिट्ठो॥

जिन शास्त्रों की रचना तीर्थंकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं, वे अंग सूत्र कहे जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त, अंगों का आधार लेकर जो स्थविरों के द्वारा प्रणीतशास्त्र हैं, वे अंगबाह्य कहलाते। वृत्तिकार के शब्द एतद् विषयक निम्नलिखित हैं—

"अथवा यद्गणधरदेवकृतं तदङ्गप्रविष्टं मूलभूतमित्यर्थः, गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमुपरचयन्ति, तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नतया तद्रचयितुमीशत्वात्, न शेषाणां, ततस्तत्कृत-सूत्रं मूलभूतमित्यङ्गप्रविष्टमुच्यते, यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैस्तदेकदेशमुपजीव्य विरचितं तदनङ्गप्रविष्टम्।"

अथवा यत् सर्वदैव नियतमाचारादिकं श्रुते तदङ्गप्रविष्टम्, तथाहि आचारादिकं श्रुतं सर्वेषु सर्वकालं चार्थक्रमं चाधिकृत्यैवमेवव्यवस्थितं ततस्तमङ्गप्रविष्टमङ्गभूतं मूलभूतमित्यर्थः, शेषं तु यच्छ्रुतं तदनियतमतस्त दनङ्गप्रविष्टमुच्यते, उक्तञ्च—

गणहरकयमङ्गकयं, जं कय थेरेहिं, बाहिरं तं तु।
निययं वाङ्गपविट्ठं, अणियअसुयं बाहिरं भणियं॥"

अंगबाह्य सूत्र दो प्रकार के होते हैं—आवश्यक और आवश्यक से व्यतिरिक्त। आवश्यक सूत्र में अवश्यकरणीय क्रिया-कलाप का वर्णन है। गुणों के द्वारा आत्मा को वश करना आवश्यकीय है। ऐसा वर्णन जिसमें हो, उसे आवश्यक श्रुत कहते हैं। इसके छः अध्ययन हैं, जैसे कि सामायिक, जिनस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छहों में सभी क्रिया-कलापों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अंगबाह्य सूत्रों में सर्वप्रथम नामोल्लेख आवश्यक सूत्र का मिलता है, तत्पश्चात् अन्यान्य सूत्रों का। दूसरा कारण ३४ असज्झाइयों में आवश्यक सूत्र की कोई असज्झाई नहीं है। तीसरा कारण इसका विधिपूर्वक अध्ययन, संध्या के उभय काल में करना आवश्यकीय है, इसी कारण इसका नामोल्लेख अंगबाह्य सूत्रों में सर्वप्रथम किया है।

मूलम्—से किं तं आवस्सय-वइरित्तं? आवस्सय-वइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. कालिअं च २. उक्कालिअं च।

से किं तं उक्कालिअं ? उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा— १. दस-वेआलिअं, २. कप्पिआकप्पिअं, ३. चुल्लकप्पसुअं, ४. महाकप्पसुअं, ५. उववाइअं, ६. रायपसेणिअं, ७. जीवाभिगमो, ८. पण्णवणा, ६. महापण्णवणा, १०. पमायप्पमायं, ११. नंदी, १२. अणुओगदाराइं, १३. देविंदत्थओ, १४. तंदुलवेआलिअं, १५. चंदाविज्झयं, १६. सूरपण्णत्ती, १७. पोरिसिमंडलं, १८. मंडलपवेसो, १६. विज्जाचरविणिच्छओ, २०. गणिविज्जा, २१. झाणविभत्ती, २२. मरणविभत्ती, २३. आयविसोही, २४. वीयरागसुअं, २५. संलेहणासुअं, २६. विहारकप्पो, २७. चरणविही, २८. आउरपच्चक्खाणं, २६. महापच्चक्खाणं, एवमाइ, से त्तं उक्कालिअं ।

छाया—अथ किं तदावश्यक-व्यतिरिक्तम् ? आवश्यक-व्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. कालिकञ्च, २. उत्कालिकञ्च ।

अथ किं तदुत्कालिकम् ? उत्कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा— १. दशवैकालिकम्, २. कल्पिकाकल्पिकं (कल्पाकल्पम्), ३. चुल्ल (क्षुल्ल) कल्पश्रुतम्, ४. महाकल्पश्रुतम्, ५. औपपातिकम्, ६. राजप्रश्नीकम्, ७. जीवाभिगमः, ८. प्रज्ञापना, ६. महाप्रज्ञापना, १०. प्रमादाप्रमादम्, ११. नन्दी, १२. अनुयोगद्वाराणि, १३. देवेन्द्रस्तवः, १४. तन्दुलवैचारिकम्, १५. चन्द्रकवेध्यम्, १०. सूर्यप्रज्ञप्तिः, १७. पौरुषीमण्डलम्, १८. मण्डलप्रवेशः, १६. विद्याचरणविनिश्चयः, २०. गणिविद्या, २१. ध्यानविभक्तिः, २२. मरणविभक्तिः, २३. आत्मविशोधिः, २४. वीतरागश्रुतम्, २५. संलेखनाश्रुतम्, २६. विहारकल्पः, २७. चरणविधिः, २८. आतुरप्रत्याख्यानम्, २६. महाप्रत्याख्यानम्, एवमादि, तदेतदुत्कालिकम् ।

भावार्थ—वह आवश्यकव्यतिरिक्त–श्रुत कितने प्रकार का है ? आवश्यक-भिन्न श्रुत दो प्रकार का है, जैसे १. कालिक—जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में स्वाध्याय किया जाता है । २. उत्कालिक—जो कालिक से भिन्न काल में भी पढ़ा जाता है ।

वह उत्कालिकश्रुत कितने प्रकार का है? उत्कालिक-श्रुत अनेक प्रकार का है, जैसे—१. दशवैकालिक, २. कल्पाकल्प, ३. चुल्लकल्पश्रुत, ४. महाकल्प-श्रुत, ५. औपपातिक, ६. राजप्रश्नीक, ७. जीवाभिगम, ८. प्रज्ञापना, ६. महाप्रज्ञापना, १०. प्रमादाप्रमाद, ११. नन्दी, १२. अनुयोगद्वार, १३. देवेन्द्रस्तव, १४. तन्दुलवैचारिक, १५. चन्द्रविद्या, १६. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. पौरुषीमण्डल, १८. मण्डलप्रवेश, १६. विद्याचरणनिश्चय, २०. गणिविद्या, २१. ध्यानविभक्ति, २२. मरणविभक्ति, २३. आत्मविशुद्धि, २४. वीतरागश्रुत, २५. संलेखनाश्रुत,

२६. विहारकल्प, २७. चरणविधि, २८. आतुरप्रत्याख्यान और २९. महाप्रत्याख्यान, इत्यादि, यह उत्कालिक-श्रुत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

टीका—इस सूत्र में कालिक और उत्कालिक सूत्रों के पवित्र नामोल्लेख किए गए हैं। जो दिन और रात्रि के पहले और पिछले पहरे में पढ़े जाते हैं, वे कालिक, जिनका कालवेला वर्जकर अध्ययन किया जाता है, वे उत्कालिक होते हैं अर्थात् वे अस्वाध्याय के समय को छोड़ कर शेष रात्रि और दिन में पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार वृत्तिकार व चूर्णिकार भी लिखते हैं, जैसे कि—

"कालिकमुत्कालिकं च, तत्र यद्दिवसनिशाप्रथमपश्चिम पौरुषीद्वय एव पठ्यते तत्कालिकम्, कालेन निवृत्तं कालिकमिति व्युत्पत्तेः, यत्पुनः कालवेलावर्ज्जं पठ्यते तदुत्कालिकम्, आह च चूर्णिकृत्—तत्थ कालियं जं दिणराईं [ए] (ण) पढमचरमपोरिसीसु पढिज्जइ। जं पुण कालवेलावज्जं पढिज्जइ त्तं उक्कालियं ति।

उत्कालिक-कालिक श्रुत का परिचय

दशवैकालिक और कल्पाकल्प ये दो सूत्र, स्थविर आदि कल्पों का प्रतिपादन करने वाले हैं।

महाप्रज्ञापना—सूत्र में प्रज्ञापनासूत्र की अपेक्षा से जीवादि पदार्थों का सविशेष वर्णन किया गया है।

प्रमादाप्रमाद—इसमें मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इत्यादि प्रमाद का वर्णन है। अपने कर्त्तव्य एवं अनुष्ठान में सतर्क रहना अप्रमाद है। प्रमाद संसार का राजमार्ग है और अप्रमाद मोक्ष का, इनका वर्णन उक्त सूत्र में वर्णित है।

सूर्यप्रज्ञप्ति—इस सूत्र में सूर्य का सविस्तर स्वरूप वर्णित है।

पौरुषीमण्डल—इसमें मुहूर्त, प्रहर आदि कालमान का वर्णन है, जैसे आजकल जंतर-मंतर से, घड़ी से, समय का ज्ञान होता है। वैसे ही इस सूत्र में यही विज्ञान उल्लिखित था, जो कि आजकल अनुपलब्ध है।

मण्डलप्रवेश—जब सूर्य एक मण्डल से दूसरे मण्डल में प्रवेश करता है, इसका विवरण सूत्र में है।

विद्या-चरण-विनिश्चय—इस सूत्र में विद्या और चारित्र का पूर्णतया विवरण था।

गणिविद्या—जो गच्छ व गण का स्वामी है, उसे गणी कहते हैं। गणी के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं? कौन-कौन सी विद्याएं उसके अधिक उपयोगी हैं, उनकी नामावली और उनकी आराधना का वर्णन इसका विषय है।

ध्यानविभक्ति—इसमें आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का पूर्णतया विवरण है।

मरणविभक्ति—जैसे जीवन एक कला है, जिसे जीने की कला आ गई, उसे मरण की कला भी सीखनी चाहिए। अकाममरण, सकाममरण, बालमरण तथा पण्डितमरण आदि विषय इस सूत्र में वर्णन किए गए हैं।

आत्मविशोधि—इसमें आत्म विशुद्धि के विषय को स्पष्ट किया है।

वीतराग श्रुत—इसमें वीतराग का स्वरूप बतलाया है, जिसे पढने से जिज्ञासु एवं अध्येता भी वीतरागता का अनुभव करने लग जाता है।

से किं तं उक्कालिअं ? उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा— १. दस-वेआलिअं, २. कप्पिआकप्पिअं, ३. चुल्लकप्पसुअं, ४. महाकप्पसुअं, ५. उव-वाइअं, ६. रायपसेणिअं, ७. जीवाभिगमो, ८. पण्णवणा, ९. महापण्णवणा, १०. पमायप्पमायं, ११. नंदी, १२. अणुओगदाराइं, १३. देविंदत्थओ, १४. तंदु-लवेआलिअं, १५. चंदाविज्झयं, १६. सूरपण्णत्ती, १७. पोरिसिमंडलं, १८. मंडल-पवेसो, १९. विज्जाचरविणिच्छओ, २०. गणिविज्जा, २१. झाणविभत्ती, २२. मरणविभत्ती, २३. आयविसोही, २४. वीयरागसुअं, २५. संलेहणासुअं, २६. विहारकप्पो, २७. चरणविही, २८. आउरपच्चक्खाणं, २९. महापच्च-क्खाणं, एवमाइ, से त्तं उक्कालिअं ।

छाया—अथ किं तदावश्यक-व्यतिरिक्तम् ? आवश्यक-व्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–१. कालिकञ्च, २. उत्कालिकञ्च ।

अथ किं तदुत्कालिकम् ? उत्कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा– १. दशवैकालिकम्, २. कल्पिकाकल्पिकं (कल्पाकल्पम्), ३. चुल्ल (क्षुल्ल) कल्पश्रुतम्, ४. महाकल्पश्रुतम्, ५. औपपातिकम्, ६. राजप्रश्नीकम्, ७. जीवाभिगमः, ८. प्रज्ञापना, ९. महाप्रज्ञापना, १०. प्रमादाप्रमादम्, ११. नन्दी, १२. अनुयोगद्वाराणि, १३. देवेन्द्रस्तवः, १४. तन्दुलवैचारिकम्, १५. चन्द्रकवेध्यम्, १०. सूर्यप्रज्ञप्तिः, १७. पौरुषीमण्डलम्, १८. मण्डलप्रवेशः, १९. विद्याचरणविनिश्चयः, २०. गणिविद्या, २१. ध्यानविभक्तिः, २२. मरणविभक्तिः, २३. आत्मविशोधिः, २४. वीतरागश्रुतम्, २५. संलेखनाश्रुतम्, २६. विहारकल्पः, २७. चरणविधिः, २८. आतुरप्रत्याख्यानम्, २९. महाप्रत्याख्यानम्, एवमादि, तदेतदुत्कालिकम् ।

भावार्थ—वह आवश्यकव्यतिरिक्त–श्रुत कितने प्रकार का है ? आवश्यक-भिन्न श्रुत दो प्रकार का है, जैसे १. कालिक—जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में स्वाध्याय किया जाता है । २. उत्कालिक—जो कालिक से भिन्न काल में भी पढ़ा जाता है ।

वह उत्कालिकश्रुत कितने प्रकार का है? उत्कालिक-श्रुत अनेक प्रकार का है, जैसे—१. दशवैकालिक, २. कल्पाकल्प, ३. चुल्लकल्पश्रुत, ४. महाकल्प-श्रुत, ५. औपपातिक, ६. राज-प्रश्नीक, ७. जीवाभिगम, ८. प्रज्ञापना, ९. महाप्रज्ञापना, १०. प्रमादाप्रमाद, ११. नन्दी, १२. अनुयोगद्वार, १३. देवेन्द्रस्तव, १४. तन्दुलवैचारिक, १५. चन्द्रविद्या, १६. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. पौरुषीमण्डल, १८. मण्डलप्रवेश, १९. विद्याचरणनिश्चय, २०. गणिविद्या, २१. ध्यान-विभक्ति, २२. मरणविभक्ति, २३. आत्मविशुद्धि, २४. वीतरागश्रुत, २५. संलेखनाश्रुत,

८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, ६. द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, १०. चन्द्रप्रज्ञप्तिः, ११. क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्तिः, १२. महल्लिका (महा) विमानप्रविभक्तिः, १३. अङ्गचूलिका, १४. वर्गचूलिका, १५. विवाहचूलिका, १३. अरुणोपपातः, १७. वरुणोपपातः, १८. गरुडोपपातः, १६. धरणोपपातः, २०. वैश्रमणोपपातः, २१. वेलन्धरोपपातः, २२. देवेन्द्रोपपातः, २३. उत्थानश्रुतम्, २४. समुत्थानश्रुतम्, २५. नागपरिज्ञापनिकाः, २६. निरयावलिकाः, २७. कल्पिकाः, २८. कल्पावतंसिकाः, २६. पुष्पिताः, ३०. पुष्पचूलिका (चूला), ३१. वृष्णिदशाः, एवमादिकानि चतुराशीति प्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हत ऋषभस्वामिन आदितीर्थङ्करस्य, तथा संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमकानां जिनवराणाम्, चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि भगवतो वर्द्धमान-स्वामिनः।

अथवा यस्य यावन्तः शिष्या औत्पत्तिक्या, वैनयिक्या, कर्मजया, पारिणामिक्या चतुर्विधया बुद्धयोपपेताः, तस्य तावन्ति प्रकीर्णकसहस्राणि, प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्तश्चैव, तदेतत्कालिकम्। तदेतदावश्यक-व्यतिरिक्तम्, तदेतदनङ्गप्रविष्टम् ॥सूत्र ४४॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—वह कालिक-श्रुत कितने प्रकारका है? आचार्य उत्तर में बोले—कालिकश्रुत अनेक प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—१. उत्तराध्ययन, २. दशाश्रुतस्कन्ध, ३. कल्प-बृहत्कल्प, ४ व्यवहार, ५. निशीथ, ६. महानिशीथ, ७. ऋषि-भाषित, ८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, १०. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ११. क्षुद्रिकाविमान-प्रविभक्ति, १२. महल्लिकाविमानप्रविभक्ति, १३. अङ्गचूलिका, १४. वर्गचूलिका, १५. विवाहचूलिका, १६. अरुणोपपात, १७. वरुणोपपात, १८. गरुडोपपात, १६. धरणोपपात, २०. वैश्रमणोपपात, २१. वेलन्धरोपपात, २२. देवेन्द्रोपपात, २३. उत्थानश्रुत, २४. समुत्थानश्रुत, २५. नागपरिज्ञापनिका, २६. निरयावलिका, २७. कल्पिका, २८. कल्पावतंसिका, २६. पुष्पिता, ३०. पुष्पचूलिका, ३१. वृष्णिदशा, (अन्धकवृष्णिदशा) इत्यादि। ८४ हज़ार प्रकीर्णक भगवान् अर्हत् श्री ऋषभदेव स्वामी आदि तीर्थङ्कर के हैं। तथा संख्यात सहस्र प्रकीर्णक मध्यम तीर्थङ्करों—जिनवरों के हैं। चौदह हज़ार प्रकीर्णक भगवान् श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी के हैं।

अथवा जिसके जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी चार प्रकार की बुद्धि से युक्त हैं, उनके उतने ही हज़ार प्रकीर्णक होते हैं। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही हैं। यह कालिकश्रुत है। इस प्रकार यह आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत का वर्णन हुआ, और इसी प्रकार यह अनङ्ग-प्रविष्टश्रुत का भी स्वरूप सम्पूर्ण हुआ।

टीका—इस सूत्र में कालिक सूत्रों के नामोल्लेख किए गए हैं, जैसे—

उत्तराध्ययन—इसमें ३६ अध्ययन हैं। महावीर स्वामी ने अपने जीवन के उत्तरकाल में निर्वाण

संलेखनाश्रुत—अशन आदि का परित्याग करना, द्रव्य संलेखना और कषायों का परित्याग करना भाव संलेखना है, इसका उल्लेख इसमें है।

विहारकल्प—इसमें स्थविरकल्प का सविस्तर वर्णन है।

चरणविधि—इसमें चारित्र के भेद-प्रभेदों का उल्लेख किया गया है।

आतुरप्रत्याख्यान—इसमें रुग्ण दशा में प्रत्याख्यान आदि करने का विधान है।

महाप्रत्याख्यान—इसमें जिनकल्प, स्थविरकल्प और एकलविहारकल्प में प्रत्याख्यान का विधान वर्णित है, इत्यादि उत्कालिक सूत्रों में किन्हीं सूत्रों का यथानाम तथा वर्णन है। किन्हीं का पदार्थ एवं मूलार्थ में भाव बतला दिया और किन्हीं की व्याख्या ऊपर लिखी जा चुकी है।

इनमें कतिपय सूत्र उपलब्ध हैं, कुछ अनुपलब्ध, किन्तु जो श्रुत द्वादशाङ्ग गणिपिटक के अनुसार है, वह सर्वथा प्रामाणिक है, तथा जो स्वमति कल्पना से प्रणीत हैं, और जो कि आगमों से विपरीत है, वह प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता।

मूलम्—से किं तं कालिअं ? कालिअं—अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. उत्तरज्झयणाइं, २. दसाओ, ३. कप्पो, ४. ववहारो, ५. निसीहं, ६. महानिसीहं, ७. इसिभासिआइं, ८. जंबूदीवपन्नत्ती, ९. दीवसागरपन्नत्ती, १०. चंदपन्नत्ती, ११. खुड्डिआविमाणपविभत्ती, १२. महल्लिआविमाणपविभत्ती, १३. अंगचूलिआ, १४. वग्गचूलिआ, १५. विवाहचूलिआ, १६. अरुणोववाए, १७. वरुणोववाए, १८. गरुलोववाए, १९. धरणोववाए, २०. वेसमणोववाए, २१. वेलंधरोववाए, २२. देविंदोववाए, २३. उट्ठाणसुए, २४. समुट्ठाणसुए, २५. नागपरिआवणिआओ, २६. निरयावलियाओ, २७. कप्पिआओ, २८. कप्पवडिंसिआओ, २९. पुप्फिआओ, ३०. पुप्फचूलिआओ, ३१. वण्हीदसाओ, एवमाइयाइं, चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स, तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं, चोद्दसपइन्नगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।

अहवा जस्स जत्तिआ सीसा उप्पत्तिआए, वेणइआए, कम्मियाए, पारिणामिआए चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ, तस्स तत्तिआइं पइण्णगसहस्साइं। पत्तेअबुद्धावि तत्तिआ चेव, से त्तं कालिअं। से त्तं आवस्सयवइरित्तं। से त्तं अणंगपविट्ठं ॥ सूत्र ४४ ॥

छाया—अथ किन्तत्कालिकम् ? कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा— १. उत्तराध्ययनानि, २. दशाः, ३. कल्पः, ४. व्यवहारः, ५. निशीथम्, ६. महानिशीथम्, ७. ऋषिभाषितानि,

८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, ९. द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, १०. चन्द्रप्रज्ञप्तिः, ११. क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्तिः, १२. महल्लिका(महा)विमानप्रविभक्तिः, १३. अङ्गचूलिका, १४. वर्गचूलिका, १५. विवाहचूलिका. १६. अरुणोपपातः, १७. वरुणोपपातः, १८. गरुडोपपातः, १९. धरणोपपातः, २०. वैश्रमणोपपातः, २१. वेलन्धरोपपातः, २२. देवेन्द्रोपपातः, २३. उत्थानश्रुतम्, २४. समुत्थानश्रुतम्, २५. नागपरिज्ञापनिकाः, २६. निरयावलिकाः, २७. कल्पिकाः, २८. कल्पावतंसिकाः, २९. पुष्पिताः, ३०. पुष्पचूलिका (चूला), ३१. वृष्णिदशाः, एवमादिकानि चतुराशीति प्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हत ऋषभस्वामिन आदितीर्थङ्करस्य, तथा संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमकानां जिनवराणाम्. चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि भगवतो वर्द्धमान-स्वामिनः।

अथवा यस्य यावन्तः शिष्या औत्पत्तिक्या, वैनयिक्या, कर्मजया, पारिणामिक्या चतुर्विधया बुद्ध्योपपेताः, तस्य तावन्ति प्रकीर्णकसहस्राणि. प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्तश्चैव, तदेतत्कालिकम्। तदेतदावश्यक-व्यतिरिक्तम्, तदेतदनङ्गप्रविष्टम् ॥सूत्र ४४॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—वह कालिक-श्रुत कितने प्रकारका है? आचार्य उत्तर में बोले—कालिकश्रुत अनेक प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—१. उत्तराध्ययन, २. दशाश्रुतस्कन्ध, ३. कल्प-बृहत्कल्प, ४ व्यवहार, ५. निशीथ, ६. महानिशीथ, ७. ऋषि-भाषित, ८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ९. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, १०. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ११. क्षुद्रिकाविमान-प्रविभक्ति, १२. महल्लिकाविमानप्रविभक्ति, १३. अङ्गचूलिका, १४. वर्गचूलिका, १५. विवाहचूलिका, १६. अरुणोपपात, १७. वरुणोपपात, १८. गरुडोपपात, १९. धरणोपपात, २०. वैश्रमणोपपात, २१. वेलन्धरोपपात, २२. देवेन्द्रोपपात, २३. उत्थानश्रुत, २४. समुत्थानश्रुत, २५. नागपरिज्ञापनिका, २६. निरयावलिका, २७. कल्पिका, २८. कल्पावतंसिका, २९. पुष्पिता, ३०. पुष्पचूलिका, ३१. वृष्णिदशा, (अन्धकवृष्णिदशा) इत्यादि। ८४ हज़ार प्रकीर्णक भगवान् अर्हत् श्री ऋषभदेव स्वामी आदि तीर्थङ्कर के हैं। तथा संख्यात सहस्र प्रकीर्णक मध्यम तीर्थङ्करों—जिनवरों के हैं। चौदह हज़ार प्रकीर्णक भगवान् श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी के हैं।

अथवा जिसके जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी चार प्रकार की बुद्धि से युक्त हैं, उनके उतने ही हज़ार प्रकीर्णक होते हैं। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही हैं। यह कालिकश्रुत है। इस प्रकार यह आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत का वर्णन हुआ, और इसी प्रकार यह अनङ्ग-प्रविष्टश्रुत का भी स्वरूप सम्पूर्ण हुआ।

टीका—इस सूत्र में कालिक सूत्रों के नामोल्लेख किए गए हैं, जैसे—

उत्तराध्ययन—इसमें ३६ अध्ययन हैं। महावीर स्वामी ने अपने जीवन के उत्तरकाल में निर्वाण

से पूर्व जो उपदेश दिया था, यह उसी का संकलित सूत्र है। इन ३६ अध्ययनों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, १ सैद्धान्तिक, २ नैतिक व सुभाषितात्मक, और ३ कथात्मक, इनका विस्तृत वर्णन उक्त सूत्र में है। प्रत्येक अध्ययन अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

निशीथ—रात्रि में जब प्रकाश की परमावश्यकता अनुभव हो रही हो, तब वह प्रकाश कितना सुखप्रद होता है, इसी प्रकार अतिचार रूप अन्धकार को दूर करने के लिए यह सूत्र प्रायश्चित्त रूपी प्रकाश का काम देता है।

अङ्गचूलिका—आचारांग आदि अंगों की चूलिका। चूलिका का अर्थ होता है,—उक्त, अनुक्त अर्थों का संग्रह। यह सूत्र अंगों से सम्बन्धित है। जैसे कि—

"अंगस्य आचारादेश्चूलिका अङ्गचूलिका, चूलिका नाम उक्तानुक्तार्थसंग्रहात्मिका ग्रन्थपद्धतिः।" आचारांग सूत्र की पांच चूलिकाएं हैं। एक चूलिका दृष्टिवादान्तर्गत भी है।

वर्गचूलिका—जैसे अन्तकृत् सूत्र के आठ वर्ग हैं, उनकी चूलिका।

अनुत्तरौपपातिकदशा—इसमें तीन वर्ग हैं, उनकी चूलिका।

व्याख्या-चूलिका—भगवती सूत्र की चूलिका।

अरुणोपपात—जब उक्त सूत्र का पाठ कोई मुनि उपयोग पूर्वक करता है, तब अरुणदेव जहां पर वह मुनि अध्ययन कर रहा है, वहां पर आकर उस अध्ययन को सुनता है। अध्ययन समाप्ति पर वह देव कहता है—हे मुने ! आपने भली प्रकार से स्वाध्याय किया है, आप मेरे से कुछ स्वेच्छया वर याचना करो। तब मुनि निःस्पृह होने से उत्तर में कहता है—हे देव ! मुझे किसी भी वर की इच्छा नहीं है। इससे देव प्रसन्न होकर निःस्पृह, संतोषी मुनि को सविधि वन्दन करके चला जाता है। यही भाव चूर्णिकार के शब्दों में झलकते हैं, जैसे कि—

"जाहे तमज्झयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्टइ, ताहे से अरुणदेवे समयनिबद्धत्तणओ चलिया-सणसंभमुब्भंतलोयणे, पउत्तावही, वियाणियट्ठे, पहट्ठे चलचवलकुण्डलधरे, दिव्वाए जुइए दिव्वाए विभूईए, दिव्वाए गईए, जेणामेव से भयवं समणे निग्गन्थे अज्झयणं परियट्टेमाणे अच्छइ, तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणे विमुक्कवरकुसुमगन्धवासे ओवयइ, ओयइत्ता ताहे से समणस्स पुरओ ठिच्चा अन्तट्ठिए कयंजली उवउत्ते संवेगविसुज्झमाणज्झवसाणेणं अज्झयणं सुणमाणे चिट्ठइ, सम्मत्ते अज्झयणे भणइ भयवं ! सुसज्झाइयं २, वरं वरेहि त्ति।

ताहे से इह लोयनिप्पिवासे समतिण-मुत्ताहल, लेट्ठकंचणे, सिद्धि वर-रमणि पडिबद्ध निब्भराणुरागे, समणे पडिभणइ—न मे णं भो ! वरेणं अट्ठो त्ति, ततो से अरुणो देवे अहिगयर जायसंवेगेपयाहिणं करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पडिगच्छइ।" इसी प्रकार—

वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वेलंधरोपपात देवेन्द्रोपपात सूत्रों का भाव भी समझ लेना चाहिए।

उत्थानश्रुत—इसमें उच्चाटन का वर्णन किया गया है, जैसे कि कोई मुनि किसी ग्राम आदि में बैठा हुआ क्रोधयुक्त होकर इस श्रुत को एक दो व तीन बार यदि पढ़ ले, तो ग्रामादि में उच्चाटन हो जाता है, जैसे कि चूर्णिकार जी लिखते हैं—

"सज्जेगस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे क[illegible] चणिट्ठकिए,

अप्पसत्थे अप्पसन्नलेस्से, विसमा सुहासणगये उवउत्ते समाणे उट्ठाणसुयज्झयणं परियट्टेइ तं च एक्कं, दो, वा, तिण्णि वा वारे, ताहे से कुले वा, गामे वा, जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलवन्ते दुयं २ पहावेंति उट्ठेइ उव्वसति त्ति भणियं होइ त्ति ।

समुत्थान श्रुत—इस सूत्र के पठन करने से ग्रामादिक में यदि अशान्ति हो तो शान्ति हो जाती है। इसके विषय में चूर्णिकार जी लिखते हैं—

समुत्थानश्रुतमिति समुपस्थानं भूयस्तत्रैव वासनं तद्धेतु श्रुतं समुपस्थानश्रुतं, वकारलोपाच्च सूत्रे समुट्ठाणसुयंति पाठः, तस्स चेवं भावना तओ समणे कज्जे तम्मेव कुलस्स वा जाव रायहाणीए वा से चेव समणे कयसंकप्पे तुट्ठे पसन्ने, पसन्नलेसे समसुहासणगए उवउत्ते समाणे समुट्ठाणसुयज्झयणं परियट्टइ, तं च एक्कं, दो वा, तिण्णि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा पहट्ठचित्ते पसत्थं मंगलं कलयलं कुणमाणे मंदाए गईए सललियं आगच्छइ समुवट्ठिए, आवासइ त्ति वुत्तं भवइ, समुवट्ठाणसुयं ति वत्तव्वे वकार लोवाओ समुट्ठाणसुयंति भणियं, तहा जइ अण्णयावि पुव्वुट्ठियं गामाइ भवइ, तहावि जइ से समणे एवं कयसंकप्पे अज्झयणं परियट्टइ तओ पुणरवि आवासेइ ।"

नागपरिज्ञापनिका—इस सूत्र में नागकुमारों का वर्णन किया गया है, जब कोई अध्येता विधि-पूर्वक अध्ययन करता है, तब नागकुमार देवता अपने स्थान पर बैठे हुए श्रमण निर्ग्रन्थ को वन्दना नमस्कार करते हुए वरद हो जाते हैं। चूर्णिकार भी लिखते हैं—

"जाहे तं अज्झयणं समणे निग्गन्थे परियट्टेइ ताहे अकयसंकप्पस्स वि ते नागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणंति वन्दन्ति नमंसन्ति बहुमाणं च करेन्ति, सिग्घनादितकज्जेसु य वरदा भवन्ति ।"

कल्पिका—कल्पावतंसिका—इसमें सौधर्म आदि कल्पदेवलोक में तप विशेष से उत्पन्न होने वाले देव, देवियों का सविस्तर वर्णन मिलता है।

पुष्पिता—पुष्पचूला—इन विमानों में उत्पन्न होने वाले ऐहिक पारभविक जीवन का वर्णन है।

वृष्णिदशा—इस सूत्र में अन्धकवृष्णि के कुल में उत्पन्न हुए दस जीवों से सम्बन्धित धर्मचर्य्या, गति, संथारा, और सिद्धत्व प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है, इसमें दस अध्ययन हैं।

प्रकीर्णक—जो अर्हन्त के उपदिष्ट श्रुत के आधार पर श्रमण निर्ग्रन्थ ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। भगवान ऋषभदेव से लेकर श्रमण भगवान महावीर तक जितने भी साधु हुए हैं, उन्होंने श्रुत के अनुसार अपने वचन कौशल से, तथा अपने ज्ञान को विकसित करने के लिए, निर्जरा के उद्देश्य से, सर्व साधारणजन भी सुगमता से धर्म एवं विकासोन्मुख हो सकें, इस उद्देश्य से जो ग्रन्थ रचे गए हैं, उन्हें प्रकीर्णक संज्ञा दी गई है। सारांश इतना ही है। तीर्थ में प्रकीर्णक अपरिमित होते हैं। जिज्ञासुओं को इस विषय का विशेष ज्ञान वृत्ति और चूर्णि से करना चाहिए ॥ सूत्र ४४ ॥

अङ्गप्रविष्टश्रुत

मूलम्—से किं तं अंगपविट्ठं ? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—१. आयारो, २. सूयगडो, ३. ठाणं, ४. समवाओ, ५. विवाहपन्नत्ती, ६. नाया-

धम्मकहाओ, ७. उवासगदसाओ, ८. अंतगडदसाओ, ९. अणुत्तरोववाइअदसाओ, १०. पण्हावागरणाइं, ११. विवागसुअं, १२. दिट्ठिवाओ ॥सूत्र ४५॥

छाया—अथ किं तदंगप्रविष्टम् ? अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. आचारः, २. सूत्रकृतः, ३. स्थानम्, ४. समवायः, ५. व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ६. ज्ञाताधर्मकथाः, ७. उपासकदशाः, ८. अन्तकृद्दशाः, ९. अनुत्तरौपपातिकदशाः, १०. प्रश्नव्याकरणानि, ११. विपाकश्रुतम्, १२. दृष्टिवादः ॥ सूत्र ४५ ॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! वह अङ्गप्रविष्ट-श्रुत कितने प्रकार का है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—अङ्गप्रविष्ट-श्रुत—बारह प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—

१. श्रीआचाराङ्गसूत्र, २. श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्र, ३. श्रीस्थानाङ्गसूत्र, ४. श्रीसमवायाङ्गसूत्र, ५. श्रीव्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र, ६. श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र, ७. श्री उपासकदशाङ्ग सूत्र, ८. श्रीअन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र, ९. श्रीअनुत्तरौपपातिकदशाङ्गसूत्र, १०. श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र, ११. श्रीविपाकसूत्र, १२. श्रीदृष्टिवादाङ्गसूत्र ॥सूत्र ४५॥

टीका—इस सूत्र में अङ्गप्रविष्ट सूत्रों के नामों का उल्लेख किया गया है। इन अङ्गप्रविष्ट सूत्रों में क्या क्या विषय है ? सूत्रकार इसका स्वयं अग्रिम सूत्रों में क्रमशः विवरण सहित परिचय देंगे, जिससे जिज्ञासुओं को सुगमता से सभी अङ्ग सूत्रों के विषय का सामान्यतया ज्ञान हो सके ॥सूत्र ४५॥

द्वादशाङ्गों का विवरण

१. श्रीआचाराङ्गसूत्र

मूलम्—से किं तं आयारे ? आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयार,गोअर-विणय-वेणइअ-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया वित्तीओ आघविज्जंति । से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—१. नाणायारे, २. दंसणायारे, ३. चरित्तायारे, ४. तवायारे, ५. वीरियायारे ।

आयारे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे, दो सुअक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीई उद्देसणकाला, पंचासीई समुद्देसणकाला, अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं, संखिजा

अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया, जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरण-परूवणा आघविज्जइ, से त्तं आयारे ।।सूत्र ४६।।

छाया—अथ कः स आचारः ? आचारे श्रमणानां निर्ग्रन्थानामाचार-गोचर-विनय-वैनयिक-शिक्षा-भाषाऽभाषा-चरण-करण-यात्रा-मात्रा-वृत्तय आख्यायन्ते । स समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—१. ज्ञानाचारः, २. दर्शनाचारः ३. चारित्राचारः, ४. तपःआचारः, ५. वीर्याचारः ।

आचारे परीता (परिमिता) वाचनाः, संख्येयानि-अनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः (वृत्तयः), संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

स अङ्गार्थतया प्रथममङ्गं, द्वौ श्रुतस्कन्धौ, पञ्चविंशतिरध्ययनानि, पञ्चाशीतिरुद्देशनकालाः, पञ्चाशीतिः समुद्देशनकालाः, अष्टादश पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्शयन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते ।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणा आख्यायते, स एष आचारः ।।सूत्र ४६।।

पदार्थ—से किं तं आयारे ?—वह आचार नामक श्रुत क्या है ? आयारे णं—आचाराङ्गश्रुत में 'णं' वाक्यालङ्कारे समणाणं—श्रमण निग्गंथाणं—निर्ग्रन्थों के आयार—आचार गोयर—गोचर, भिक्षा ग्रहण विधि, विनय—ज्ञानादि विनय, वेणइअ—विनय-फल, कर्मक्षय आदि, सिक्खा—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा, तथा विनय शिक्षा, भासा—सत्य और व्यवहार भाषा, अभासा—असत्य और मिश्र, चरण—महाव्रत आदि करण—पिण्डविशुद्धि आदि जाया—यात्रा माया—परिमित आहार ग्रहण वित्तीओ नाना प्रकार के अभिग्रह इत्यादि विषय आघविज्जंति—कहे गये हैं, से—वह आचार समासओ—संक्षेप में पंचविहे—पांच प्रकार का पण्णत्ते—प्रतिपादन किया गया है तं जहा—जैसे—णाणायारे—ज्ञानाचार, दंसणायारे—दर्शनाचार, चरित्तायारे—चारित्र आचार, तवायारे—तप आचार वीरियायारे—वीर्याचार ।

आयारे णं—आचाराङ्ग में 'णं' वाक्यालङ्कार में परित्ता वायणा—परिमित वाचना संखेज्जा अणुओगदारा—संख्यात अनुयोगद्वार, संखिज्जा वेढा—संख्यात छन्द, संखेज्जा सिलोगा—संख्यात श्लोक, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ—संख्यात निर्युक्ति, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ—संख्यात प्रतिपत्ति ।

से णं—वह अंगट्ठयाए—आचार अङ्गार्थ से पढमे अंगे—प्रथम अंग है, दो सुयक्खंधा—दो श्रुतस्कन्ध हैं पणवीसं अज्झयणा—पच्चीस अध्ययन हैं, पंचासीई उद्देसणकाला—८५ उद्देशन काल हैं, पंचा-

सीई समुद्देसणकाला—८५ समुद्देशन काल, अट्ठारस्स पयसहस्साणि पयग्गेणं—पदाग्र-पद परिमाण में अट्ठारह हजार हैं, संखिज्जा अक्खरा—संख्यात अक्षर अणंता गमा—अनन्त गम हैं, अणंता पज्जवा—अनन्त पर्याय हैं, परित्ता तसा—परिमित त्रस, अणंताथावरा—अनन्त स्थावर हैं, सासय—शाश्वत-धर्मास्तिकाय आदि कड—कृत-प्रयोगज और विश्रसाजन्य घट-सन्ध्या अभ्रराग आदि, निबद्ध—स्वरूप से कहे गए हैं, निकाइआ—निर्युक्ति आदि से व्यवस्थित जिणपण्णत्ता—जिन प्रज्ञप्त भावा—पदार्थ आघविज्जंति—सामान्य रूप से कहे गये हैं पन्नविज्जंति—नाम आदि से प्रज्ञापन किए गए हैं परूविज्जंति विस्तार से कहे गए हैं दंसिज्जंति—उपमा से दिखाए एग हैं निदंसिज्जंति—हेतु आदि से दिखलाए गये हैं उवदंसिज्जंति—निगमन से दिखलाए गए हैं।

से एवं आया—आचाराङ्ग का ग्रहण करने वाला तद्रूप हो जाता है, एवं नाया—इसी प्रकार ज्ञाता, एवं विण्णाया—इसी प्रकार विज्ञाता हो जाता है। एवं चरण-करण—इस प्रकार चरण-करण की आचाराङ्ग में परूवणा—प्ररूपणा आघविज्जंति—कही गयी है, से त्तं आयारे—इस प्रकार आचाराङ्ग श्रुत है।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन्! वह आचाराङ्ग-श्रुत किस प्रकार है?

आचार्य उत्तर में बोले—आचाराङ्ग में बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण निर्ग्रन्थों का आचार-गोचर—भिक्षा के ग्रहण करने की विधि, विनय—ज्ञानादि की विनय, विनय का फल—कर्मक्षय आदि, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा, अथवा शिष्य को, सत्य और व्यवहार भाषा, ग्रहण करने योग्य हैं और मिश्र तथा असत्य भाषा त्याज्य हैं। चरण—व्रतादि, करण—पिण्डविशुद्धि आदि, यात्रा—संयम यात्रा के निर्वाह के लिए परिमित आहार ग्रहण करना और नाना प्रकार के अभिग्रह धारण करके विचरण करना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। वह आचार संक्षेप में पांचप्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे कि—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्य-आचार।

आचार-श्रुत में—सूत्र और अर्थ से परिमित वाचनाएं हैं, संख्यात-अनुयोगद्वार, संख्यात-वेढा-छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, और संख्यात प्रतिपत्तिएं वर्णित हैं।

वह आचार अङ्ग-अर्थ से प्रथम अङ्ग है। उसमें दो श्रुत-स्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं। ८५ उद्देशनकाल हैं, ८५ समुद्देशनकाल हैं। पदपरिमाण में १८ हजार पदाग्र हैं। संख्यात अक्षर हैं। अनन्त गम अर्थात् अनन्त अर्थागम हैं। अनन्त पर्यायें हैं। परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत:-धर्मास्तिकाय आदि, कृत—प्रयोगज-घटादि, विश्रसा-सन्ध्या, बादलों आदि का रंग, ये सभी त्रस आदि सूत्र में स्वरूप से वर्णित हैं। निर्युक्ति, संग्रहणी, हेतु, उदाहरण आदि अनेक प्रकार से जिनप्रज्ञप्त भाव—पदार्थ, सामान्यरूप से कहे गए हैं। नामादि से प्रज्ञप्त हैं। विस्तार से कथन किये गए हैं। उपमान आदि से और निगमन से दिखलाए गए हैं।

आत्मा—आचाराङ्ग को ग्रहण करने वाला, उसके अनुसार क्रिया करने वाला, आचार

की साक्षात् मूर्ति बन जाता है। इस प्रकार वह भावों का ज्ञाता हो जाता है। इसी प्रकार विज्ञाता भी। इस प्रकार आचाराङ्ग सूत्र में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है। यह आचाराङ्ग का स्वरूप है ॥सूत्र ४६॥

टीका—नामानुसार इस अङ्ग में मुनि आचार का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं, प्रत्येक श्रुतस्कन्ध अध्ययनों में और प्रत्येक अध्ययन उद्देशकों में या चूलिकाओं में विभाजित है।

आचरण को आचार कहते हैं अथवा पूर्वपुरुषों द्वारा जिन ज्ञानादि की आसेवन विधि का आचरण किया गया है,उसे आचार कहते हैं। इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी आचार कहते हैं।

'आयारे णं' यह पद करणभूत अथवा आधारभूत में ग्रहण करना चाहिए। यदि 'आयारेणं' ऐसा लिखें तो यह पद करणभूत स्वीकृत है। 'आयारे णं' यह पद आधारभूत के रूप में स्वीकृत है। 'णं' वाक्य अलंकार में प्रयुक्त हुआ है।

यथा—अनेनाचारेण करणभूतेन अथवा आचारे–आधारभूते—इत्यादि जिसके द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार विषयक शिक्षा मिल सके अथवा जिसमें श्रमण निर्ग्रन्थों का आचार सर्वाङ्गीण वर्णन किया गया हो, उसे आचार कहते हैं, अथवा आचार प्रधान सूत्र को आचाराङ्गसूत्र कहते हैं।

सूत्रकार ने 'समणाणं निग्गंथाणं' ये दो पद व्यवहृत किए हैं, इनका आशय यह है कि 'श्रमण' शब्द निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक और आजीविक इन पांच अर्थों में व्यवहृत होता है। निर्ग्रन्थ के अतिरिक्त शेष चार अर्थों के निराकरण करने के लिए श्रमण के साथ निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख किया है, यथा निग्गन्थ, सक्क,तावस, गेरुय, आजीव,पंचहा समणा। इस सूत्र में आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण, करण यात्रा-मात्रा एवं वृत्ति, इन विषयों का सविस्तर वर्णन है।

आचाराङ्ग के अन्तर्वर्ती विषयों का परिचय यदि संक्षेप से दिया जाए तो पांच प्रकार के आचारों का सविस्तर विवेचन है, यही कहना सर्वथोचित होगा। प्रत्येक वाक्य में पांच आचार घटित होते हैं, यही इसमें विशेषता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, इनके साथ आचार शब्द का प्रयोग किया जाता है। ज्ञानाचार के आठ भेद हैं, जैसे कि—

काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवण, व्यंजन, अर्थ और तदुभय। नए ज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिए जो आचरण आवश्यकीय है, उसे ज्ञानाचार कहते हैं। उसकी आराधना के आठ प्रकार बताए गए हैं। आगमों में सूत्र पढ़ने की जिस समय आज्ञा दी है, उस समय में, उसी सूत्र का अध्ययन करना, इसे काल कहते हैं। ज्ञान और सद्गुरु की भक्ति करना विनय कहलाता है। ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति तीव्र श्रद्धा एवं बहुमान रखना, इसे बहुमान कहते हैं। आगम में जिस सूत्र के पढ़ने के लिए जिस तप का विधान किया गया है, अध्ययन करते समय, उसी तप का आचरण करना, इसे उपधान कहते हैं, क्योंकि आगमों का अध्ययन बिना तप किए फलदायक नहीं होता। ज्ञान को और ज्ञानदाता के नाम को न छिपाना इसे अनिह्नवण कहते हैं। सूत्रों का उच्चारण जहां तक हो सके, शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। शुद्ध उच्चारण ही निर्जरा का हेतु हो सकता है, अशुद्ध उच्चारण अतिचार का कारण है। अतः शुद्धोच्चारण को ही व्यंजन कहते हैं। सूत्रों का अर्थ मन घडन्त नहीं, अपितु प्रामाणिकता से

करना चाहिए, इसी को अर्थ कहते हैं। तदुभय आगमों का पठन-पाठन निरतिचार से करना चाहिए। विधि पूर्वक अध्ययन एवं अध्यापन करना ही तदुभय कहलाता है, जैसे कि कहा भी है—

"काले, विणए, बहुमाणुवहाणे तह अणिण्हवणे।
वंजण, अत्थ, तदुभए, अट्ठ विहो णाणायारो॥"

आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न एक प्रकार का आत्मिक परिणाम ज्ञेयमात्र को तात्त्विकरूप में जानने की, हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है और उस रुचि के बल से होने वाली धर्मतत्त्व निष्ठा का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व को दृढ़, स्वच्छ एवं उद्दीप्त करने का नाम दर्शनाचार है।

अरिहन्त भगवन्तों के प्रवचनों में, श्रीसंघ में, तथा केवलिभाषित धर्म में निःशंकित रहना, आत्मतत्त्व पर श्रद्धा रखना, मोक्ष के उपायों में निःशंकित रहना, शंका-कलंक-पंक से सर्वथा दूर रहना, उसे निःशंकित दर्शनाचार कहते हैं। जैसे सच्चा पारखी असली को छोड़कर नकली की आकांक्षा नहीं करता, वैसे ही सच्चे देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कुदेव, कुगुरु, धर्माभास, शास्त्राभास की भूलकर भी आकांक्षा न करना, निःकांक्षित दर्शनाचार है। आचरण किए हुए धर्म का फल मुझे मिलेगा या नहीं? इस प्रकार धर्मफल के प्रति सन्देह न करना निर्विचिकित्सा नामा दर्शनाचार है। भिन्न २ दर्शनों की युक्तियों से, मिथ्यादृष्टियों की ऋद्धि से, आडम्बर, चमत्कार, विद्वत्ता, उनके साहित्य, भाषण, भय, एवं प्रलोभनों से दिङ्मूढ की तरह न बनना, संसार और कर्मों के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए अपने हिताहित को समझकर जीवन यापन करना, स्त्री, पुत्र, धन आदि में गृद्ध होकर मूढ न बनना ही अमूढदृष्टि नामक दर्शनाचार है। उक्त चार दर्शनाचार व्यक्ति से सम्बन्धित हैं।

जो संघसेवा करते हैं, साहित्य सेवी हैं, तप-संयम की आराधना करने वाले हैं, जिनकी प्रवृत्ति मानवहिताय, प्राणिहिताय और धर्म क्रिया में बढ़ रही है, उनका उत्साह बढ़ाना, जिससे उनकी उत्साहशक्ति बढ़े, वैसा प्रयत्न करना, उववूह नामक दर्शनाचार कहलाता है। धर्म से गिरते हुए, अरति परीषह से पीड़ित हुए, सहधर्मी व्यक्तियों को धर्म में स्थिर करना, इसे स्थिरीकरण दर्शनाचार कहते हैं। सहधर्मीजनों पर वत्सलता रखना, उन्हें देखकर प्रमुदित होना, उनका सम्मान करना वात्सल्य दर्शनाचार है। जिससे शासनोन्नति हो, सर्वसाधारण जनता धर्म से प्रभावित हो, वैसी क्रिया करना तथा जिससे धर्म की हीलना, निन्दना हो, वैसी क्रिया न करना, उसे प्रभावना दर्शनाचार कहते हैं, जैसे कि कहा भी है—

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठि य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल पभावणे अट्ठ॥

ये चार दर्शनाचार समष्टि से सम्बन्धित हैं। इनसे भी सम्यक्त्व स्वच्छ एवं निर्मल होता है। अतः इधर भी साधकों को ध्यान देना चाहिए।

अणुव्रत, देशचारित्र है और महाव्रत सार्वभौम चारित्र है, जिससे संचित कर्म या कर्मों की सत्ता ही क्षय हो जाए, उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र की रक्षा चारित्राचार से हो सकती है। चारित्राचार प्रवृत्ति और निवृत्ति, इस प्रकार दो भागों में विभाजित है—

१. ईर्यासमिति—छः काय की रक्षा करते हुए यतना से चलना।

२. भाषा समिति—सत्य एवं मर्यादा की रक्षा करते हुए यतना से बोलना।

३. एषणा समिति—अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की रक्षा करते हुए यतना से आजीविका करना, निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना।

४. आदान भण्डमात्र निक्षेप समिति—उठाने, रखने वाली वस्तु को अहिंसा, अपरिग्रह व्रत की रक्षा करते हुए, यतना से उठाना रखना।

५. उच्चारपासवणखेलजल्लमल्ल परिट्ठावणिया समिति—मल-मूत्र, श्लेष्म, थूक, कफ, नख, केश, रक्त-राध, आंखों एवं कानों की मैल आदि जो घृणास्पद हों, अनावश्यक हों, हिंसाकारी हों, रोगवर्द्धक हों, ऐसी वस्तुओं को यतना से परिष्ठापन करना, जिसमें किसीका पैर स्पृष्ट न हो, जन्तु न फंसे, आते-जाते व्यक्ति की नजर न पड़े। जन्तुओं का संहार करने वाले विषैले खारे तरल पदार्थ को नाली आदि में प्रवाहित न करना, धर्म और लोक व्यवहार की रक्षा के हेतु यतना करना पांचवी समिति है। इसमें भी यतना से प्रवृत्ति करना ही चारित्र है।

मन से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह सेवन न करना, वचन से हिंसा, झूठ, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का उपयोग न करना, काय से उपर्युक्त पाप सेवन अनुकूल समय मिलने पर भी न करना, इसे गुप्ति भी कहते हैं। वस्तुतः इसी को निवृत्ति धर्म कहते हैं। प्रशस्त में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त से निवृत्ति पाना क्रमशः समिति और गुप्ति कहलाते हैं, कहा भी है--

"पणिहाण जोग जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं।
एस चारित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो॥"

विषय, कषाय से मन को हटाने के लिए और राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन-जिन उपायों द्वारा शरीर इन्द्रिय और मन को तपाया जाता है, वे सभी उपाय तप हैं। इसके बाह्य एवं आभ्यन्तर दो भेद हैं। जो तप प्रकट रूप में किया जाता है, वह बाह्य तप है। इससे विपरीत जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो और जिसमें बाह्य द्रव्यों की प्रधानता न होने से जो सब पर प्रकट न हो, वह आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप का यदि मुख्योद्देश्य आभ्यन्तर तप की पुष्टि करने का ही हो, तो वह भी निर्जरा का ही हेतु है। अज्ञान पूर्वक किया गया तप बालतप कहलाता है, वह संवर और निर्जरा का कारण न होने से तप आचार नहीं कहलाता है। उसका यहां प्रसंग नहीं है। वह बाह्य तप निम्न प्रकार है—

१. संयम की पुष्टि, राग का उच्छेद कर्म का विनाश और धर्मध्यान की वृद्धि के लिए यथा शक्य भोजन का त्याग करना अनशन तप। २. भूख से कम खाना ऊनोदरी तप। एक घर या एक गली तथा द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव रूप अभिग्रह धारण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाता है। यह तप चित्तवृत्ति पर विजय पाने और आसक्ति को कम करने के लिए धारण किया जाता है। ४. अस्वादव्रत धारण करने को रसपरित्याग तप कहते हैं। ५. निर्बाधब्रह्मचर्य, स्वाध्याय-ध्यान की वृद्धि के लिये किया जाने वाला विविक्त शय्यासन तप कहलाता है। ६. आतापना लेना, शीत-उष्ण परीषह सहन करना कायक्लेश तप है। यह तप प्रवचन प्रभावना के लिए और तितिक्षा के लिए किया जाता है, लोच करना भी इसी तप में अन्तर्भूत हो जाता है। आभ्यन्तर तप के छ भेद निम्न लिखित हैं—

७. जहां प्रमादजन्य दोषों की निवृत्ति की जाती है, उसे प्रायश्चित्त तप कहते हैं। ८. पूज्यजनोंतथा उच्चचारित्री का बहुमान करना विनय तप है। ९. स्थविर, रोगी, पूज्यजन, तपस्वी, और नवदीक्षित, इनकी यथाशक्य सेवा करना वैयावृत्य तप है। १०. पांच प्रकार का स्वाध्याय करना स्वाध्याय तप है। ११. धर्म एवं शुक्ल ध्यान में तल्लीन रहना ध्यान तप है। १२. बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का यथाशक्य परित्याग करना व्युत्सर्ग तप कहलाता है, इससे ममत्व का ह्रास होता है और समत्व की वृद्धि होती है।

वीर्य शक्ति को कहते हैं, अपने बल एवं शक्ति को उपर्युक्त ३६ प्रकार के शुभ अनुष्ठान में प्रयुक्त करना ही वीर्याचार कहलाता है।

गोचर—भिक्षा ग्रहण करने की शास्त्रीय विधि।

विनय—ज्ञानी, चारित्रवान का आदर-सम्मान करना।

वैनयिक—शिष्यों का स्वरूप और उनके कर्त्तव्य का वर्णन।

शिक्षा—ग्रहण शिक्षा, और आसेवन शिक्षा इस प्रकार शिक्षा के दो भेद होते हैं। उनका पालन करना।

भाषा—सत्य एवं व्यवहार ये दो भाषाएं साधुवृत्ति में बोलने योग्य हैं।

अभाषा—असत्य और मिश्र ये दो भाषाएं बोलने योग्य नहीं हैं।

चरण—५ महाव्रत, १० प्रकार का श्रमणधर्म, १७ विधिसंयम, १० प्रकार का वैयावृत्य (सेवा) नव विधब्रह्मचर्यगुप्ति, रत्नत्रय, १२ प्रकार का तप, ४ कषायनिग्रह, ये सब चरण कहलाते हैं।

करण—४ प्रकार की पिण्ड-विशुद्धि, ५ समिति, १२ प्रकार की भावनाएं, १२ भिक्षु प्रतिमाएं, ५ इन्द्रियों का निरोध, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ गुप्तियाँ, और ४ प्रकार का अभिग्रह ये ७० भेद करण कहलाते हैं।

यात्रा—आवश्यकीय संयम, तप, ध्यान, समाधि, एवं स्वाध्याय में प्रवृत्ति करना।

मात्रा—संयम की रक्षा के लिए परिमित आहार ग्रहण करना।

वृत्ति—विविध अभिग्रह धारण करके संयम की पुष्टि करना।

इन में से यद्यपि कुछ अनुष्ठानों का एक दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है, तदपि जहां जिस की मुख्यता है, वहां उस का उल्लेख पुनः किया गया है।

आचारे खलु परीता वाचना—आचारांग में वाचनाएं संख्यात ही हैं। अथ से लेकर इति पर्यन्त जितनी बार शिष्य को नया पाठ दिया जाता है और लिखा जाता है, उसे वाचना कहते हैं।

संख्येयानि अनुयोगद्वाराणि—इस सूत्र में ऐसे संख्यात पद हैं, जिन पर उपक्रम, निक्षेप, अनुगम, और नय ये चार अनुयोग घटित होते हैं। जितने पदों पर अनुयोग घटित हो सकते हैं, वे पद और अनुयोग संख्यात ही हैं। अनुयोग का अर्थ यहां व्याख्यान से अभीप्सित है। सूत्र का सम्बन्ध अर्थ के साथ करना, क्योंकि सूत्र अल्पाक्षर वाला होता है और अर्थ महान्, दोनों के सम्बन्ध को जोड़ने वाला अनुयोगद्वार है। शास्त्र में प्रवेश करने के लिए उपर्युक्त चार द्वार बतलाए हैं।

वेढा—वेष्टक किसी एक विषय को प्रतिपादन करने वाले जितने वाक्य हैं, उन्हें वेष्टक या वेढ कहते हैं अथवा आर्या उपगीति आदि छन्द विशेष को भी वेढ कहते हैं। वे भी संख्यात ही हैं।

श्लोक—अनुष्टुप् आदि श्लोक भी संख्यात ही हैं।

निर्युक्ति—जो युक्ति निश्चय पूर्वक अर्थ का प्रतिपादन करने वाली है, उसे निर्युक्ति कहते हैं, ऐसी निर्युक्तियां भी संख्यात ही हैं।

प्रतिपत्ति—द्रव्यादि पदार्थों की मान्यता का, अथवा प्रतिमा आदि अभिग्रह विशेष का जिस में उल्लेख हो, उसे प्रतिपत्ति कहते हैं, वे भी संख्यात ही हैं।

उद्देशनकाल—अङ्गसूत्र आदि का पठन-पाठन करना। किसी भी शास्त्र का शिक्षण गुरु की आज्ञा से होता है, ऐसा शास्त्रीय नियम है। तदनुसार जब कोई शिष्य गुरु देव से पूछता है कि गुरुदेव! मैं कौन सा सूत्र पढ़ूं? तब गुरु आज्ञा देते हैं आचाराङ्ग व सूत्रकृताङ्ग पढ़ो, गुरु की इस सामान्य आज्ञा को उद्देशनकाल कहते हैं।

समुद्देशनकाल—आचाराङ्गसूत्र के पहले श्रुतस्कन्ध का अमुक अध्ययन पढ़ो, इस प्रकार की विशेष आज्ञा को समुद्देशनकाल या समुद्देश कहते हैं।

इस सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं, पचासी उद्देशन काल हैं और पचासी समुद्देशन काल। पूर्व काल में गुरुजन अपने शिष्यों को शास्त्र की वाचना कण्ठाग्र ही दिया करते थे। अतः अध्ययन आदि विभाग के अनुसार नियत दिनों में सूत्रार्थ प्रदान की व्यवस्था उन्होंने निर्माण की, जिस को उद्देशन-काल या समुद्देशनकाल भी कहते हैं।

पद—इस आचार शास्त्र में अठारह हजार पद हैं। 'पद' शब्द चार अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे कि अर्थपद, विभक्त्यन्तपद, गाथापद और समासान्तपद। वृत्तिकार इस स्थान पर अर्थपद ग्रहण करते हैं। "पदाग्रेण पदपरिमाणाष्टादश पदसहस्राणि इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम्" जहां अर्थोपलब्धि हो, वहां वही पद अभीष्ट है।

संख्येयान्यक्षराणि—इस सूत्र में अक्षर भी संख्यात ही हैं।

गमा—अर्थगमा अर्थात् अर्थ निकालने के अनन्त मार्ग हैं, अभिधान अभिधेय के वश से गम होते हैं, जैसे कि—

"चूर्णिकृत् सूरिराह—अभिधानाभिधेयवशतो गमा भवन्ति, ते च अनन्ता, अनेन प्रकारेण च ते वेदितव्याः, तद्यथा—सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायमिति इदं च सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह तत्रायमर्थः।"

१. श्रुतं मया हे आयुष्मन्! तेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना—एवमाख्यातमिति।

२. अथवा श्रुतं मया आयुष्मदन्ते, आयुष्मतो—भगवतो वर्द्धमानस्वामिनोऽन्ते समीपे, णमिति वाक्यालंकारे तथा च भगवता एवमाख्यातम्।

३. अथवा श्रुतं मया आयुष्मता।

४. श्रुतं मया भगवत्पादारविन्दयुगलमामृशता।

५. अथवा श्रुतं मया गुरुकुलवासमावसता।

६. अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्। तेणं ति प्रथमार्थे तृतीया, तद् भगवता एवमाख्यातमिति।

७. अथवा श्रुतं मया ऽऽयुष्मन्! ते णं ति तदा भगवता एवमाख्यातम्।

८. अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! 'तेणं' षड्जीवनिकायविषये।

९. तत्र वा समवसरणे स्थितेन भगवता एवमाख्यातम् ।

१०. अथवा श्रुतं मम हे आयुष्मन् ! वर्तते यतस्तेन भगवता एवमाख्यातम्, एवमादयस्तं तमर्थमधिकृत्य गमा भवन्ति ।"

अभिधानवशतः पुनरेवंगमाः सुयं मे आउसंतेणं, आउस सुयं मे, मे सुयं आउसं, इत्येवमर्थभेदेन, तथा २ पदानां संयोजनतोऽभिधानगमा भवन्ति, एवमादयः किल गमा अनन्ता भवन्ति ।"

स्व-पर भेद से अनन्त पर्याय हैं। इस में परिमित त्रसों का वर्णन है, अनन्त स्थावरों का उक्त श्रुत में सविस्तर वर्णन किया गया है।

सासयकडनिबद्धनिकाइया—शाश्वत धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नित्य हैं। घट-पट आदि पदार्थ प्रयोगज हैं तथा संध्याभ्रराग विश्रसा से हैं, ये भी उक्त श्रुत में वर्णित हैं। निर्युक्ति, हेतु, उदाहरण, लक्षण आदि अनेक पद्धतियों के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया गया है।

आघविज्जन्ति—इस सूत्र में जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेषरूप से कथन किया गया है।

पण्णविज्जन्ति—नाम आदि के भेद से कहे गए हैं।

परूविज्जन्ति—विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किए गए हैं।

दंसिज्जंति—उपमा-उपमेय के द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।

निदंसिज्जंति—हेतु तथा दृष्टान्तों से वस्तुतत्त्व का विवेचन किया गया है।

उवदंसिज्जंति—इस प्रकार सुगम रीति से कथन किए गए हैं, जिससे शिष्य की बुद्धि में अधिक शंका उत्पन्न न हो।

इस अङ्ग की अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच २ में कहीं कहीं आते हैं। अर्धमागधी भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना महत्त्व पूर्ण है। सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है, किन्तु काल-दोष से उस का पाठ व्यवच्छिन्न हो गया है। उपधान नामक ९ वें अध्ययन में भगवान महावीर की तपस्या का बड़ा विचित्र और मार्मिक वर्णन है। वहां उन के लाढ, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि में विहार और नाना प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करने का स्पष्ट उल्लेख है। पहले श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन हैं, और ४४ उद्देशक हैं। दूसरे श्रुतस्कन्ध में श्रमण के लिए निर्दोश भिक्षा का, आहार पानी की शुद्धि, शय्या-संस्तरण-विहार-चातुर्मास-भाषा-वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का वर्णन है। मल-मूत्र यत्ना से त्यागना, महाव्रत और तत्सम्बन्धी २५ भावनाओं के स्वरूप का, महावीर स्वामी के पहले कल्याणक से लेकर दीक्षा, केवलज्ञान और उपदेश आदि का सविस्तर वर्णन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध १६ अध्ययनों में विभाजित है। इस की भाषा पहले स्कन्ध की अपेक्षा सुगम है। इस सूत्र में उद्देशकों की गणना इस प्रकार है—

प्रथम श्रुतस्कन्ध

अध्ययन—	१	२	३	४	५	६	७	८	९
उद्देशक—	७	६	४	४	६	५	०	७	४

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

अध्ययन—	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
उद्देशक—	११	३	३	२	२	२	२	१	१	१	१	१	१	१	१	१

आचाराङ्ग के पठन का साक्षात् एवं परम्परा का फल वर्णन करते हुए कहा है—इस के पठन से अज्ञान की निवृत्ति होती है, यह साक्षात् फल है। तदनुसार क्रियानुष्ठान करने से आत्मा तद्रूप अर्थात् ज्ञान-विज्ञानरूप हो जाता है अथवा उन भावों का पूर्ण ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इसी प्रकार उक्त सूत्र में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है। कर्मों की निर्जरा, कैवल्य प्राप्ति, सर्व दुखों से सर्वथा और सदा के लिए मुक्त हो जाना अनुत्तरावृत्तिरूप सिद्ध गति को प्राप्त होना, इस शास्त्र के पठन-पाठन का परम्परागत फल है ॥ सूत्र ४६ ॥

२. श्रीसूत्रकृताङ्ग

मूलम्—से किं तं सूअगडे ? सूअगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोआलोए सूइज्जइ, जीवा सूइज्जंति, अजीवा सूइज्जंति, जीवाजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमए-परसमए सूइज्जइ ।

सूअगडे णं असीअस्स किरियावाईसयस्स, चउरासीइए अकिरिआवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं, बत्तीसाए वेणइअ वाईणं, तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअ सयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ ।

सूअगडे णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे, दो सुअक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा, तित्तीसं उद्देसणकाला, तित्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ । से त्तं सूअगडे ॥ सूत्र ४७ ॥

छाया—अथ किं तत् सूत्रकृतम् ! सूत्रकृते लोकः सूच्यते, अलोकः सूच्यते, लोकालोकौ सूच्येते, जीवा सूच्यन्ते, अजीवाः सूच्यन्ते, जीवाऽजीवाः सूच्यन्ते, स्वसमयः सूच्यते, परसमयः सूच्यते, स्वससय-परसमयाः सूच्यन्ते ।

सूत्रकृते—अशीत्यधिकस्य क्रियावादिशतस्य, चतुरशीतेरक्रियावादिनाम्, सप्तषष्टेरज्ञा-

९. तत्र वा समवसरणे स्थितेन भगवता एवमाख्यातम् ।

१०. अथवा श्रुतं मम हे आयुष्यमन् ! वर्तते यतस्तेन भगवता एवमाख्यातम्, एवमादयस्तं तमर्थमधिकृत्य गमा भवन्ति ।"

अभिधानवशतः पुनरेवंगमाः सुयं मे आउसंतेणं, आउस सुयं मे, मे सुयं आउसं, इत्येवमर्थभेदेन, तथा २ पदानां संयोजनतोऽभिधानगमा भवन्ति, एवमादयः किल गमा अनन्ता भवन्ति ।"

स्व-पर भेद से अनन्त पर्याय हैं । इस में परिमित त्रसों का वर्णन है, अनन्त स्थावरों का उक्त श्रुत में सविस्तर वर्णन किया गया है ।

सासयकडनिबद्धनिकाइया—शाश्वत धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नित्य हैं । घट-पट आदि पदार्थ प्रयोगज हैं तथा संध्याभ्रराग विश्रसा से हैं, ये भी उक्त श्रुत में वर्णित हैं । निर्युक्ति, हेतु, उदाहरण, लक्षण आदि अनेक पद्धतियों के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया गया है ।

आघविज्जन्ति--इस सूत्र में जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेषरूप से कथन किया गया है ।

पण्णविज्जन्ति—नाम आदि के भेद से कहे गए हैं ।

परूविज्जन्ति—विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किए गए हैं ।

दंसिज्जंति—उपमा-उपमेय के द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं ।

निदंसिज्जंति—हेतु तथा दृष्टान्तों से वस्तुतत्त्व का विवेचन किया गया है ।

उवदंसिज्जंति—इस प्रकार सुगम रीति से कथन किए गए हैं, जिससे शिष्य की बुद्धि में अधिक शंका उत्पन्न न हो ।

इस अङ्ग की अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच २ में कहीं कहीं आते हैं । अर्धमागधी भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना महत्त्व पूर्ण है । सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है, किन्तु काल-दोष से उस का पाठ व्यवच्छिन्न हो गया है । उपधान नामक ९ वें अध्ययन में भगवान महावीर की तपस्या का बड़ा विचित्र और मार्मिक वर्णन है । वहां उन के लाढ, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि में विहार और नाना प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करने का स्पष्ट उल्लेख है । पहले श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन हैं, और ४४ उद्देशक हैं । दूसरे श्रुतस्कन्ध में श्रमण के लिए निर्दोष भिक्षा का, आहार पानी की शुद्धि, शय्या-संस्तरण-विहार-चातुर्मास-भाषा-वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का वर्णन है । मल-मूत्र यत्ना से त्यागना, महाव्रत और तत्सम्बन्धी २५ भावनाओं के स्वरूप का, महावीर स्वामी के पहले कल्याणक से लेकर दीक्षा, केवलज्ञान और उपदेश आदि का सविस्तर वर्णन है । द्वितीय श्रुतस्कन्ध १६ अध्ययनों में विभाजित है । इस की भाषा पहले स्कन्ध की अपेक्षा सुगम है । इस सूत्र में उद्देशकों की गणना इस प्रकार है—

प्रथम श्रुतस्कन्ध

अध्ययन—	१	२	३	४	५	६	०	८	९
उद्देशक—	७	६	४	४	६	५	०	७	४

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

अध्ययन—	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
उद्देशक—	११	३	३	२	२	२	२	१	१	१	१	१	१	१	१	१

निकवादिनाम् (अज्ञानवादिनाम्), द्वात्रिंशद् वैनयिकवादिनाम्, त्रयाणां त्रिषष्ठ्यधिकानाम्, पाषण्डिकशतानां व्यूहं कृत्वा स्वसमयः स्थाप्यते।

सूत्रकृते परीता वाचनाः, संख्येयानि-अनुयोगद्वाराणि, संख्येयाः वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः।

तदङ्गर्थतया द्वितीयमङ्गम्, द्वौ श्रुतस्कन्धौ, त्रयोविंशतिरध्ययनानि, त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालाः, त्रयस्त्रिंशत्समुद्देशनकालाः, षट्त्रिंशत् पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परिमितास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्शयन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते। तदेतत्सूत्रकृतम् ॥ सूत्र ४७ ॥

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! सूत्रकृताङ्गश्रुत में किस विषय का वर्णन किया है ?

आचार्य उत्तर में बोले—सूत्रकृताङ्ग में षड्द्रव्यात्मक लोक सूचित किया जाता है, केवल आकाश द्रव्य वाला अलोक सूचित किया जाता है, लोकालोक दोनों सूचित किए जाते हैं। इसी प्रकार जीव, अजीव और जीवाजीव की सूचना की जाती है। एवमेव स्वमत, परमत और स्व-परमत की सूचना की जाती है।

सूत्रकृताङ्ग में १८० क्रियावादियों के मत एवं ६७ अज्ञानवादी इत्यादि ३६३ पापण्डियों का व्यूह बना कर स्वसिद्धान्त की स्थापना की जाती है।

सूत्रकृताङ्ग में परिमित वाचनाएं हैं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणिएं और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

यह अङ्ग अर्थ की दृष्टि से दूसरा है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध और २३ अध्ययन हैं। तथा ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल हैं। सूत्रकृताङ्ग का पदपरिमाण ३६ हजार है। इसमें संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय और परिमित त्रस, अनन्त स्थावर हैं। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यरूप से और प्रयोग व विश्रसा, करण रूप से निबद्ध एवं हेतु आदि द्वारा सिद्ध किए गए जिन प्रणीत भाव कहे जाते हैं तथा प्रज्ञापन, प्ररूपण, निर्दशन और उपदर्शन किए जाते हैं।

सूत्रकृताङ्ग का अध्ययन करने वाला तद्रूप अर्थात् सूत्रगत विषयों में तल्लीन होने से तदाकार आत्मा, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार से इस सूत्र में चरण-करण की प्ररूपणा कही जाती है। यह सूत्रकृताङ्ग का वर्णन है ॥ सूत्र ४७ ॥

निकवादिनाम् (अज्ञानवादिनाम्), द्वात्रिंशद् वैनयिकवादिनाम्, त्रयाणां त्रिषष्ठ्यधिकानाम्, पाषण्डिकशतानां व्यूहं कृत्वा स्वसमयः स्थाप्यते।

सूत्रकृते परीता वाचनाः, संख्येयानि-अनुयोगद्वाराणि, संख्येयाः वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः।

तदङ्गर्थतया द्वितीयमङ्गम्, द्वौ श्रुतस्कन्धौ, त्रयोविंशतिरध्ययनानि, त्रयस्त्रिंशदुद्देशन-कालाः, त्रयस्त्रिशत्समुद्देशनकालाः, षट्त्रिंशत् पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परिमितास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्शयन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते। तदेतत्सूत्र-कृतम् ॥ सूत्र ४७ ॥

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! सूत्रकृताङ्गश्रुत में किस विषय का वर्णन किया है ?

आचार्य उत्तर में बोले—सूत्रकृताङ्ग में षड्द्रव्यात्मक लोक सूचित किया जाता है, केवल आकाश द्रव्य वाला अलोक सूचित किया जाता है, लोकालोक दोनों सूचित किए जाते हैं। इसी प्रकार जीव, अजीव और जीवाजीव की सूचना की जाती है। एवमेव स्वमत, परमत और स्व-परमत की सूचना की जाती है।

सूत्रकृताङ्ग में १८० क्रियावादियों के मत एवं ६७ अज्ञानवादी इत्यादि ३६३ पाष-ण्डियों का व्यूह बना कर स्वसिद्धान्त की स्थापना की जाती है।

सूत्रकृताङ्ग में परिमित वाचनाएं हैं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणिएं और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

यह अङ्ग अर्थ की दृष्टि से दूसरा है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध और २३ अध्ययन हैं। तथा ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल हैं। सूत्रकृताङ्ग का पदपरिमाण ३६ हज़ार है। इसमें संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय और परिमित त्रस, अनन्त स्थावर हैं। धर्मास्ति-काय आदि द्रव्यरूप से और प्रयोग व विश्रसा, करण रूप से निबद्ध एवं हेतु आदि द्वारा सिद्ध किए गए जिन प्रणीत भाव कहे जाते हैं तथा प्रज्ञापन, प्ररूपण, निर्दशन और उपदर्शन किए जाते हैं।

सूत्रकृताङ्ग का अध्ययन करने वाला तद्रूप अर्थात् सूत्रगत विषयों में तल्लीन होने से तदाकार आत्मा, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार से इस सूत्र में चरण-करण की प्ररूपणा कही जाती है। यह सूत्रकृताङ्ग का वर्णन है ॥ सूत्र ४७ ॥

टीका—अब सूत्रकार सूत्रकृताङ्ग का संक्षिप्त परिचय देते हैं। 'सूच' सूचायां धातु से 'सूचकृत' बनता है, इसका आशय यह है कि जो सभी जीव आदि पदार्थों का बोध कराता है, वह सूचकृत है। अथवा सूचनात् सूत्रम् जो मोहनिद्रा में सुप्त प्राणियों को जगाए अथवा पथभ्रष्ट हुए जीवों को सन्मार्ग की ओर संकेत करे, वह सूचकृत कहालाता है। बिखरे हुए मुक्ता या मणियों को सूत्र—धागे में पिरोकर जैसे एकत्रित किया जाता है, वैसे ही जिसके द्वारा विभिन्न विषयों को तथा मत-मतान्तरों की मान्यताओं को एक-किया जाता है, उसे भी सूत्रकृत कहते हैं। यद्यपि सभी अंगसूत्ररूप हैं, तदपि रूढिवश यही अङ्गसूत्र सूत्रकृताङ्ग कहलाता है।

इस सूत्र में लोक, अलोक और लोकालोक का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। शुद्ध जीव परमात्मा है, तथा शुद्ध अजीव जड़ पदार्थ और जीवजीव अर्थात् संसारी जीव शरीर से युक्त होने से जीवाजीव कहलाते हैं। जैसे एक ओर शुद्ध स्वर्ण है, और दूसरी ओर शुद्ध ताम्बा है, तीसरी ओर उभयात्मक है। वैसे ही सूक्ष्म या स्थूल शरीर में रहा हुआ जीव उभयात्मक कहलाता है, क्योंकि शरीर जड़ है और आत्मा चेतनस्वरूप है। इसलिए स्थानाङ्ग सूत्र के दूसरे स्थान में संसारी जीवों को अपेक्षाकृत रूपी भी कहा है। फिर भी न जीव जड़ बनता है और न जड़ कभी जीव ही बनता है। जैसे स्वर्ण और ताम्बे को एक साथ कुठाली में ढाल कर रखा जाए और यदि वे हजारों-लाखों-वर्षों तक एकमेक मिले रहें तो भी स्वर्ण, ताम्बा नहीं बनता और न ताम्बा स्वर्ण ही बनता है। इसी तरह सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं, न दूसरे के स्वरूप को अपनाते हैं और न अपना छोड़ते हैं, इसी में द्रव्य का द्रव्यत्व है।

इस सूत्र में स्वदर्शन, अन्य दर्शन, तथा उभयदर्शनों का विवेचन किया गया है। अन्य दर्शनों का अन्तर्भाव यदि संक्षेप में किया जाए तो क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी, इन चार में हो सकता है। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है—

१. क्रियावादी—जो प्रायः बाह्य क्रियाकाण्ड के पक्षपाती, नव तत्त्वों को कथंचित् गलत समझने वाले और धर्म के आन्तरिक स्वरूप से बेभान हैं, ऐसे विचारकों को क्रियावादी कहते हैं। इनकी गणना प्रायः आस्तिकों में होती है।

२. अक्रियावादी—जो नव तत्त्व या चारित्ररूप क्रिया के निषेधक हैं, वे प्रायः नास्तिक कहलाते हैं। स्थानाङ्गसूत्र के आठवें स्थान में आठ प्रकार के अक्रियावादियों का स्पष्टोल्लेख मिलता है, जैसे कि—

१. एकवादी—कुछ एक विचारकों का मन्तव्य है कि सिवाय जड़ पदार्थ के विश्व में अन्य कुछ नहीं, जड़-ही-जड़ है। आत्मा, परमात्मा या धर्म नामक कोई वस्तु नहीं है। शब्दाद्वैतवादी सब कुछ शब्द ही को मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब द्रव्यों का निषेध करते हैं—एकमेवाद्वितीयं-ब्रह्म जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलाशयों और दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सब शरीरों में एक ही आत्मा है, जैसे कहा भी है—

"एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधाश्चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥"

उपरोक्त सभी वादियों का समावेश एकवादी में हो जाता है।

२. अनेकवादी—जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी हैं, जितने धर्म हैं, उतने ही धर्मी हैं, जितने

गुण हैं, उतने ही गुणी हैं। ऐसी मान्यता रखने वाले को अनेकवादी कहते हैं। वस्तुगत अनन्त पर्याय होने से वस्तु को भी अनन्त मानने वाले अनेकवादी कहलाते हैं।

३. मितवादी—जो लोक को सप्तद्वीप समुद्र तक ही मानते हैं, आगे नहीं। जो आत्मा को अंगुष्ठ-प्रमाण या श्यामाक तण्डुल प्रमाण मानते हैं, शरीर या लोकप्रमाण नहीं। जो दृश्यमान जीवों को ही आत्मा मानते हैं, अनन्त-अनन्त नहीं। ऐसे विचारक इसी कोटि के वादी माने जाते हैं।

४. निर्मितवादी—यह विश्व किसी-न-किसी के द्वारा निर्मित है। ईश्वरवादी सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता एवं धर्त्ता सब कुछ ईश्वर को मानते हैं। कोई ब्रह्मा को, शैव शिव को, वैष्णव विष्णु को कर्त्ता व निर्माता मानते हैं। दैवी भगवत में शक्ति-देवी को ही निर्मात्री माना है, इत्यादि वादियों का समावेश उक्त भेद में हो जाता है।

५. सातावादी—जिनकी मान्यता है कि सुख का बीज सुख है और दुःख का बीज दुःख है। जैसे शुक्ल तन्तुओं से बुना हुआ वस्त्र भी सफेद ही होगा और काले तन्तुओं से बना हुआ वस्त्र भी काला ही होगा। वैषयिक सुख के उपभोग से जीव भविष्य में सुखी हो सकता है। तप-संयम, ब्रह्मचर्य नियम आदि शरीर और मन को कष्टप्रद होने से, ये सब दुःख के मूल कारण हैं। शरीर को तथा मन को साता पहुंचाने से ही अनागत काल में जीव सुखी हो सकता है, अन्यथा नहीं। ऐसी मान्यता रखने वाले विचारकों का समावेश उक्त भेद में हो जाता है।

६. समुच्छेदवादी—क्षणिकवादी आत्मा आदि सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, निरन्वय नाश की मान्यता को मानने वाले समुच्छेदवादी कहाते हैं।

७. नित्यवादी—जो एकान्त नित्यवाद के पक्षपाती हैं, उनके विचार में प्रत्येक वस्तु एक रस में अवस्थित है। उनका कहना है—वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं होता। वे वस्तु को परिणामी नहीं, कूटस्थ नित्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में उन्हें विवर्तवादी भी कहते हैं। जैसे असत् की उत्पत्ति नहीं होती और न उसका विनाश ही होता है। इसी प्रकार सत् का भी उत्पाद और विनाश नहीं होता। कोई भी परमाणु सदा-काल से जैसा चला आ रहा है, वह भविष्य में भी ज्यों का त्यों बना रहेगा, उसमें परिवर्तन के लिए कोई गुंजायश नहीं है। ऐसी मान्यता रखने वाले वादी उक्त भेद में निहित हो जाते हैं।

८. न संति परलोकवादी—आत्मा ही नहीं तो परलोक किसके लिए? आत्मा किसी भी प्रमाण से प्रमाणित नहीं होता। आत्मा के अभाव होने पर पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ कोई कर्म नहीं है। अतः परलोक नामक कोई वस्तु ही नहीं है। अथवा शान्ति मोक्ष को कहते हैं, जो आत्मा को तो मानता है, किन्तु उनका कहना है कि आत्मा अल्पज्ञ है, वह कभी भी सर्वज्ञ नहीं बन सकता है। संसारी आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो सकता अथवा इस लोक में ही शान्ति-साता या सुख है, परलोक में इन सब का सर्वथा अभाव है। परलोक का पुनर्जन्म का तथा मोक्ष के निषेधक जो भी विचारक हैं, उन सबका समावेश उपर्युक्त वादियों में हो जाता है।

९. अज्ञानवादी—अज्ञानी बने रहने से पाप करता हुआ भी निष्पाप बना रहता है। जिनका मन्तव्य है कि अज्ञान दशा में किए गए सब गुनाह-अपराध क्षम्य होते हैं। तथा जैसे नासमझ अबोध बालक

के द्वारा किए हुए सब अपराध क्षमा कर देता है, उसे दण्ड नहीं देता। वैसे ही अज्ञान दशा में रहने से खुदा या ईश्वर सभी गुनाहों को क्षमा कर देता है। ज्ञान दशा में किए गए अपराधों का फल भोगना अवश्यं-भावी है। अत: अज्ञानी बने रहने में लाभ है। ऐसी मान्यता के पक्षपाती अज्ञानवादी कहलाते हैं।

४. विनयवादी—इनकी मान्यता है कि सभी पशु-पक्षी, नाग-वृक्ष, मूर्ति, गुणहीन, शूद्र-चाण्डाल आदि सभी वन्दनीय हैं। अपने आपको उनसे भी नीच समझने वाले विचारक विनयवादी कहाते हैं। इनकी मान्यता है कि जीव और अजीव सभी वन्दनीय एवं प्रार्थनीय हैं। अत: इन सबकी विनय करने से जीव परमपद को प्राप्त कर सकता है।

क्रियावादी १८० प्रकार के हैं। अक्रियावादी ८४ तरह के हैं। अज्ञानवादी ६७ प्रकार के हैं। और विनयवादी ३२ प्रकार के होते हैं। इनका सविस्तार वर्णन टीकाकारों ने निम्न प्रकार से किया है जैसे कि—

१. क्रिया वादियों के १८० भेद हैं। वे इस रीति से समझने चाहिएं—जीव-अजीव आदि पदार्थों को क्रमश: स्थापन करके उनके नीचे—स्वत: और परत: ये दो भेद रखने चाहिएं और उनके नीचे नित्य एवं अनित्य, इस प्रकार दो भेद स्थापन करने चाहिएं। उसके नीचे क्रमश: काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर, और आत्मा ये पांच पद स्थापन करने चाहिएं। तत्पश्चात् इनका संचार इस प्रकार करना चाहिए, जैसे कि १. जीव अपने आप विद्यमान है। २. जीव दूसरे से उत्पन्न होता है। ३. जीव नित्य है। ४. जीव अनित्य है। इन चारों भेदों को काल आदि के साथ जोड़ने से २० भेद हो जाते हैं, जैसे कि—

१. जीव स्वत: काल से नित्य है।
२. जीव स्वत: काल से अनित्य है।
३. जीव परत: काल से नित्य है।
४. जीव परत: काल से अनित्य है।
५. जीव स्वयं चेतन स्वभाव से नित्य है।
६. जीव स्वतः होकर भी स्वभाव से अनित्य है।
७. जीव परत: होकर भी स्वभाव से नित्य है।
८. जीव परत: होकर भी स्वभाव से अनित्य है।

इसी तरह नियति के विषय में समझना चाहिए। नियति का यह अर्थ है कि जो होनहार है, वह होकर ही रहता है। वह किसी भी शक्ति से टलता नहीं, कहा भी है—'यद् भाव्यं तद् भवति, यह नियति वादियों की मान्यता है।

९. जीव होनहार से स्वतः हजारों की संख्या में उत्पन्न होता है और नित्य रहता है।
१०. जीव होनहार से परतः उत्पन्न होता है, वह नित्य रहता है।
११. होने वाला हुआ तो जीव स्वत: उत्पन्न होकर भी अनित्य रहता है।
१२. होनहार के कारण ही जीव परत: उत्पन्न होकर अनित्य रहता है।
१३. जीव ईश्वर से अपने ही कारणों से उत्पन्न होकर नित्य रहता है।
१४. जीव ईश्वर से परत: ही कारणों से उत्पन्न होकर नित्य रहता है।
१५. जीव ईश्वर से अपने ही कारणों से उत्पन्न होकर अनित्य रहता है।

१६. जीव ईश्वर से परतः ही कारणों से उत्पन्न होकर अनित्य रहता है।

१७. जीव स्वयं अपने रूप से उत्पन्न होता है और नित्य है।

१८. जीव आत्म रूप से स्वयं पैदा होकर भी अनित्य है।

१९. जीव परतः उत्पन्न होकर भी नित्य एवं शाश्वत है।

२०. जीव परतः उत्पन्न होकर ही अनित्य एवं अशाश्वत है।

इस प्रकार जीव के विषय में २० भंग बनते हैं, इसी तरह अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष, इन आठ पदार्थों के भी प्रत्येक में २०-२० भंग होते हैं। इस तरह नव, बीस मिलकर क्रियावादियों की कुल संख्या १८० होती है।

२. **अक्रियावादी**—क्रियावादी से विपरीत एकान्त जीव आदि का निषेध करने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। इनके ८४ भेद होते हैं, पुण्य-पाप को छोड़कर जीव-अजीव आदि सात पदार्थों को लिखकर उनके नीचे स्वर-पर ये दो भेद रखना, फिर काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन ६ को नीचे रखने से ८४ प्रकार हो जाते हैं, जैसे कि—

१. जीव स्वतः काल से नहीं है।

२. जीव परतः काल से नहीं है।

३. जीव यदृच्छा से स्वतः नहीं है।

४. जीव परतः यदृच्छा से नहीं है।

इसी तरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ जोड़ने से प्रत्येक के दो-दो भेद होकर कुल १२ भेद होते हैं। इसी प्रकार जीव आदि सात पदार्थों के प्रत्येक के १२ भेद होने से कुल ८४ भेद होते हैं। नास्तिकों के मत से स्वतः या परतः जीवादि पदार्थ नहीं हैं। शून्य वादियों का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है।

३. **अज्ञानवादी**—अज्ञान से ही कार्य सिद्धि चाहने वाले अज्ञानवादियों के ६७ भेद होते हैं—जीव आदि नव पदार्थो के विषय में सत्, असत् आदि सप्त भंगों में संशय करने पर ६७ प्रकार होते हैं, जैसे कि—

१. जीव सत् है, यह कौन जानता है ?

२. जीव असत् है, यह कौन जानता है ? और इन्हें जानने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? क्या लाभ है ?

३. सत्-असत् उभयात्मक है, यह कौन जानता है ? इन्हें जानने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? क्या लाभ है ?

४. जीव अवक्तव्य है, यह कौन जानता है ? और यह जानने से भी क्या प्रयोजन ?

५. जीव सत् अवक्तव्य है, यह कौन जानता है ? यह जानने से क्या प्रयोजन ?

६. जीव असद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है ? यह जानने से क्या प्रयोजन ?

७. जीव सद्-असद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है ? यह जानने से क्या प्रयोजन ?

इसी तरह अजीव आदि में भी सप्त भंग होते हैं। ये सब मिला कर ६३ भेद होते हैं। अब दूसरे प्रकार के चार भंग बतलाते हैं—

१. सत् पदार्थों की उत्पत्ति कौन जानता है ? और यह जानने से क्या लाभ ?
२. असत् पदार्थों की उत्पत्ति कौन जानता है ? यह जानने से क्या प्रयोजन ?
३. सत्-असत् उभयात्मक पदार्थों की उत्पत्ति कौन जानता है ? और जानने से क्या लाभ ?
४. अवक्तव्य को कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ ?

इन चारों भेदों को पूर्वोक्त ६३ भेदों में मिलाने से ६७ संख्या होती है। पीछे के तीन भंग, पदार्थ की उत्पत्ति होने पर, उनके अवयवों की अपेक्षा से होते हैं, वे उत्पत्ति में संभव नहीं हैं। अतः वे उत्पत्ति में नहीं कहे गए हैं। अज्ञानवादियों के मत में जीवादि नव पदार्थों के ७-७ भंग होते हैं और भाव की उत्पत्ति के सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य ये चार भेद होते हैं। इन ६७ में से किसी एक की मान्यता, स्थापना करने वाला अज्ञानवादी है। ये सब अज्ञान से ही अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि और ज्ञान को दोष पूर्ण एवं निरर्थक बताते हैं।

४. विनयवादी—विनय करने से आत्मसिद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति मानते हैं। इनके ३२ भेद होते हैं, वे इस प्रकार जानने चाहिएं।

देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता, पिता, इन आठों की १. मन से, २. वचन से, ३. काय से, और दान से, तथा विनय करने से ही इष्टार्थ की पूर्ति मानते हैं। इस प्रकार ये आठ, चार-चार प्रकार के होते हैं। अतः ये कुल मिलाकर ३२ प्रकार के होते हैं। इन क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञान वादी और विनयवादियों के भेदों को जोड़ने से कुल ३६३ भेद होते हैं।

यह सूत्र भी दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। उनके पुनः क्रमशः १६ और ७ अध्ययन हैं। पहला श्रुतस्कन्ध प्रायः पद्यमय है। सिर्फ एक १६ वें अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। और दूसरे स्कन्ध में गद्य और पद्य दोनों पाए जाते हैं। इसमें गाथा और छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी उपयोग किया है, जैसे इन्द्रवज्रा, वैतालिक, अनुष्टुप् आदि। इस सूत्र में जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादों का विस्तृत निरूपण किया गया है। मुनियों को भिक्षाचरी में सतर्कता, परीषह-उपसर्गों में सहन शीलता, नरकों के दुःख, महावीर स्तुति, उत्तम साधुओं के लक्षण, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक, निर्ग्रन्थ आदि शब्दों की परिभाषा अच्छी प्रकार से युक्ति, दृष्टान्त और उदाहरणों के द्वारा समझाई गई है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में जीव शरीर के एकत्व, ईश्वरकर्तृत्व और नियतिवाद आदि मतों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है।

पुण्डरीक के उदाहरण पर अन्य मतों का युक्तिसंगत उल्लेख करके स्वमत की स्थापना की गई है। १३ क्रियाओं का प्रत्याख्यान, आहार आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है। पाप-पुण्य का विवेक, आर्द्रककुमार के साथ गोशालक, शाक्यभिक्षु, तापसों से हुए वाद-विवाद, आर्द्रकुमार के जीवन से सम्बन्धित विरक्तता और सम्यक्त्व में दृढता का रोचक वर्णन है। अन्तिम नालन्दीय नामक अध्ययन में नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेढाल पुत्र का वार्तालाप और अन्त में पेढाल पुत्र के द्वारा चातुर्याम चर्या को छोड़कर पंचमहाव्रत स्वीकार करने का सुन्दर वृत्तान्त है। प्राचीन मतों, वादों व दृष्टियों के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अंग में २३ अध्ययन और ३३ उद्देशक हैं, दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन और ७ उद्देशक हैं,—

अध्ययन—	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
उद्देशक—	४	३	४	२	२	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

इस सूत्र में वचनाएं संख्यात हैं। अनुयोगद्वार, प्रतिपत्ति, वेष्टक, श्लोक, निर्युक्तियां और अक्षर ये सब संख्यात हैं। ३६००० पद हैं। इनकी व्याख्या पहले लिखि जा चुकी है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और त्रस इनमें असंख्यात जीव हैं तथा वनस्पतिकाय में संख्यात-असंख्यात और अनन्त जीव पाए जाते हैं। इन सबकी व्याख्या भली प्रकार से की गई है।

इसके अध्ययन करने से स्वमत, परमत तथा उभय मत का सुगमता से ज्ञान हो जाता है। आत्म-साधना और सम्यक्त्व को दृढ करने के लिए यह अङ्ग विशेष उपयोगी है।

इस सूत्र पर भद्रबाहुकृत निर्युक्ति जिनदासमहत्तरकृत चूर्णि और शीलांकाचार्य की वृहद्वृत्ति भी उपलब्ध हैं। ३६३ मतों का खण्डन-मण्डन की ओर विशेष रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं को नन्दीसूत्र की मलयगिरिकृत वृत्ति पठनीय है ॥सूत्र ४७॥

३. श्रीस्थानाङ्गसूत्र

मूलम्—से किं तं ठाणे ? ठाणे णं जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति ससमए ठाविज्जइ, परससए ठाविज्जइ, ससमए-परसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोआलोए ठाविज्जइ।

ठाणे णं टंका, कूडा, सेला, सिहरिणो, पब्भारा. कुण्डाइं, गुहाओ, आगरा, दहा, नईओ, आघविज्जंति।

ठाणे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढ़ा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे, एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, एगवीसं उद्देसणकाला, एक्कवीसं समुद्देसणकाला, वावत्तरिपयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निवद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं ठाणे ॥सूत्र ४८॥

छाया—अथ किं तत् स्थानम् ? स्थानेन जीवाः स्थाप्यन्ते, अजीवाः स्थाप्यन्ते, जीवाऽजीवाः स्थाप्यन्ते, स्वसमयः स्थाप्यते, परसमयः स्थाप्यते, स्वसमय-परसमयौ स्थाप्येते. लोकः स्थाप्यते, अलोकः स्थाप्यते, लोकाऽलोकौ स्थाप्येते।

स्थाने टङ्कानि, कूटानि, शैलाः, शिखरिणः, प्राग्भाराः, कुण्डानि, गुहाः, आकराः, द्रहाः, नद्य आख्यायन्ते ।

स्थाने परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः (वृत्तयः), संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः संख्येयाः, संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

तदङ्गार्थतया तृतीयमङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, दशाऽध्ययनानि, एकविंशतिरुद्देशनकालाः, एकविंशतिः समुद्देशनकालाः, द्वासप्ततिः पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिन-प्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते उपदर्श्यन्ते ।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते, तदेतत्स्था-नम् ॥सूत्र ४८॥

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह स्थानाङ्गश्रुत क्या है ? आचार्य उत्तर में बोले—स्थानाङ्ग में अथवा स्थानाङ्ग के द्वारा जीव स्थापन किए जाते हैं, अजीव स्था-पन किए जाते हैं और जीवाजीव की स्थापना की जाती है । स्वसमय—जैन सिद्धान्त की स्थापना की जाती है, परसमय—जैनेतर सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है एवं जैन व जैनेतर उभय पक्षों की स्थापना की जाती है । लोक, अलोक और लोकालोक की स्था-पना की जाती है ।

स्थान में व स्थानाङ्ग के द्वारा टङ्क—छिन्नतट, पर्वतकूट, पर्वत, शिखरि, पर्वत, कूटके ऊपर कुब्जाग्र की भाँति अथवा पर्वत के ऊपर हस्तिकुम्भ की आकृति सदृश्य कुब्ज, गङ्गा-कुण्ड आदि कुण्ड, पौण्डरीक आदि ह्लद—तालाब, गङ्गा आदि नदिएं कथन की जाती हैं । स्थानाङ्ग में एक से ले कर दस तक वृद्धि करते हुए भावों की प्ररूपणा की गयी है ।

स्थानाङ्गसूत्र में परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ—छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियें, संख्यात संग्रहणियें और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं ।

वह अङ्गार्थ से तृतीय अङ्ग है । इसमें एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं तथा २१ उद्देशनकाल और २१ ही समुद्देशन काल हैं । पदों की संख्या पदाग्र से ७२ हजार है । संख्यात अक्षर व अनन्त गम—पाठ हैं । अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं । शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनकथित भाव कहे जाते हैं, प्रज्ञापन, प्ररूपण, उपदर्शन, निर्दर्शन और दर्शित किए गए हैं ।

इस स्थानाङ्ग का अध्ययन करने वाला तदात्मरूप, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है । इस प्रकार उक्त अङ्ग में चरण-करणानुयोग की प्ररूपणा की गयी है । यह स्थानाङ्गसूत्र का वर्णन है ॥सूत्र ४८॥

टीका—इस सूत्र में स्थानाङ्गसूत्र का परिचय संक्षेप रूप में दिया गया है। 'ठाणे णं' यह मूलसूत्र है जो कि सप्तमी व तृतीया के रूप हो सकते हैं। इसका यह भाव है कि स्थानाङ्ग में जीवादि पदार्थों का वर्णन किया हुआ है अथवा एक से लेकर दश स्थानों के द्वारा जीवादि पदार्थ व्यवस्थापन किए गए हैं। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

"अथ किं तत्स्थानम् ? तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवादयः पदार्था अस्मिन्निति स्थानं तथा चाह सूरिः 'ठाणेण' मित्यादि स्थानेन स्थाने वा 'ण' मिति वाक्यालंकारे जीवाः स्थाप्यन्ते—यथाऽवस्थितस्वरूप—प्ररूपणया व्यवस्थाप्यन्ते।"

यह श्रुताङ्ग दस अध्ययनों में विभाजित है। इसमें सूत्रों की संख्या हज़ार से अधिक है। इसमें २१ उद्देशक हैं। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुताङ्गों से विलक्षण तथा उनसे भिन्न प्रकार की है। यहाँ प्रत्येक अध्ययन में जैन दर्शनानुसार वस्तु संख्या गिनाई गई हैं, जैसे—

१. पहले अध्ययन में 'एगे आया' आत्मा एक है, इत्यादि एक-एक पदार्थों का वर्णन किया है।

२. दूसरे अध्ययन में विश्व के दो २ पदार्थों का वर्णन है, जैसे कि जीव और अजीव, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, आत्मा और परमात्मा इत्यादि।

३. तीसरे अध्ययन में सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र का निरूपण तथा धर्म, अर्थ, काम ये तीन प्रकार की कथाएं बताई गयी हैं। तीन प्रकार के पुरुष होते हैं—उत्तम, मध्यम, जघन्य। धर्म तीन प्रकार का होता है—श्रुतधर्म, चारित्र धर्म और अस्तिकायधर्म इस प्रकार अनेकों ही त्रिकें कही गई हैं।

४. चौथे अध्ययन में चातुर्याम धर्म आदि सात सौ चतुर्भङ्गियों का वर्णन है।

५. पाँचवें स्थान में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पांच गति, पांच इन्द्रिय इत्यादि।

६. छठे स्थान में छः काय, छः लेश्याएं, गणी के छः गुण, षड्द्रव्य, और छः आरे इत्यादि।

७. सातवें स्थान में अल्पज्ञोंके तथा सर्वज्ञ के ७ लक्षण, सप्त स्वरों के लक्षण, सात प्रकार का विभंग ज्ञान, इस प्रकार अनेकों ही सात-सात प्रकार के पदार्थों का सविस्तर वर्णन है।

८. आठवें स्थान में एकलविहारी तब हो सकता है, यदि वह आठ गुण सम्पन्न हो। ८ विभक्तियों का विवरण, अवश्य पालनीय आठ शिक्षाएं। इस प्रकार अनेकों शिक्षाएं आठ संख्यक दी हुई हैं।

९. नवें स्थान में नव वाड़ें ब्रह्मचर्य की, महावीर के शासन में नव व्यक्तियों ने तीर्थंकर नाम गोत्र बांधा है, जो अनागत काल की उत्सर्पिणी में तीर्थंकर बनेंगे, जिनके नाम इहभविक ये हैं—राजा श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी, प्रोष्ठिल, दृढायु, शंख, शतक, सुलसा, रेवती। इन के अतिरिक्त नौ-नौ संख्यक अनेकों ही ज्ञेय, हेय, उपादेय शिक्षाएँ वर्णित हैं।

१०. दसवें स्थान में दस चित्तसमाधि, दस स्वप्नों का फल, दस प्रकार का सत्य, दस प्रकार का असत्य, दस प्रकार की मिश्र भाषा, दस प्रकार का श्रमणधर्म, दस स्थानों को अल्पज्ञ नहीं सर्वज्ञ जानते हैं। इस प्रकार दस संख्यक अनेकों वर्णनीय विषयों का उल्लेख किया गया है। यह तीसरा अङ्ग सूत्र दस अध्ययनात्मक है। इक्कीस उद्देशन काल हैं। ७२ हजार पद परिमाण हैं। इस सूत्र में नाना प्रकार के विषयों का संग्रह है, यदि इसे भिन्न २ विषयों का कोष कहा जाए तो कोई अनुचित नहीं होगा। यह अङ्ग जिज्ञासुओं के अवश्य पठनीय है। शेष वर्णन भावार्थ में लिखा जा चुका है ॥सूत्र ४८॥

४. श्री समवायाङ्गसूत्र

मूलम्—से किं तं समवाए ? समवाए णं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवाजीवा समासिज्जंति, ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमय-परसमए समासिज्जइ, लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोआलोए समासिज्जइ ।

समवाए णं इगाइआणं एगुत्तरिआणं ठाण-सय-विवड्ढिआणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ, दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ ।

समवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे, एगे सुअखंधे, एगे अज्झयणे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले, एगे चोआलेसयसहस्से पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ, से त्तं समवाए ॥सूत्र ४६॥

छाया—अथ कोऽयं समवायः ? समवायेन जीवाः समाश्रीयन्ते, अजीवाः समाश्रीयन्ते, जीवाऽजीवाः समाश्रीयन्ते, स्वसमयः समाश्रीयते, परसमयः समाश्रीयते, स्वसमय-परसमयौ समाश्रीयेते, लोकः समाश्रीयते, अलोकः समाश्रीयते, लोकाऽलोकौ समाश्रीयेते ।

समवाये एकादिकानामेकोत्तरिकाणां स्थान-शत-विवर्द्धितानां भावानां प्ररूपणाऽऽख्यायते, द्वादशविधस्य च गणि-पिटकस्य पल्लवाग्रः समाश्रीयते ।

समवायस्य परीता वाचनाः संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

सः अङ्गार्थतया चतुर्थमङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, एकमध्ययनम्, एक उद्देशनकालः, एकः समुद्देशनकालः, एकं चतुश्चत्वारिंशदधिकं शत सहस्रं पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः अनन्ताः पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचिता जिन-प्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते ।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते, स एवं समवायः । सूत्र ॥४६॥

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! समवाय-श्रुत का विषय क्या है ? आचार्य उत्तर में बोले—समवायाङ्गसूत्र में यथावस्थित रूप से जीव, अजीव और जीवाजीव आश्रयण किए जाते हैं। स्वदर्शन, परदर्शन और स्व-परदर्शन आश्रयण किए जाते हैं। लोक, अलोक और लोकालोक आश्रयण किए जाते हैं।

समवायाङ्ग में एक से वृद्धि करते हुए सौ स्थान तक भावों की प्ररूपण की गई है और द्वादशाङ्गगणिपिटक का संक्षेप में परिचय आश्रयण किया गया है अथात् वर्णित है।

समवायङ्ग में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणिएं तथा संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

वह अङ्ग की अपेक्षा से चौथा अङ्ग है। एक श्रुतस्कन्ध, एक अध्ययन, एक उद्देशन-काल, और एक समुद्देशन काल है। पदपरिमाण एक लाख चौतालीस हज़ार है। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर तथा शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचित जिन प्ररूपित भाव, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन, और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं।

समवायाङ्ग का अध्येता तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार समवायाङ्ग में चरण-करण की प्ररूपण की गयी है। यह समवायाङ्ग का विषय है ॥ सूत्र ४६॥

टीका—इस सूत्र में समवायाङ्गश्रुत का संक्षिप्त परिचय दिया है। जिसमें जीवादि पदार्थो का निर्णय हो, उसे समवाय कहते हैं, जैसे कि **सम्यगवायो—निश्चयो जीवादीनां पदार्थानां यस्मात्स समवायः** जो सूत्र में 'समासिज्जन्ति' इत्यादि पद दिए हैं, उनका यह भाव है कि सम्यग् यथावस्थित रूप से, बुद्धि द्वारा ग्राह्य अर्थात् ज्ञान से ग्राह्य पदार्थो को स्वीकार किया जाता है अथवा जीवादि पदार्थ कुप्ररूपण से निकाल कर सम्यक् प्ररूपण में समाविष्ट किए जाते हैं, जैसे कि कहा भी है—"**समाश्रीयन्ते समिति सम्यग् यथावस्थिततया आयन्ते बुध्या स्वीक्रियन्ते अथवा जीवाः समस्यन्ते कुप्ररूपणाभ्यः समाकृष्य सम्यक् प्ररूपणायां प्रक्षिप्यन्ते ।**"

इस सूत्र में जीव, अजीव तथा जीवाजीव, जैन दर्शन, इतरदर्शन, लोक, अलोक इत्यादि विषय स्पष्ट रूप से वर्णन किए गए हैं। फिर एक अंक से लेकर सौ अंक पर्यन्त जो-जो विषय जिस-जिस अंक में गर्भित हो सकते हैं, उनका सविस्तर रूप से वर्णन किया गया है।

इस श्रुताङ्ग में २७५ सूत्र हैं, अन्य कोई स्कन्ध, वर्ग, अध्ययन, उद्देशक आदि रूप से विभाजित नहीं है। स्थानाङ्ग की तरह इसमें भी संख्या के क्रम से वस्तुओं का निर्देश निरन्तर शत पर्यन्त करने के पश्चात् दो सौ, तीन सौ, इसी क्रम से सहस्र पर्यन्त विषयों का वर्णन किया है, जैसे कि पार्श्वनाथ भगवान्

की तथा सुधर्मास्वामी की आयु १०० वर्ष की थी। महावीर भगवान् के ३०० शिष्य १४ पूर्वों के ज्ञाता थे, ४०० शास्त्रार्थ महारथी थे। इस प्रकार संख्या बढ़ाते हुए कोटी पर्यन्त ले गए हैं, जैसे कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी पर्यन्त काल का अन्तर एक सागरोपम क्रोड़ निर्दिष्ट किया गया है।

तत्पश्चात् द्वादशाङ्ग गणिपिटक का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। त्रिषष्ठी शलाका पुरुषों का नाम माता-पिता, जन्म, नगरी, दीक्षास्थान इत्यादि का वर्णन किया है। मोहकर्म के ५२ पर्यायवाची नाम गिनाए हैं। ७२ कलाओं के नाम निर्देश किए गए हैं। जैन सिद्धान्त तथा इतिहास की परम्परा की दृष्टि से यह श्रुताङ्ग महत्त्वपूर्ण है। इसमें अधिकांश गद्य रचना है, कहीं २ गाथाओं द्वारा भी विषय प्रस्तुत किया गया है। सूत्र ॥४९॥

५. श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

मूलम्—से किं तं विवाहे? विवाहे णं जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति, ससमय विआहिज्जति, परसमए विआहिज्जति, ससमय-परसमए विआहिज्जंति, लोए विआहिज्जति, अलोए विआहिज्जति, लोयालोए विआहिज्जंति।

विवाहस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संग्गहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, एगे साइरेगे अज्झयणसए, दस उद्देसगसहस्साइं, दस समुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, दो लक्खा, अट्ठासीई पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जसि, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं णाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण-परूवणा आघविज्जइ, से त्तं विवाहे॥ सूत्र ५०॥

छाया—अथ का सा व्याख्या? (कः स विवाहः?) व्याख्यायां जीवा व्याख्यायन्ते, अजीवा व्याख्यायन्ते, जीवाऽजीवा व्याख्यायन्ते, स्वसमयो व्याख्यायते, पर-समयो व्याख्यायते, स्वसमय-परसमयौ व्याख्यायेते, लोको व्याख्यायते, अलोको व्याख्यायते लोकाऽलोकौ व्याख्यायेते!

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते, स एवं समवायः । सूत्र ।।४६।।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! समवाय-श्रुत का विषय क्या है ? आचार्य उत्तर में बोले—समवायाङ्गसूत्र में यथावस्थित रूप से जीव, अजीव और जीवाजीव आश्रयण किए जाते हैं। स्वदर्शन, परदर्शन और स्व-परदर्शन आश्रयण किए जाते हैं। लोक, अलोक और लोकालोक आश्रयण किए जाते हैं।

समवायाङ्ग में एक से वृद्धि करते हुए सौ स्थान तक भावों की प्ररूपण की गई है और द्वादशाङ्गगणिपिटक का संक्षेप में परिचय आश्रयण किया गया है अथात् वर्णित है।

समवायङ्ग में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणिएं तथा संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

वह अङ्ग की अपेक्षा से चौथा अङ्ग है। एक श्रुतस्कन्ध, एक अध्ययन, एक उद्देशन-काल, और एक समुद्देशन काल है। पदपरिमाण एक लाख चौतालीस हज़ार है। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर तथा शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचित जिन प्ररूपित भाव, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन, और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं।

समवायाङ्ग का अध्येता तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार समवायाङ्ग में चरण-करण की प्ररूपण की गयी है। यह समवायाङ्ग का विषय है ।। सूत्र ४६।।

टीका—इस सूत्र में समवायाङ्गश्रुत का संक्षिप्त परिचय दिया है। जिसमें जीवादि पदार्थों का निर्णय हो, उसे समवाय कहते हैं, जैसे कि सम्यगवायो—निश्चयो जीवादीनां पदार्थानां यस्मात्स समवायः जो सूत्र में 'समासिज्जन्ति' इत्यादि पद दिए हैं, उनका यह भाव है कि सम्यग् यथावस्थित रूप से, बुद्धि द्वारा ग्राह्य अर्थात् ज्ञान से ग्राह्य पदार्थों को स्वीकार किया जाता है अथवा जीवादि पदार्थ कुप्ररूपण से निकाल कर सम्यक् प्ररूपण में समाविष्ट किए जाते हैं, जैसे कि कहा भी है—"समाश्रीयन्ते समिति सम्यग् यथावस्थिततया आयन्ते बुध्या स्वीक्रियन्ते अथवा जीवाः समस्यन्ते कुप्ररूपणाभ्यः समाकृष्य सम्यक् प्ररूपणायां प्रक्षिप्यन्ते ।"

इस सूत्र में जीव, अजीव तथा जीवाजीव, जैन दर्शन, इतरदर्शन, लोक, अलोक इत्यादि विषय स्पष्ट रूप से वर्णन किए गए हैं। फिर एक अंक से लेकर सौ अंक पर्यन्त जो-जो विषय जिस-जिस अंक में गर्भित हो सकते हैं, उनका सविस्तर रूप से वर्णन किया गया है।

इस श्रुताङ्ग में २७५ सूत्र हैं, अन्य कोई स्कन्ध, वर्ग, अध्ययन, उद्देशक आदि रूप से विभाजित नहीं है। स्थानाङ्ग की तरह इसमें भी संख्या के क्रम से वस्तुओं का निर्देश निरन्तर शत पर्यन्त करने के पश्चात् दो सौ, तीन सौ, इसी क्रम से सहस्र पर्यन्त विषयों का वर्णन किया है, जैसे कि पार्श्वनाथ भगवान्

हैं। इसी प्रकार सभी उत्तर महावीर के दिए हुए नहीं हैं, गौतम आदि मुनिवरों के दिए हुए भी हैं। कहीं २ श्रावकों के द्वारा दिए हुए उत्तर भी हैं। यह सूत्र आज के युग में अन्य सूत्रों से विशालकाय है। इसमें पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाई, राजप्रशनीय आवश्यक. नन्दी और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्रों के नामोल्लेख भी किए हुए हैं। तथा इन सूत्रों के उद्धरण दिए हैं। इससे प्रतीत होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति का संकलन बहुत पीछे हुआ है। अतः पाठकों को जिन सूत्रों के उद्धरण दिए हुए हैं, उनका अध्ययन पहले करना चाहिए ताकि पढ़ने और समझने में सुविधा रहे। इसमें सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, द्रव्यानुयोग और चरण-करणानुयोग की सविशेष व्याख्या है। इसमें बहुत से ऐसे विषय हैं जो उस सूत्र के विशेषज्ञों से समझने वाले हैं। स्वयमेव समझने से कठिनता प्रतीत होती है और अध्येता को प्रायः भ्रांति व संदेह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति का संक्षिप्त परिचय समाप्त हुआ ॥सूत्र ५०॥

६. श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र

मूलम्—से किं तं नायाधम्मकहाओ ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं, उज्जाणाइं चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया धम्मकहाओ, इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआया, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चखाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति।

दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्म कहाए पंच-पंच अक्खाइआ सयाइं, एगमेगाए अक्खाइआए पंच-पंचउवक्खाइआ सयाइं, एगमेगाए उवक्खाइआए पंच-पंचअक्खाइ-उवक्खाइआ सयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति समक्खायं।

नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंग [illegible] ट्ठे अंगे, दो सुअक्खंधा, एगूणवीसं अज्झयणा, एगूणवीसं उद्देसणकाला, [illegible] ाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा [illegible] परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड- [illegible] घविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, [illegible] ।

व्याख्यायाः परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः. संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

सा अङ्गार्थतया पञ्चमाङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, एकं सातिरेकमध्ययनशतं, दशोद्देशक सहस्राणि, दश समुद्देशकसहस्राणि, षट्त्रिंशद् व्याकरणसहस्राणि,द्वे लक्षे अष्टाशीतिः पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि अनन्ता गमाः, अनन्ताःपर्यवाः, परीतस्त्रसाः अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिन-प्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते,

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करणप्ररूपणाऽऽख्यायते सैषा-व्याख्या ॥ सूत्र ५०॥

भावार्थ–शिष्य ने प्रश्न किया–भगवन् ! व्याख्याप्रज्ञप्ति में क्या वर्णन है? आचार्य उत्तर में वोले–भद्र ! व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीवों का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है, और अजीवों का तथा जीवाजीवों की व्याख्या की जाती है ! स्वसमय, परसमय और स्व-पर उभय सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है । लोक, अलोक और लोक-अलोक के स्वरूप का व्याख्यान किया गया है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में परिमित वाचनाएं हैं । संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ,–श्लोक-विशेप, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणिएं और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं ।

अङ्ग अर्थ से यह व्याख्याप्रज्ञप्ति पांचवां अंग है । एक श्रुतस्कन्ध, कुछ अधिक एक सौ इसके अध्ययन हैं । इसके दस हज़ार उद्देश, दस हजार समुद्देश, छत्तीस हज़ार प्रश्नोत्तर और दो लाख अट्ठासी हज़ार पदाग्र परिमाण हैं । संख्यात, अक्षर अनन्त गम और अनन्त पर्याय हैं । परिमित त्रस, अनन्त स्थावर, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनप्रज्ञप्त भावों का कथन, प्रज्ञापन प्ररूपण. दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।
व्याख्याप्रज्ञप्ति का पाठक तदात्मरूप बन जाता है,एवं ज्ञाता विज्ञाता बन जाता है। इसी प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति में चरण-करण की प्ररूपणा की गयी है । यह ही व्याख्याप्रज्ञप्ति का स्वरूप है ॥ सूत्र ५० ॥

टीका—इस सूत्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) का संक्षिप्त परिचय दिया है । इसमें ४१ शतक हैं, दस हज़ार उद्देशक हैं, ३६ हज़ार प्रश्न एवं ३६ हज़ार उत्तर हैं । आदि के आठ ८ शतक १२-१४ वां और १८-२० ये चौदह शतक दस दस उद्देशकों में विभाजित हैं । शेष शतकों में उद्देशकों की संख्या हीनाधिक पाई जाती है । १५ वें शतक में उद्देशक भेद नहीं हैं । इसमें सूत्रों की संख्या ८६७ है । इसकी विवेचनशैली प्रश्नोत्तर रूप में है । सभी प्रश्न गौतम स्वामी के ही नहीं है अपितु अन्य श्रावक-श्राविका, साधुओं, अन्य यूथिक परिव्राजक, संन्यासियों, देवताओं तथा, इन्द्रों के प्रश्न और पार्श्वनाथ के साधु तथा श्रावकों के भी प्रश्न

धर्मकथाङ्ग के दस वर्ग हैं, उनमें एक-एक धर्मकथा में पाँच-पांच सौ आख्यायिकाएं हैं, एक-एक आख्यायिका में पांच-पाच सौ उपाख्यायिकाएं हैं और एक-एक उपाख्यायिका में पांच-पांच सौ आख्यायिका-उपाख्यायिकाएं हैं। इस तरह पूर्वापर सब मिला कर साढ़े तीन करोड़ कथानक हैं, ऐसा कथन किया गया है।

ज्ञाताधर्मकथा में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं संख्यात संग्रहणिएं हैं, और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

अङ्ग की अपेक्षा से ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र छठा है। दो श्रुतस्कन्ध, १९ अध्ययन, १९ उद्देशनकाल, १९ समुद्देशनकाल तथा पदाग्र परिमाण में संख्यात सहस्र हैं। इसी प्रकार संख्यात अक्षर, अनन्त अर्थागम, अनन्त पर्याय परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन-प्रतिपादित भाव, कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दिखाए गए, निदर्शन और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं।

उक्त अङ्ग का पाठक तदात्मकरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा में चरण-करण की विशिष्ट प्ररूपण की गयी है, यही ज्ञाताधर्म कथा का स्वरूप हैं॥ सूत्र ५१॥

टीका—इस सूत्र में छठे अङ्ग का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। इस अङ्ग का नाम ज्ञाता-धर्म-कथा है। यह नाम तीन पदों से युक्त है, इसका सारांश इतना ही है कि ज्ञाता का अर्थ यहां उदाहरणों के लिए प्रयुक्त किया गया है। इतिहास, दृष्टान्त, उदाहरण इन सबका अन्तर्भाव ज्ञाता में हो जाता है। जो इतिहास उदाहरण, धर्म कथाओं से अनुरंजित हो, अथवा जिस धर्मकथा में मुख्यतया उदाहरण ऐसे दिए गए हों जिन के सुनने से या अध्ययन करने से श्रोता और अध्येता का जीवन धर्म में प्रवृत्त हो जाए; उसे ज्ञाताधर्मकथा कहते हैं। अथवा पहले श्रुत-स्कन्ध का नाम ज्ञाता है और दूसरे श्रुत स्कन्ध का नाम धर्मकथा है। इतिहास तो प्रायः वास्तविक ही होते हैं, किन्तु दृष्टान्त, उदाहरण, कथा, कहानियां वास्तविक भी होते हैं और काल्पनिक भी। सम्यग्दृष्टियों के लिए सम्पूर्ण विश्व, शिक्षाणालय तथा शिक्षक है। मिथ्यादृष्टि के लिए उपर्युक्त सभी उदाहरण पतन के कारण हैं, वह अमृत को विष समझता है और विष को अमृत, यह दोष विष या वस्तुओं का नहीं है, अपितु दृष्टि का है सम्यग्दृष्टि अमृत को अमृत समझता है और अपने ज्ञान प्रयोग से विष को भी अमृत बना देता है। ज्ञाताधर्मकथा में पहले श्रुत स्कन्ध के अन्तर्गत १९ अध्ययन हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध में १० वर्ग हैं, प्रत्येक वर्ग में अनेकों अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन में एक कथा है और अन्त में उस कथा या दृष्टन्त से मिलने वाली शिक्षाएं बताई गई है। कथाओं में पात्र के नगर, उद्यान प्रासाद, शय्या, समुद्र, स्वप्न, धर्म साधना के प्रकार और अपने कर्त्तव्य से फिसलते हुए भी पुनः संभल जाना, अढाई हजार वर्ष पूर्व भारतीय लोगों का जीवन उत्थान या पतन की ओर कैसे बढ रहा था? कुमार्ग से हट कर सुमार्ग में कैसे लगे और सुमार्ग को छोड़कर कुमार्ग में पड़ने से उनकी दशा कैसे हुई तथा वे धर्म के आराधक कैसे बने? ठीक तरह से आराधना करते हुए विराधक कैसे बने? उनका अगला जन्म कहां और कैसा रहा? इन सबका इस सूत्र में सविस्तार विवेचन

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं नायाधम्मकहाओ ।। सूत्र ५१ ।।

छाया—अथ कास्ता ज्ञाताधर्मकथाः ? ज्ञाताधर्मकथासु ज्ञातानां नगराणि, उद्यानानि चैत्यानि, वनखण्डानि, समवसरणानि, राजानः, मातापितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐहलौकिक-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः, भोगपरित्यागाः, प्रव्रज्याः, पर्यायाः, श्रुतपरिग्रहाः, तप-उपधानानि, संलेखनाः, भक्तप्रत्याख्यानानि, पादपोपगमनानि, देवलोकगमनानि, सुकुलप्रत्यावृत्तयः, पुनर्बोधिलाभा, अन्तक्रियाश्चाऽऽख्यायन्ते ।

दश धर्मकथानां वर्गाः, तत्र एकैकस्यां धर्मकथायां पंच पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि, एकैकस्यामाख्यायिकायां पञ्च पञ्चोपाख्यायिकाशतानि, एकैकस्यामुपाख्ययिकायां पंच पञ्चाऽऽख्यायिकोपाख्यायिका-शतानि, एवमेव सपूर्वापरेण अध्युष्टाः कथानककोट्यो भवन्तीति समाख्यातम् ।

ज्ञाताधर्मकथानां परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः संख्येया निर्युक्तयः संख्येयाः संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

ता अङ्गार्थतया षष्ठमङ्गम्, द्वौ श्रुतस्कन्धौ, एकोनविंशतिरध्ययनानि, एकोनविंशतिरुद्देशनकालाः, एकोनविंशतिः समुद्देशनकालाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावरा, शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते ।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते, ता एता ज्ञाता-धर्मकथाः ।। सूत्र ५१ ।।

भावार्थ—शिष्यने पूछा—भगवन् ! वह ज्ञाताधर्मकथा—उदाहरण और तत्प्रधान कथा-अङ्ग किस प्रकार है ?

आचार्य उत्तर में कहने लगे—वत्स ! ज्ञाताधर्मकथा-श्रुत में ज्ञातों के नगरों, उद्यानों चैत्य–यक्षायतनों, वनखण्डों, भगवान के समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक सम्बन्धि ऋद्धि विशेष, भोगों का परित्याग, दीक्षा, पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधान-तप, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोक में जाना, पुनः सुकुल में उत्पन्न होना, पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति का लाभ और फिर अन्तक्रिया कर मोक्ष की प्राप्ति इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

धर्मकथाङ्ग के दस वर्ग हैं, उनमें एक-एक धर्मकथा में पाँच-पांच सौ आख्यायिकाएं हैं, एक-एक आख्यायिका में पांच-पाच सौ उपाख्यायिकाएं हैं और एक-एक उपाख्यायिका में पांच-पांच सौ आख्यायिका-उपाख्यायिकाएं हैं। इस तरह पूर्वापर सब मिला कर साढ़े तीन करोड़ कथानक हैं, ऐसा कथन किया गया है।

ज्ञाताधर्मकथा में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं संख्यात संग्रहणिएं हैं, और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

अङ्ग की अपेक्षा से ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र छठा है। दो श्रुतस्कन्ध, १९ अध्ययन, १९ उद्देशनकाल, १९ समुद्देशनकाल तथा पदाग्र परिमाण में संख्यात सहस्र हैं। इसी प्रकार संख्यात अक्षर, अनन्त अर्थागम, अनन्त पर्याय परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन-प्रतिपादित भाव, कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दिखाए गए, निदर्शन और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं।

उक्त अङ्ग का पाठक तदात्मकरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा में चरण-करण की विशिष्ट प्ररूपण की गयी है, यही ज्ञाताधर्म कथा का स्वरूप हैं॥ सूत्र ५१॥

टीका—इस सूत्र में छठे अङ्ग का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। इस अङ्ग का नाम ज्ञाता-धर्म-कथा है। यह नाम तीन पदों से युक्त है, इसका सारांश इतना ही है कि ज्ञाता का अर्थ यहां उदाहरणों के लिए प्रयुक्त किया गया है। इतिहास, दृष्टान्त, उदाहरण इन सबका अन्तर्भाव ज्ञाता में हो जाता है। जो इतिहास उदाहरण, धर्म कथाओं से अनुरंजित हो, अथवा जिस धर्मकथा में मुख्यतया उदाहरण ऐसे दिए गए हों जिन के सुनने से या अध्ययन करने से श्रोता और अध्येता का जीवन धर्म में प्रवृत्त हो जाए; उसे ज्ञाताधर्मकथा कहते हैं। अथवा पहले श्रुत-स्कन्ध का नाम ज्ञाता है और दूसरे श्रुत स्कन्ध का नाम धर्मकथा है। इतिहास तो प्रायः वास्तविक ही होते हैं, किन्तु दृष्टान्त, उदाहरण, कथा, कहानियां वास्तविक भी होते हैं और काल्पनिक भी। सम्यग्दृष्टियों के लिए सम्पूर्ण विश्व, शिक्षाणालय तथा शिक्षक है। मिथ्यादृष्टि के लिए उपर्युक्त सभी उदाहरण पतन के कारण हैं, वह अमृत को विष समझता है और विष को अमृत, यह दोष विष या वस्तुओं का नहीं है, अपितु दृष्टि का है सम्यग्दृष्टि अमृत को अमृत समझता है और अपने ज्ञान प्रयोग से विष को भी अमृत बना देता है। ज्ञाताधर्मकथा में पहले श्रुत स्कन्ध के अन्तर्गत १९ अध्ययन हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध में १० वर्ग हैं, प्रत्येक वर्ग में अनेकों अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन में एक कथा है और अन्त में उस कथा या दृष्टन्त से मिलने वाली शिक्षाएं बताई गई है। कथाओं में पात्र के नगर, उद्यान प्रासाद, शय्या, समुद्र, स्वप्न, धर्म साधना के प्रकार और अपने कर्त्तव्य से फिसलते हुए भी पुनः संभल जाना, अढाई हजार वर्ष पूर्व भारतीय लोगों का जीवन उत्थान या पतन की ओर कैसे बढ रहा था? कुमार्ग से हट कर सुमार्ग में कैसे लगे और सुमार्ग को छोड़कर कुमार्ग में पड़ने से उनकी दशा कैसे हुई तथा वे धर्म के आराधक कैसे बने? ठीक तरह से आराधना करते हुए विराधक कैसे बने? उनका अगला जन्म कहां और कैसा रहा? इन सबका इस सूत्र में सविस्तार विवेचन

किया गया है। इस सूत्र में कुछ महावीर के युग में होने वाले इतिहास हैं, कुछ अरिष्टनेमि २२ वें तीर्थंकर का समकालीन इतिहास है। कुछ महाविदेह क्षेत्रसे सम्बन्धित इतिहास है और कुछ पार्श्वनाथ के शासन काल का इतिहास है, तथा तुम्ब और चन्द्र आदि के उदाहरण सर्व देश कालावनच्छिन्न है। ८वें अध्ययन में १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के पंच कल्याणकों का वर्णन है। १६ वें अध्ययन में द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है और उसका वर्तमान एवं भावी जीवन का विवरण है। दूसरे स्कन्ध में सिर्फ पार्श्वनाथ जी के शासन में साध्वियों का गृहस्थ अवस्था का जीवन और साध्वी जीवन तथा भविष्य में जीवन कैसा रहा ? इसका बड़े सुन्दर एवं न्याय पूर्ण शैली से वर्णन किया है। ज्ञाताधर्मकथाङ्ग की भाषा शैली बहुत ही सुन्दर है, इसमें प्रायः सभी प्रकार के रसों का वर्णन मिलता है। शब्दालंकार और अर्थालंकारों से यह सूत्र विशेष महत्त्व पूर्ण है। शेष परिचय भावार्थ में दिया हो चुका है॥ सूत्र ५१॥

७. श्रीउपासकदशाङ्गसूत्र

मूलम्—से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासु णं समणोवासयाणं नगराइं, उज्जाणाणि, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ. परियागा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववास-पडिवज्जणया, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोग-गमणाइं, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति।

उवासगदसाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं उवासगदसाओ॥सूत्र ५२॥

छाया—अथ कास्ता उपासकदशाः ? उपासकदशासु श्रमणोपासकानां नगराणि, उद्यानानि, चैत्यानि, वनखण्डानि, समवसरणानि, राजानो, मातापितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐहलौकिक-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः, भोगपरित्यागाः, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रहाः, तप-उपधानानि, शील-व्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पोषधोपवास-प्रतिपादनता, प्रतिमाः, उपसर्गाः संलेखनाः, भक्तप्रत्याख्यानानि, पादपोपगमनानि, देवलोकगमनानि, सुकुलप्रत्यायातयः, पुनर्बोधिलाभाः, अन्तक्रियाश्चाख्यायन्ते ।

उपासकदशानां परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

ता अंगार्थतया सप्तममङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, दशाऽध्ययनानि, दशोद्देशनकालाः, दश-समुद्देशनकालाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ता पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचिता जिन-प्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते ।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते, ता एता उपासकदशाः ॥सूत्र ५२॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! वह उपासकदशा नामक श्रुत किस प्रकार है ?

आचार्य बोले—भद्र ! उपासकदशा में श्रमणोपसकों के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और पर-लोक की ऋद्धि विशेष, भोगपरित्याग, दीक्षा, संयम की पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, शील-व्रत-गुणव्रत, विरमण-व्रत-प्रत्याख्यान, पौधोपवास का धारण करना, प्रतिमा का धारण करना, उपसर्ग, संलेखना, अनशन, पादपोपगमन, देवलोकगमन, पुनः सुकुल में उत्पत्ति, पुनः वोधि—सम्यक्त्व का लाभ और अन्तक्रिया इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

उपासकदशा की परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ—छन्दविशेष, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं ।

वह अंग की अपेक्षा से सातवां अंग है, उसमें एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, दस उद्देशन काल दस और समुद्देशनकाल हैं । पदाग्र परिमाण से संख्यातसहस्र पद हैं । संख्यात अक्षर, अनन्त गम और अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावर हैं । शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचित जिन प्रतिपादित भावों का सामान्य और विशेषरूप से कथन, प्ररूपण, प्रदर्शन, निदर्शन, और उपदर्शन किया गया है ।

इसका सम्यक्तया अध्ययन करने वाला तद्रूप-आत्मा, ज्ञाता और विज्ञाता बन जाता है। उपासकदशांग में चरण-करण की प्ररूपणा की गयी है। यह उपाशकदशाश्रुत का विषय है ॥सूत्र ५२॥

टीका—प्रस्तुत सूत्र में ७ वें उपासकदशांग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। श्रमण अर्थात् साधुओं की सेवा करने वाले श्रमणोपासक कहे जाते हैं। दस अध्ययन होने से इसको उपासकदशा कहते हैं या उपासकों की चर्य्या का वर्णन होने से उपासकदशा कहते हैं। इसमें उपासकों के शीलव्रत (अणुव्रत) गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का स्वरूप बताया गया है। इसके प्रत्येक अध्ययन में एक-एक श्रावक का वर्णन है। इसमें दस श्रमणोपासकों के लौकिक और लोकोत्तरिक वैभवों का वर्णन है। वे सभी भगवान महावीर के अनन्य श्रावक हुए हैं।

यहां प्रश्न पैदा होता है कि भगवान महावीर के एक लाख, उनसठ हजार १२ व्रती श्रावक थे, फिर अध्ययन दस ही क्यों हैं? न्यूनाधिक क्यों नहीं? प्रश्न ठीक है और मननीय है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिनके लौकिक जीवन और लोकोत्तरिक जीवन में समानता सूत्रकारों ने देखी, उनका ही उल्लेख इस में किया गया है, जैसे कि दसों ही सेठ कोटयावीश थे, राजदरबार में माननीय थे और प्रजा के भी। सभी के पास ५०० हल की ज़मीन थी, गोजाति के अतिरिक्त अन्य पालतू पशु उनके पास नहीं थे। जितने क्रोड़ व्यापार में धन लगा हुआ था, उतने व्रज गौओं के थे। सभी महावीर के उपदेश से प्रभावित हुए थे, सभी ने पहले ही उपदेश से प्रभावित होकर १२ व्रत धारण किए हैं। सभी ने १५ वें वर्ष में गृहस्थ धन्धों से अलग होकर पौषधशाला में रह कर धर्माराधना की। जिज्ञासुओं को यह स्मरण रखना चाहिए कि जो आयु लौकिक व्यवहार में व्यतीत हुई, उसका यहां कोई उल्लेख नहीं। जब से उन्होंने १२ व्रत धारण किए हैं, सूत्रकार ने तब से लेकर आयु की गणना की है। १५ वें वर्ष के कुछ मास बीतने पर उन्होंने ११ पडिमाओं की आराधना करनी प्रारम्भ की। सभी का एक महीने का संथारा सीझा। सभी पहले देवलोक में देव बने। सभी को चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त हुई। सभी महाविदेह में जन्म लेकर निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। सभी को अपनी आयु के २० वर्ष शेष रहने पर ही धर्म की लग्न लगी इत्यादि अनेक दृष्टियों से उनका जीवन समान होने से दस श्रावकों का ही इसमें उल्लेख किया गया है। अन्य श्रावकों में ऐसी समानता न होने से उनका उल्लेख इस सूत्र में नहीं किया गया है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए ॥सूत्र ५२॥

८. श्रीअन्तकृद्दशाङ्गसूत्र

मूलम्—से किं तं अंतगडदसाओ? अंतगडसासु णं अंतगडाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढि-विसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अंतकिरिआओ आघविज्जंति।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, अट्ठ वग्गा, अट्ठ उद्देसणकाला, अट्ठ समुद्देसणकाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ-जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं अंतगडदसाओ ॥सूत्र ५३॥

छाया—अथ कास्ता अन्तकृद्दशाः ? अन्तकृद्दशासु अन्तकृतां नगराणि, उद्यानानि, चैत्यानि, वनखण्डानि, समवसरणानि, राजानः, मातापितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐहलौकिक-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः, भोगपरित्यागाः, प्रव्रज्याः, पर्यायाः, श्रुतपरिग्रहाः, तप उपधानानि, संलेखनाः, भक्त प्रत्याख्यानानि, पादपोपगमानानि, अन्तक्रिया, आख्यायन्ते।

अन्तकृद्दशासु परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः, संख्येयाः, प्रतिपत्तयः।

ता अङ्गार्थतयाऽऽष्टममङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, अष्टौ वर्गाः, अष्टावुद्देशनकालाः, अष्टौ समुद्देशनकालाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमा,, अनन्ता पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिन प्रज्ञप्ता भावा, आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते।

स एवमात्मा एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण प्ररूपणाऽऽख्यायते, ता एता अन्तकृद्दशाः ॥सूत्र ५३॥

भावार्थ—शिष्यने पूछा भगवन्! वह अन्तकृद्दशा-श्रुत किस प्रकार है? आचार्य कहने लगे—अन्तकृद्दशा में...अन्तकृतकर्म अथवा जन्म मरणरूप संसार का अन्त करने वाले महापुरुषों के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड. समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्म आचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक की ऋद्धिविशेष, भोगों का परित्याग, प्रव्रज्या-दीक्षा और दीक्षा पर्याय. श्रुत का अध्ययन, उपधान तप, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, अन्तक्रिया-शैलेशी अवस्था आदि विषयों का वर्णन है।

अन्तकृद्दशा में परिमित वाचनायें, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्ति, संख्यात संग्रहणी और संख्यात प्रतिपत्तिएं हैं।

अङ्गार्थ से यह आठवां अङ्ग है। एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग, आठ उद्देशनकाल और आठ समुद्देशन काल हैं। पद परिमाण में संख्यात सहस्र हैं। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय तथा परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन प्रज्ञप्त भाव कहे गये हैं तथा प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन, और उपदर्शन किये जाते हैं। इस सूत्र का अध्ययन करने वाला तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस तरह उक्तअङ्ग में चरण-करण की प्ररूपणा की गयी है। यह अन्तकृद्दशा का स्वरूप है। ।।सूत्र ५३।।

टीका—इस सूत्र में अन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र का अवयवों सहित अवयवी का संक्षेप में वर्णन मिलता है। अन्तकृद्दशा का अर्थ है कि जिन नर-नारियों और निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थियों ने संयम-तप की आराधना-साधना करते हुए जीवन के अन्तिम क्षण में कर्मों का तथा भवरोग का अन्तकर कैवल्य होते ही निर्वाण पद प्राप्त किया उन पुण्य आत्माओं की जीवन चर्या का इस सूत्र में उल्लेख किया गया है। इस में आठ वर्ग हैं। पहिले और पिछले वर्ग में दस-दस अध्ययन हैं, इस दृष्टि से अन्तकृत् के साथ दशा शब्द का प्रयोग किया गया है। सूत्र कर्त्ता ने जो अंतकिरियाओ पद दिया है, इस का भाव यह है कि जिन महात्माओं ने उसी भव में शैलेशी-चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त किया है अर्थात् वे आत्माएं कैवल्य प्राप्त कर जनता को धर्मोपदेश नहीं दे सकीं, इसी कारण उन्हें अन्तकृत्केवली कहा है।

उक्त अङ्ग के वर्गों तथा अध्ययनों का निम्न प्रकार से ८ वर्गों में विभाजन किया गया है, जैसे—

वर्ग—	१	२	३	४	५	६	७	८
अध्ययन	१०	८	१३	१०	१०	१६	१३	१०

इस सूत्र में अरिष्टनेमि और महावीर स्वामी के शासन काल में होने वाले अन्तकृत केवलियों का ही वर्णन मिलता है। पांचवें वर्ग तक अरिष्टनेमि के शासन काल में नर-नारी यादव वंशीय राजकुमारों और श्रीकृष्णजी की अग्रमहेषियों ने धर्म साधना में अपने आप को झोंक कर आत्मा का निखार किया तथा निर्वाण प्राप्त किया। छठे वर्ग से लेकर आठवें तक सेठ, राजकुमार राजा श्रेणिक की महारानियों ने दीक्षित होकर घोर तपश्चर्या और अखंड चारित्र की आराधना करते हुए मासिक, अर्द्धमासिक संथारे में कर्मों पर विजय प्राप्त कर सिद्धत्व को प्राप्त किया, इस प्रकार उनके पावनचरित्र का वर्णन है। उन्होंने महावीर और चन्दन बाला महासती की देख-रेख में आत्म-कल्याण किया। इसमें प्रायः ऐसी शैली है कि एक का वर्णन करने पर शेष वर्णन उसी ढंग से है। जहां कहीं आयु संथारा, क्रियानुष्ठान में विशेषता हुई, उस का उल्लेख कर दिया है। सामान्य वर्णन सब का एक जैसा ही है। अध्ययनों के समूह का नाम वर्ग है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही है ।।सूत्र ५३।।

६. श्रीअनुत्तरौपपातिकदशासूत्र

मूलम्—से किं तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ? अणुत्तरोववाइअदसासुणं अणुत्तरोवावइआणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापिअरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअपरलोइआ इड्डि-विसेसा, भोगपरिच्चागाः पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरो ववाइयत्ते उववत्ती, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ आघ-विज्जंति ।

अणुत्तरोववाइअदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, तिन्नि वग्गा, तिन्नि उद्दे-सणकाला, तिन्नि समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ॥सूत्र ५४॥

छाया—अथ कास्ता अनुत्तरौपपातिकदशाः ? अनुत्तरौपपातिकदशासु अनुत्तरौ-पपातिकानां नगराणि, उद्यानानि, चैत्यानि, वनखण्डानि, समवसरणानि, राजानः, माता-पितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐहलौकिक-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः, भोगपरित्यागाः, प्रव्रज्याः, पर्यायाः, श्रुतपरिग्रहाः. तप उपधानानि, प्रतिमाः, उपसर्गाः, संलेखनाः, भक्तप्रत्या-ख्यानानि, पादपोपगमनानि, अनुत्तरौपपातिकत्वे-उपपत्तिः, सुकुलप्रत्यावृत्तयः, पुनर्बोधिलाभाः, अन्तक्रियाः, आख्यायन्ते ।

अनुत्तरौपपातिकदशासु परीता वाचनाः, संख्येयातन्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

ता अङ्गार्थतया नवममङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, त्रयोवर्गाः, त्रय उद्देशनकालाः, त्रयः

९. श्रीअनुत्तरौपपातिकदशासूत्र

मूलम्—से किं तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ? अणुत्तरोववाइअदसासु णं अणुत्तरोवावइआणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापिअरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअपरलोइआ इड्ढि-विसेसा, भोगपरिच्चागाः पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरो ववाइयत्ते उववत्ती, सुकुलपच्चायाईओ, पुणवोहिलाभा, अंतकिरिआओ आघ-विज्जंति ।

अणुत्तरोववाइअदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, तिन्नि वग्गा, तिन्नि उद्दे-सणकाला, तिन्नि समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निवद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ॥सूत्र ५४॥

छाया—अथ कास्ता अनुत्तरौपपातिकदशाः ? अनुत्तरौपपातिकदशासु अनुत्तरौ-पपातिकानां नगराणि, उद्यानानि, चैत्यानि, वनखण्डानि, समवसरणानि, राजानः, माता-पितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐहलौकिक-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः, भोगपरित्यागाः, प्रव्रज्याः, पर्यायाः, श्रुतपरिग्रहाः. तप उपधानानि, प्रतिमाः, उपसर्गाः, संलेखनाः, भक्तप्रत्या-ख्यानानि, पादपोपगमनानि, अनुत्तरौपपातिकत्वे-उपपत्तिः, सुकुलप्रत्यावृत्तयः, पुनर्बोधिलाभाः, अन्तक्रियाः, आख्यायन्ते ।

अनुत्तरौपपातिकदशासु परीता वाचनाः, संख्येयातन्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः ।

ता अङ्गार्थतया नवममङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, त्रयोवर्गाः, त्रय उद्देशनकालाः, त्रयः

समुद्देशनकालाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परीतस्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते ।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण प्ररूपणाऽऽख्यायते, ता एता अनुत्तरौपपातिकदशा ।।सूत्र ५४।।

भावार्थ—शिष्यने प्रश्न किया—गुरुदेव ! अनुत्तरौपातिकदशासूत्र में क्या वर्णन है ? आचार्य जी उत्तर में कहने लगे—अनुत्तरौपपातिकदशासूत्र में, अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले पुण्य आत्माओं के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक सम्बन्धि ऋद्धिविशेष, भोगों का परित्याग, मुनिदीक्षा, संयम पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, प्रतिमाग्रहण, उपसर्ग, अन्तिम संलेखना, भक्त प्रत्याख्यान अर्थात् अनशन, पादपोपगमन तथा मृत्यु के पश्चात् अनुत्तर-सर्वोत्तम विजय आदि विमानों में औपपातिकरूप में उत्पत्ति । पुनः च्यवकर सुकुल की प्राप्ति फिर वोधि लाभ और अन्तक्रिया इत्यादि का कथन है ।

अनुत्तरौपपातिकदशा में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्ति, संख्यात संग्रहणी, तथा संख्यात प्रतिपत्ति हैं ।

वह अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र अङ्ग की अपेक्षा से नवमा अङ्ग है । उसमें एक श्रुत स्कन्ध, तीन वर्ग, तीन उद्देशन काल तथा तीन ही समुद्देशनकाल हैं । पदाग्र परिमाण से संख्यात सहस्र हैं । संख्यात अक्षर, अनन्त अर्थ गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावरों का वर्णन है । शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन भगवान द्वारा प्रणीत भाव कहे गये हैं । प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं ।

अनुत्तरौपपातिकदशासूत्र का सम्यग् अध्ययन करने वाला तद्रूप आत्मा, ज्ञाता, एवं विज्ञाता हो जाता है । इस प्रकार चरण-करण की प्ररूपणा उक्त अङ्ग में की गयी हैं । यह उक्त अङ्ग का विषय है ।।सूत्र ५४।।

टीका—इस सूत्र में अनुत्तरोपपातिक अङ्ग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । अनुत्तर का अर्थ है सर्वोत्तम, २२-२३-२४-२५-२६ इन देवलोकों में जो विमान हैं, उन्हें अनुत्तर विमान कहते हैं । उन विमानों में पैदा होने वाले देव को अनुत्तरोपपातिक कहते हैं । इस सूत्र में तीन वर्ग हैं । पहले वर्ग में १० अध्ययन, दूसरे में १३, तीसरे में पुनः १० अध्ययन हैं । आदि-अन्त वर्ग में दस-दस अध्ययन होने से इसे अनुत्तरोपपातिक दशा कहते है । इसमें उन ३३ महापुरुषों का वर्णन है, जिन्होंने अपनी धर्म साधना से समाधि पूर्वक काल करके अनुत्तर विमानों में देवत्व के रूप में जन्म लिया है । वहां की भव स्थिति पूर्णकर सिर्फ एक वार ही मनुष्य गति में आ कर मोक्ष प्राप्त करना हैं । जो ३३ महापुरुष अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए । उन में २३ तो राजा श्रेणिक की चेलना, नन्दा, धारणी इन तीन रानियों से

उत्पन्न हुए महापुरुषों का उल्लेख है। शेष दस महापुरुषों में काकन्दी नगरी के धन्ना अनगार की कठोर तपस्या और उस के कारण शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की क्षीणता का बड़ा मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। इस में निम्न लिखित पद विशेष महत्त्व रखते हैं और ये पद आत्म विकास में प्रेरणात्मक हैं, जैसे कि परियागा—दीक्षा की पर्याय अर्थात् चारित्र पालन करने का काल परिमाण सुय परिग्गहा—श्रुतज्ञान का वैभव क्योंकि धर्मध्यान का आलंबन स्वाध्याय है, स्वाध्याय के सहारे से धर्मध्यान में प्रगति हो सकती है। तवोवहाणाइं—जिस सूत्र का जितना तप करने का विधान है, उसे करते रहना। पडिमाओ—भिक्षु की १२ पडिमाएं धारण करना, अथवा स्थानाङ्ग सूत्र के चौथे अध्ययन में चार प्रकार की पडिमाओं का धारण, पालन करना। उवसग्गा—संयम तप की आराधना से विचलित करने वाले परीषहों तथा उपसर्गों का समता के द्वारा सहन करना। संलेहणाओ—संलेखना करना (संथारा) इत्यादि साधु जीवन को विकसित करने वाले हैं। ये कल्याण के अमोघ उपाय हैं, इन के बिना साधु जीवन नीरस है ॥सूत्र ५४॥

१० श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र

मूलम्—से किं तं पण्हावागरणाइं ? पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिण-सयं, अट्ठुत्तरं अपसिण-सयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिण-सयं, तं जहा—अंगुट्ठ-पसिणाइं, बाहु-पसिणाइं, अद्दाग-पसिणाइं, अन्नेवि विचित्ता विज्जाइ-सया, नाग-सुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।

पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जइ, से त्तं पण्हावागरणाइं ॥सूत्र ५५॥

छाया—अथ कानि तानि प्रश्नव्याकरणानि ? प्रश्नव्याकरणेषु-अष्टोत्तरं प्रश्न-शतम्,

अष्टोत्तरमप्रश्नशतम्, अष्टोत्तरं प्रश्नाप्रश्न-शतम्, तद्यथा—अंगुष्ठ-प्रश्नाः, बाहुप्रश्नाः, आदर्शप्रश्नाः, अन्येऽपि विचित्रा विद्यातिशया नागसुपर्णैः सार्धं दिव्याः संवादा आख्यायन्ते।

प्रश्नव्याकरणानां परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः।

तान्यंगार्थतया दशममंगम्, एकः श्रुतस्कन्धः, पञ्चचत्वारिंशदध्ययनानि, पञ्चचत्वारिंशदुद्देशनकाला, पञ्चचत्वारिंशत् समुद्देशनकालाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करण-प्ररूपणाऽऽख्यायते, तान्येतानि प्रश्नव्याकरणानि ॥सूत्र ५५॥

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—वह प्रश्नव्याकरण किस प्रकार है?

आचार्य ने उत्तर दिया—भद्र! प्रश्नव्याकरण सूत्र में १०८ प्रश्न–जो विद्या वा मंत्र विधि से जाप कर सिद्ध किये हों और पूछने पर शुभाशुभ कहें, १०८ अप्रश्न—अर्थात् विना पूछे शुभाशुभ बतलाएं, १०८ प्रश्नाप्रश्न—जो पूछे जाने पर और न पूछे जाने पर स्वयं शुभाशुभ का कथन करें—जैसे—अंगुष्ठ प्रश्न, आदर्श प्रश्न, अन्य भी विचित्र विद्यातिशय कथन किए गए हैं। नाग कुमारों औरसुपर्णकुमारों के साथ मुनियों के दिव्य संवाद कहे गये हैं।

प्रश्नव्याकरण की परिमित वाचनाएं हैं। संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं और संख्यात संग्रहणियें तथा प्रतिपत्तिएं हैं।

वह प्रश्नव्याकरणश्रुत अंग अर्थ से दसवां अंग है। एक श्रुतस्कन्ध, ४५ अध्ययन, ४५ उद्देशनकाल और ४५ समुद्देशनकाल हैं। पद परिमाण में संख्यात सहस्र पदाग्र हैं। संख्यात अक्षर, अनन्त अर्थगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित, जिन प्रतिपादित भाव कहे गये हैं, प्रज्ञापन, प्ररूपण व दिखाए जाते हैं, तथा उपदर्शन से सुस्पष्ट किए जाते हैं।

प्रश्नव्याकरण का पाठक तदात्मकरूप एवं ज्ञाता तथा विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार उक्त अंग में चरण-करण की प्ररूपणा की गयी है। यह प्रश्नव्याकरण का विवरण है।

टीका—इस सूत्र में प्रश्न व्याकरणसूत्र का परिचय दिया है। आगमों के नामों से ही मालूम हो जाता है कि इनमें किस विषय का वर्णन है। प्रश्न '+' व्याकरण अर्थात् प्रश्न और उत्तर, इस आगम में प्रश्नो-

तर रूप से पदार्थों का वर्णन किया गया है। प्रश्नोत्तर बहुत होने से इसका नाम भी बहुवचनान्त निर्वाचित किया है। १०८ प्रश्नोत्तर पूछने पर वर्णन किए गए हैं। जो विद्या या मंत्र का पहले विधिपूर्वक जाप करने से फिर किसी के पूछने पर शुभाशुभ कहते हैं, और १०८ विद्या या मंत्र विधि पूर्वक सिद्ध किए हुए बिना ही पूछे शुभाशुभ कहते हैं। तथा १०८ प्रश्न पूछने पर या बिना ही पूछे शुभाशुभ कहते हैं। यह आगम देवाधिष्ठित मंत्र एवं विद्या से युक्त है। इसी प्रकार वृत्तिकार भी लिखते हैं—

"तेषु प्रश्नव्याकरणेषु—अष्टोत्तरं प्रश्नशतं या विद्या मंत्रा वा विधिना जप्यमानाः पृष्टा एव सन्तः शुभाशुभं कथयन्ति ते प्रश्नाः, तेषामष्टोत्तरं शतं, पुनर्विद्या मंत्रा व विधिना जप्यमाना अपृष्टा एव शुभाशुभं कथयन्ति तेऽप्रश्नाः, तेषामष्टोत्तरशतं, तथा ये पृष्टा अपृष्टाश्च कथयन्ति ते प्रश्नाप्रश्नास्तेषामप्यष्टोत्तरं शतमाख्यायते।"

इसमें अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, आदर्श प्रश्न इत्यादि विचित्र प्रकार के प्रश्न और अतिशायी विद्याओं का वर्णन है। इसके अतिरिक्त श्रमण-निर्ग्रन्थों का नागकुमारों और सुपर्णकुमार के साथ दिव्य संवादों का कथन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में इसके ४५ अध्ययन वर्णन किए हैं और इसका एक श्रुतस्कन्ध है।

समवायाङ्ग सूत्र में प्रश्न व्याकरण का परिचय तथा नन्दीसूत्र में दिए गए परिचय में कहीं सदृशता है और कहीं विसदृशता है। शेष पूर्ववत् दोनों सूत्रों में पाठ समान ही हैं।

स्थानांग सूत्र के दशवें स्थान में प्रश्न व्याकरणदशा के दश अध्ययन निम्नलिखित हैं—

पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

१ उवमा २ संखा, ३ इसिभासियाइं, ४ आयरियभासियाइं, ५ महावीरभासियाइं, ६ खोमगपसिणाइं, ७ कोमलपसिणाइं, ८ अद्दागपसिणाइं, ९ अंगुट्ठपसिणाइं, १० बाहुपसिणाइं। प्रश्नव्याकरणदशा इहोक्तरूपा दृश्यमानास्तु पंचाश्रवपञ्चसंवरात्मिका इतीहोक्तानां तूपमादीनामध्ययनानामक्षरार्थः प्रतीयमान एवेति नवरं, पसिणाइं ति प्रश्नविद्या यकाभिः क्षौमकादिषु देवतावतारः क्रियत इति, तत्र क्षौमकं वस्त्रं, अद्दागो—आदर्शोऽगुष्ठो हस्तावायवो बाहवो भुजा इति।"

इस वृत्ति से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान में केवल उक्त सूत्र के ५ आश्रव और पांच संवर रूप दस अध्ययन ही विद्यमान हैं। अतिशय विद्या वाले अध्ययन दृष्टिगोचर नहीं होते। तथा जो अंगुष्ठ आदि प्रश्न कथन किए गए हैं, उनका भाव यह है कि अंगुष्ठ आदि में देव का आवेश होने से प्रतिवादी को यह निश्चित होता है कि मेरे प्रश्न का उत्तर इस मुनि के अंगुष्ठ आदि अवयव दे रहे हैं। यह भी स्वयं सिद्ध है कि यह सूत्र मंत्र और विद्याओं में अद्वितीय था। चूर्णिकार का भी यही अभिमत है। वर्तमान काल के प्रश्नव्याकरण सूत्र में दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध में क्रमशः हिंसा, झूठ, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का सविशेष वर्णन है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अद्वितीय वर्णन है। इनकी आराधना करने से अनेक प्रकार की लब्धियों की प्राप्ति का वर्णन है। जिज्ञासुओं को यह सूत्र विशेष पठनीय और मननीय है ॥सूत्र ५५॥

दिगम्बर मान्यतानुसार प्रश्नव्याकरणसूत्र का विषय

प्रश्न व्याकरण में हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवित-मरण, जय-पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी इस प्रकार चार धर्म कथाओं का विस्तृत वर्णन है, जैसे कि

नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का निराकरणपूर्वक शुद्धिकरके छः द्रव्य, नौ पदार्थों का जो प्ररूपण करती है, उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जिसमें पहले पर-समय के द्वारा स्व-समय में दोष बतलाए जाते हैं। तदनन्तर पर-समय की आधार भूत अनेक प्रकार की एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्व-समय की स्थापना की जाती है और छः द्रव्य, नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है, उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

पुण्य के फल का जिसमें वर्णन हो, जैसे कि तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और देवों की ऋद्धियां ये सब पुण्य के फल हैं। इस प्रकार विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेगनी कथा है।

पाप के फल नरक, तिर्यंच, कुमानुष में जन्म-मरण, एवं जरा-व्याधि, वेदना-दारिद्र आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं। वैराग्य जननी कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं। इस कथा से श्रोता की संसार, शरीर तथा भोगों से निवृत्ति होती है।

इन कथाओं के प्रतिपादन करते समय जो जिन वचन को नहीं जानता, जिसका जिन वचन में अभी तक प्रवेश नहीं हुआ, ऐसे वक्ता को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिन श्रोताओं ने स्व-समय के रहस्य को नहीं जाना, वे पर-समय का प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलित चित्त होकर संभव है मिथ्यात्व को स्वीकार कर लें। अतः स्वसमय के रहस्य को नहीं जानने वाले पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं का ही उपदेश देना चाहिए। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्व-समय को भली-भान्ति समझ लिया है, जो पुण्य और पाप को समझता है और जिस तरह हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस (मज्जा) हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है, उसी तरह जो जिन-शासन में अनुरक्त है, जिनवाणी में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप-शील तथा विनय से युक्त है, ऐसे कथावाचक को ही विक्षेपणी कथा करने का अधिकार है। उसके लिए यह अकथा भी कथा रूप हो जाती है। प्रश्नव्याकरण नामक अंग प्रश्नके अनुसार ही विषय निरूपण करने वाला है।

११. श्रीविपाकश्रुत

मूलम्—से किं तं विवागसुअं ? विवागसुए णं सुकड-दुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ। तत्थ णं दस दुह-विवागा, दससुह-विवागा।

से किं तं दुह-विवागा ? दुह-विवागेसु णं दुह-विवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडाइं, चेइआइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढि-विसेसा, निरयगमणाइं, संसारभव-पवंचा, दुहपरंपराओ, दुकुलपच्चायाईओ, दुलहबोहियत्तं आघविज्जइ, से त्तं दुहविवागा।

छाया—अथ किं तद् विपाकश्रुतम् ? विपाकश्रुते सुकृत-दुष्कृतानां कर्मणां फल-विपाक आख्यायते। तत्र दश दुःख-विपाकाः, दश सुख-विपाकाः।

अथ के ते दुःख-विपाकाः ? दुःख-विपाकेषु दुःखविपाकानां नगराणि, उद्यानानि, वन-खण्डानि, चैत्यानि, समवसरणानि, राजानः, माता-पितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐह-लौकिका-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः निरयगमनानि, संसारभाव-प्रवंचाः, दुःख-परम्पराः, दुष्कुलप्रत्यावृत्तयः, दुर्लभबोधिकत्वमाख्यायते, त एते दुःख विपाकाः ।

भावार्थ—शिष्य ने प्रश्न किया—वह विपाकश्रुत किस प्रकार है ?

आचार्य उत्तर में कहने लगे—विपाकश्रुत में सुकृत-दुष्कृत अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के फल-विपाक कहे जाते हैं। उस विपाकश्रुत में दस दुःखविपाक और दससुखविपाक अध्ययन हैं।

शिष्य ने फिर पूछा—भगवन् ! दुःखविपाक में क्या वर्णन है ?

आचार्य उत्तर देते हैं—भद्र ! दुःख विपाकश्रुत में—दुःख रूप विपाक को भोगने वाले प्राणियों के नगर, उद्यान, वनखण्ड, चैत्य—व्यन्तरायतन, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक सम्बन्धित ऋद्धिविशेष, नरक में उत्पत्ति, पुनः संसार में जन्म-मरण का विस्तार, दुःख की परम्परा, दुष्कुल की प्राप्ति और सम्यक्त्वधर्म की दुर्लभता आदि विषय वर्णन किये हैं। यह दुःखविपाक का वर्णन है ।

टीका—इस सूत्र में विपाकसूत्र के विषय में परिचय दिया है। प्रस्तुत सूत्र में कर्मों का शुभ अशुभ फल उदाहरणों के साथ वर्णित है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं—पहला दुःख विपाक और दूसरा सुखविपाक। पहले श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं, जिनमें अन्याय अनीति का फल, गोमांस भक्षण का फल, मांस भक्षण का फल, अण्डे भक्षण का फल, जो वैद्य-डाक्टर मांस भक्षण को रोगों की औषधी बताते हैं, उनका फल, परस्त्री संग का फल, चोरी करने का फल, वेश्या गमन का फल, इत्यादि विषयों का फल दृष्टान्त पूर्वक वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं किन्तु इनका फल नरक गमन, संसार भ्रमण, दुःख परंपरा, हीन कुलों में जन्म लेना, दुर्लभबोधि इत्यादि दुष्कर्मों के फल वर्णन किए हैं। इन कथाओं में यह भी बतलाया गया है कि उन व्यक्तियों ने पूर्वभव में किस २ प्रकार और कैसे २ पापोपार्जन किए हैं, और किस प्रकार उन्हें दुर्गतियों में दुःख अनुभव करना पड़ा। पाप करते समय तो अज्ञानतावश जीव प्रसन्न होता है और जब उनका फल भोगना पड़ता है, तब वे दीन होकर किस प्रकार दुःख भोगते हैं ? इन बातों का साक्षात् चित्र इन कथाओं में खींचा है। अतः यह जिज्ञासुओं को सविशेष पठनीय है।

मूलम्—से किं तं सुहविवागा ? सुहविवागेसु णं सुहविवागाणं नगराइं, वण-संडाइं, चेइआइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ इहलोइअ पारलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअ-परिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलो-

गगमणाइं, सुहपरंपराओ, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ आघविज्जंति।

विवागसुयस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेजा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, सखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुअक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं संमुद्देसणकाला, सखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा-अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परू-विज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघ-विज्जइ, से त्तं विवागसुयं ॥सूत्र ५६॥

छाया—अथ के ते सुखविपाकाः? सुखविपाकेषु सुखविपाकानां नगराणि, उद्यानानि वनखण्डानि, चैत्यानि, समवसरणानि, राजानः, मातापितरः, धर्माचार्याः, धर्मकथाः, ऐह-लौकिक-पारलौकिका ऋद्धिविशेषाः, भोगपरित्यागाः प्रव्रज्याः, पर्यायाः, श्रुतपरिग्रहाः, तप-उपधानानि, संलेखनाः, भक्तप्रत्याख्यानानि, पादपोपगमनानि, देवलोकगमनानि, सुखपरम्पराः, सुकुलप्रत्यावृत्तयः, पुनर्बोधिलाभाः, अन्तक्रियाः आख्यायन्ते।

विपाकश्रुतस्य परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया निर्युक्तयः संख्येयाः, संग्रहण्यः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः।

तदङ्गार्थतया एकादशममङ्गम्, द्वौ श्रुतस्कन्धौ, विंशतिरध्ययनानि, विंशतिरुद्देशन-कालाः, विंशतिः समुद्देशनकालाः संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनंताः पर्यवाः परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करणप्ररूपणाऽऽख्यायते, तदेतद् विपाकश्रुतम् ॥सूत्र ५६॥

भावार्थ—वह सुखविपाकश्रुत किस प्रकार है? शिष्य ने पूछा।

आचार्य उत्तर में कहने लगे—सुखविपाक श्रुत में सुख विपाकों के सुखरूप फल को भोगने वाले पुरुषों के नगर, उद्यान, वनखण्ड—व्यन्तरायतन, समवसरण, राजा, माता-पिता,

धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक-परलोक सम्बन्धित ऋद्धिविशेष, भोगों का परित्याग, प्रव्रज्या-दीक्षा, दीक्षापर्याय, श्रुत का ग्रहण, उपधान तप, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोक गमन, सुखों की परम्परा, पुनः बोधिलाभ, अन्तक्रिया इत्यादि विषयों का वर्णन है।

विपाकश्रुत में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तिएं, संख्यात संग्रहणियें और संख्यात प्रतिपत्तियें हैं।

अङ्गों की अपेक्षा से वह एकादशवाँ अंग है, इसके दो श्रुतस्कन्ध, वीस अध्ययन, वीस उद्देशनकाल और वीस समुद्देशनकाल हैं। पदाग्र परिमाण में संख्यात सहस्र पद हैं, संख्यात अक्षर, अनन्त अर्थगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित, हेतु आदि मे निर्णीत भाव कहे गये हैं, प्ररूपण किये गए हैं, दिखलाए गए हैं, निदर्शन और उपदर्शन किये गये हैं।

विपाकश्रुत का अध्ययन करने वाला एवंभूत आत्मा, ज्ञाता तथा विज्ञाता बन जाता है। इस तरह से चरण-करण की प्ररूपणा कही गयी है। इस प्रकार यह ११ वें अङ्ग विपाकश्रुत का विषय वर्णन किया गया है ॥सूत्र ५६॥

टीका—उक्त पाठ में सुखविपाक का वर्णन किया गया है। इस अङ्गके भी दस अध्ययन है। दसों अध्ययनों में उन महापुण्यशाली आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने सुपात्र दान दिया है, जिसको धर्मदान भी कहते हैं। सुपात्रदान का कितना महत्त्वपूर्ण फल मिला है या मिलता है, यह इसके अध्ययन करने से प्रतीत होता है। जिन्होंने पूर्वभव में सुपात्रदान दिया उन भाग्यवान् सत्पुरुषों ने सुपात्रदान के कारण संसार परित्त किया, मनुष्यभव की आयु बान्धी, पुनः इह भव में महाऋद्धिप्राप्त करके लोकप्रिय एवं अत्यन्त सुखी बने, उस ऋद्धि का त्याग करके सभी अध्ययनों के नायकों ने संयम अङ्गीकार किया और देवलोक में देवत्व को प्राप्त किया। आगे मनुष्य और देवता के शुभभव करते हुए महाविदेह क्षेत्र में निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। यह सब कल्याण एवं सुख-परंपरा सुपात्र दान का ही माहात्म्य है। इन सब में सुबाहुकुमार की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है, शेष अध्ययनों में संक्षिप्त वर्णन है। पुण्यानुबन्धिपुण्य का फल कितना मधुर एवं सुखद-सरस है, इसका परिज्ञान इन कथाओं से हो जाता है। **धम्मायरिया**—धर्माचार्य, **धम्मकहाओ**—धर्मकथाएं, **इहलोइयइड्ढि परलोइयइड्ढि विसेसा**—इहलौकिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, **भोगपरिच्चागा**—वैषयिक भोगों का परित्याग, **पव्वज्जाओ**—दीक्षाग्रहण करना, मोक्ष का पथिक बनना, **परियागा**—संयम में व्यतीत की हुई आयु, **सुअपरिग्गहा**—श्रुतज्ञान की आराधना कहाँ तक की है, **तवोवहाणाइं**—उपधान तप का वर्णन, **संलेहणाओ**—संलेखना करना, **भत्तपच्चक्खाणाइं**—**पाओवगमणाइं**—भक्त प्रत्याख्यान तथा पादोपगमन संथारा करना, **देवलोगगमणाइं**—उनका देवलोक में जाना। **सुहपरंपराओ**—सुख की परम्परा, **सुकुलपच्चायाईओ**—विशिष्टकुल में जन्म लेना, **पुणबोहिलाभा**—पुनःरत्नत्रय का लाभ होना। **अन्तकिरियाओ**—कर्मों को सर्वथा क्षय करके निर्वाण पद प्राप्त करना। इनका भाव यह है कि धर्मकथा सुनने से ही उत्तरोत्तर क्रमशः गुणों की प्राप्ति हो सकती है, उसका अन्तिम गुण निर्वाण प्राप्ति है। शेष शब्दों का अर्थ भावार्थ से जानना चाहिए। यहां तो केवल विशेषता का उल्लेख किया गया है ॥सूत्र ५६॥

१२. श्रीदृष्टिवाद श्रुत

मूलम्—से किं तं दिट्ठिवाए ? दिट्ठिवाए णं सव्व-भाव परूवणा आघविज्जइ। से समासओ पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. परिकम्मे, २. सुत्ताइं, ३. पुव्वगए, ४. अणुओगे, ५. चूलिआ।

छाया—अथ कोऽयं दृष्टिवादः ? दृष्टिवादे सर्व-भाव-प्ररूपणा आख्यायते, सः समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—

१. परिकर्म, २. सूत्राणि, ३. पूवर्गतम्, ४. अनुयोगः, ५. चूलिका।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह दृष्टिवाद क्या है ?

आचार्य उत्तर में बोले—भद्र ! दृष्टिवाद—सब नयदृष्टियों को कथन करने वाले श्रुत में समस्त भावों की प्ररूपणा की है। वह संक्षेप में पांच प्रकार का है, जैसे—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वगत, ४. अनुयोग और ५. चूलिका।

टीका—इस सूत्र में दृष्टिवाद का अतिसंक्षिप्त परिचय दिया गया है। दृष्टिवाद अङ्गश्रुत जैनागमों में सबसे महान है। जो कि वर्तमान काल में अनुपलब्ध है। इसे व्यवच्छेद हुए अनुमानतः पन्दरह सौ वर्ष हो चुके हैं। 'दिट्ठिवाय' शब्द प्राकृत का है, इसकी संस्कृत छाया 'दृष्टिवाद' और 'दृष्टिपात' बनती है। दोनों ही अर्थ यहां संगत हो जाते हैं। दृष्टि शब्द अनेक-अर्थक है। नेत्र शक्ति, ज्ञान, समझ, अभिमत, पक्ष, नय—विचारसरणि, दर्शन इत्यादि अर्थों में दृष्टि शब्द प्रयुक्त होता है। वाद का अर्थ होता है—कथन करना।

विश्व में जितने भी दर्शन हैं, नयों की जितनी पद्धतियाँ हैं, जितना भी अभिलाप्य श्रुतज्ञान है, उन सबका समावेश दृष्टिवाद में हो जाता है। सारांश यह हुआ कि जिस शास्त्र में मुख्यतया दर्शन का विषय वर्णित हो, उस शास्त्र का नाम दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद का व्यवच्छेद सभी तीर्थंकरों के शासन में होता रहा है, किन्तु मध्य के आठ तीर्थंकरों के शासन में कालिक श्रुत का भी व्यवच्छेद हो गया था। कालिक श्रुत के व्यवच्छेद होने से भावतीर्थ के लुप्त होने का भी प्रसंग आया। भगवान महावीर के द्वारा प्रवर्त्तित दृष्टिवाद पंचम आरक में सहस्र वर्ष पर्यन्त रहा, तत्पश्चात् वह सर्वथा लुप्त हो गया। इसके विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—"सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं तथापि लेशतो यथागतसम्प्रदायं किञ्चिद् व्याख्यायते।" वृत्ति का सारांश है—यद्यपि दृष्टिवाद का प्रायः व्यवच्छेद हो गया है, तदपि श्रुतिपरंपरा से उसकी अंश मात्र व्याख्या की जाती है। सम्पूर्ण दृष्टिवाद पांच भागों में विभक्त है अथवा उसके पांच अध्ययन हैं, जैसे कि परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इनमें सबसे पहले योग्यता प्रा[illegible] के लिए परिकर्म का वर्णन किया गया है, जैसे—

१. परिकर्म

मूलम्—से किं तं परिकम्मे ? परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा

१. सिद्धसेणिआपरिकम्मे, २. मणुस्ससेणिआपरिकम्मे, ३. पुट्ठसे[illegible]

कम्मे, ४. ओगाढसेणिआपरिकम्मे, ५. उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे, ६. विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे, ७. चुआचुआसेणिआपरिकम्मे ।

छाया—अथ किं तत् परिकर्म ? परिकर्म सप्तविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. सिद्धश्रेणिकापरिकर्म, २. मनुष्यश्रेणिका-परिकर्म, ३. पृष्टश्रेणिका-परिकर्म, ४. अवगाढश्रेणिका-परिकर्म, ५. उपसम्पादनश्रेणिका-परिकर्म, ६. विप्रजहत्श्रेणिका-परिकर्म, ७. च्युताच्युतश्रेणिका-परिकर्म ।

भावार्थ—वह परिकर्म कितने प्रकार का है ? परिकर्म सात प्रकार का है, जैसे—

सिद्ध-श्रेणिका परिकर्म, २. मनुष्य-श्रेणिका परिकर्म, ३. पृष्ट-श्रेणिका परिकर्म, ४. अवगढ-श्रेणिका परिकर्म, ५. उपसम्पादन-श्रेणिका परिकर्म, ६. विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म, ७. च्युताच्युतश्रेणिका-परिकर्म ।

टीका—गणितशास्त्र में संकलना आदि १६ परिकर्म कथन किए गए हैं, उनका अध्ययन करने से जैसे शेष गणितशास्त्र के विषय को ग्रहण करने की योग्यता हो जाती है। ठीक उसी प्रकार परिकर्म के अध्ययन करने से दृष्टिवादश्रुत के शेष सूत्र आदि को ग्रहण करने की योग्यता हो जाती है, तदनन्तर दृष्टिवाद के अन्तःपाति सभी विषय सुगम्य हो जाते हैं। दृष्टिवाद का प्रवेश द्वार परिकर्म है। इस विषय में चूर्णिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

"परिकम्मेत्ति योग्यताकरणं, जह गणियस्स सोलस परिकम्मा, तग्गहिय सुत्तत्थो सेस गणियस्स जोग्गो भवइ, एवं गहिय परिकम्म सुत्तत्थो सेस सुत्ताइं दिट्ठिवायस्स जोग्गो भवइ त्ति।"

वह परिकर्म मूलतः सात प्रकार का है और मातृकापद आदि के उत्तर भेदों की अपेक्षा से ८३ प्रकार का है। पहले और दूसरे परिकर्म के १४-१४ भेद और शेष पांच परिकर्म के ११-११ भेद होते हैं। इस प्रकार कुल परिकर्म के ८३ भेद हो जाते हैं। वह परिकर्म मूल और उत्तर भेदों सहित व्यवच्छिन्न हो चुका है।

कतिपय प्राचीन प्रतियों में 'पाढो आमासपयाइं' के स्थान पर 'पाढो आगासपयाइं' यह पद उपलब्ध होता है। इनमें कौन सा पद ठीक है ? इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक कि मूल आगम न हो। परिकर्म के सात मूल भेदों में आदि के छः पद स्व-सिद्धान्त के प्रकाशक हैं और अन्तिम पद सहित सातों ही परिकर्म गोशालक प्रवर्त्तित आजीविक मत के प्रकाशक हैं। अथवा आदि के छः पद चतुर्नयिक हैं, जो कि स्व-सिद्धान्त के द्योतक हैं। वास्तव में नय सात हैं, उनमें नैगमनय दो प्रकार से वर्णित है—सामान्यग्राही और विशेषग्राही। इनमें पहला संग्रह में और दूसरा व्यवहार में अन्तर्भूत हो जाता है। भाष्यकार भी इसी प्रकार लिखते हैं—

जो सामन्नग्गाही य, स नेगमो संगह गओ अहवा।
इयरो ववहार मिओ, जो तेण समाण निद्दिट्ठो ॥

अन्तिम तीन नय शब्दनय से कहे जाते हैं। इस प्रकार संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द सात नयों के चार रूप कथन किए गए हैं। इसी प्रकार चूर्णिकार भी लिखते हैं—

"इयाणि परिकम्मे नय चिन्ता—नेगमो दुविहो संगहिओ असंगहिओ य, तत्थ संगहिओ संगहं पविट्ठो असंगहिओ ववहारं, तम्हा संगहो, ववहारो, उज्जसुओ, सद्दाइया य एक्को एवं चउरो नया एएहिं चउहिं नएहिं ससमइगा परिकम्मा चिन्तिज्जन्ति।"

आजीविक मत को दूसरे शब्दों में त्रैराशिक भी कहते हैं, इसका अर्थ है—विश्व में यावन्मात्र पदार्थ हैं, वे सब त्र्यात्मक हैं, जैसे जीव, अजीव और जीवाजीव। लोक अलोक और लोकालोक। सद्, असद् और सदसद्। वे नय भी तीन ही प्रकार से मानते हैं—जैसे कि द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक और उभयास्तिक। परिकर्म के उक्त सात भेद त्रैराशिक के मतानुसार हैं, किन्तु उसका सातवां भेद परसिद्धान्त है। अतः वह और उसके भेद जैन सिद्धान्त को मान्य नहीं है।

१. सिद्धश्रेणिका परिकर्म

मूलम्—से किं तं सिद्धसेणिआ-परिकम्मे? सिद्धसेणिआ-परिकम्मे चउदसविहे पन्नत्ते, तं जहा—१. माउगापयाइं, २. एगट्ठिअपयाइं, ३. अट्ठपयाइं, ४. पाढोआगासपयाइं, (पाढोआमास) पयाइं ५. केउभूअं, ६. रासिवद्धं, ७. एगगुणं, ८. दुगुणं, ९. तिगुणं, १०. केउभूअं, ११. पडिग्गहो, १२. संसारपडिग्गहो, १३. नंदावत्तं, १४. सिद्धावत्तं, से त्तं सिद्धसेणिआपरिकम्मे।

छाया—अथ किं तत् सिद्धश्रेणिका-परिकर्म? सिद्धश्रेणिका-परिकर्म चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. मातृकापदानि, २. एकार्थपदानि, ३. अर्थपदानि, ४. पृथगाकाशपदानि, ५. केतुभूतम्, ६. राशिवद्धम्, ७. एकगुणम्, ८. द्विगुणम्, ९. त्रिगुणम्, १०. केतुभूतम्, ३१. प्रतिग्रहः, १२. संसारप्रतिग्रहः, १३. नन्दावर्त्तम्, १४. सिद्धावर्त्तम्ः, तदेतत् सिद्धश्रेणिकापरिकर्म।

भावार्थ—सिद्धश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है?

आचार्य उत्तर में कहते हैं, वह १४ प्रकार का है, जैसे—

१. मातृकापद, २. एकार्थकपद, ३. अर्थपद, ४. पृथगाकाशपद, ५. केतुभूत, ६. राशिवद्ध, ७. एकगुण, ८. द्विगुण, ९. त्रिगुण, १०. केतुभूत, ११. प्रतिग्रह, १२. संसारप्रतिग्रह, १३. नन्दावर्त्त, १४. सिद्धावर्त्त, इस प्रकार सिद्धश्रेणिका परिकर्म है।

टीका—इस सूत्र में सिद्ध श्रेणिका परिकर्म के विषय में कहा गया है। इसके १४ भेद वर्णित हैं। सूत्र में उनके सिर्फ नामोत्कीर्तन ही किए हैं, विस्तार नहीं।

सिद्धश्रेणिका—पद से संभावना की जा सकती है कि विद्यासिद्ध आदि का इसमें वर्णन होगा। चौथा पद 'पाढो आमासपयाइं' यह किसी-किसी प्रति में पाया जाता है। मातृकापद, एकार्थकपद, और

अर्थपद ये तीनों पद सम्भव है, मंत्र विद्या से सम्बन्ध रखते हों; कोश से भी इनका सम्बन्ध ऐसा ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार राशिबद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, ये तीन पद सम्भव हैं गणित विद्या से सम्बन्ध रखते हों, ऐसा निश्चय होता है। दृष्टिवाद सर्वथा व्यवच्छिन्न हो जाने से इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता, तत्त्वकेवली गम्य है।

२. मनुष्यश्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं मणुस्ससेणिआपरिकम्मे ? मणुस्ससेणिआपरिकम्मे चउदसविहे पण्णत्ते, तंजहा—

१. माउयापयाइं, २. एगट्ठिअपयाइं, ३. अट्ठापयाइं, ४. पाढोआगा (मा) सपयाइं, ५. केउभूअं, ६. रासिबद्धं, ७. एगगुणं, ८. दुगुणं, ९. तिगुणं, १० केउभूअं, ११. पडिग्गहो, १२. संसारपडिग्गहो, १३. नंदावत्तं, १४. मणुस्सावत्तं, से त्तं मणुस्ससेणिआपरिकम्मे।

छाया—अथ किं तन्मनुष्यश्रेणिकापरिकर्म ? मनुष्यश्रेणिकापरिकर्म चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. मातृकापदानि, २. एकार्थकपदानि, ३. अर्थपदानि, ४. पृथगाकाशपदानि, ५. केतुभूतम्, ६. राशिबद्धम्, ७. एकगुणम्, ८. द्विगुणम्, ९. त्रिगुणम्, १०. केतुभूतम्, ११. प्रतिग्रहः, १२. संसारप्रतिग्रहः, १३. नन्दावर्त्तम्, १४. मनुष्यावर्त्तम् तदेतन्मनुष्यश्रेणिका-परिकर्म।

भावार्थ—वह मनुष्यश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ? मनुष्य श्रेणिका परिकर्म १४ प्रकार का प्रतिपादन किया है, जैसे—

१. मातृकापद, २. एकार्थकपद. ३. अर्थपद, ४. पृथगाकाशपद, ५. केतुभूत, ६ राशिबद्ध, ७. एकगुण, ८. दोगुण, ९. त्रिगुण, १०. केतुभूत, ११. प्रतिग्रह, १२. संसार-प्रतिग्रह, १३. नन्दावर्त्त, १४. मनुष्यावर्त्त। इस प्रकार मनुष्यश्रेणिका परिकर्म है।

टीका—इस सूत्र में मनुष्यश्रेणिका परिकर्म का वर्णन किया गया है। संभव है, इसमें जनगणना भव्य-अभव्य, परित्तसंसारी अनन्तसंसारी, चरमशरीरी और अचरमशरीरी, चारों गति से आनेवाली मनुष्य श्रेणि, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि, मनुष्यश्रेणिका। आराधक-विराधक मनुष्य श्रेणिका। स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मनुष्यश्रेणिका। गर्भज, सम्मूर्छिम मनुष्य श्रेणिका। पर्याप्तक, अपर्याप्तक मनुष्यश्रेणिका। संयत, असंयत, संयतासंयत मनुष्यश्रेणिका, उपशमश्रेणि तथा क्षपक श्रेणिवाले मनुष्यश्रेणिका का सविस्तर वर्णन हो।

३. पृष्टश्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे ? पुट्ठसेणिआपरिकम्मे, इक्कारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. पाढोआगा(मा) सपयाइं, २. केउभूयं, ३. रासिबद्धं, ४. एगगुणं, ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूयं, ८. पडिग्गहो, ९. संसारपडिग्गहो. १०. नंदावत्तं, ११. पुट्ठावत्तं, से त्तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे ।

छाया—अथ किं तत्पृष्टश्रेणिकापरिकर्म ? पृष्टश्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—

१. पृथगाकाशपदानि २. केतुभूतम् ३. राशिबद्धम् ४. एकगुणम् ५. द्विगुणम् ६. त्रिगुणम्, ७. केतुभूतम् ८. प्रतिग्रहः ९. संसारप्रतिग्रह. १०. नन्दावर्त्तम् ११. पृष्टावर्त्तम्, तदेतत्पृष्टश्रेणिकापरिकर्म ।

भावार्थ—वह पृष्टश्रेणिकापरिकर्म कितने प्रकार है? पृष्टश्रेणिकापरिकर्म ११ प्रकार का है, जैसे—

१. पृथगाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिबद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ९. संसारप्रतिग्रह, १०. नन्दावर्त्त, ११. पृष्टावर्त्त । यह पृष्ट-श्रेणिकापरिकर्म श्रुत है ।

टीका—इस सूत्र में पृष्टश्रेणिका परिकर्म के ११ भेद किए हैं । स्पृष्ट और पृष्ट दोनों का प्राकृत में 'पुट्ठ' शब्द बनता है । हो सकता है, इसमें लौकिक तथा लोकोत्तरिक प्रश्नावलियाँ हों, उनके मुख्य स्रोत ११ हैं, सभीप्रकार के प्रश्नों का अन्तर्भाव उक्त ११ में ही हो जाता है । अथवा स्पृष्ट का अर्थ होता है—छूए हुए । सिद्ध एक दूसरे से स्पृष्ट हैं । निगोदिय शरीर में अनन्त जीव परस्पर स्पृष्ट [illegible] लोकाकाश इनके प्रदेश अनादि काल से परस्पर स्पृष्ट हैं, इत्यादि वर्णन होने की भी संभा[illegible]

४. अवगाढश्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं ओगाढसेणिआपरिकम्मे ? ओगाढसेणिआपरि[illegible] रसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. पाढोआगा (मा) सपयाइं, २. केउभूअं, ३. रासिबद्धं, [illegible] ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूअं ८. पडिग्गहो, ९. सं[illegible] नंदावत्तं, ११. ओगाढावत्तं, से त्तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ।

छाया—अथ किं तदवगाढश्रेणिकापरिकर्म ? अवगाढश्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तम्; तद्यथा—

३. पृथगाकाशपदानि, २. केतुभूतम्, ३. राशिवद्धम्, ४. एकगुणम्, ५. द्विगुणम्, ६. त्रिगुणं, ७. केतुभूतम् ८. प्रतिग्रहः, ६. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्त्तम्, ११. अवगाढावर्त्तम्, तदेतदवगाढश्रेणिकापरिकर्म ।

भावार्थ—वह अवगाढश्रेणिकापरिकर्म कितने प्रकार का है ? अवगाढ़श्रेणिकापरिकर्म ११ प्रकार का है, जैसे—

१. पृथगाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिवद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूतम्, ८. प्रतिग्रहः, ७. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्त्तम्, ११. अवगाढावर्त्त, यह अवगाढ़श्रेणिकापरिकर्म है ।

टीका—इस सूत्र में अवगाढ़श्रेणिका परिकर्म का वर्णन है । सब द्रव्यों को जगह देना, यह आकाश द्रव्य का उपकार है। धर्मास्तिकाय, अधर्मस्तकाय जीवास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय ये पांच द्रव्य आधेय हैं । इनको अपने में स्थान देना यह आकाश का कार्य है । जो द्रव्य जिस आकाश प्रदेश या देश में अवगाढ हैं, उनका सविस्तर वर्णन अवगाढश्रेणिका में होगा, ऐसा प्रतीत होता है ।

५. उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे ? उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. पाढोआगा (मा) सपयाइं, २. केउभूयं, ३. रासिबद्धं, ४. एगगुणं, ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूअं, ८. पडिग्गहो, ९. संसारपडिग्गहो, १०. नंदावत्तं, ११. उवसंपज्जणावत्तं, से त्तं उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे ।

छाया—अथ किं तदुपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म? उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. पृथगाकाशपदानि, २. केतुभूतम्, ६. राशिबद्धम्, ४. एकगुणम्, ५. द्विगुणम्, ६. त्रिगुणम्, ७. केतुभूतम्, ८. प्रतिग्रहः, ९. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्त्तम्, ११. उपसम्पादनावर्त्तम्, तदेतदुपसम्पादनावर्त्तम् ।

भावार्थ—वह उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म कितने प्रकार का है ? उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म ११ प्रकार का है, जैसे—

१. पृथगाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिबद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ९. संसारप्रतिग्रह, १०. नन्दावर्त्त, ११. उपसम्पादनावर्त्त, यह उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म श्रुत है।

टीका— इस सूत्र में उपसंपादनश्रेणिका परिकर्म का उल्लेख है—उवसंपज्जण—इसका अर्थ ग्रहण एवं अङ्गीकार है। **असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि** यहां 'उवसंपज्जामि' का अर्थ ग्रहण करता हूं अर्थात् जो २ उपादेय हैं, उनकी श्रेणि में किस २ साधक को, क्या क्या उपादेय है, ग्राह्य है? क्योंकि सभी साधकों की जीवन भूमिका एक सी नहीं होती, जो दृष्टिवाद के वेत्ता हैं, उनके पास जो कोई साधक आता है, उसके जीवनोपयोगी वैसा ही साधन बताते हैं, जिससे उसका कल्याण हो सके। संभव है, इसमें जितने भी कल्याण के छोटे-बड़े साधन हैं, उन सब का उल्लेख गर्भित हो।

६. विप्रजहत्श्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ? विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तंजहा—

१. पाढोआगा (मा) सपयाइं, २. केउभूअं, ३. रासिबद्धं, ४. एगगुणं, ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूअं, ८. पडिग्गहो, ९. संसारपडिग्गहो, १०. नन्दावत्तं, ११. विप्पजहणावत्तं, से त्तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे।

छाया—अथ किं तद् विप्रजहच्छ्रेणिकापरिकर्म ? विप्रजहच्छ्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. पृथकाकाशपदानि, २. केतुभूतम्, ३. राशिवद्धम्, ४. एकगुणम्, ५. द्विगुणम्, ६. त्रिगुणम्, ७. केतुभूतम्, ८. प्रतिग्रहः, ९. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्त्तम्, ११. विप्रजहदावर्त्तम्, तदेतद् विप्रजहच्छ्रेणिकापरिकर्म।

भावार्थ—वह विप्रजहत् श्रेणिकापरिकर्म कितने प्रकार का है ? विप्रजहत्श्रेणिकापरिकर्म ११ प्रकार का वर्णन किया गया है, जेसे—

१. पृथकाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिवद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ९. संसारप्रतिग्रह, १०, नन्दावर्त्त, ११. विप्रजहदावर्त्त, यह विप्रजहत्-श्रेणिकापरिकर्म श्रुत है।

टीका—इस सूत्र में विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म का उल्लेख है। जिसका संस्कृत में विप्रजहच्छ्रेणिका शब्द बनता है, विश्व में जितने हेय—परित्याज्य पदार्थ हैं, उनका इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। सभी साधक एक ही अवगुण से ग्रस्त नहीं हैं, जिस साधक की जैसी जीवनभूमिका है, उस भूमिका के अनुसार जो २ परित्याज्य हैं, उन सब का उल्लेख इसमें हो, ऐसी संभावना है। जैसे भिन्न २ रोगों के लिए भिन्न

२ कुपथ्य एवं अपथ्य हैं, उन सब का उल्लेख आयुर्वैदिक आदि पुस्तकों में वर्णित है। वैसे ही जिस-जिस साधक को जैसा-जैसा भवरोग लगा हुआ है, उस २ साधक के लिए वैसा ही दोष, क्रिया परित्याज्य है, इत्यादि सविस्तर वर्णन करने वाला यह परिच्छेद हो, ऐसी संभावना है।

७. च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं चुग्राचुग्रसेणिग्रापरिकम्मे ? चुग्राचुग्रसेणिग्रापरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. पाढोगा(मा)सपयाइं, २. केउभूग्रं, ३. रासिबद्धं, ४. एगगुणं, ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूग्रं, ८. पडिग्गहो, ९. संसारपडिग्गहो, १०. नंदावत्तं, ११. चुग्राचुग्रवत्तं, से त्तं चुग्राचुग्रसेणिग्रापरिकम्मे। छ चउक्कनइग्राइं, सत्ततेरासियाइं, से त्तं परिकम्मे।

छाया—अथ किं तत् च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म ? च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. पृथगाकाशपदानि, २. केतुभूतम्, ३. राशिबद्धम्, ४. एकगुणम्, ५. द्विगुणम्, ६. त्रिगुणम्, ७. केतुभूतम्, ८. प्रतिग्रहः, ९. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्तम्, ११. च्युताऽच्युच्युतावर्तम्, तदेतच्च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म। षट् चतुष्कनयिकानि, सप्त त्रैराशिकानि, तदेतत्परिकर्म।

भावार्थ—शिष्यने पूछा—भगवन्! वह च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है? आचार्य उत्तर देते हैं—हे शिष्य ! वह ११ प्रकार का है, जैसे—

१. पृथगाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिबद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ९. संसारप्रतिग्रह, १०. नन्दावर्त्त, ११. च्युताच्युतवर्त्त, यह च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म सम्पूर्ण हुआ।

आदि के छ परिकर्म चार नयों के आश्रित होकर कहे गये हैं और सात परिकर्मों में त्रैराशिक दर्शन का दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार यह परिकर्म का विषय हुआ।

टीका—इस सूत्र में परिकर्म के अन्तिम भेद का वर्णन किया गया है अर्थात् च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म, इस का वास्तविक विषय और अर्थ क्या है ? इस का उत्तर निश्चयात्मक तो दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह श्रुत व्यवच्छिन्न हो गया है, फिर भी इस में त्रैराशिक मत का सविस्तर वर्णन है।

जैसे स्वसमय में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि एवं संयत, असंयत और संयतासंयत, सर्वाराधक, सर्वविराधक, और देश आराधक-विराधक की परिगणना की गई है, हो सकता है, त्रैराशिक

१. पृथगाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिबद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ६. संसारप्रतिग्रह, १०. नन्दावर्त्त, ११. उपसम्पादनावर्त्त, यह उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म श्रुत है ।

टीका— इस सूत्र में उपसंपादनश्रेणिका परिकर्म का उल्लेख है—उवसंपज्जण—इसका अर्थ ग्रहण एवं अङ्गीकार है । **असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि** यहां 'उवसंपज्जामि' का अर्थ ग्रहण करता हूं अर्थात् जो २ उपादेय हैं, उनकी श्रेणि में किस २ साधक को, क्या क्या उपादेय है, ग्राह्य है ? क्योंकि सभी साधकों की जीवन भूमिका एक सी नहीं होती, जो दृष्टिवाद के वेत्ता हैं, उनके पास जो कोई साधक आता है, उसके जीवनोपयोगी वैसा ही साधन बताते हैं, जिससे उसका कल्याण हो सके । संभव है, इसमें जितने भी कल्याण के छोटे-बड़े साधन हैं, उन सब का उल्लेख गर्भित हो ।

६. विप्रजहत्श्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ? विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तंजहा—

२. पाढोआगा (मा) सपयाइं, २. केउभूअं, ३. रासिबद्धं, ४. एगगुणं, ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूअं, ८. पडिग्गहो, ६. संसारपडिग्गहो, १०. नन्दावत्तं, ११. विप्पजहणावत्तं, से त्तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ।

छाया—अथ किं तद् विप्रजहच्छ्रेणिकापरिकर्म ? विप्रजहच्छ्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. पृथकाकाशपदानि, २. केतुभूतम्, ३. राशिवद्धम्, ४. एकगुणम्, ५. द्विगुणम्, ६. त्रिगुणम्, ७. केतुभूतम्, ८. प्रतिग्रहः, ६. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्त्तम्, ११. विप्रजहदावर्त्तम्, तदेतद् विप्रजहच्छ्रेणिकापरिकर्म ।

भावार्थ—वह विप्रजहत् श्रेणिकापरिकर्म कितने प्रकार का है ? विप्रजहत्श्रेणिकापरिकर्म ११ प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—

१. पृथकाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिवद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ६. संसारप्रतिग्रह, १०, नन्दावर्त्त, ११. विप्रजहदावर्त्त, यह विप्रजहत्-श्रेणिकापरिकर्म श्रुत है ।

टीका—इस सूत्र में विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म का उल्लेख है । जिसका संस्कृत में विप्रजहच्छ्रेणिका शब्द बनता है, विश्व में जितने हेय—परित्याज्य पदार्थ हैं, उनका इसी में अन्तर्भाव हो जाता है । सभी साधक एक ही अवगुण से ग्रस्त नहीं हैं, जिस साधक की जैसी जीवनभूमिका है, उस भूमिका के अनुसार जो २ परित्याज्य हैं, उन सब का उल्लेख इसमें हो, ऐसी संभावना है । जैसे भिन्न २ रोगी के लिए भिन्न

२ कुपथ्य एवं अपथ्य हैं, उन सब का उल्लेख आयुर्वेदिक आदि पुस्तकों में वर्णित है। वैसे ही जिस-जिस साधक को जैसा-जैसा भवरोग लगा हुआ है, उस २ साधक के लिए वैसा ही दोष, क्रिया परित्याज्य है, इत्यादि सविस्तर वर्णन करने वाला यह परिच्छेद हो, ऐसी संभावना है।

७. च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म

मूलम्—से किं तं चुआचुअसेणिआपरिकम्मे ? चुआचुअसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. पाढोगा(मा)सपयाइं, २. केउभूअं, ३. रासिबद्धं, ४. एगगुणं, ५. दुगुणं, ६. तिगुणं, ७. केउभूअं, ८. पडिग्गहो, ९. संसारपडिग्गहो, १०. नंदावत्तं, ११. चुआचुअवत्तं, से त्तं चुआचुअसेणिआपरिकम्मे। छ चउक्कनइआइं, सत्ततेरासियाइं, से त्तं परिकम्मे।

छाया—अथ किं तत् च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म ? च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म एकादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

१. पृथगाकाशपदानि, २. केतुभूतम्, ३. राशिबद्धम्, ४. एकगुणम्, ५. द्विगुणम्, ६. त्रिगुणम्, ७. केतुभूतम्, ८. प्रतिग्रहः, ९. संसारप्रतिग्रहः, १०. नन्दावर्तम्, ११. च्युताऽच्युताावर्तम्, तदेतच्च्युताऽच्युतश्रेणिकापरिकर्म। षट् चतुष्कनयिकानि, सप्त त्रैराशिकानि, तदेतत्परिकर्म।

भावार्थ—शिष्यने पूछा—भगवन्! वह च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है? आचार्य उत्तर देते हैं—हे शिष्य ! वह ११ प्रकार का है, जैसे—

१. पृथगाकाशपद, २. केतुभूत, ३. राशिबद्ध, ४. एकगुण, ५. द्विगुण, ६. त्रिगुण, ७. केतुभूत, ८. प्रतिग्रह, ९. संसारप्रतिग्रह, १०. नन्दावर्त्त, ११. च्युताच्युतवर्त्त, यह च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म सम्पूर्ण हुआ।

आदि के छ परिकर्म चार नयों के आश्रित होकर कहे गये हैं और सात परिकर्मों में त्रैराशिक दर्शन का दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार यह परिकर्म का विषय हुआ।

टीका—इस सूत्र में परिकर्म के अन्तिम भेद का वर्णन किया गया है अर्थात् च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म, इस का वास्तविक विषय और अर्थ क्या है ? इस का उत्तर निश्चयात्मक तो दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह श्रुत व्यवच्छिन्न हो गया है, फिर भी इस में त्रैराशिक मत का सविस्तर वर्णन है।

जैसे स्वसमय में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि एवं संयत, असंयत और संयतासंयत, सर्वाराधक, सर्वविराधक, और देश आराधक-विराधक की परिगणना की गई है, हो सकता है, त्रैराशिक

मत में अच्युत-च्युत, च्युताच्युत शब्द प्रचलित हों। इसमें छ चउक्कनइआइं, सत्तेरासियाइं, यह पद दिया है, इस का भाव यह है कि आदि के छ परिकर्म चार नयों की अपेक्षा से वर्णित हैं, इन में स्वसिद्धान्त का वर्णन किया गया है, सातवें परिकर्म में त्रैराशिक का उल्लेख किया गया है। वैसे तो समुच्चय सातों प्रकरणों में यत्किंचित् रूपेण त्रैराशिक का ही वर्णन मिलता है। परन्तु उन में उस की मुख्यता नहीं है। जीव-अजीव और जीवाजीव इस प्रकार तीन पदार्थ, तीन नय की मान्यता रखने वाले मत को ही त्रैराशिक कहते हैं।

२. सूत्र

मूलम्—से किं तं सुत्ताइं ? सुत्ताइं बावीसं पन्नत्ताइं, तं जहा—

१. उज्जुसुयं, २. परिणयापरिणयं, ३. बहुभंगिअं, ४. विजयचरियं, ५. अणंतरं, ६. परंपरं, ७. आसाणं, ८. संजूहं, ९. संभिण्णं, १०. अहव्वायं, ११. सोवत्थिआवत्तं, १२. नंदावत्तं, १३. बहुलं, १४. पुट्ठापुट्ठं, १५. विआवत्तं, १६. एवंभूअं, १७. दुयावत्तं, १८. वत्तमाणपयं, १९. समभिरूढं, २०. सव्वओभद्दं, २१. पस्सासं, २२. दुप्पडिग्गहं।

इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेअनइआणि ससमय-सुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेअनअइआणि आजीविअसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं तिग-णइयाणि तेरासिअ-सुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं चउक्क-नइआणि ससमयसुत्त-परिवाडीए। एवामेव सपुव्वावरेण अट्ठासीई सुत्ताइं भवंतीतिमक्खायं, से त्तं सुत्ताइं।

छाया—अथ कानि तानि सूत्राणि ? सूत्राणि द्वाविंशतिः प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

१. ऋजुसूत्रम्, २. परिणताऽपरिणतम्, ३. बहुभङ्गिकम्, ४. विजयचरितम्, ५. अनन्तरम्, ६. परम्परम्, ७. आसानम्, ८. संयूथम्, ९. सम्भिन्नम्, १०. यथावादम्, ११. स्वस्तिकावर्त्तम्, १२. नन्दावर्त्तम्, १३. बहुलम्, १४. पृष्टाप्टम्, १५. व्यावर्त्तम्, १६. एवम्भूतम्, १७. द्विकावर्त्तम्, १८. वर्त्तमानपदम्, १९. समभिरूढम्, २०. सर्वतोभद्रम्, २१. प्रशिष्यम्, २२. दुष्प्रतिग्रहम्।

इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि छिन्नच्छेदनयिकानि स्वसूत्रपरिपाट्या, इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि अच्छिन्नच्छेदनयकानि आजीविक-सूत्रपरिपाट्या, इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि त्रिक-नयिकानित्रैराशिक-सूत्र-परिपाट्या, इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि चतुष्क-नयिकानि

स्वसूत्रपरिपाठया। एवमेव सपूर्वापरेणाऽष्टाशीतिः सूत्राणि भवन्तीत्याख्यातम्, तान्येतानि सूत्राणि।

भावार्थ—शिष्यने पूछा—भगवन्! वह सूत्ररूप दृष्टिवाद कितने प्रकार का है? आचार्य ने उत्तर दिया—सूत्ररूप दृष्टिवाद २२ प्रकार से प्रतिपादन किया गया है, जैसे—

१. ऋजुसूत्र, २. परिणतापरिणत, ३. बहुभंगिक, ४. विजयचरित, ५. अनन्तर, ६. परम्पर, ७. आसान, ८. संयूथ, ९. सम्भिन्न, १०. यथावाद, ११. स्वस्तिकवर्त्त, १२. नन्दावर्त्त, १३. बहुल, १४. पृष्टापृष्ट, १५, व्यावर्त्त, १६. एवंभूत, १७. द्विकावर्त्त, १८. वर्तमानपद, १९. समभिरूढ, २०. सर्वतोभद्र, २१. प्रशिष्य, २२. दुष्प्रतिग्रह।

ये २२ सूत्र छिन्नच्छेदन-नय वाले, स्वसमय सूत्र परिपाटी अर्थात् स्वदर्शन की वक्तव्यता के आश्रित हैं। ये ही २२ सूत्र आजीवक गोशालक के दर्शन की दृष्टि से अच्छिन्नच्छेद-नय वाले हैं। इसी प्रकार ये ही सूत्र त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से तीननय वाले हैं और ये ही २२ सूत्र स्वसमय-सिद्धान्त की दृष्टि से चतुष्कनय वाले हैं। इस प्रकार पूर्वापर सर्व मिलाकर अट्ठासी सूत्र होते हैं। इस प्रकार यह कथन तीर्थंकर व गणधरों ने किया है। यह सूत्ररूप दृष्टिवाद का वर्णन हुआ।

टीका—इस सूत्र में अट्ठासी प्रकार के सूत्रों का वर्णन किया है और साथ ही इन में सर्व द्रव्य सर्वपर्याय, सर्वनय और सर्व भङ्ग विकल्प नियम आदि दिखलाए गए हैं। जो अर्थों की सूचना करे वे सूत्र कहलाते हैं। इस विषय में वृत्तिकार भी लिखते हैं—"अथ कानि सूत्राणि? पूर्वस्य पूर्वगत सूत्रार्थस्य सूचनात् सूत्राणि सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायानां सर्वभङ्गविकल्पानां प्रदर्शकानि, तथा चोक्तं चूर्णिकृता—

ताणि य सुत्ताइं सव्व दव्वाण, सव्वपज्जवाण, सव्वनयाण सव्वभङ्ग विकप्पाण य पदंसगाणि, सव्वस्स पुव्वगयस्स सुयस्स अत्थस्स य सुयग त्ति सुयणात्ताउ (वा) सुया भणिया जहाभिहाणत्था इति।"

वृत्तिकार और चूर्णिकार के विचार इस विषय में एक ही हैं। उक्त सूत्र में २२ सूत्र, छिन्नच्छेद नय के मत से स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले हैं और ये ही २२ सूत्र अछिन्नच्छेद नय की दृष्टि से अबन्धक, त्रैराशिक, और नियतिवाद का वर्णन करने वाले हैं। अथवा संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय ये चार नय हैं, यहां इन से अभिप्राय नहीं। छिन्नच्छेद नय उसे कहते हैं जैसे कि जो पद व श्लोक दूसरे पद की अपेक्षा नहीं करता और न दूसरा पद उस की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार से जिस पद की व्याख्या की जाए, उसे छिन्नच्छेद नय कहते हैं। उदाहरण के लिए, जैसे—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं—तथा छिन्नो—द्विधाकृतः—पृथक्कृतः, छेदः—पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः, प्रत्येकं विकल्पितपर्यन्त इत्यर्थः, स चासौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः।

अब इन्हीं सूत्रों को अच्छिन्नच्छेद नय के मत से वर्णन करते हैं, जैसे धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल है। तब प्रश्न होता है कि वह कौन सा ऐसा धर्म है जो सर्वोत्कृष्ट मंगल है? इस के उत्तर में कहा जाता

मत में अच्युत-च्युत, च्युताच्युत शब्द प्रचलित हों। इसमें छ चउक्कनइआइं, सत्ततेरासियाइं, यह पद दिया है, इस का भाव यह है कि आदि के छ परिकर्म चार नयों की अपेक्षा से वर्णित हैं, इन में स्वसिद्धान्त का वर्णन किया गया है, सातवें परिकर्म में त्रैराशिक का उल्लेख किया गया है। वैसे तो समुच्चय सातों प्रकरणों में यत्किंचित् रूपेण त्रैराशिक का ही वर्णन मिलता है। परन्तु उन में उस की मुख्यता नहीं है। जीव-अजीव और जीवाजीव इस प्रकार तीन पदार्थ, तीन नय की मान्यता रखने वाले मत को ही त्रैराशिक कहते हैं।

२. सूत्र

मूलम्—से किं तं सुत्ताइं ? सुत्ताइं बावीसं पन्नत्ताइं, तं जहा—

१. उज्जुसुयं, २. परिणयापरिणयं, ३. बहुभंगिअं, ४. विजयचरियं, ५. अणंतरं, ६. परंपरं, ७. आसाणं, ८. संजूहं, ९. संभिण्णं, १०. अहव्वायं, ११. सोवत्थिआवत्तं, १२. नंदावत्तं, १३. बहुलं, १४. पुट्ठापुट्ठं, १५. विआवत्तं, १६. एवंभूअं, १७. दुयावत्तं, १८. वत्तमाणपयं, १९. समभिरूढं, २०. सव्वओभद्दं, २१. पस्सासं, २२. दुप्पडिग्गहं।

इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेअनइआणि ससमय-सुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेअनअइआणि आजीविअसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं तिग-णइयाणि तेरासिअ-सुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं चउक्क-नइआणि ससमयसुत्त-परिवाडीए। एवामेव सपुव्वावरेण अट्ठासीई सुत्ताइं भवंतीतिमक्खायं, से त्तं सुत्ताइं।

छाया—अथ कानि तानि सूत्राणि ? सूत्राणि द्वाविंशतिः प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

१. ऋजुसूत्रम्, २. परिणताऽपरिणतम्, ३. बहुभङ्गिकम्, ४. विजयचरितम्, ५. अनन्तरम्, ६. परम्परम्, ७. आसानम्, ८. संयूथम्, ९. सम्भिन्नम्, १०. यथावादम्, ११. स्वस्तिकावर्त्तम्, १२. नन्दावर्त्तम्, १३. बहुलम्, १४. पृष्टापृष्टम्, १५. व्यावर्त्तम्, १६. एवम्भूतम्, १७. द्विकावर्त्तम्, १८. वर्त्तमानपदम्, १९. समभिरूढम्, २०. सर्वतोभद्रम्, २१. प्रशिष्यम्, २२. दुष्प्रतिग्रहम्।

इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि छिन्नच्छेदनयिकानि स्वसूत्रपरिपाटचा, इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि अच्छिन्नच्छेदनयकानि आजीविक-सूत्रपरिपाट्या, इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि त्रिक-नयिकानित्रैराशिक-सूत्र-परिपाट्या, इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि चतुष्क-नयिकानि

स्वसूत्रपरिपाठ्या । एवमेव सपूर्वापरेणाऽष्टाशीतिः सूत्राणि भवन्तीत्याख्यातम्, तान्येतानि सूत्राणि ।

भावार्थ—शिष्यने पूछा—भगवन् ! वह सूत्ररूप दृष्टिवाद कितने प्रकार का है ? आचार्य ने उत्तर दिया—सूत्ररूप दृष्टिवाद २२ प्रकार से प्रतिपादन किया गया है, जैसे—

१. ऋजुसूत्र, २. परिणतापरिणत, ३. बहुभंगिक, ४. विजयचरित, ५. अनन्तर, ६. परम्पर, ७. आसान, ८. संयूथ, ९. सम्भिन्न, १०. यथावाद, ११. स्वस्तिकवर्त्त, १२. नन्दावर्त्त, १३. बहुल, १४. पृष्टापृष्ट, १५, व्यावर्त्त, १६. एवंभूत, १७. द्विकावर्त्त, १८. वर्त्तमानपद, १९. समभिरूढ, २०. सर्वतोभद्र, २१. प्रशिष्य, २२. दुष्प्रतिग्रह ।

ये २२ सूत्र छिन्नच्छेदन-नय वाले, स्वसमय सूत्र परिपाटी अर्थात् स्वदर्शन की वक्तव्यता के आश्रित हैं। ये ही २२ सूत्र आजीवक गोशालक के दर्शन की दृष्टि से अच्छिन्नच्छेद-नय वाले हैं । इसी प्रकार ये ही सूत्र त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से तीननय वाले हैं और ये ही २२ सूत्र स्वसमय-सिद्धान्त की दृष्टि से चतुष्कनय वाले हैं। इस प्रकार पूर्वापर सर्व मिलाकर अट्ठासी सूत्र होते हैं। इस प्रकार यह कथन तीर्थंकर व गणधरों ने किया है। यह सूत्ररूप दृष्टिवाद का वर्णन हुआ ।

टीका—इस सूत्र में अट्ठासी प्रकार के सूत्रों का वर्णन किया है और साथ ही इन में सर्व द्रव्य सर्वपर्याय, सर्वनय और सर्व भङ्ग विकल्प नियम आदि दिखलाए गए हैं। जो अर्थों की सूचना करे वे सूत्र कहलाते हैं। इस विषय में वृत्तिकार भी लिखते हैं—"अथ कानि सूत्राणि ? पूर्वस्य पूर्वगत सूत्रार्थस्य सूचनात् सूत्राणि सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायानां सर्वभङ्गविकल्पानां प्रदर्शकानि, तथा चोक्तं चूर्णिकृता—

ताणि य सुत्ताइं सव्व दव्वाण, सव्वपज्जवाण, सव्वनयाण सव्वभङ्ग विकप्पाण य पदंसणाणि, सव्वस्स पुव्वगयस्स सुयस्स अत्थस्स य सुयग त्ति सुयणात्ताउ (वा) सुया भणिया जहाभिहाणत्था इति ।"

वृतिकार और चूर्णिकार के विचार इस विषय में एक ही हैं। उक्त सूत्र में २२ सूत्र, छिन्नच्छेद नय के मत से स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले हैं और ये ही २२ सूत्र अछिन्नच्छेद नय की दृष्टि से अवन्धक, त्रैराशिक, और नियतिवाद का वर्णन करने वाले हैं। अथवा संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय ये चार नय हैं, यहां इन से अभिप्राय नहीं। छिन्नच्छेद नय उसे कहते हैं जैसे कि जो पद व श्लोक दूसरे पद की अपेक्षा नहीं करता और न दूसरा पद उस की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार से जिस पद की व्याख्या की जाए, उसे छिन्नच्छेद नय कहते हैं। उदाहरण के लिए, जैसे—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं—तथा छिन्नो—द्विधाकृतः—पृथक्कृतः, छेदः—पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः, प्रत्येकं विकल्पितपर्यन्त इत्यर्थः, स चासौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः ।

अब इन्हीं सूत्रों को अच्छिन्नच्छेद नय के मत से वर्णन करते हैं, जैसे धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल है। तब प्रश्न होता है कि वह कौन सा ऐसा धर्म है जो सर्वोत्कृष्ट मंगल है ? इस के उत्तर में कहा जाता

है कि "अहिंसा संजमो तवो" इस प्रकार कथन करने से दोनों पद सापेक्षिक सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि ये २२ सूत्र, सूत्र और अर्थ दोनों प्रकार से व्यवच्छिन्न हो चुके हैं, तदपि पूर्व परंपरागत इनका अर्थ उक्त प्रकार से किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो पद स्वतन्त्र हो और जो पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता हो, इस प्रकार के पदों व अर्थों से युक्त उपर्युक्त ८८ सूत्र वर्णन किए गए हैं। वृत्तिकार ने त्रैराशिक मत आजीविक संप्रदाय को बताया है, न कि रोहगुप्त से प्रचलित संप्रदाय।

३. पूर्व

मूलम्—से किं तं पुव्वगए ? पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते, तंजह–१. उप्पायपुव्वं, २. अग्गाणीयं, ३. वीरिअं, ४. अत्थिनत्थिप्पवायं, ५. नाणप्पवायं ६. सच्चप्पवायं, ७. आयप्पवायं, ८. कम्मप्पवायं, ९. पच्चक्खाणप्पवायं १०. विज्जाणुप्पवायं, ११. अवंझं, १२ पाणाऊ, १३ किरिआविसालं, १४. लोकबिंदुसारं।

१. उप्पाय-पुव्वस्स णं दस वत्थू, चत्तारि चूलिआवत्थू पन्नत्ता,
२- अग्गेणीय-पुव्वस्स णं चोद्दसवत्थू, दुवालस चूलिआवत्थू पण्णत्ता,
३. वीरिय-पुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता,
४. अत्थिनत्थिप्पवाय-पुव्वस्स णं अट्ठारस, वत्थू, दस चूलियावत्थू पण्णत्ता,
५. नाणप्पवाय-पुव्वस्स णं बारस वत्थू, पण्णत्ता,
६. सच्चप्पवाय-पुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता,
७. आयप्पवाय-पुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता,
८. कम्मप्पवाय-पुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,
९. पच्चक्खाण-पुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता,
१०. विज्जाणुप्पवाय-पुव्वस्स णं पन्नरस वत्थू पण्णत्ता,
११. अवंझ-पुव्वस्स णं बारस वत्थू पन्नत्ता,
१२. पाणाउ-पुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता,
१३. किरिआविसाल-पुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,
१४. लोकबिंदुसार-पुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता।

१. दस १. चोदस २. अट्ठ ३. (अ)ट्ठारसेव ४. बारस ५. दुवे ६. अवत्थूणि।
सोलस ७ तीसा ८. वीसा ९ पन्नरस १० अणुप्पवायम्मि ॥९९॥

२. वारस इक्कारसमे बारसमे, तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पणवीसाओ ॥९०॥

३. चत्तारि १ दुवालस २ अट्ठ ३ चेव दस ४ चेव चुल्लवत्थूणि ।
आइल्लाण-चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥९१॥
से त्तं पुव्वगए ।

छाया—अथ किं तत्पूर्वगतम् ? पूर्वगतं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. उत्पाद-पूर्वम्, २. अग्रायणीयम्, ३. वीर्यम् (प्रवादम्), ४. अस्तिनास्तिप्रवादम्, ५. ज्ञानप्रवादम्, ६. सत्यप्रवादम्, ७. आत्मप्रवादम् ८. कर्मप्रवादम् ९. प्रत्याख्यानप्रवादम्. १०. विद्यानुप्रवादम्, ११. अवन्ध्यम्, १२. प्राणायुः, १३. क्रियाविशालम्, १४. लोकबिन्दुसारम् ।

१. उत्पादपूर्वस्य—दश वस्तूनि, चत्वारि चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
२. अग्रायणीयपूर्वस्य–चतुर्दश वस्तूनि, द्वादश चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
३. वीर्यपूर्वस्य—अष्टौ वस्तूनि, अष्टौ चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वस्य–अष्टादश वस्तूनि, दश चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
५. ज्ञानप्रवादपूर्वस्य—द्वादश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
६. सत्यप्रवादपूर्वस्य द्वौ वस्तुनी प्रज्ञप्ते,
७. आत्मप्रवादपूर्वस्य—षोडश वस्तूनिः प्रज्ञप्तानि,
८. कर्मप्रवादपूर्वस्य—त्रिंशद् वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
९. प्रत्याख्यानपूर्वस्य—विंशतिवस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१०. विद्यानुप्रवादपूर्वस्य—पञ्चदश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
११. अबन्ध्यपूर्वस्य—द्वादश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१२. प्राणायुःपूर्वस्य—त्रयोदश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१३. क्रियाविशालपूर्वस्य–त्रिंशद् वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१४. लोकविंदुसारपूर्वस्य—पञ्चविंशतिर्वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,

१. दश १ चतुर्दश २ अष्ट, ३ अष्टादशैव ४ द्वादश ५ द्वे च वस्तूनि, ।
षोडश ७ त्रिंशद् विंशतिः ८ पञ्चदश १० अनुप्रवादे ॥८९॥

२. द्वादशैकादशे, द्वादशे त्रयोदश एव वस्तूनि ।
त्रिंशत्पुनस्त्रयोदशे, चतुर्दशे पञ्चविंशतिः ॥९०॥

३. चत्वारि १ द्वादश २ अष्टौ ३ चैव दश ४ चैव चूलवस्तूनि ।
आदिमानां चतुर्णां, शेषाणां चूलिका नास्ति ॥९१॥
तदेतत्पूर्वगतम् ।

है कि "अहिंसा संजमो तवो" इस प्रकार कथन करने से दोनों पद सापेक्षिक सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि ये २२ सूत्र, सूत्र और अर्थ दोनों प्रकार से व्यवच्छिन्न हो चुके हैं, तदपि पूर्व परंपरागत इनका अर्थ उक्त प्रकार से किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो पद स्वतन्त्र हो और जो पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता हो, इस प्रकार के पदों व अर्थों से युक्त उपर्युक्त ८८ सूत्र वर्णन किए गए हैं। वृत्तिकार ने त्रैराशिक मत आजीविक संप्रदाय को बताया है, न कि रोहगुप्त से प्रचलित संप्रदाय।

३. पूर्व

मूलम्—से किं तं पुव्वगए ? पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते, तंजहा-१. उप्पायपुव्वं, २. अग्गाणीयं, ३. वीरिअं, ४. अत्थिनत्थिप्पवायं, ५. नाणप्पवायं ६. सच्चप्पवायं, ७. आयप्पवायं, ८. कम्मप्पवायं, ९. पच्चक्खाणप्पवायं १०. विज्जाणुप्पवायं, ११. अवंझं, १२ पाणाऊ, १३ किरिआविसालं, १४. लोकबिंदुसारं।

१. उप्पाय-पुव्वस्स णं दस वत्थू, चत्तारि चूलिआवत्थू पन्नत्ता,
२- अग्गेणीय-पुव्वस्स णं चोद्दसवत्थू, दुवालस चूलिआवत्थू पण्णत्ता,
३. वीरिय-पुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता,
४. अत्थिनत्थिप्पवाय-पुव्वस्स णं अट्ठारस, वत्थू, दस चूलियावत्थू पण्णत्ता,
५. नाणप्पवाय-पुव्वस्स णं बारस वत्थू, पण्णत्ता,
६. सच्चप्पवाय-पुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता,
७. आयप्पवाय-पुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता,
८. कम्मप्पवाय-पुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,
९. पच्चक्खाण-पुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता,
१०. विज्जाणुप्पवाय-पुव्वस्स णं पन्नरस वत्थू पण्णत्ता,
११. अवंझ-पुव्वस्स णं बारस वत्थू पन्नत्ता,
१२. पाणाउ-पुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता,
१३. किरिआविसाल-पुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,
१४. लोकबिंदुसार-पुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता।

१. दस १. चोदस २. अट्ठ ३. (अ)ट्ठारसेव ४. बारस ५. दुवे ६. अ वत्थूणि।
सोलस ७ तीसा ८. वीसा ९ पन्नरस १० अणुप्पवायम्मि ॥६६॥

२. बारस इक्कारसमे बारसमे, तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पणवीसाओ ॥९०॥

३. चत्तारि १ दुवालस २ अट्ठ ३ चेव दस ४ चेव चुल्लवत्थूणि ।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥९१॥
से त्तं पुव्वगयं ।

छाया—अथ किं तत्पूर्वगतम्? पूर्वगतं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—१. उत्पाद-पूर्वम्, २. अग्रायणीयम्, ३. वीर्यम् (प्रवादम्), ४. अस्तिनास्तिप्रवादम्, ५. ज्ञानप्रवादम्, ६. सत्यप्रवादम्, ७. आत्मप्रवादम्, ८. कर्मप्रवादम्, ९. प्रत्याख्यानप्रवादम्, १०. विद्यानुप्र-वादम्, ११. अवन्ध्यम्, १२. प्राणायुः, १३. क्रियाविशालम्, १४. लोकबिन्दुसारम् ।

१. उत्पादपूर्वस्य—दश वस्तूनि, चत्वारि चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
२. अग्रायणीयपूर्वस्य—चतुर्दश वस्तूनि, द्वादश चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
३. वीर्यपूर्वस्य—अष्टौ वस्तूनि, अष्टौ चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वस्य—अष्टादश वस्तूनि, दश चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
५. ज्ञानप्रवादपूर्वस्य—द्वादश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
६. सत्यप्रवादपूर्वस्य द्वे वस्तुनी प्रज्ञप्ते,
७. आत्मप्रवादपूर्वस्य—षोडश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
८. कर्मप्रवादपूर्वस्य—त्रिंशद् वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
९. प्रत्याख्यानपूर्वस्य—विंशतिवस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१०. विद्यानुप्रवादपूर्वस्य—पञ्चदश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
११. अवन्ध्यपूर्वस्य—द्वादश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१२. प्राणायुःपूर्वस्य—त्रयोदश वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१३. क्रियाविशालपूर्वस्य–त्रिंशद् वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,
१४. लोकबिंदुसारपूर्वस्य—पञ्चविंशतिर्वस्तूनि प्रज्ञप्तानि,

१. दश १ चतुर्दश २ अष्ट, ३ अष्टादशैव ४ द्वादश ५ द्वे च वस्तूनि, ।
पोडश ७ त्रिंशद् विंशतिः ८ पञ्चदश १० अनुप्रवादे ॥८९॥

२. द्वादशैकादशे, द्वादशे त्रयोदश एव वस्तूनि ।
त्रिंशत्पुनस्त्रयोदशे, चतुर्दशे पञ्चविंशतिः ॥९०॥

३. चत्वारि १ द्वादश २ अष्टौ ३ चैव दश ४ चैव चूलवस्तूनि ।
आदिमानां चतुर्णां, शेषाणां चूलिका नास्ति ॥९१॥
तदेतत्पूर्वगतम् ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह पूर्वगत-दृष्टिवाद कितने प्रकार का है ?

आचार्य उत्तर में बोले—भद्र ! पूर्वगत दृष्टिवाद १४ प्रकार का है, जैसे —१. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व ३. वीर्यप्रवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, १० विद्यानुप्रवादपूर्व, ११. अबन्ध्यपूर्व, १२. प्राणायुपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व, १४. लोकविन्दुसारपूर्व ।

१. उत्पाद पूर्व के दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु हैं ।
२. अग्रायणीय पूर्व के चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु हैं ।
३. वीर्यप्रवादपूर्व के आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु हैं ।
४. अस्तिनास्ति प्रवादपूर्व के अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु हैं ।
५. ज्ञानप्रवादपूर्व के बारह वस्तु हैं ।
६. सत्यप्रवाद पूर्व के दो वस्तु प्रतिपादन किये गए हैं ।
७. आत्मप्रवादपूर्व के सोलह वस्तु हैं ।
८. कर्मप्रवाद पूर्व के तीस वस्तु कहे गए हैं ।
९. प्रत्याख्यानपूर्व के बीस वस्तु हैं ।
१०. विद्यानुप्रवादपूर्व के पन्द्रह वस्तु प्रतिपादन किए गए हैं ।
११. अवन्ध्यपूर्व के बारह वस्तु प्रतिपादन किए गए हैं ।
१२. प्राणायुपूर्व के तेरह वस्तु हैं ।
१३. क्रियाविशालपूर्व के तीस वस्तु कहे गए हैं ।
१४. लोकबिन्दुसार पूर्व के पच्चीस वस्तु हैं ।

संक्षेप में वस्तु और चूलिकाओं का वर्णन

प्रथम में १०, द्वितीय में १४, तृतीय में ८, चतुर्थ में १८, पांचवें में १२, छठे में २, सातवें में १६, आठवें में ३०, नववें में २०, दसवें में १५, ग्यारहवें में १२, बारहवे में १३, तेरहवे में ३० और चौदहवें पूर्व में २५ वस्तु हैं ।

आदि के चार पूर्वों में क्रम से—प्रथम में ४, दूसरे में १२, तीसरे में ८ और चौथे पूर्व में १० चूलिकाएं हैं, शेष पूर्वों की चूलिका नहीं है।

इस प्रकार यह पूर्वगत दृष्टिवादाङ्ग श्रुत का वर्णन हुआ।

टीका—इस सूत्र में पूर्वों के विषय में वर्णन किया गया है। जब तीर्थंकर के समीप विशिष्ट बुद्धिशाली, लब्धवर्ण, उच्चकोटि के विद्वान, विशिष्ट संस्कारी, चरमशरीरी, प्रभावक, तेजस्वी, स्व-पर कल्याण

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! वह पूर्वगत-दृष्टिवाद कितने

आचार्य उत्तर में बोले—भद्र ! पूर्वगत दृष्टिवाद १४ प्रकार का उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व ३. वीर्यप्रवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवादपू प्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख १० विद्यानुप्रवादपूर्व, ११. अबन्ध्यपूर्व, १२. प्राणायुपूर्व, १३. क्रियाविशालपू बिन्दुसारपूर्व ।

१. उत्पाद पूर्व के दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु हैं ।
२. अग्रायणीय पूर्व के चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु हैं ।
३. वीर्यप्रवादपूर्व के आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु हैं ।
४. अस्तिनास्ति प्रवादपूर्व के अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु हैं ।
५. ज्ञानप्रवादपूर्व के बारह वस्तु हैं ।
६. सत्यप्रवाद पूर्व के दो वस्तु प्रतिपादन किये गए हैं ।
७. आत्मप्रवादपूर्व के सोलह वस्तु हैं ।
८. कर्मप्रवाद पूर्व के तीस वस्तु कहे गए हैं ।
९. प्रत्याख्यानपूर्व के बीस वस्तु हैं ।
१०. विद्यानुप्रवादपूर्व के पन्द्रह वस्तु प्रतिपादन किए गए हैं ।
११. अवन्ध्यपूर्व के बारह वस्तु प्रतिपादन किए गए हैं ।
१२. प्राणायुपूर्व के तेरह वस्तु हैं ।
१३. क्रियाविशालपूर्व के तीस वस्तु कहे गए हैं ।
१४. लोकबिन्दुसार पूर्व के पच्चीस वस्तु हैं ।

संक्षेप में वस्तु और चूलिकाओं का वर्णन

प्रथम में १०, द्वितीय में १४, तृतीय में ८, चतुर्थ में १८, पांचवें में १२, छठे में सातवें में १६, आठवें में ३०, नववें में २०, दसवें में १५, ग्यारहवें में १२, बारहवे में तेरहवे में ३० और चौदहवें पूर्व में २५ वस्तु हैं ।

आदि के चार पूर्वो में क्रम से—प्रथम में ४, दूसरे में १२, तीसरे में ८ और च पूर्व में १० चूलिकाएं हैं, शेष पूर्वो की चूलिका नहीं है।

इस प्रकार यह पूर्वगत दृष्टिवादाङ्ग श्रुत का वर्णन हुआ ।

टीका—इस सूत्र में पूर्वो के विषय में वर्णन किया गया है । जब तीर्थंकर के समीप विशिष्ट बुद्धि शाली, लब्धवर्ण, उच्चकोटि के विद्वान, विशिष्ट संस्कारी, चरमशरीरी, प्रभावक, तेजस्वी, स्व-पर कल्याण

वचन या संयम का वर्णन विस्तृत और असत्य-मिश्र ये प्रतिपक्ष हैं, असंयम भी प्रतिपक्ष के साथ वर्णन करने वाला है। इसके १ करोड़ ६ पद हैं।

७. आत्मप्रवादपूर्व—यह पूर्व अनेक प्रकार के नयों से आत्मा का वर्णन करने वाला है। इसमें२६ कोटि पद हैं।

८. कर्मप्रवादपूर्व—इसमें कर्मों की ८ मूल तथा उनकी उत्तर प्रकृतियो का वन्ध, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, ध्रुव-अध्रुव-जीव विपाकी, क्षेत्रविपाकी, पुद्गल विपाकी, निकाचित, निधत्त अपवर्तन, उद्वर्तन एवं संक्रमण आदि अनेक विषयों का विवेचन है। इसके १ करोड़ ८० लाख पद हैं।

९. प्रत्याख्यानपूर्व—यह मूलगुणप्रत्याख्यान, उत्तरगुणप्रत्याख्यान, देशप्रत्याख्यान, सर्वप्रत्याख्यान तथा उनके भेद-प्रभेद एवं उपभेदों का वर्णन करने वाला पूर्व है, इसके ८४ लाख पद हैं।

१. विद्यानुप्रवादपूर्व—इसमें अनेक प्रकार की अतिशायिनी विद्याओं का वर्णन है। साधन की अनुकूलता से ही उनकी सिद्धि कही गई है। इसके १ करोड़ १० लाख पद हैं।

११. अवन्ध्यपूर्व—इसमें ज्ञान, संयम और तप इत्यादि सभी शुभ क्रियाएं शुभ फलवाली हैं और प्रमाद, विकथा आदि कर्म अशुभ फलदायी हैं। इसीलिए इसको अवन्ध्य कहा है। इसके २६ करोड़ पद परिमाण हैं।

१२· प्राणायुपूर्व—इसमें आयु और प्राणों का निरूपण किया है। उनके भेद प्रभेदोंका सविस्तर वर्णन है। उपचार से इस पूर्व को भी प्राणायु कहते हैं। इसमें अधिकतर आयु जानने का अमोघ उपाय हैं। मनुष्य, तिर्यंच, और देव आदि की आयु को जानने के नियम वताए हुए हैं। इसके एक करोड़ ५६ लाख पद परिमाण हैं।

१३. क्रियाविशालपूर्व—जीव क्रिया और अजीव क्रिया तथा आश्रव का वर्णन करने से इसकी क्रियाविशाल संज्ञा दी है। इसके पद परिमाण ९ करोड़ हैं।

१४. लोकबिन्दुसार—सर्वाक्षर सन्निपात आदि लब्धियों और विशिष्ट शक्तियों के कारण विश्व में या श्रुतलोक में यह अक्षर के बिन्दु की तरह सर्वोत्तम सार है। अतः लोग इसे बिन्दुसार कहते हैं। इसके पद परिमाण साढ़े वारह करोड़ हैं।

उपरोक्त यह विवरण वृत्तिकार ने चूर्णि से लिया है। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए एतद्-विषयक समग्रपाठ चूर्णि का यहां उद्धृत किया जा रहा है—

"से किं तं पुव्वगयं? उच्यते जम्हा तित्थगरो तित्थप्पवत्तणा काले गहणरा सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगत सुत्तत्थं भासइ, तम्हा पुव्वं ति भणिता, गणहरा सुत्तरयणं करेन्ता आयाराइक्कमेण रयणं करेन्ति, ठवेन्ति य। अण्णायरियमतेण पुण पुव्वगत सुत्तत्थो पुव्वं अरहता भणिया गणहरे वि-पुव्वगतसुत्तं चेव पुव्वं रइयं, पच्छा आयाराइ एवमुत्तो, चोदक आह—णणु पुव्वावरविरुद्धं कम्हा? जम्हा आयार णिज्जुत्तीए भणन्ति, सव्वेसि—आयारो पढमो० गाहा। आचार्य आह-सत्यमुक्तं, किन्तु सा ठवणा, इमं पुण अक्खर रयणं पडुच्च भणितं, पुव्वं पुव्वा कया इत्यर्थः। ते य उप्पाय पुव्वादय चोद्दस पुव्वा पण्णत्ता।

१—पढमं उप्पाय पुव्वं ति—तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जयाणं य उप्पायभावमङ्गी काउं पण्णवणा कया, तस्स पद परिमाणं एकापद कोडी।

वचन या संयम का वर्णन विस्तृत और असत्य-ि
वाला है। इसके १ करोड़ ६ पद हैं।

७. आत्मप्रवादपूर्व—यह पूर्व अनेक प्र
कोटि पद हैं।

८. कर्मप्रवादपूर्व—इसमें कर्मों की ८
प्रदेश, ध्रुव-अध्रुव-जीव विपाकी, क्षेत्रविपाकी,
संक्रमण आदि अनेक विषयों का विवेचन है। इ

९. प्रत्याख्यानपूर्व—यह मूलगुणप्रत्याख्य
तथा उनके भेद-प्रभेद एवं उपभेदों का वर्णन कर

१. विद्यानुप्रवादपूर्व—इसमें अनेक प्रका
अनुकूलता से ही उनकी सिद्धि कही गई है। इसके

११. अबन्ध्यपूर्व—इसमें ज्ञान, संयम
और प्रमाद, विकथा आदि कर्म अशुभ फलदायी हैं।
पद परिमाण हैं।

१२· प्राणायुपूर्व—इसमें आयु और प्राणों का
वर्णन है। उपचार से इस पूर्व को भी प्राणायु कहते हैं
हैं। मनुष्य, तिर्यंच, और देव आदि की आयु को जानने
पद परिमाण हैं।

१३. क्रियाविशालपूर्व—जीव क्रिया और अजीव
क्रियाविशाल संज्ञा दी है। इसके पद परिमाण ९ करोड़ हैं

१४. लोकबिन्दुसार—सर्वाक्षर सन्निपात आदि लब्धि
या श्रुतलोक में यह अक्षर के बिन्दु की तरह सर्वोत्तम सार है।
पद परिमाण साढ़े बारह करोड़ हैं।

उपरोक्त यह विवरण वृत्तिकार ने चूर्णि से लिया है। जि
विषयक समग्रपाठ चूर्णि का यहां उद्धृत किया जा रहा है—

"से किं तं पुव्वगयं ? उच्यते जम्हा तित्थगरो तित्थप्पवत्तण का
पुव्वगत सुत्तत्थं भासइ, तम्हा पुव्वं ति भणिता, गणहरा सुत्तरयणं करेन्ता
ठवेन्ति य। अण्णायरियमतेण पुण पुव्वगत सुत्तत्थो पुव्वं अरहता भणिय
पुव्वं रइयं, पच्छा आयाराइ एवमुत्तो, चोदक आह—णणु पुव्वावरविरुद्धं कम्
भणन्ति, सव्वेसि—आयारो पढमो० गाहा। आचार्य आह-सत्यमुक्तं, किन्तु सा
पडुच्च भणितं, पुव्वं पुव्वा कया इत्यर्थः। ते य उप्पाय पुव्वादय चोद्दस पुव्वा प.

१—पढमं उप्पाय पुव्वं ति—तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जयाणं य उप्पायभाव
कया, तस्स पद परिमाणं एकापद कोडी।

[illegible] पव्वज्जा-
[illegible] उत्पत्ति
[illegible] गणहरा गणधर
[illegible] का अंत—जो
[illegible] और सम्मत्त
[illegible] पुनः उत्तर-
[illegible] सिद्ध हुए, तद—जैसे
[illegible] पाओवगया—
[illegible] छेदन कर के—जो
[illegible] मुनियों में उत्तम अंतगडे—
[illegible] इत्यादि
[illegible] कहे गये हैं। से त्तं
[illegible]

भावार्थ—[illegible] प्रकार का है ?

आचार्य [illegible] जैसे—१. मूलप्रथमानुयोग और
२. गण्डिकानुयोग।

मूलप्रथमानुयोग में [illegible] अर्हन्त भगवन्तों के पूर्व भवों का वर्णन, देवलोक में जाना, देवलोक का आयुष्य, देवलोक से च्यवन कर तीर्थंकर रूप में जन्म, देवादिकृत जन्माभिषेक तथा राज्याभिषेक प्रधान राज्यलक्ष्मी, प्रव्रज्या— साधु-दीक्षा तत्पश्चात् उग्र—घोर तपश्चर्या, केवलज्ञान की उत्पत्ति तीर्थ की प्रवृत्ति करना, उनके शिष्य, गण, गणधर, आर्यिकाएं और प्रवर्तिनियें, चतुर्विध संघ का जो परिमाण है, जिन—सामान्यकेवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी और सम्यक् (समस्त) श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरगति और उत्तरवैक्रिय, यावन्मात्र मुनि सिद्ध हुए, मोक्ष का पथ जैसे दिखाया, जितने समय तक पादपोपगमन संथारा—अनशन किया, जिस स्थान पर जितने भक्तों का छेदन किया, और अज्ञान अन्धकार के प्रवाह से मुक्त होकर जो महामुनि मोक्ष के प्रधान सुख को प्राप्त हुए इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य भाव भी मूलप्रथमानुयोग में प्रतिपादन किये गये हैं। यह मूल प्रथमानुयोग का विषय संपूर्ण हुआ।

टीका—इस सूत्र में अनुयोग का वर्णन किया गया है। जो योग अनुरूप या अनुकूल है, उसको अनुयोग कहते हैं अर्थात् जो सूत्र के अनुरूप सम्बन्ध रखता है, वह अनुयोग है। यहाँ अनुयोग के दो भेद किए गए हैं, जैसे कि मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। मूल प्रथमानुयोग में तीर्थंकर के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है, जिस भव में उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, उस भव से लेकर तीर्थंकर पद पर्यन्त उनकी जीवन चर्य्या का वर्णन किया है। पूर्व भव, देवलोकगमन, आयु, च्यवन, जन्माभिषेक,

४. अनुयोग

मूलम्—से किं तं अणुओगे ? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—१. मूलपढमाणुओगे, २. गंडिआणुओगे य।

१. से किं तं मूलपढमाणुओगे ? मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्व भवा, देवगमणाइं, आउं, चवणाइं, जम्मणाणि, अभिसेआ, रायवरसिरीओ, पव्वज्जाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणुप्पयाओ, तित्थपवत्तणाणि अ, सीसा, गणा, गणहरा, अज्जपवत्तिणीओ, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं, जिणमणपज्जव-ओहिनाणी, सम्मत्तसुअनाणिणो अ, वाई, अणुत्तरगई अ, उत्तरवेउव्विणो अ मुणिणो, जत्तिया सिद्धा, सिद्धिपहो देसिओ, जच्चिरं च कालं पाओवगया, जे जहिं जत्तिआइं भत्ताइं छेइत्ता अंतगडे मुणिवरुत्तमे तिमिरओघविप्पमुक्के, मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्ते। एवमन्ने अ एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ, से त्तं मूलपढमाणुओगे।

छाया—अथ कः सोऽनुयोगः ? अनुयोगो द्विविध प्रज्ञप्तः, तद्यथा १. मूलप्रथमानुयोगः, २. गण्डिकानुयोगश्च।

१. अथ कः स मूलप्रथमानुयोगः ? मूलप्रथमानुयोगेऽर्हतां भगवतां पूर्वभवाः, देवलोकगमनानि, आयुः (यूंषि), च्यवनानि, जन्मानि, अभिषेकाः राज्यवरश्रियः, प्रव्रज्याः, तपांसि चोग्राणि, केवलज्ञानोत्पादः, तीर्थप्रवर्तनानि च, शिष्याः, गणाः, गणधराः, आर्याः प्रवर्त्तिन्यश्च, संघस्य चतुर्विधस्य यच्च परिमाणं, जिन-मनःपर्यवावधिज्ञानिनः समस्तश्रुतज्ञानिश्च, वादिनः, अनुत्तरगतयश्च, उत्तरवैकुर्विणश्च मुनियः, यावन्तः सिद्धाः, सिद्धिपथो यथादेशितः, यावच्चिरञ्च कालं पादपोपगताः, ये यत्र यावन्ति भक्तानि छित्त्वाऽन्तकृतो मुनिवरोत्तमास्तिमिरौघविप्रमुक्ता मोक्षसुखमनुत्तरञ्च प्राप्ताः, एवमन्ये चैवमादि भावा मूलप्रथमानुयोगे कथिताः, स एष मूलप्रथमानुयोगः।

पदार्थ—से किं तं अणुओगे ?—वह अनुयोग किस प्रकार है ? अणुओगे—अनुयोग दुविहे पण्णत्ते—दो प्रकार का है, तंजहा—जैसे—मूलपढमाणुओगे—मूलप्रथमानुयोग य—और गंडिआणुओगे—गण्डिकानुयोग।

से किं तं मूलपढमाणुओगे—अथ वह मूलप्रथमानुयोग किस प्रकार है ? मूलपढमाणुओगे णं—मूलप्रथमानुयोगमें 'णं' वाक्यालङ्कार में, अरहंताणं भगवंताणं—अर्हन्त-भगवन्तों के पुव्वभवा—पूर्वभव देवगमणाइं—देवलोक में जाना, आउं—देवलोक में आयु। चवणाइं—स्वर्ग से च्यवन, जम्मणाणि—तीर्थ-

[illegible] पयडना- [illegible] केवलज्ञान की उत्पत्ति [illegible] गणधर [illegible] के संघ का जो [illegible] और समस्त [illegible] पुनः उत्तर- [illegible] सिद्ध हुए, [illegible] जैसे [illegible] पादोवगया— [illegible] जो [illegible] मुनियों में उत्तम अंतगडे— [illegible] इत्यादि [illegible] कहे गये हैं । से त्तं [illegible]

भावार्थ—[illegible] क्या है ?

आचार्य [illegible] —१. मूलप्रथमानुयोग और २. गण्डिकानुयोग ।

मूलप्रथमानुयोग में [illegible] अर्हन्त भगवन्तों के पूर्व भवों का वर्णन, देवलोक में जाना, देवलोक का आयु, देवलोक से च्यवन कर तीर्थंकर रूप में जन्म, देवादिकृत जन्माभिषेक, [illegible] प्रधान [illegible], प्रव्रज्या— साधु-दीक्षा तत्पश्चात् उग्र—घोर [illegible], केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थ की प्रवृत्ति करना, उनके शिष्य, गण, गणधर, आर्यिकाएँ और प्रवर्तिनियें, चतुर्विध संघ का जो परिमाण है, जिन—सामान्यकेवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी और सम्यक् (समस्त) श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरगति और उत्तरवैक्रिय, यावन्मात्र मुनि सिद्ध हुए, मोक्ष का पथ जैसे दिखाया, जितने समय तक पादपोपगमन संथारा—अनशन किया, जिस स्थान पर जितने भक्तों का छेदन किया, और अज्ञान अन्धकार के प्रवाह से मुक्त होकर जो महामुनि मोक्ष के प्रधान सुख को प्राप्त हुए इत्यादि । इनके अतिरिक्त अन्य भाव भी मूलप्रथमानुयोग में प्रतिपादन किये गये हैं । यह मूल प्रथमानुयोग का विषय संपूर्ण हुआ ।

टीका—इस सूत्र में अनुयोग का वर्णन किया गया है । जो योग अनुरूप या अनुकूल है, उसको अनुयोग कहते हैं अर्थात् जो सूत्र के अनुरूप सम्बन्ध रखता है, वह अनुयोग है । यहाँ अनुयोग के दो भेद किए गए हैं, जैसे कि मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग । मूल प्रथमानुयोग में तीर्थंकर के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है, जिस भव में उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, उस भव से लेकर तीर्थंकर पद पर्यन्त उनकी जीवन चर्या का वर्णन किया है । पूर्व भव, देवलोकगमन, आयु, च्यवन, जन्माभिषेक,

राज्यश्री, प्रव्रज्याग्रहण, उग्रतप, केवलज्ञान उत्पन्न होना, तीर्थप्रवर्त्तन, शिष्य, गणधर, गण, आर्याएं, प्रवर्त्तनी, चतुर्विध संघ का परिमाण, जिन, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, वादी, अनुत्तरविमानगति, उत्तरवैक्रिय, कितनों ने सिद्धगति प्राप्त की, इत्यादि विषय वर्णन किए गए हैं, इतना ही नहीं—मोक्ष सुख की प्राप्ति और उनके साधन इस प्रकार के विषय वर्णित हैं। इस अनुयोग में प्रथमबार सम्यक्त्व लाभ से लेकर यावन्मात्र उन जीवों ने भव ग्रहण किये, उन भवों में जो-जो आत्मकल्याण के लिए व प्राणिमात्र के हित को लक्ष्य में रखकर जो २ शुभ क्रियायें कीं, उन सबका विस्तृत वर्णन किया है। शेष वर्णन सूत्रकर्त्ता ने मूलपाठ में स्वयं कर दिया है। इससे यह भली-भांति सिद्ध होता है कि जो तीर्थंकरों के जीवनचरित होते हैं, वे सर्व मूल प्रथमानुयोग में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

वास्तव में जो सूत्रकर्त्ता ने **'मूलपढमाणुओगे'** पद दिया है, इसका यही भाव है कि इस अनुयोग में सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण पद पर्यन्त पूर्णतया जीवनवृत्त कथन किया गया है। जैसे कि कहा है— **"मूलं धर्मप्रणयनतीर्थंकरास्तेषां प्रथमसम्यक्त्वावाप्तिलक्षणपूर्व-भवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः।** इस का भावार्थ पहले लिखा जा चुका है।

मूलम्—२. से किं तं गंडिआणुओगे ? गंडिआणुओगे—कुलगरगंडिआओ तित्थयरगंडिआओ, चक्कवट्टिगंडिआओ, दसारगंडिआओ, बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ, गणधरगंडिआओ, भद्दबाहुगंडिआओ, तवोकम्मगंडिआओ, हरिवंसगंडिआओ, उस्सप्पिणीगंडिआओ, ओसप्पिणीगंडिआओ, चित्तंतरगंडिआओ, अमर-नर-तिरिअ-निरय-गइ-गमण-विविह-परियट्टणाणुओगेसु, एवमाइआओ गंडिआओ आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, से त्तं गंडिआणुओगे, से त्तं अणुओगे।

छाया—२. अथ कः स गण्डिकानुयोगः? गण्डिकानुयोगे कुलकरगण्डिकाः, तीर्थकरगण्डिकाः, चक्रवर्त्तिगण्डिकाः, दशारगण्डिकाः, बलदेवगण्डिकाः, वासुदेवगण्डिकाः, गणधरगण्डिकाः, भद्रबाहुगण्डिकाः, तपःकर्मगण्डिकाः, हरिवंशगण्डिकाः, उत्सर्पिणीगण्डिकाः, अवसर्पिणीगण्डिकाः, चित्रान्तरगण्डिकाः, अमर-नर-तिर्यङ्-निरयगति-गमन-विविधपरिवर्त्तनानुयोगेषु, एवमादिका भावा गण्डिका आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, स एव गण्डिकानुयोगः, स एषोऽनुयोगः।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—वह गण्डिकानुयोग किस प्रकार है ? आचार्य उत्तर देते हैं—गण्डिकानुयोगमें कुलकरगण्डिका, तीर्थंकरगण्डिका, बलदेवगं[illegible] गण्डिका, गणधरगण्डिका, भद्रबाहुगण्डिका, तपः कर्मगण्डिका, हरिवंशगण्डि[illegible] गण्डिका, अवसर्पिणीगंडिका, चित्रान्तरगण्डिका, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, गमन और विविध प्रकार से संसार में पर्यटन इत्यादि गण्डिकाएँ कही गयीं प्रज्ञापन की गयी हैं। यह वह गण्डिका अनुयोग है।

टीका—[illegible] प्रकरण या अधिकार [illegible] मध्यकालीन में [illegible] हरिवंश, उत्सर्पिणी, अव-सर्पिणी, [illegible] राजाओं का इतिहास [illegible] इन सब का जीवन चरित्र, [illegible] उन का निर्वाण नहीं [illegible] दोनों अनुयोग इतिहास [illegible]

"[illegible] गण्डिकाः [illegible] शेषगति— [illegible] गण्डिका।"

[illegible] ऐसे ही जिस में प्रत्येक अधिकार [illegible] गण्डिकानुयोग [illegible] है।

५. चूलिका

मूलम्—से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ—आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं। से त्तं चूलियाओ।

छाया—अथ कास्ताश्चूलिकाः ? चूलिका आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणां चूलिकाः, शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एताश्चूलिकाः।

भावार्थ—[illegible] ! [illegible] चूलिका किस प्रकार है ? आचार्य बोले—भद्र ! आदि के के चार पूर्वों की चूलिकाएं हैं, शेष पूर्वों की चूलिका नहीं है। यह चूलिकारूप दृष्टिवाद का वर्णन है।

टीका—इस सूत्र में चूलिका—चूला का वर्णन किया गया है। जैसे मेरु पर्वत की चूला ४० योजन की है। मेरु पर्वत की जो ऊंचाई बतलाई है, उस में चूलिका नहीं है। चूलिका की ऊंचाई उस से भिन्न है। वैसे ही यह भी दृष्टिवाद की चूला है। चूला शिखर को कहते हैं, जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में वर्णन नहीं किया, उस अनुक्त विषय का संग्रह चूला में किया गया है। यही चूर्णि-कार का अभिमत है, जैसे कि—

"दिट्ठिवाय जं परिकम्म सुत्त पुव्व—अणुओगे न भणियं तं चूलासु भणियं ति।" इस प्रकार श्रुतरूपी मेरु चूलिका से सुशोभित है। इस का वर्णन सब के अन्त में किया है। दृष्टिवाद के पहले चार भेद अध्ययन करने के बाद ही इसे पढ़ना चाहिए। इन में प्रायः उक्त-अनुक्त विषयों का संग्रह है।

आदि के चार पूर्वों में चूलिकाओं का उल्लेख किया हुआ है, शेष में नहीं। इस पंचम अध्ययन में उन्हीं का वर्णन है। ये चूलिकाएं १४ पूर्वों से कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। यदि सर्वथा अभिन्न ही होतीं

राज्यश्री, प्रव्रज्याग्रहण, उग्रतप, केवलज्ञान उत्पन्न होना, तीर्थप्रवर्त्तन, शिष्य, गणधर, गण, आर्याएं, प्रवर्त्तनी, चतुर्विध संघ का परिमाण, जिन, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, वादी, अनुत्तरविमानगति, उत्तर-वैक्रिय, कितनों ने सिद्धगति प्राप्त की, इत्यादि विषय वर्णन किए गए हैं, इतना ही नहीं—मोक्ष सुख की प्राप्ति और उनके साधन इस प्रकार के विषय वर्णित हैं। इस अनुयोग में प्रथमबार सम्यक्त्व लाभ से लेकर यावन्मात्र उन जीवों ने भव ग्रहण किये, उन भवों में जो-जो आत्मकल्याण के लिए व प्राणिमात्र के हित को लक्ष्य में रखकर जो २ शुभ क्रियायें कीं, उन सबका विस्तृत वर्णन किया है। शेष वर्णन सूत्रकर्त्ता ने मूलपाठ में स्वयं कर दिया है। इससे यह भली-भांति सिद्ध होता है कि जो तीर्थंकरों के जीवनचरित होते हैं, वे सर्व मूल प्रथमानुयोग में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

वास्तव में जो सूत्रकर्त्ता ने '**मूलपढमाणुओगे**' पद दिया है, इसका यही भाव है कि इस अनुयोग में सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण पद पर्यन्त पूर्णतया जीवनवृत्त कथन किया गया है। जैसे कि कहा है—"**मूलं धर्मप्रणयनतीर्थकरास्तेषां प्रथमसम्यक्त्वावाप्तिलक्षणपूर्व-वादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः**। इस का भावार्थ पहले लिखा जा चुका है।

मूलम्—२. से किं तं गंडिआणुओगे? गंडिआणुओगे—कुलगरगंडिआओ तित्थयरगंडिआओ, चक्कवट्टिगंडिआओ, दसारगंडिआओ, बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ, गणधरगंडिआओ, भद्दबाहुगंडिआओ, तवोकम्मगंडिआओ, हरिवंसगंडिआओ, उस्सप्पिणीगंडिआओ, ओसप्पिणीगंडिआओ, चित्तंतरगंडिआओ, अमर-नर-तिरिअ-निरय-गइ-गमण-विविह-परियट्टणाणुओगेसु, एवमाइआओ गंडिआओ आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, से त्तं गंडिआणुओगे, से त्तं अणुओगे।

छाया—२. अथ कः स गण्डिकानुयोगः? गण्डिकानुयोगे कुलकरगण्डिकाः, तीर्थकर-गण्डिकाः, चक्रवर्त्तिगण्डिकाः, दशारगण्डिकाः, बलदेवगण्डिकाः, वासुदेवगण्डिकाः, गणधर-गण्डिकाः, भद्रबाहुगण्डिकाः, तपःकर्मगण्डिकाः, हरिवंशगण्डिकाः, उत्सर्पिणीगण्डिकाः, अव-सर्पिणीगण्डिकाः, चित्रान्तरगण्डिकाः, अमर-नर-तिर्यङ्-निरयगति-गमन-विविधपरिवर्त्त-नानुयोगेषु, एवमादिका भावा गण्डिका आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, स एव गण्डिकानुयोगः, स एषोऽनुयोगः।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा—वह गण्डिकानुयोग किस प्रकार है? आचार्य उत्तर देते हैं—गण्डिकानुयोगमें कुलकरगण्डिका, तीर्थकरगण्डिका, बलदेवगंडिका, वासुदेव गण्डिका, गणधरगण्डिका, भद्रबाहुगण्डिका, तपः कर्मगण्डिका, हरिवंशगण्डिका, उत्सर्पिणी गण्डिका, अवसर्पिणीगंडिका, चित्रान्तरगण्डिका, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरकगति, इनमें गमन और विविध प्रकार से संसार में पर्यटन इत्यादि गण्डिकाएं कही गयी हैं। इस प्रकार प्रज्ञाप[illegible] हैं। यह वह गण्डिका अनुयोग है।

टीका—इस सूत्र में गण्डिकानुयोग का वर्णन किया गया है, गण्डिका शब्द प्रबन्ध या अधिकार के अर्थ में रूढ़ है। इस में कुलकरों की जीवनचर्या, एक तीर्थंकर का दूसरे तीर्थंकर के मध्यकालीन में होने वाली सिद्ध परम्परा का वर्णन है। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, गणधर, हरिवंश, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, चित्रान्तर गण्डिका अर्थात् पहले व दूसरे तीर्थंकर के अन्तराल में होने वाले पट्टधर राजाओं का इतिहास। उपर्युक्त उत्तम पुरुषों का पूर्वभवों में मनुष्य, तिर्यंच, निरयगति, देव भव, इन सब का जीवन चरित्र, अनेक पूर्वभवों का तथा वर्तमान एवं अनागत भवों का इतिहास है। जब तक उन का निर्वाण नहीं हो जाता तब तक का सम्पूर्ण जीवन वृत्तान्त गण्डिका अनुयोग में वर्णित है। उक्त दोनों अनुयोग इतिहास से सम्बन्धित हैं। चित्रान्तर गण्डिका के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

"चित्तन्तरगण्डियाओ त्ति, चित्रा—अनेकार्था अन्तरे—ऋषभाजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिकाः चित्रान्तरगण्डिकाः, एतदुक्तं भवति—ऋषभाजिततीर्थकरान्तरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां, शेषगति—गमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्ति प्रतिपादिका गण्डिका चित्रान्तरगण्डिका।"

जैसे गन्ने आदि की गंडेरी आस-पास की गांठों से सीमित रहती है, ऐसे ही जिस में प्रत्येक अधिकार भिन्न-भिन्न इतिहास को लिए हुए हो, उसे गण्डिकानुयोग कहते हैं।

५. चूलिका

मूलम्—से किं तं चूलिआओ? चूलिआओ—आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिआ, सेसाइं पुव्वाइं अचूलिआइं। से त्तं चूलिआओ।

छाया—अथ कास्ताश्चूलिकाः? चूलिका आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणां चूलिकाः, शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एताश्चूलिकाः।

भावार्थ—देव! वह चूलिका किस प्रकार है? आचार्य बोले—भद्र! आदि के के चार पूर्वों की चूलिकाएं हैं, शेष पूर्वों की चूलिका नहीं है। यह चूलिकारूप दृष्टिवाद का वर्णन है।

टीका—इस सूत्र में चूलिका—चूला का वर्णन किया गया है। जैसे मेरु पर्वत की चूला ४० योजन की है। मेरु पर्वत की जो ऊंचाई बतलाई है, उस में चूलिका नहीं है। चूलिका की ऊंचाई उस से भिन्न है। वैसे ही यह भी दृष्टिवाद की चूला है। चूला शिखर को कहते हैं, जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में वर्णन नहीं किया, उस अनुक्त विषय का संग्रह चूला में किया गया है। यही चूर्णिकार का अभिमत है, जैसे कि—

"दिट्ठिवाय जं परिकम्म सुत्त पुव्व—अणुओगे न भणियं तं चूलासु भणियं ति।" इस प्रकार श्रुतरूपी मेरु चूलिका से सुशोभित है। इस का वर्णन सब के अन्त में किया है। दृष्टिवाद के पहले चार भेद अध्ययन करने के बाद ही इसे पढ़ना चाहिए। इन में प्रायः उक्त-अनुक्त विषयों का संग्रह है।

आदि के चार पूर्वों में चूलिकाओं का उल्लेख किया हुआ है, शेष में नहीं। इस पंचम अध्ययन में उन्हीं का वर्णन है। ये चूलिकाएं १४ पूर्वों से कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। यदि सर्वथा अभिन्न ही होतीं

तो उसे अलग पांचवां अध्ययन नहीं कहा जा सकता। यदि भिन्न मानें तो पूर्वों में उस की गणना नहीं हो सकती। जैसे दशवैकालिकसूत्र की दो चूलिकाएं हैं, वे दोनों न दशवैकालिक से सर्वथा भिन्न हैं और न अभिन्न ही, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए, चूलिका में क्रमशः ४, १२, ८, १०, इस प्रकार ३४ वस्तुएं हैं। चूलिका को यदि दृष्टिवाद का परिशिष्ट मान लिया जाए तो अधिक उचित प्रतीत होता है।

दृष्टिवादाङ्ग का उपसंहार

मूलम्—दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, चोद्दसपुव्वाइं, संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चूलवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुड-पाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडिआओ, संखेज्जाओ पाहुड-पाहुडिआओ, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जति, से त्तं दिट्ठिवाए ॥सूत्र ५६॥

छाया—दृष्टिवाद (पात) स्य परीता वाचनाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि, संख्येया वेढाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येयाः प्रतिपत्तयः, संख्येया निर्युक्तयः, संख्येयाः संग्रहण्यः।

सोऽङ्गार्थतया द्वादशममङ्गम्, एकः श्रुतस्कन्धः, चतुर्दश पूर्वाणि, संख्येयानि वस्तूनि, संख्येयानि चूलावस्तूनि, संख्येयानि प्राभृतानि, संख्येयानि प्राभृतप्राभृतानि, संख्येयाः प्राभृतिकाः, संख्येयाः प्राभृतप्राभृतिकाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण, संख्येयान्यक्षराणि, अनन्ता गमाः, अनन्ताः पर्यवाः, परीतास्त्रसाः, अनन्ताः स्थावराः, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचिता जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते, प्रज्ञाप्यन्ते, प्ररूप्यन्ते, दर्श्यन्ते, निदर्श्यन्ते, उपदर्श्यन्ते।

स एवमात्मा, एवं ज्ञाता, एवं विज्ञाता, एवं चरण-करणप्ररूपणाऽऽख्यायते, स एष दृष्टिवादः ॥सूत्र ५६॥

भावार्थ—दृष्टिवाद की संख्यात वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ—छन्द संख्यात श्लोक, संख्यात प्रतिपत्तिएं, संख्यात निर्युक्तिएं, और संख्यात संग्रहणिएं, हैं।

यह अङ्ग अर्थ से द्वादशम अङ्ग है। इसमें चौदह पूर्व हैं, संख्यात वस्तु—अध्ययन विशेष, संख्यात चूलिका वस्तु, संख्यात प्राभृत, संख्यात प्राभृतप्राभृत, संख्यात प्राभृतिकाएं, संख्यात प्राभृतिकाप्राभृतिकाएं हैं। यह परिमाण में संख्यात पद सहस्र है। अक्षर संख्यात और अनन्त गम—अर्थ हैं। अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनप्रणीत भाव—पदार्थ कहे गये हैं, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किये गये हैं।

दृष्टिवाद का अध्येता तद्रूप आत्मा हो जाता है, भावों का यथार्थ ज्ञाता और विज्ञाता बन जाता है। इस तरह चरण-करण की प्ररूपणा इस अङ्ग में की गयी है। इस प्रकार यह दृष्टिवाद अङ्ग का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

टीका—इस सूत्र में दृष्टिवाद के पूर्वों की भांति परिमित वाचनाएं हैं, संख्यात अनुयोग द्वार हैं, इत्यादि सब वर्णन पहले की तरह जानना। किन्तु इस में वस्तु, प्राभृत, प्राभृतप्राभृत इन की व्याख्या पहले नहीं की गई और न ये शब्द पहले कहीं आए हैं। पूर्वों में जो बड़े २ अधिकार हैं, उन को वस्तु कहते हैं। उन से छोटे २ अधिकारों को प्राभृत कहते हैं। उन से छोटे अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं। एक पूर्व में जितने विशिष्ट विषय हैं, उनका विभाजन करने से जितने विभाग बनते हैं। उतने वस्तु कहलाते हैं। वस्तुअन्तर्गत जो छोटे २ प्रकरण हैं, वे प्राभृत। जो उन से छोटे २ प्रकरण हैं, उन्हें प्राभृत-प्राभृत कहते हैं। यह अङ्ग पद से महान होते हुए भी इसके अक्षरों की संख्या संख्यात ही है। अनन्त गम हैं और अनन्त पर्याय हैं। असंख्यात त्रस और अनन्त स्थावरों का वर्णन है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य तथा पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। इस में संग्रहणी गाथाएं भी संख्यात ही हैं। एक प्राभृतप्राभृत में जितने विषय निरूपण किए हैं, उनको कुछ एक गाथाओं में संकलित करना, उन्हें संग्रहणी गाथा कहते हैं। इस पाठ में चूलवत्थू शब्द आया है इस का भाव यह है—जो चूलिकाएं बताई हैं, उन में भी वस्तु हैं, वे भी संख्यात हैं। इस में एक ही श्रुतस्कन्ध है। इस के अध्ययन करने वाला आत्मा तद्रूप हो जाता है, एवं ज्ञाता, विज्ञाता हो जाता है। शेष वर्णन पहले की भांति जानना चाहिए।

द्वादशाङ्ग में संक्षिप्त अभिधेय

मूलम्—इच्चेइयम्मि-दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा, अणंता अभावा, अणंता हेऊ, अणंता अहेऊ, अणंता कारणा, अणंता अकारणा, अणंता जीवा, अणंता अजीवा, अणंता भवसिद्धिया, अणंता अभवसिद्धिया, अणंता सिद्धा, अणंता असिद्धा पण्णत्ता।

१. भावमभावा हेऊमहेऊ, कारणमकारणे चेव।
जीवाजीवा भविअम-भविआ सिद्धा असिद्धा य ॥९२॥

छाया—इत्येतस्मिन् द्वादशाङ्गे गणिपिटकेऽनन्ता भावाः, अनन्ता अभावाः अनन्ता

हेतवः, अनन्ता अहेतवः. अनन्तानि कारणानि, अनन्तान्यकारणानि, अनन्ता जीवाः, अनन्ता अजीवाः, अनन्ता भवसिद्धिका, अनन्ताः अभवसिद्धिकाः, अनन्ता सिद्धाः, अनन्ता असिद्धाः प्रज्ञप्ताः ।

१. भावाऽभावौ　हेत्वहेतू,　कारणाऽकारणे　चेव ।
जीवा अजीवा भविका अभविकाः सिद्धा असिद्धाश्च ॥९२॥

भावार्थ—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक में अनन्त जीवादि भाव—पदार्थ, अनन्त अभाव, अनन्त हेतु, अनन्त अहेतु, अनन्त कारण, अनन्त अकारण, अनन्त जीव, अनन्त अजीव, अनन्त भवसिद्धिक, अनन्त अभवसिद्धिक, अनन्त सिद्ध और अनन्त असिद्ध कथन किये गये हैं ।

भाव और अभाव, हेतु और अहेतु, कारण-अकारण, जीव-अजीव, भव्य-अभव्य, सिद्ध, असिद्ध, इस प्रकार संग्रहणी गाथा में उक्त विषय संक्षेप में उपदर्शित किया गया है ।

टीका—इस सूत्र में सामान्यतया बारह अङ्गों का वर्णन किया गया है । इस बारह अङ्गरूप-गणिपिटक में अनन्त सद्भावों का वर्णन किया गया है । इसके प्रतिपक्ष अनन्त अभाव पदार्थों का वर्णन किया है । जैसे सर्व पदार्थ अपने स्वरूप में सद्रूप हैं और परपदार्थ की अपेक्षा असद्रूप हैं, जैसे घट-पट आदि पदार्थों में परस्पर अन्योऽन्याभाव है यथा जीवोजीवात्मनाभावरूपोऽजीवात्मना च आभाव रूपः । जीव में अजीवत्व का अभाव है और अजीव में जीवत्व का अभाव है, इत्यादि ।

हेतु-अहेतु—अनन्त हेतु हैं और अहेतु भी अनन्त हैं, जो अभीष्ट अर्थ की जिज्ञासा में कारण हो, वह हेतु कहलाता है—यथा हिनोति—गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टार्थमिति हेतु ते चानन्ताः, तथाहि वस्तुनोऽनन्ता धर्मास्ते च तत्प्रतिवद्धधर्मविशिष्टवस्तुगमकास्ततोऽनन्ता हेतवो भवन्ति, यथोक्तप्रतिपक्षभूता अहेतवः ।

कारण-अकारण—जैसे घट का उपादान कारण मृत्पिण्ड है तथा निमित्त दण्ड, चक्र, चीवर एवं कुलाल है और पट का उपादान कारण तन्तु हैं तथा निमित्तकारण खड्डी आदि बुनती के साधन, जुलाह वगैरह हैं । ये घट-पट परस्पर स्वगुण की अपेक्षासे कारण हैं और परगुणकी अपेक्षासे अकारण हैं । अनन्त-जीव हैं और अनन्त अजीव हैं । भवसिद्धिक जीव भी अनन्त है एवं अभवसिद्धिक भी अनन्त । जो अनादि पारिणामिक भाव होते हुए सिद्धिगमन की योग्यता रखते हैं, वे भव्य कहलाते हैं, इसके विपरीत अभव्य, वे जीव भी अनन्त है । वास्तव में भव्यत्व-अभव्यत्व न औदयिकभाव है, न औपशमिक, न क्षायोपशमिक और न क्षायिक, इनमें से किसी में भी इनका अन्तर्भाव नहीं होता । अनन्तसिद्ध हैं और अनन्त संसारी जीव हैं । द्वादशाङ्ग गणिपिटक में भावाभाव, हेतु-अहेतु, कारण-अकारण, जीव-अजीव भव्य-अभव्य, सिद्ध-असिद्ध-इनका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है ।

द्वादशाङ्ग-विराधना-फल

मूलम्—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिंसु ।

इस पाठ में, **आणाए विराहित्ता**—आज्ञया विराध्य, पद दिया है। इसका आशय यह है कि द्वादशाङ्ग-गणिपिटक ही आज्ञा है, क्योंकि जिस शास्त्र में संसारी जीवों के हित के लिए जो कुछ कथन किया गया है उसी को आज्ञा कहते हैं। वह आज्ञा तीन प्रकार से प्रतिपादन की गई है, जैसेकि सूत्राज्ञा, अर्थाज्ञा और उभयाज्ञा।

जो अज्ञान एवं असत्यहठ वश से अन्यथा सूत्र पढ़ता है, जमालिकुमार आदिवत्, उसका नाम सूत्राज्ञा विराधना है। जो अभिनिवेश के वश होकर अन्यथा द्वादशाङ्ग की प्ररूपणा करता है, वह अर्थ आज्ञा विराधना है, गोष्ठामाहिलवत्। जो श्रद्धाहीन होकर द्वादशाङ्ग के उभयागम का उपहास करता है, उसे उभयाज्ञा विराधना कहते हैं। इस प्रकार की उत्सूत्र प्ररूपण अनन्तसंसारी या अभव्यजीव ही कर सकते हैं। अथवा जो पंचाचार पालन करने वाले हैं, ऐसे धर्माचार्य के हितोपदेश रूप वचन को आज्ञा कहते हैं। जो उस आज्ञा का पालन नहीं करता, वह परामार्थ से द्वादशाङ्ग वाणी की विराधना करता है। इसी प्रकार चूर्णिकार भी लिखते हैं—"**अहवा-आणत्ति पंच विहायारणसीलस्स गुरुणो हियोवएस वयणं आणा, तमन्नहा आयरंतेण गणिपिडगं विराहियं भवइ त्ति।**" इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि आज्ञा-विराधन करने का फल निश्चय ही भव भ्रमण है।

द्वादशाङ्ग-आराधना का फल

मूलम्—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा अणाए आराहित्ता चाउरंतसंसारकंतारं वीइवइंसु।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतसंसारकंतारं वीइवयंति।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए, आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइस्संति।

छाया—इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकमतीते कालेऽनन्ताजीवा आज्ञयाऽऽराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजिषुः। ईत्येतद् द्वादशाङ्गं प्रत्युत्पन्नकाले परीता जीवा आज्ञयाऽऽराध्य चतुरन्तंससाकांतारं व्यतिव्रजन्ति। इत्येद् द्वादशाङ्कंग-णिपिटकमनन्ता जीवा आज्ञयाऽऽराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजिष्यन्ति।

पदार्थ—**इच्चेइअं**—इस प्रकार से इस **दुवालसंग गणिपिडगं**—द्वादशाङ्ग गणिपिटक की **तीए काले**—भूतकाल में **अणंता जीवा**—अनन्त जीव **आणाए**—आज्ञा से **आराहित्ता**—आराधना कर **चाउरंत संसार कंतारं**—चतुर्गति रूप संसार को **वीइवइंसु**—पार कर गए।

इच्चेइअं—इस प्रकार इस **दुवालसंगं गणिपिडगं**—द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की **पडुप्पण्ण काले**—वर्तमान काल में **परित्ता जीवा**—परिमित जीव **आणाए आराहित्ता**—आज्ञा से आराधन करके **चाउरंतं संसार कंतारं**—चार गतिरूप संसार कन्तार को **वीइवयंति**—पार कर जाते हैं।

इच्चेइअं—इस प्रकार इस **दुवालसंगं गणिपिडगं**—द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक की **अणागए काले**—अनागत काल में **अणंता जीवा**—अनंत जीव **आणाए आराहित्ता**—आज्ञा से आराधना करके **चाउरंतं संसार कंतारं**—चार गतिरूप संसार कंतार को **वीइवइस्संति**—पार करेंगे।

भावार्थ—इस प्रकार इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की भूत काल में आज्ञा से आराधना करके अनन्त जीव संसार रूप जंगल को पार कर गए।

इसी प्रकार इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की वर्तमान काल में परिमित जीव आज्ञा से आराधना करके चार गतिरूप संसार को पार करते हैं।

इसी प्रकार इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की आज्ञा से आराधना करके अनन्त जीव चारगति संसार को पार करेंगे।

टीका—इस सूत्र में आज्ञा पालन करने का त्रैकालिक फल वर्णन किया है, जैसे कि जिन जीवों ने द्वादशांग गणिपिटक की सम्यक्तया आराधना की और कर रहे हैं तथा अनागत काल में करेंगे, वे जीव चतुर्गति रूप संसार अटवी को निर्विघ्नता से उल्लंघन कर रहे हैं और अनागत काल में उल्लंघन करेंगे। जिस प्रकार अटवी विविध प्रकार के हिंस्र जन्तुओं और नाना प्रकार के उपद्रवों से युक्त होती है, उसमें गहन अन्धकार होता है, उसे पार करने के लिए प्रकाश की परम आवश्यकता रहती है, वैसे ही संसार कानन भी शारीरिक, मानसिक, जन्म-मरण और रोग-शोक से परिपूर्ण है, उसे श्रुतज्ञान के प्रकाश-पुंज से ही पार किया जा सकता है। आत्म-कल्याण में और पर-कल्याण में परम सहायक श्रुतज्ञान ही है। अतः इसका आलंबन प्रत्येक मुमुक्षु को ग्रहण करना चाहिए, व्यर्थ के विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। सूत्रों में जो स्वानुभूतयोग आत्मोत्थान, कल्याण एवं स्वस्थ होने के बताए हैं, उनका यथाशक्ति उपयोग करना चाहिए, तभी कर्मों के बन्धन कट सकते हैं। श्रुतज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। सन्मार्ग में चलना और उन्मार्ग को छोड़ना ही इस ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। जहां ज्ञान का प्रकाश होता है, वहाँ रागद्वेषादि चोरों का भय नहीं रहता। निर्विघ्नता से सुख पूर्वक जीवन यापन करना और अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना यही श्रुतज्ञानी बनने का सार है।

द्वादशाङ्गगणिपिटक का स्थायित्व

मूलम्—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ।

भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ। धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

से जहानामए पंचत्थिकाए, न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च भवइ अ, भविस्सइ अ। धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

इस पाठ में, आणाए विराहित्ता—आज्ञया विराध्य, पद दिया है। इसका आशय यह है कि द्वादशाङ्ग-गणिपिटक ही आज्ञा है, क्योंकि जिस शास्त्र में संसारी जीवों के हित के लिए जो कुछ कथन किया गया है उसी को आज्ञा कहते हैं। वह आज्ञा तीन प्रकार से प्रतिपादन की गई है, जैसेकि सूत्राज्ञा, अर्थाज्ञा और उभयाज्ञा।

जो अज्ञान एवं असत्यहठ वश से अन्यथा सूत्र पढ़ता है, जमालिकुमार आदिवत्, उसका नाम सूत्राज्ञा विराधना है। जो अभिनिवेश के वश होकर अन्यथा द्वादशाङ्ग की प्ररूपणा करता है, वह अर्थ आज्ञा विराधना है, गोष्ठामाहिलवत्। जो श्रद्धाहीन होकर द्वादशाङ्ग के उभयागम का उपहास करता है, उसे उभयाज्ञा विराधना कहते हैं। इस प्रकार की उत्सूत्र प्ररूपण अनन्तसंसारी या अभव्यजीव ही कर सकते हैं। अथवा जो पंचाचार पालन करने वाले हैं, ऐसे धर्माचार्य के हितोपदेश रूप वचन को आज्ञा कहते हैं। जो उस आज्ञा का पालन नहीं करता, वह परामार्थ से द्वादशाङ्ग वाणी की विराधना करता है। इसी प्रकार चूर्णिकार भी लिखते हैं—"अहवा-आणत्ति पंच विहायारणसीलस्स गुरुणो हियोवएस वयणं आणा, तमन्नहा आयरंतेण गणिपिडगं विराहियं भवइ त्ति।" इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि आज्ञा-विराधन करने का फल निश्चय ही भव भ्रमण है।

द्वादशाङ्ग-आराधना का फल

मूलम्—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतंसंसारकंतारं वीइवइंसु।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतंसंसारकंतारं वीइवयंति।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए, आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइस्संति।

छाया—इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकमतीते कालेऽनन्ताजीवा आज्ञयाऽऽराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजिषुः। ईत्येतद् द्वादशङ्गं प्रत्युत्पन्नकाले परीता जीवा आज्ञयाऽऽराध्य चतुरन्तंससाकांतारं व्यतिव्रजन्ति। इत्येद् द्वादशाङ्कंग-णिपिटकमनन्ता जीवा आज्ञयाऽऽराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजिष्यन्ति।

पदार्थ—इच्चेइअं—इस प्रकार से इस दुवालसंग गणिपिडगं—द्वादशाङ्ग गणिपिटक की तीए काले—भूतकाल में अणंता जीवा—अनन्त जीव आणाए—आज्ञा से आराहित्ता—आराधना कर चाउरंतं संसार कंतारं—चतुर्गति रूप संसार को वीइवइंसु—पार कर गए।

इच्चेइअं—इस प्रकार इस दुवालसंगं गणिपिडगं—द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की पडुप्पण्ण काले—वर्तमान काल में परित्ता जीवा—परिमित जीव आणाए आराहित्ता—आज्ञा से आराधन करके चाउरंतं संसार कंतारं—चार गतिरूप संसार कन्तार को वीइवयंति—पार कर जाते हैं।

इच्चेइअं—इस प्रकार इस दुवालसंगं गणिपिडगं—द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक की अणागए काले—अनागत काल में अणंता जीवा—अनंत जीव आणाए आराहित्ता—आज्ञा से आराधना करके चाउरंतं संसार कंतारं—चार गतिरूप संसार कंतार को वीइवइस्संति—पार करेंगे।

इसी प्रकार यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक—कभी न था, वर्त्तमानमें नहीं है, भविष्य में नहीं होगा, ऐसा नहीं है। भूत में था, अब है और आगे भी रहेगा। यह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

वह संक्षेप में चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भावसे, इनमें—

द्रव्य से श्रुतज्ञानी—उपयोग से सब द्रव्यों को जानता और देखता है।

क्षेत्र से श्रुतज्ञानी—उपयोग से सब क्षेत्र को जानता और देखता है।

काल से श्रुतज्ञानी—उपयोग सहित सर्वकाल को जानता और देखता है।

भाव से श्रुतज्ञानी—उपयोगपूर्वक सब भावों को जानता और देखता है ॥सूत्र ५७ ॥

टीका—इस सूत्र में सूत्रकर्त्ता ने द्वादशाङ्ग सूत्रों को नित्य सिद्ध किया है। जिस प्रकार पञ्चास्ति काय का अस्तित्व तीन काल में रहता है, उसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक का अस्तित्व भी सदा भावी है। इस के लिए सूत्रकार ने ध्रुव-नियत-शाश्वत-अक्षय-अव्यय-अवस्थित और नित्य इन पदों का प्रयोग किया है। पञ्चास्तिकाय और द्वादशाङ्ग गणिपिटक इन की समानता सात पदों से की है, जैसे कि पञ्चास्तिकाय द्रव्यार्थिक नय से नित्य है, वैसे ही गणिपिटक भी नित्य है। इसका विशेष विवरण उदाहरण, दृष्टान्त और उपमा आदि के द्वारा निम्न लिखित से जानना चाहिए—

१—ध्रुव—जैसे मेरु सदाकालभावी ध्रुव है, अचल है, वैसे ही गणिपिटक भी ध्रुव है।

२—नियत—सदा-सर्वदा जीवादि नवतत्त्व का प्रतिपादक होने से नियत है।

३—शाश्वत—इस में पञ्चास्तिकाय का वर्णन सदा काल से आ रहा है, इसलिए गणिपिटक भी शाश्वत है।

४—अक्षय—जैसे गङ्गा-सिन्धु महानदियों का निरन्तर प्रवाह होने पर भी उन का मूल स्रोत अक्षय है, वैसे ही अनेक शिष्यों को वाचना प्रदान करने पर भी अक्षय है, अखूट भण्डार है, वह क्षय होने वाला नहीं है।

५—अव्यय—जैसे मानुषोत्तर पर्वत से बाहिर जितने समुद्र हैं, वे सब अव्यय रहते हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, वैसे ही द्वादशाङ्ग गणिपिटक भी अव्यय है।

६—अवस्थित—जैसे जम्बूद्वीप आदि महाद्वीप अपने प्रमाण में अवस्थित हैं, वैसे ही बारह अंग सूत्र भी अवस्थित हैं।

७—नित्य—जैसे आकाश आदि द्रव्य नित्य हैं, वैसे ही द्वादशाङ्ग गणिपिटक भी सदा काल भावी है।

ये सभी पद द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से गणिपिटक और पञ्चास्तिकाय के विषय में कथन किए गए हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्ष- से द्वादशाङ्ग गणिपिटक का वर्णन सादि-सान्त आदि श्रुत में किया जा चुका है। इस कथन से ईश्वर कर्तृत्ववाद का भी निषेध हो जाता है। इस सूत्र में पञ्चास्तिकाय को द्रव्यार्थिक नय से अनादि एवं नित्य बताए हैं। इतना ही नहीं बल्कि संक्षेप से श्रुतज्ञानी के विषय भेद कथन किए गए हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान छद्मस्थ जीव के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं पाया जाता। श्रुतज्ञान का विषय

से समासओ चउविहे पण्णत्ते, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, तत्थ—

दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ,

खित्तओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ, पासइ,

कालओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ, पासइ,

भावओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ, पासइ, ।।सूत्र५७।।

छाया—इत्येद् द्वादशाङ्गगणिपिटकं न कदाचिन्नासीत्, न कदाचिद् भवति, न कदाचिन्नभविष्यति । अभूच्च, भवति च, भविष्यति च । ध्रुवं, नियतं, शाश्वतम्, अक्षयम्, अव्ययम्, अवस्थितम्, नित्यम् ।

स यथानमकः पञ्चास्तिकायो न कदाचिन्नासीत्, न कदाचिन्नास्ति, न कदाचिन्न भविष्यति । अभूच्च, भवतिच, भविष्यति च । ध्रुवः, नियतः, शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः, नित्यः ।

एवमेव द्वादशाङ्गं गणिपिटकं न कदाचिन्नासीत्, न कदाचिन्नास्ति, न कदाचिन्न भविष्यति । अभूच्च, भवति च, भविष्यति च । ध्रुवं, नियतं, शाश्वतम्, अक्षयम्, अव्ययम्, अवस्थितं, नित्यम् ।

तत्समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः । तत्र—

द्रव्यतः श्रुतज्ञानी—उपयुक्तः सर्वद्रव्याणि जानाति, पश्यति ।

क्षेत्रतः श्रुतज्ञानी—उपयुक्तः सर्वं क्षेत्रं जानाति, पश्यति ।

कालतः श्रुतज्ञानी—उपयुक्तः सर्वं कालं जानाति, पश्यति ।

भावतः श्रुतज्ञानी—उपयुक्तः सर्वान् भावान् जानाति, पश्यति ।।सूत्र ५७।।

भावार्थ—इस प्रकार यह द्वादशाङ्ग-गणिपिटक न कदाचित् नहीं था अर्थात् सदैवकाल था, वर्त्तमान काल में नहीं है अर्थात् सर्वदा रहता है, न कदाचित् न होगा अर्थात् भविष्य में होगा। भूत काल में था, वर्त्तमान काल में है और भविष्य में रहेगा। यह मेरु आदिवत् ध्रुव है, जीवादिवत् नियत है, तथा पञ्चास्तिकायलोकवत् नियत है, गंगा सिन्धु के प्रवाहवत् शाश्वत है, गङ्गा-सिन्धु के प्रवाहवत् अक्षय है, मानुषोत्तर पर्वत के बाहिर समुद्रवत् अव्यय है, जम्बूद्वीपवत् सदैव काल अपने प्रमाण में अवस्थित है, आकाशवत् नित्य है ।

जैसे पञ्चास्तिकाय न कदाचित् नहीं थी, न कदाचित् नहीं है, न कदाचित नहीं होगी, ऐसा नहीं है अर्थात् सर्वदा काल—भूत में थी, वर्तमान में है, भविष्यत् में रहेगी। ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है ।

उत्कृष्ट कितना है, इस का उल्लेख सूत्रकार ने स्वयं किया है, जैसे कि—

द्रव्यत:—द्रव्य से श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यों को उपयोग पूर्वक जानता और देखता है। इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यों को कैसे देखता है? इस के समाधान में कहा जाता है कि यह उपमावाची शब्द है जैसे कि अमुक ज्ञानी ने मेरु आदि पदार्थों का ऐसा अच्छा निरूपण किया मानों उन्होंने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया, इसी प्रकार वृत्तिकार भी लिखते हैं—

"ननु पश्यतीति कथं? नहि श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानज्ञेयानि सकलानि, वस्तूनि पश्यति, नैषः दोषः, उपमाया अत्र विवक्षितत्वात्, पश्यतीव पश्यति, तथाहि मेर्वादीन् पदार्थानदृष्टानप्याचार्यः शिष्येभ्य आलिख्य दर्शयति ततस्तेषां श्रोतृणामेवं बुद्धिरुपजायते—भगवानेष गणी साक्षात्पश्यन्निव व्याचष्टे इति, एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयं, ततो न कश्चिद् दोषः, अन्ये तु न पश्यति—इति पठन्ति, तत्र चोद्यस्यानवकाश एव, श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादि श्रुतकेवली परिगृह्यते, तस्यैव नियमतः श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादि परिज्ञानसंभवात्, तदारतस्तु ये श्रुतज्ञानिनस्ते सर्वं द्रव्यादि परिज्ञाने भजनीयाः, केचित् सर्वं द्रव्यादि जानन्ति केचिन्नेति भावः, इत्थम्भूता च भजना मतिवैचित्र्याद्वेदितव्या।"

इसी प्रकार विशिष्ट श्रुतज्ञानी उपयोगपूर्वक सर्व द्रव्यों को सर्व क्षेत्र को सर्व काल को, और सर्व भावों को जानता व देखता है। देशतः और सर्वतः की कल्पना स्वयं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे श्रुतज्ञानावरणीय का क्षयोपशमभाव होता है, वैसे ही जीव में जानने और देखने की शक्ति प्रकाशित होती है।

श्रुतज्ञान और नन्दीसूत्र का उपसंहार

मूलम्—१. अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च।
गमिअं अंगपविट्ठं, सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥९३॥

२. आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं।
बिंति सुअनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥९४॥

३. सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ अ ईहए याऽवि
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं

४. मूअं हुंकारं वा, बाढंक्कार पडिपुच्छइ वीमंस
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठा सत्त

५. सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अ

से त्तं अंगपविट्ठं, से त्तं सुअनाणं, से त्तं परोक्खनाणं, से त्तं

॥ नन्दी समत्ता ॥

छाया—१. अक्षरसंज्ञि-सम्यक्, सादिकं खलु सपर्यवसितञ्च ।
गमिकमङ्गप्रविष्टं, सप्ताऽप्येते सप्रतिपक्षाः ॥९३॥

२. आगमशास्त्रग्रहणं, यद्बुद्धिगुणैरष्टभिर्दृष्टम् ।
ब्रुवते श्रुतज्ञानलाभं, तत्पूर्वविशारदा धीराः ॥९४॥

३. शुश्रूषते प्रतिपृच्छति, शृणोति गृह्णाति चेहते वाऽपि ।
ततोऽपोहते वा धारयति, करोति वा सम्यक् ॥९४॥

४. मूकं हुंकारं वाढंकारं, प्रतिपृच्छां विमर्शम् ।
ततः प्रसङ्गपरायणं च, परिनिष्ठा सप्तमके ॥९३॥

५. सूत्रार्थः खलु प्रथमः, द्वितीयो निर्युक्ति-मिश्रितो भणितः ।
तृतीयश्च, निरवशेषः, एष विधिर्भवत्यनुयोगे ॥९७॥

तदेतदङ्गप्रविष्टम्, तदेतच्छ्रुतज्ञानम्, तदेतत्परोक्षज्ञानम्,

सैषा नन्दी समाप्ता

पदार्थ—अक्खर—अक्षरश्रुत-अनक्षरश्रुत, सन्नी—संज्ञीश्रुत-असंज्ञीश्रुत, सम्मं—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत, साइयं—सादि और अनादि श्रुत, खलु—अवधारणार्थ च—और सपज्जवसिअं—सपर्यवसित-अपर्यवसित, गमिअं—गमिक और अगमिक अंगपविट्ठं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य एए—ये सपवडिवक्खा—सप्रतिपक्ष १४ भेद हैं ।

आगमसत्थग्गहणं—आगम शास्त्र का अध्ययन जं—जो अट्ठहिं बुद्धिगुणेहिं—बुद्धि के आठ गुणों से दिट्ठं—देखा गया है, तं—उसको पुव्वविसारया धीरा—पूर्व विशारद धीर आचार्य सुअनाणलंभं—श्रुतज्ञान का लाभ बिंति—कथन करते हैं ।

वे आठ गुण – सुस्सूसइ—विनययुत गुरु के वचन सुनने वाला, पडिपुच्छइ—विनययुत, प्रसन्नचित होकर पूछता है, सुणेइ—सावधानी से सुनता है, अ—और गिण्हइ—सुनकर अर्थ ग्रहण करता है, ईहए याऽवि—ग्रहण के पश्चात् पूर्वापर अविरोध से पर्यालोचन करता है, च—समुच्चय अर्थ में, अपि से पर्यालोचन ग्रहण किया गया है, तत्तो—तत्पश्चात् अपोहए व—"यह ऐसा ही है" इस प्रकार विचारकर फिर धारेइ—सम्यक् प्रकार से धारण करता है वा—अथवा करेइ वा सम्मं—सम्यक्तया यथोक्त अनुष्ठान करता है ।

सुनने की विधि—मूअं—मूक बन कर सुने, हुंकारं वा—अथवा 'हुँ'—ऐसे कहे, अथवा 'तहत्ति' कहे, फिर वाढक्कारं—यह ऐसे ही है, पडिपुच्छइ—फिर पूछता है, पुनः वीमंसा—विमर्श अर्थात् विचार करे, तत्तो—तत्पश्चात् पसंगपरायणंच—उत्तर उत्तरगुण के प्रसंग में पारगामी होता है परिणिट्ठ सत्तमए—पुनः गुरुवत् भाषण-प्ररूपण करे, ये सात गुण सुनने के हैं ।

व्याख्यान की विधि—सुत्तत्थो खलु पढमो—प्रथम अनुयोग सूत्र व अर्थ रूप, 'खलु' अवधारणार्थ में है, बीओ—दूसरा अनुयोग सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति मिश्र, भणियो—कहा गया है य—और तइओ—

उत्कृष्ट कितना है, इस का उल्लेख सूत्रकार ने स्वयं किया है, जैसे कि—

द्रव्यत:—द्रव्य से श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यों को उपयोग पूर्वक जानता और देखता है। इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यों को कैसे देखता है? इस के समाधान में कहा जाता है कि यह उपमावाची शब्द है जैसे कि अमुक ज्ञानी ने मेरु आदि पदार्थों का ऐसा अच्छा निरूपण किया मानों उन्होंने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया, इसी प्रकार वृत्तिकार भी लिखते हैं—

"ननु पश्यतीति कथं ? नहि श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानज्ञेयानि सकलानि, वस्तूनि पश्यति, नैषः दोषः, उपमाया अत्र विवक्षितत्वात्, पश्यतीव पश्यति, तथाहि मेर्वादीन् पदार्थानदृष्टानप्याचार्यः शिष्येभ्य आलिख्य दर्शयति ततस्तेषां श्रोतृणामेवं बुद्धिरुपजायते—भगवानेष गणी साक्षात्पश्यन्निव व्याचष्टे इति, एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयं, ततो न कश्चिद् दोषः, अन्ये तु न पश्यति—इति पठन्ति, तत्र चोद्यस्यानवकाश एव, श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादि श्रुतकेवली परिगृह्यते, तस्यैव नियमतः श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादि परिज्ञानसंभवात्, तदारतस्तु ये श्रुतज्ञानिनस्ते सर्वे द्रव्यादि परिज्ञाने भजनीयाः, केचित् सर्व द्रव्यादि जानन्ति केचिन्नेति भावः, इत्थम्भूता च भजना मतिवैचित्र्याद्वेदितव्या।"

इसी प्रकार विशिष्ट श्रुतज्ञानी उपयोगपूर्वक सर्व द्रव्यों को सर्व क्षेत्र को सर्व काल को, और सर्व भावों को जानता व देखता है। देशतः और सर्वतः की कल्पना स्वयं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे श्रुतज्ञानावरणीय का क्षयोपशमभाव होता है, वैसे ही जीव में जानने और देखने की शक्ति प्रकाशित होती है।

श्रुतज्ञान और नन्दीसूत्र का उपसंहार

मूलम्—१. अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च।
गमिअं अंगपविट्ठं, सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥९३॥

२. आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं।
विंति सुअनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥९४॥

३. सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ अ ईहए याऽवि।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥९५॥

४. मूअं हुंकार वा, बाढंक्कार पडिपुच्छइ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठा सत्तमए ॥९६॥

५. सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥९७॥

से त्तं अंगपविट्ठं, से त्तं सुअनाणं, से त्तं परोक्खनाणं, से त्तं नन्दी।

॥ नन्दी समत्ता ॥

छाया—१. अक्षरसंज्ञि-सम्यक्, सादिकं खलु सपर्यवसितञ्च।
गमिकमङ्गप्रविष्टं, सप्ताऽप्येते सप्रतिपक्षाः ॥९३॥

२. आगमशास्त्रग्रहणं, यद्बुद्धिगुणैरष्टभिर्दृष्टम्।
ब्रुवते श्रुतज्ञानलाभं, तत्पूर्वविशारदा धीराः ॥९४॥

३. शुश्रूषते प्रतिपृच्छति, शृणोति गृह्णाति चेहते वाऽपि।
ततोऽपोहते वा धारयति, करोति वा सम्यक् ॥९४॥

४. मूकं हुंकारं वाढंकारं, प्रतिपृच्छां विमर्शम्।
ततः प्रसङ्गपरायणं च, परिनिष्ठा सप्तमके ॥९३॥

५. सूत्रार्थः खलु प्रथमः, द्वितीयो निर्युक्ति-मिश्रितो भणितः।
तृतीयश्च, निरवशेषः, एष विधिर्भवत्यनुयोगे ॥९७॥

तदेतदङ्गप्रविष्टम्, तदेतच्छ्रुतज्ञानम्, तदेतत्परोक्षज्ञानम्,

सैषा नन्दी समाप्ता

पदार्थ—**अक्खर**—अक्षरश्रुत-अनक्षरश्रुत, **सन्नी**—संज्ञीश्रुत-असंज्ञीश्रुत, **सम्मं**—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत, **साइयं**—सादि और अनादि श्रुत, **खलु**—अवधारणार्थ **च**—और **सपज्जवसिअं**—सपर्यवसित-अपर्यवसित, **गमिअं**—गमिक और अगमिक **अंगपविट्ठं**—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य **एए**—ये **सपवडिवक्खा**—सप्रतिपक्ष १४ भेद हैं।

आगमसत्थग्गहणं—आगम शास्त्र का अध्ययन **जं**—जो **अट्ठहिं बुद्धिगुणेहिं**—बुद्धि के आठ गुणों से **दिट्ठं**—देखा गया है, **तं**—उसको **पुव्वविसारया धीरा**—पूर्व विशारद धीर आचार्य **सुअनाणलंभं**—श्रुत-ज्ञान का लाभ **बिंति**—कथन करते हैं।

वे आठ गुण – **सुस्सूसइ**—विनययुत गुरु के वचन सुनने वाला, **पडिपुच्छइ**—विनययुत, प्रसन्नचित होकर पूछता है, **सुणेइ**—सावधानी से सुनता है, **अ**—और **गिण्हइ**—सुनकर अर्थ ग्रहण करता है, **ईहए याऽवि**—ग्रहण के पश्चात् पूर्वापर अविरोध से पर्यालोचन करता है, च—समुच्चय अर्थ में, अपि से पर्यालोचन ग्रहण किया गया है, **तत्तो**—तत्पश्चात् **अपोहए व**—"यह ऐसा ही है" इस प्रकार विचारकर फिर **धारेइ**—सम्यक् प्रकार से धारण करता है **वा**—अथवा **करेइ वा सम्मं**—सम्यक्तया यथोक्त अनुष्ठान करता है।

सुनने की विधि—**मूअं**—मूक बन कर सुने, **हुंकारं वा**—अथवा 'हुँ'—ऐसे कहे, अथवा 'तहत्ति' कहे, फिर **वाढंक्कारं**—यह ऐसे ही है, **पडिपुच्छइ**—फिर पूछता है, पुनः **वीमंसा**—विमर्श अर्थात् विचार करे, **तत्तो**—तत्पश्चात् **पसंगपरायणंच**—उत्तर उत्तरगुण के प्रसंग में पारगामी होता है **परिणिट्ठ सत्तमए**—पुनः गुरुवत् भाषण-प्ररूपण करे, ये सात गुण सुनने के हैं।

व्याख्यान की विधि—**सुत्तत्थो खलु पढमो**—प्रथम अनुयोग सूत्र व अर्थ रूप, 'खलु' अवधारणार्थ में है, **बीओ**—दूसरा अनुयोग सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति मिश्र, **भणियो**—कहा गया है **य**—और **तइओ**—

उत्कृष्ट कितना है, इस का उल्लेख सूत्रकार ने स्वयं किया है, जैसे कि—

द्रव्यत:—द्रव्य से श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यों को उपयोग पूर्वक जानता और देखता है। इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि श्रुतज्ञानी सर्व द्रव्यों को कैसे देखता है ? इस के समाधान में कहा जाता है कि यह उपमावाची शब्द है जैसे कि अमुक ज्ञानी ने मेरु आदि पदार्थों का ऐसा अच्छा निरूपण किया मानों उन्होंने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया, इसी प्रकार वृत्तिकार भी लिखते हैं—

"ननु पश्यतीति कथं ? नहि श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानज्ञेयानि सकलानि, वस्तूनि पश्यति, नैषः दोषः, उपमाया अत्र विवक्षितत्वात्, पश्यतीव पश्यति, तथाहि मेर्वादीन् पदार्थानदृष्टानप्याचार्यः शिष्येभ्य आलिख्य दर्शयति ततस्तेषां श्रोतॄणामेवं बुद्धिरुपजायते—भगवानेष गणी साक्षात्पश्यन्निव व्याचष्टे इति, एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयं, ततो न कश्चिद् दोषः, अन्ये तु न पश्यति—इति पठन्ति, तत्र चोद्यस्यानवकाश एव, श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादि श्रुतकेवली परिगृह्यते, तस्यैव नियमतः श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादि परिज्ञानसंभवात्, तदारतस्तु ये श्रुतज्ञानिनस्ते सर्व द्रव्यादि परिज्ञाने भजनीयाः, केचित् सर्व द्रव्यादि जानन्ति केचिन्नेति भावः, इयम्भूता च भजना मतिवैचित्र्याद्वेदितव्या।"

इसी प्रकार विशिष्ट श्रुतज्ञानी उपयोगपूर्वक सर्व द्रव्यों को सर्व क्षेत्र को सर्व काल को, और सर्व भावों को जानता व देखता है। देशत: और सर्वत: की कल्पना स्वयं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे श्रुतज्ञानावरणीय का क्षयोपशमभाव होता है, वैसे ही जीव में जानने और देखने की शक्ति प्रकाशित होती है।

श्रुतज्ञान और नन्दीसूत्र का उपसंहार

मूलम्—१. अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च।
गमिअं अंगपविट्ठं, सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥९३॥

२. आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं।
बिंति सुअनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥९४॥

३. सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ अ ईहए याऽवि।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥९५॥

४. मूअं हुंकार वा, वाढंक्कार पडिपुच्छइ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठा सत्तमए ॥९६॥

५. सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥९७॥

से त्तं अंगपविट्ठं, से त्तं सुअनाणं, से त्तं परोक्खनाणं, से त्तं नन्दी।

॥ नन्दी समत्ता ॥

छाया—१. अक्षर-संज्ञि-सम्यक्, सादिकं खलु सपर्यवसितञ्च ।
गमिकमङ्गप्रविष्टं, सप्ताऽप्येते सप्रतिपक्षाः ॥९३॥

२. आगमशास्त्रग्रहणं, यद्बुद्धिगुणैरष्टभिर्दृष्टम् ।
ब्रुवते श्रुतज्ञानलाभं, तत्पूर्वविशारदा धीराः ॥९४॥

३. शुश्रूषते प्रतिपृच्छति, शृणोति गृह्णाति चेहते वाऽपि ।
ततोऽपोहते वा धारयति, करोति वा सम्यक् ॥९५॥

४. मूकं हुंकारं वाऽऽढंकारं, प्रतिपृच्छां विमर्शम् ।
ततः प्रसङ्गपारायणं च, परिनिष्ठा सप्तमके ॥९६॥

५. सूत्रार्थः खलु प्रथमः, द्वितीयो निर्युक्ति-मिश्रितो भणितः ।
तृतीयश्च, निरवशेषः, एष विधिर्भवत्यनुयोगे ॥९७॥

तदेतदङ्गप्रविष्टम्, तदेतच्छ्रुतज्ञानम्, तदेतत्परोक्षज्ञानम्,

सैषा नन्दी समाप्ता

पदार्थ—अक्खर—अक्षरश्रुत-अनक्षरश्रुत, सन्नी—संज्ञीश्रुत-असंज्ञीश्रुत, सम्मं—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत, साइयं—सादि और अनादि श्रुत, खलु—अवधारणार्थ च—और सपज्जवसिअं—सपर्यवसित-अपर्यवसित, गमिअं—गमिक और अगमिक अंगपविट्ठं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य एए—ये सपडिवक्खा—सप्रतिपक्ष १४ भेद हैं ।

आगमसत्थग्गहणं—आगम शास्त्र का अध्ययन जं—जो अट्ठहिं बुद्धिगुणेहिं—बुद्धि के आठ गुणों से दिट्ठं—देखा गया है, तं—उसको पुव्वविसारया धीरा—पूर्व विशारद धीर आचार्य सुअनाणलंभं—श्रुत-ज्ञान का लाभ बिंति—कथन करते हैं ।

वे आठ गुण – सुस्सूसइ—विनययुत गुरु के वचन सुनने वाला, पडिपुच्छइ—विनययुत, प्रसन्नचित होकर पूछता है, सुणेइ—सावधानी से सुनता है, अ—और गिण्हइ—सुनकर अर्थ ग्रहण करता है, ईहए याऽवि—ग्रहण के पश्चात् पूर्वापर अविरोध से पर्यालोचन करता है, च—समुच्चय अर्थ में, अपि से पर्यालोचन ग्रहण किया गया है, तत्तो—तत्पश्चात् अपोहए च—"यह ऐसा ही है" इस प्रकार विचारकर फिर धारेइ—सम्यक् प्रकार से धारण करता है वा—अथवा करेइ वा सम्मं—सम्यक्तया यथोक्त अनुष्ठान करता है ।

सुनने की विधि—मूअं—मूक बन कर सुने, हुंकारं वा—अथवा 'हुँ'—ऐसे कहे, अथवा 'तहत्ति' कहे, फिर बाढंक्कारं—यह ऐसे ही है, पडिपुच्छइ—फिर पूछता है, पुनः वीमंसा—विमर्श अर्थात् विचार करे, तत्तो—तत्पश्चात् पसंगपरायणंच—उत्तर उत्तरगुण के प्रसंग में पारगामी होता है परिणिट्ठ सत्तमए—पुनः गुरुवत् भाषण-प्ररूपण करे, ये सात गुण सुनने के हैं ।

व्याख्यान की विधि—सुत्तत्थो खलु पढमो—प्रथम अनुयोग सूत्र व अर्थ रूप, 'खलु' अवधारणार्थ में है, बीओ—दूसरा अनुयोग सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति मिश्र, भणियो—कहा गया है य—और तइओ—

तृतीय अनुयोग **निरवसेसो**—सर्व प्रकार नय-निक्षेप से पूर्ण, **एस**—यह **अणुओगे**—अनुयोग में **विही होइ**—विधि होती है।

से त्तं अंगपविट्ठं—यह अङ्गप्रविष्ट श्रुत है **से त्तं सुयनाणं**—यह श्रुतज्ञान है, **से त्तं परोक्ख नाणं**—यह परोक्षज्ञान है, **से त्तं नंदी**—इस प्रकार यह नन्दीसूत्र सम्पूर्ण हुआ।

भावार्थ—अक्षर १, संज्ञी २, सम्यक् ३, सादि ४, सपर्यवसित ५, गमिक ६ और अङ्गप्रविष्ट ७, ये सात सप्रतिपक्ष करने से श्रुतज्ञान के १४ भेद हो जाते हैं।

आगम-शास्त्रों का अध्ययन जो बुद्धि के आठ गुणों से देखा गया है, उसे शास्त्र विशारद—जो व्रतपालन में धीर हैं, ऐसे आचार्य श्रुतज्ञान का लाभ कहते हैं—

वे आठ गुण इस प्रकार हैं—शिष्य विनययुक्त गुरु के मुखारविन्दु से निकले हुए वचनों को सुनना चाहता है। जब शंका होती है तब पुनः विनम्र होकर गुरु को प्रसन्न करता हुआ पूछता है। गुरु के द्वारा कहे जाने पर सम्यक् प्रकार से श्रवण करता है, सुनकर अर्थ रूप से ग्रहण करता है। ग्रहण करनेके अनन्तर पूर्वापर अविरोध से पर्यालोचन करता है। तत्पश्चात् 'यह ऐसे ही हैं' जैसा आचार्यश्री जी महाराज फर्माते हैं। उसके पश्चात् निश्चित अर्थ को हृदय में सम्यक् प्रकार से धारण करता है। फिर जैसा गुरु जी ने प्रतिपादन किया था, उसके अनुसार आचरण करता है।

इसके पश्चात् शास्त्रकार सुनने की विधि कहते हैं—

शिष्य मूक होकर अर्थात् मौन रहकर सुने, फिर हुंकार अथवा 'तहत्ति' ऐसा कहे। फिर वाढकार अर्थात् 'यह ऐसे ही है जैसा गुरुदेव फर्माते हैं।' पुनः शंका को पूछे कि 'यह किस प्रकार है ?' फिर प्रमाण, जिज्ञासा करे अर्थात् विचार-विमर्श करे। तत्पश्चात् उत्तर-उत्तर गुण प्रसंग में शिष्य पारगामी हो जाता है। ततः श्रवण-मनन आदि के पश्चात् गुरु-वत् भाषण और शास्त्र की प्ररूपणा करे। ये गुण शास्त्र सुनने के कथन किये गये हैं।

व्याख्या करने की विधि

प्रथम अनुयोग सूत्र और अर्थ रूप में कहे। दूसरा अनुयोग सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति कहा गया है। तीसरे अनुयोग में सर्वप्रकार नय-निक्षेप आदि से पूर्ण व्याख्या करे। इस तरह अनुयोग की विधि शास्त्रकारों ने प्रतिपादन की है।

यह श्रुतज्ञान का विषय समाप्त हुआ। इस प्रकार यह अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। यह परोक्षज्ञान का वर्णन हुआ। इस प्रकार श्रीनन्दीसूत्र भी परिसमाप्त हुआ।

टीका—आगमकारों की यह शैली सदा काल से अविच्छिन्न रही है कि जिस विषय को उन्होंने भेद-प्रभेदों सहित निरूपण किया, अन्त में वे उसका उपसंहार करना नहीं भूले। इसी प्रकार इस सूत्र का

उपसंहार करते हुए सूत्र के १४ भेदों का संक्षेप करने के पश्चात् अन्त में एक ही गाथा में सात पक्ष और सात प्रतिपक्ष इस प्रकार चौदह भेद कथन किए हैं, जैसे कि—

१ अक्षर, २ संज्ञी ३ सम्यक् ४ सादि, ५ सपर्यवसित, ६ गमिक, ७ अङ्गप्रविष्ट। ८ अनक्षर, ९ असंज्ञी, १० मिथ्या, ११ अनादि, १२ अपर्यवसित, १३ अगमिक, और १४ अनंगप्रविष्ट इस प्रकार श्रुत के मुख्य भेद १४ हैं, [illegible] । श्रुत एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय छद्मस्थ जीवों तक सभी में पाया जाता है।

श्रुतज्ञान का अधिकारी कौन ?

अल्पज्ञ, [illegible] और श्रुतज्ञान ये सब अधिकारी को ही दिए जाते हैं, अनधिकारी को देने से सिवाय हानि के और कोई लाभ नहीं है। श्रुतज्ञान देना गुरु के अधीन है। यदि शिष्य सुपात्र है तो श्रुतज्ञान देने में गुरु कभी भी कृपणता न करे, किन्तु कुशिष्य को श्रुतज्ञान देने से प्रवचन की अवहेलना होती है। सर्प को दूध पिलाने से [illegible] विष ही बनता है। अविनीत, रसलोलुपी, श्रद्धाविहीन तथा अयोग्य ये श्रुतज्ञान के सर्वथा अनधिकारी हैं, [illegible] और मिथ्यादृष्टि भी सर्वथा ही अनधिकारी हैं।

बुद्धि सबके पास है, वह किसी न किसी गुण या अवगुण से अनुरंजित रहती है। जो बुद्धि गुणग्राहिणी है, वही श्रुतज्ञान के योग्य है, शेष अयोग्य। गुरुवर और धीर पुरुषों का कहना है कि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बतलाने वाले आगम और मुमुक्षुओं को यथार्थ शिक्षा देने वाले शास्त्र उनका ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि विधि पूर्वक बुद्धि के आठ गुणों के साथ उनका अध्ययन किया जाए। जो व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए परीषह आदि से विचलित नहीं होते, उन्हें धीर कहते हैं। गाथा में आगम और शास्त्र इन दोनों को एक पद से ग्रहण किया है। इसका सारांश यह है—जो आगम है, वह निश्चय ही शास्त्र भी है, किन्तु जो शास्त्र है, वह आगम हो और न भी। क्योंकि अर्थशास्त्र, कोकशास्त्र आदि भी शास्त्र कहलाते हैं। अतः सूत्रकार ने गाथा में आगमशास्त्र का प्रयोग किया है। आगम से सम्बन्धित शास्त्र ही वास्तव में सूत्रकार को अभीष्ट है, अन्य नहीं। आगम विरुद्ध ग्रंथों से यदि सर्वथा निवृत्ति पाई जाए, तभी आगम-शास्त्रों का अध्ययन किया जा सकता है। वृत्तिकार ने भी अपने शब्दों में इस विषय का उल्लेख किया है —

"आगमेत्यादि-आ अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणा-रूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन स आगमः सचैवं व्युत्पत्त्या अवधिकेवलादिलक्षणोऽपि भवति, ततस्त-द्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-शास्त्रेति शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रमागमशास्त्रम्। आगमग्रहणेन षष्टीतंत्रादि कुशास्त्रव्यवच्छेदः,

बुद्धि के आठ गुण

जो मनुष्य बुद्धि के आठ गुणों से सम्पन्न है, वही श्रुतज्ञान से समृद्ध हो सकता है। श्रुतज्ञान आत्मा की सम्पत्ति है, जिसके बिना दुर्गति में ठोकरें खानी पड़ती हैं और उस श्रुत के सहयोग से आत्मा केवलालोक तक पहुंचने में समर्थ हो जाता है। निम्नलिखित आठ गुण श्रुतज्ञान के लाभ में असाधारण कारण हैं, जैसे कि—

१. सुस्सूसइ—इसका अर्थ है—उपासना या सुनने की इच्छा, जिसे जिज्ञासा भी कहते हैं।

सर्व प्रथम साधक विनय युक्त होकर गुरुदेव के चरणकमलों में वन्दन करे, फिर उनके मुखारविन्द से निकले हुए सुवचनरूप सूत्र व अर्थ सुनने की जिज्ञासा व्यक्त करे। जब तक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक व्यक्ति कुछ पूछ भी नहीं सकता।

२. **पडिपुच्छइ**—सूत्र या अर्थ सुनने पर यदि शंका उत्पन्न हो जाए, तो सविनय मधुर वचनों से गुरु के मन को प्रसन्न करते हुए गौतम स्वामी की तरह पूछ कर मन में रही हुई शंका दूर करनी चाहिए। श्रद्धा पूर्वक गुरुदेव के समक्ष पूछते रहने से तर्क शक्ति बढ़ती है और श्रुतज्ञान शंका-कलंक-पंक से निर्मल हो जाता है।

३. **सुणइ**—पूछने पर जो गुरुजन उत्तर देते हैं, उसे दत्तचित्त होकर सुने। जब तक शंका दूर न हो जाए, तब तक सविनय पूछताछ और श्रवण करता ही रहे, किन्तु अधिक बहस में न पड़कर गुरुजनों से संवाद करना चाहिए, विवाद के झंझट में न पड़े।

४. **गिण्हइ**—सुन कर सूत्र, अर्थ तथा किए हुए समाधान को हृदयंगम करे। अन्यथा सुना हुआ वह ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

५. **ईहते**—हृदयंगम किए हुए सूत्र व अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन-मनन करे ताकि वह ज्ञान मन का विषय बन सके। पर्यालोचन किए बिना धारणा दृढतम नहीं हो सकती।

६. **अपोहए**—चिन्तन-मनन करके अनुप्रेक्षा बल से सत् और असत् एवं सार और असार का निर्णय करें। छानबीन किए बिना चिन्तन करना भी कोई महत्त्व नहीं रखता, जैसे तुष से धान्य कणों को अलग किया जाता है, वैसे ही चिन्तन किए हुए श्रुतज्ञान की छानबीन करे।

७. **धारेइ**—निर्णीत-विशुद्ध सार-सार को धारण करे, वही ज्ञान जैन परिभाषा में विज्ञान कहाता है, विज्ञान के बिना ज्ञान अकिंचित्कर है, इसी को अनुभवज्ञान भी कहते हैं।

८. **करेइ वा सम्मं**—विज्ञान के महाप्रकाश से ही श्रुतज्ञानी चारित्र की आराधना सम्यक् प्रकार से कर सकता है। सन्मार्ग में संलग्न होना, चारित्र की आराधना में क्रिया करना, कर्मों पर विजय पाना ही वास्तव में श्रुतज्ञान का अन्तिम फल है। बुद्धि के उक्त आठ गुण सभी क्रियारूप हैं, गुण क्रिया को ही कहते है, निष्क्रिय को नहीं। ऐसा इस गाथा से ध्वनित होता है।

श्रवणविधि

शिष्य जब सविनय गुरु के समक्ष बद्धाञ्जलि सूत्र व अर्थ सुनने के लिए बैठता है तब किस विधि से सुनना चाहिए ? अब सूत्रकार उसी श्रवण विधि का उल्लेख करते हैं। विना विधि से सुना हुआ ज्ञान प्रायः व्यर्थ जाता है।

१. **मूअं**—जब गुरुदेव सूत्र या अर्थ सुनाने लगें, तब उनकी वाणी मूक—मौन रह कर ही शिष्य को सुननी चाहिए, अनुपयोगी इधर-उधर की बातें नहीं करनी चाहिए।

२. **हुंकार**—सुनते हुए बीच-बीच में हुंकार भी मस्ती में करते रहना चाहिए।

३. **बाढंकार**—भगवन् ! आप जो कुछ कहते हैं, वह सत्य है, या तहत्ति शब्द का प्रयोग यथा समय करते रहना चाहिए।

४. परिपृच्छा—जहां कहीं सूत्र या अर्थ, ठीक-ठीक समझ में नहीं आया या सुनने से रह गया, वहां थोड़ा-थोड़ा बीच में पूछ लेना चाहिए, किन्तु उस समय उनसे शास्त्रार्थ करने न लग जाए, इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

५. मीमांसा—गुरुदेव से वाचना लेते हुए शिष्य को चाहिए कि गुरु जिस शैली से या जिस आशय से समझाते हैं, साथ-साथ ही उस पर विचार भी करता रहे।

६. प्रसंगपारायण—इस प्रकार उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करता हुआ शिष्य सीखे हुए श्रुत का पारगामी बनने का प्रयास करे।

७. परिनिष्ठा—इस क्रम से वह श्रुतपारायण होकर आचार्य के तुल्य सैद्धान्तिक विषय का प्रतिपादन करने वाला बन जाता है। उक्त विधि से शिष्य यदि आगमों का अध्ययन करे तो निश्चय ही वह श्रुतका पारगामी हो जाता है। अतः अध्ययन विधिपूर्वक ही करना चाहिए।

अध्यापन का कार्यक्रम

आचार्य, उपाध्याय या बहुश्रुत सर्वप्रथम शिष्य को सूत्र का शुद्ध उच्चारण और अर्थ सिखाए। तत्पश्चात् उसी आगम को सूत्र स्पर्शी 'निर्युक्ति सहित पढ़ाए। तीसरी बार उसी सूत्र को वृत्ति-भाष्य, उत्सर्ग-अपवाद, और निश्चय-व्यवहार, इन सब का आशय नय, निक्षेप, प्रमाण और अनुयोग आदि विधि से सूत्र और अर्थ को व्याख्या सहित पढ़ाए। यदि गुरु शिष्य को इस क्रम से पढ़ाए तो वह गुरु निश्चय ही सिद्धसाध्य हो सकता है।अनुयोग के विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्न प्रकार हैं—

'सम्प्रति व्याख्यानविधिमभिधित्सुराह—सुत्तत्थो इत्यादि—

१. प्रथमानुयोगः—सूत्रार्थः सूत्रार्थप्रतिपादनपरः, 'खलु' शब्द एवकारार्थः स चावधारणे, ततोऽयमर्थ—गुरुणा प्रथमोऽनुयोगः सूत्रार्थाभिधानलक्षण एव कर्त्तव्य, मा भूत् प्राथमिकविनेयानां मतिमोहः।

२. द्वितीयोऽनुयोगः—सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितो भणितस्तीर्थकरगणधरैः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितं द्वितीयमनुयोगं गुरुर्विदध्यादित्याख्यातं तीर्थकरगणधरैरिति भावः।

३. तृतीयश्चानुयोगो निर्विशेषः प्रसक्तानुप्रसक्त प्रतिपादनलक्षण इत्येषः—उक्तलक्षणो विधिर्भवत्यनुयोगे व्याख्यायाम्, आह परिनिष्ठा सप्तमे इत्युक्तं, त्रयश्चनुयोगप्रकारास्तदेतत्कथम् ? उच्यते, त्रयाणामनुयोगानामन्यतमेन केनचित्प्रकारेण भूयो २ भण्यमानेन सप्तवाराः श्रवणं कार्यते ततो न कश्चिद्दोष, अथवा कश्चिन्मन्दमतिविनेयमधिकृत्यतदुक्तं द्रष्टव्यम्, न पुनरेष एव सर्वत्र श्रवणविधिनियमः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवणत एवाशेषग्रहणदर्शनादितिकृतं प्रसङ्गेन, सेत्तमित्यादि, तदेतच्छ्रुतज्ञानं, तदेतत्परोक्षमिति।"

इसका भावार्थ पहले लिखा जा चुका है। इस प्रकार अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान और परोक्ष का विषय वर्णन समाप्त हुआ। नन्दी सूत्र भी समाप्त हुआ।

जैनधर्मदिवाकर, जैनाचार्य

श्री आतमाराम जी महाराज द्वारा कृत

श्री नन्दीसूत्र की व्याख्या समाप्त

सर्व प्रथम साधक विनय युक्त होकर गुरुदेव के चरणकमलों में वन्दन करे, फिर उनके मुखारविन्द से निकले हुए सुवचनरूप सूत्र व अर्थ सुनने की जिज्ञासा व्यक्त करे। जब तक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक व्यक्ति कुछ पूछ भी नहीं सकता।

२. पडिपुच्छइ—सूत्र या अर्थ सुनने पर यदि शंका उत्पन्न हो जाए, तो सविनय मधुर वचनों से गुरु के मन को प्रसन्न करते हुए गौतम स्वामी की तरह पूछ कर मन में रही हुई शंका दूर करनी चाहिए। श्रद्धा पूर्वक गुरुदेव के समक्ष पूछते रहने से तर्क शक्ति बढ़ती है और श्रुतज्ञान शंका-कलंक-पंक से निर्मल हो जाता है।

३. सुणइ—पूछने पर जो गुरुजन उत्तर देते हैं, उसे दत्तचित्त होकर सुने। जब तक शंका दूर न हो जाए, तब तक सविनय पूछताछ और श्रवण करता ही रहे, किन्तु अधिक बहस में न पड़कर गुरुजनों से संवाद करना चाहिए, विवाद के झंझट में न पड़े।

४. गिराहइ—सुन कर सूत्र, अर्थ तथा किए हुए समाधान को हृदयंगम करे। अन्यथा सुना हुआ वह ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

५. ईहते—हृदयंगम किए हुए सूत्र व अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन-मनन करे ताकि वह ज्ञान मन का विषय बन सके। पर्यालोचन किए बिना धारणा दृढतम नहीं हो सकती।

६. अपोहए—चिन्तन-मनन करके अनुप्रेक्षा बल से सत् और असत् एवं सार और असार का निर्णय करें। छानबीन किए बिना चिन्तन करना भी कोई महत्त्व नहीं रखता, जैसे तुष से धान्य कणों को अलग किया जाता है, वैसे ही चिन्तन किए हुए श्रुतज्ञान की छानबीन करे।

७. धारेइ—निर्णीत-विशुद्ध सार-सार को धारण करे, वही ज्ञान जैन परिभाषा में विज्ञान कहाता है, विज्ञान के बिना ज्ञान अकिंचित्कर है, इसी को अनुभवज्ञान भी कहते हैं।

८. करेइ वा सम्मं—विज्ञान के महाप्रकाश से ही श्रुतज्ञानी चारित्र की आराधना सम्यक् प्रकार से कर सकता है। सन्मार्ग में संलग्न होना, चारित्र की आराधना में क्रिया करना, कर्मों पर विजय पाना ही वास्तव में श्रुतज्ञान का अन्तिम फल है। बुद्धि के उक्त आठ गुण सभी क्रियारूप हैं, गुण क्रिया को ही कहते है, निष्क्रिय को नहीं। ऐसा इस गाथा से ध्वनित होता है।

श्रवणविधि

शिष्य जब सविनय गुरु के समक्ष बद्धाञ्जलि सूत्र व अर्थ सुनने के लिए बैठता है तब किस विधि से सुनना चहिए? अब सूत्रकार उसी श्रवण विधि का उल्लेख करते हैं। बिना विधि से सुना हुआ ज्ञान प्रायः व्यर्थ जाता है।

१. मूअं—जब गुरुदेव सूत्र या अर्थ सुनाने लगें, तब उनकी वाणी मूक—मौन रह कर ही शिष्य को सुननी चाहिए, अनुपयोगी इधर-उधर की बातें नहीं करनी चाहिए।

२. हुंकार—सुनते हुए बीच-बीच में हुंकार भी मस्ती में करते रहना चाहिए।

३. बाढंकार—भगवन्! आप जो कुछ कहते हैं, वह सत्य है, या तहत्ति शब्द का प्रयोग यथा समय करते रहना चाहिए।

४. पडिपुच्छइ—जहां कहीं सूत्र या अर्थ, ठीक-ठीक समझ में नहीं आया या सुनने से रह गया, वहां थोड़ा-थोड़ा बीच में पूछ लेना चाहिए, किन्तु उस समय उनसे शास्त्रार्थ करने न लग जाए, इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

५. वीमंसा—गुरुदेव से वाचना लेते हुए शिष्य को चाहिए कि गुरु जिस शैली से या जिस आशय से समझाते हैं, साथ-साथ ही उस पर विचार भी करता रहे।

६. पसंगपारायणं—इस प्रकार उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करता हुआ शिष्य सीखे हुए श्रुत का पारगामी बनने का प्रयास करे।

७. परिणिट्ठा—इस क्रम से वह श्रुतपरायण होकर आचार्य के तुल्य सैद्धान्तिक विषय का प्रतिपादन करने वाला बन जाता है। उक्त विधि से शिष्य यदि आगमों का अध्ययन करे तो निश्चय ही वह श्रुतका पारगामी हो जाता है। अतः अध्ययन विधिपूर्वक ही करना चाहिए।

अध्यापन का कार्यक्रम

आचार्य, उपाध्याय या बहुश्रुत सर्वप्रथम शिष्य को सूत्र का शुद्ध उच्चारण और अर्थ सिखाए। तत्पश्चात् उसी आगम को सूत्र स्पर्शी 'निर्युक्ति सहित पढाए। तीसरी बार उसी सूत्र को वृत्ति-भाष्य, उत्सर्ग-अपवाद, और निश्चय-व्यवहार, इन सब का आशय नय, निक्षेप, प्रमाण और अनुयोग आदि विधि से सूत्र और अर्थ को व्याख्या सहित पढाए। यदि गुरु शिष्य को इस क्रम से पढाए तो वह गुरु निश्चय ही सिद्धसाध्य हो सकता है।अनुयोग के विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्न प्रकार हैं—

'सम्प्रति व्याख्यानविधिमभिधित्सुराह—सुत्तत्थो इत्यादि—

१. प्रथमानुयोगः—सूत्रार्थः सूत्रार्थप्रतिपादनपरः, 'खलु' शब्द एवकारार्थः स चावधारणे, ततोऽयमर्थ—गुरुणा प्रथमोऽनुयोगः सूत्रार्थाभिधानलक्षण एव कर्त्तव्य, मा भूत् प्राथमिकविनेयानां मतिमोहः।

२. द्वितीयोऽनुयोगः—सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितो भणितस्तीर्थंकरगणधरैः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितं द्वितीयमनुयोगं गुरुर्विदध्यादित्याख्यातं तीर्थंकरगणधरैरिति भावः।

३. तृतीयश्चानुयोगो निर्विशेषः प्रसक्तानुप्रसक्त प्रतिपादनलक्षण इत्येषः—उक्तलक्षणो विधिर्भवत्यनुयोगे व्याख्यायाम्, आह परिनिष्ठा सप्तमे इत्युक्तं, त्रयश्चानुयोगप्रकारास्तदेतत्कथम्? उच्यते, त्रयाणामनुयोगानामन्यतमेन केनचित्प्रकारेण भूयो २ भण्यमानेन सप्तवाराः श्रवणं कार्यंते ततो न कश्चिद्दोषः, अथवा कश्चिन्मन्दमतिविनेयमधिकृत्यैतदुक्तं द्रष्टव्यम्, न पुनरेष एव सर्वत्र श्रवणविधिनियमः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवणत एवाशेषग्रहणदर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन, सेयं मित्यादि, तदेतत् श्रुतज्ञानं, तदेतत्परोक्षमिति।"

इसका भावार्थ पहले लिखा जा चुका है। इस प्रकार अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान और परोक्ष का विषय वर्णन समाप्त हुआ। नन्दी सूत्र भी समाप्त हुआ।

जैनधर्मदिवाकर, जैनाचार्य
श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा कृत
श्री नन्दीसूत्र की व्याख्या समाप्त

सर्व प्रथम साधक विनय युक्त होकर गुरुदेव के चरणकमलों में वन्दन करे, फिर उनके मुखारविन्द से निकले हुए सुवचनरूप सूत्र व अर्थ सुनने की जिज्ञासा व्यक्त करे। जब तक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक व्यक्ति कुछ पूछ भी नहीं सकता।

२. पडिपुच्छइ—सूत्र या अर्थ सुनने पर यदि शंका उत्पन्न हो जाए, तो सविनय मधुर वचनों से गुरु के मन को प्रसन्न करते हुए गौतम स्वामी की तरह पूछ कर मन में रही हुई शंका दूर करनी चाहिए। श्रद्धा पूर्वक गुरुदेव के समक्ष पूछते रहने से तर्क शक्ति बढ़ती है और श्रुतज्ञान शंका-कलंक-पंक से निर्मल हो जाता है।

३. सुणइ—पूछने पर जो गुरुजन उत्तर देते हैं, उसे दत्तचित्त होकर सुने। जब तक शंका दूर न हो जाए, तब तक सविनय पूछताछ और श्रवण करता ही रहे, किन्तु अधिक बहस में न पड़कर गुरुजनों से संवाद करना चाहिए, विवाद के झंझट में न पड़े।

४. गिण्हइ—सुन कर सूत्र, अर्थ तथा किए हुए समाधान को हृदयंगम करे। अन्यथा सुना हुआ वह ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

५. ईहते—हृदयंगम किए हुए सूत्र व अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन-मनन करे ताकि वह ज्ञान मन का विषय बन सके। पर्यालोचन किए बिना धारणा दृढतम नहीं हो सकती।

६. अपोहए—चिन्तन-मनन करके अनुप्रेक्षा बल से सत् और असत् एवं सार और असार का निर्णय करे। छानबीन किए विना चिन्तन करना भी कोई महत्त्व नहीं रखता, जैसे तुष से धान्य कणों को अलग किया जाता है, वैसे ही चिन्तन किए हुए श्रुतज्ञान की छानबीन करे।

७. धारेइ—निर्णीत-विशुद्ध सार-सार को धारण करे, वही ज्ञान जैन परिभाषा में विज्ञान कहाता है, विज्ञान के विना ज्ञान अकिंचित्कर है, इसी को अनुभवज्ञान भी कहते हैं।

८. करेइ वा सम्मं—विज्ञान के महाप्रकाश से ही श्रुतज्ञानी चारित्र की आराधना सम्यक् प्रकार से कर सकता है। सन्मार्ग में संलग्न होना, चारित्र की आराधना में क्रिया करना, कर्मों पर विजय पाना ही वास्तव में श्रुतज्ञान का अन्तिम फल है। बुद्धि के उक्त आठ गुण सभी क्रियारूप हैं, गुण क्रिया को ही कहते है, निष्क्रिय को नहीं। ऐसा इस गाथा से ध्वनित होता है।

श्रवणविधि

शिष्य जब सविनय गुरु के समक्ष बद्धाञ्जलि सूत्र व अर्थ सुनने के लिए बैठता है तब किस विधि से सुनना चहिए? अब सूत्रकार उसी श्रवण विधि का उल्लेख करते हैं। बिना विधि से सुना हुआ ज्ञान प्रायः व्यर्थ जाता है।

१. मूअं—जब गुरुदेव सूत्र या अर्थ सुनाने लगें, तब उनकी वाणी मूक—मौन रह कर ही शिष्य को सुननी चाहिए, अनुपयोगी इधर-उधर की बातें नहीं करनी चाहिए।

२. हुंकार—सुनते हुए बीच-बीच में हुंकार भी मस्ती में करते रहना चाहिए।

३. बाढंकारं—भगवन्! आप जो कुछ कहते हैं, वह सत्य है, या तहत्ति शब्द का प्रयोग यथा समय करते रहना चाहिए।

सर्व प्रथम साधक विनय युक्त होकर गुरुदेव के चरणकमलों में वन्दन करे, फिर उनके मुखारविन्द से निकले हुए सुवचनरूप सूत्र व अर्थ सुनने की जिज्ञासा व्यक्त करे। जब तक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक व्यक्ति कुछ पूछ भी नहीं सकता।

२. पडिपुच्छइ—सूत्र या अर्थ सुनने पर यदि शंका उत्पन्न हो जाए, तो सविनय मधुर वचनों से गुरु के मन को प्रसन्न करते हुए गौतम स्वामी की तरह पूछ कर मन में रही हुई शंका दूर करनी चाहिए। श्रद्धा पूर्वक गुरुदेव के समक्ष पूछते रहने से तर्क शक्ति बढ़ती है और श्रुतज्ञान शंका-कलंक-पंक से निर्मल हो जाता है।

३. सुणइ—पूछने पर जो गुरुजन उत्तर देते हैं, उसे दत्तचित्त होकर सुने। जब तक शंका दूर न हो जाए, तब तक सविनय पूछताछ और श्रवण करता ही रहे, किन्तु अधिक बहस में न पड़कर गुरुजनों से संवाद करना चाहिए, विवाद के झंझट में न पड़े।

४. गिण्हइ—सुन कर सूत्र, अर्थ तथा किए हुए समाधान को हृदयंगम करे। अन्यथा सुना हुआ वह ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

५. ईहते—हृदयंगम किए हुए सूत्र व अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन-मनन करे ताकि वह ज्ञान मन का विषय बन सके। पर्यालोचन किए बिना धारणा दृढतम नहीं हो सकती।

६. अपोहए—चिन्तन-मनन करके अनुप्रेक्षा बल से सत् और असत् एवं सार और असार का निर्णय करें। छानबीन किए बिना चिन्तन करना भी कोई महत्त्व नहीं रखता, जैसे तुष से धान्य कणों को अलग किया जाता है, वैसे ही चिन्तन किए हुए श्रुतज्ञान की छानबीन करे।

७. धारेइ—निर्णीत-विशुद्ध सार-सार को धारण करे, वही ज्ञान जैन परिभाषा में विज्ञान कहाता है, विज्ञान के बिना ज्ञान अकिंचित्कर है, इसी को अनुभवज्ञान भी कहते हैं।

८. करेइ वा सम्मं—विज्ञान के महाप्रकाश से ही श्रुतज्ञानी चारित्र की आराधना सम्यक् प्रकार से कर सकता है। सन्मार्ग में संलग्न होना, चारित्र की आराधना में क्रिया करना, कर्मों पर विजय पाना ही वास्तव में श्रुतज्ञान का अन्तिम फल है। बुद्धि के उक्त आठ गुण सभी क्रियारूप हैं, गुण क्रिया को ही कहते है, निष्क्रिय को नहीं। ऐसा इस गाथा से ध्वनित होता है।

श्रवणविधि

शिष्य जब सविनय गुरु के समक्ष बद्धाञ्जलि सूत्र व अर्थ सुनने के लिए बैठता है तब किस विधि से सुनना चहिए ? अब सूत्रकार उसी श्रवण विधि का उल्लेख करते हैं। बिना विधि से सुना हुआ ज्ञान प्रायः व्यर्थ जाता है।

१. मूअं—जब गुरुदेव सूत्र या अर्थ सुनाने लगें, तब उनकी वाणी मूक—मौन रह कर ही शिष्य को सुननी चाहिए, अनुपयोगी इधर-उधर की बातें नहीं करनी चाहिए।

२. हुंकार—सुनते हुए बीच-बीच में हुंकार भी मस्ती में करते रहना चाहिए।

३. बाढंकारं—भगवन् ! आप जो कुछ कहते हैं, वह सत्य है, या तहत्ति शब्द का प्रयोग यथा समय करते रहना चाहिए।

छव्विहा उग्गहमती पण्णत्ता, तंजहा—खिप्पमोगिण्हति, बहुमोगिण्हति, बहुविधमोगिण्हति, धुवमो गिण्हति, अणिस्सियमोगिण्हति, असंदिद्धमोगिण्हइ । छव्विहा ईहामती पण्णना, तंजहा—खिप्पामीहति बहुमीहति, जाव असंदिद्धमीहति । छव्विहा अवायमती पण्णत्ता, तंजहा—खिप्पमवेति, जाव असंदि[illegible] अवेति । छव्विधा धारणा पण्णत्ता, तंजहा—बहुं धारेइ बहुविधं धारेइ, पोराणं धारेति, दुद्धरं धारेति अणिस्सितं धारेति, असंदिद्धं धारेति ।

—स्थानांगसूत्र, स्थान ६, सूत्र ५१०

आभिणिबोहियनाणे अट्ठावीसइविहे पण्णत्ते, तंजहा—सोइंदियअत्थावग्गहे, चक्खिंदिय-अत्थावग्गहे घाणिंदिय-अत्थावग्गहे, जिब्भिंदिय-अत्थावग्गहे, फासिंदिय-अत्थावग्गहे. णोइंदिय-अत्थावग्गहे ।

सोइंदिय-वंजणोग्गहे, घाणिंदिय-वंजणोग्गहे-जिब्भिदिय-वंजणोग्गहे, फासिदिय-वंजणोग्गहे ।

सोतिंदय-ईहा, चक्खिंदिय-ईहा, घाणिंदिय-ईहा, जिब्भिंदिय-ईहा, फासिंदिय-ईहा णोइंदिय-ईहा ।

सोतिंदियावाए, चक्खिंदियावाए, घाणिंदियावाए, जिब्भिंदियावाए, फासिंदियावाए, णोइंदियावाए

सोइंदिअ-धारणा, चक्खिंदिय-धारणा, घाणिंदिय-धारणा, जिब्भिंदिय-धारणा, फासिंदिय-धारणा णोइंदिय-धारणा । —समवायांग सूत्र, समवाय २८

से किं तं असंसारसमावण्ण-जीवपण्णवणा ? असंसारसमावण्ण-जीवपण्णवणा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—अणंतरसिद्ध-असंसारसमावण्ण-जीवपण्णवणा य, परंपरसिद्ध-असंसारसमावण्ण-जीवपण्णवणा य ।

से किं तं अणंतरसिद्ध असंसारसमावण्ण-जीवपण्णवणा ? अणंतरसिद्ध असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा पण्णरसविहा पण्णत्ता, तंजहा—तित्थसिद्धा, अतित्थसिद्धा, तित्थगरसिद्धा, अतित्थगरसिद्धा, सयंबुद्धसिद्धा, पत्तेयबुद्धसिद्धा, बुद्धबोहियसिद्धा, इत्थीलिंगसिद्धा, पुरिसलिंगसिद्धा, नपुंसगलिंगसिद्धा, नलिंगसिद्धा, अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंगसिद्धा, एगसिद्धा, अणेगसिद्धा । —प्रज्ञापनासूत्र, सिद्धपद सूत्र ६-७ ।

प्रज्ञापना सूत्र के २१ वें पद में आहारक शरीर का वर्णन किया गया है। उसका पाठ नन्दीसूत्र में प्रतिपादित मनःपर्यव ज्ञान के साथ मिलता-जुलता है। अतः पाठकों के ज्ञान के लिए, वह सूत्र-पाठ उद्धृत किया जाता है—

आहारगसरीरेणं भंते ! कति विधे पण्णत्ते ?' गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते । जइ एगागारे, किं मणूस-आहारगसरीरे, अमणूस-आहारग-सरीरे? गोयमा ! मणूस-आहारगसरीरे नो अमणूस-आहारग-सरीरे ।

जइ मणूस-आहारगसरीरे, किं संमुच्छिममणूस-आहारगसरीरे, गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे? गोयमा ! नो संमुच्छिममणूस-आहागसरीरे, गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ।

जइ गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारग सरीरे, किं कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, अक-म्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, अंतरद्दीवग-गब्भवक्कंतिय-मणूस आहारगसरीरे ? गोयमा ! कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, नो अकम्मभूमग गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, नो अन्तरद्दीवग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ।

जइ कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, किं [illegible] मणूस-आहारगसरीरे, असंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ? गोयमा ! [illegible]

परिशिष्ट १

जिन-जिन सूत्र-पाठों के आधार पर नन्दीसूत्र की सृष्टि का निर्माण हुआ है, उन सूत्र के पाठों का संग्रह निम्न प्रकार से जानना चाहिए—

नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवल-नाणं। अनुयोगद्वारसूत्र, १।

दुविहे नाणे पण्णते, तंजहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव १, पच्चक्खेनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—केवलनाणे चेव णोकेवलनाणे चेव २। केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—भवत्थकेवलनाणे चेव सिद्धकेवलनाणे चेव ३। भवत्थकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते तंजहा—सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव, अजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव ४। सजोगिभवत्थ-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा पढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव, अपढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव ५। अहवा—चरिमसमय सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव, अचरिमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव ६। एवं अजोगिभवत्थ-केवलनाणेऽवि ७-८।

सिद्ध-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अणंतरसिद्ध-केवलनाणे चेव, परंपरसिद्धकेवलनाणे चेव ९। अणंतरसिद्ध-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—एक्काणंतर सिद्धकेवलनाणे चेव, अणेक्काणंतर सिद्ध-केवल-नाणे चेव १०। परंपरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—एक्कपरंपरसिद्ध-केवलनाणे चेव, अणेक्कपरं-परसिद्धकेवलनाणे चेव ११।

णोकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—ओहिनाणे चेव, मणपज्जवनाणे चेव, १२। ओहिनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—भवपच्चइए चेव, खओवसमिए चेव १३। दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते, तंजहा—देवाणं चेव, नेरइयाणं चेव १४। दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव १५।

मणपज्जनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—उज्जुमती चेव, विउलमती चेव १६।

परोक्खे नाणे दुविहे पण्णंत्ते, तंजहा—आभिणिबोहियनाणे चेव, सुयनाणे चेव १७। आभिणिबो-हियनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुयनिस्सिए चेव, असुयनिस्सिए चेव १८। सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अत्थोग्गहे चेव, वंजणोग्गहे चेव, १९। असुयनिस्सिएऽवि एवमेव २०।

सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अंगपविट्ठे जेव, अंगबाहिरे चेव, २१। अंगबाहिरे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—आवस्सए चेव, आवस्सय-वइरित्ते चेव, २२। आवस्सएवइतिरित्ते दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—कालिए चेव उक्कालिए चेव २३।

—स्थानांग सूत्र, स्थान २, उद्देश १, सूत्र ७१।

आभिणिबोहियनाणस्स णं छव्विहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते, तंजहा—सोइंदियत्थोग्गहे जाव नोइंदियत्थो-ग्गहे।

—स्थानांग सूत्र, स्थान ६, सूत्र ५२५।

छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते, तंजहा—आणुगामिए, अणाणुगामिए, वड्ढमाणते, हीयमाणते, पडि-वाती अपडिवजी।

—स्थानांग सूत्र, स्थान ६, सूत्र ५२६।

वासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, नो असंखेजवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवकंतिय-मणूस-आहारसरीरे ।

जति संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, किं पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतीय-मणूस-आहारगसरीरे, अपज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवकंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ? गोयमा ! पज्जत्त-संखज्जवासाउय कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मणूस-आहारगसरीरे, नो अपज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतीय-मणूस आहारगसरीरे ।

जइ पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस आहरगसरीरे, किं सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय कम्मभूमग-गब्भवकंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, मिच्छदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस आहारगसरीरे ? गोयमा ! सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे नो मिच्छदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मणूस-आहारगसरीरे, नो सम्मामिच्छ-दिट्ठि पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मणूस-आहारगसरीरे ।

जइ सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, किं संजयसम्म-दिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारग सरीरे, असंजयसम्मदिट्ठि-पज्जत्तसंखे-ज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस आहारगसरीरे ?, संजयासंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तसंखेज्जवासाउय कम्मभूमग-कब्भवक्कंतिय- मणूस-आहरगसरीरे ?, गोयमा ! संजयसम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस आहारगसरीरे, नो असंजयसमदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भ-वक्कंतिय मणूस-आहारगसरीरे, नो संजतासंजत-सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ।

जइ संजतसम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्भूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, किं पमत्त-संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, अपमत्तसंजय-सम्म-दिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ? गोयमा ! पमत्तसंजयसम्म-दिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणूस-आहारगसरीरे, नो अपमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्त संखेज्जवासाउय-कम्मूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ।

जइ पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणूस-आहारगसरीरे, किं इड्ढिपत्त-पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे, अणि-ड्ढिपत्त-पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठिपज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ? गो-यमा ! इड्ढिपत्त-पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्त-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारग-सरीरे, नो अणिड्ढिपत्त-पमत्तसंजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणूस-आहारगसरीरे ।

आहारगसरीरे णं भंते ! किं संठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! समचउरंससंठाणसंठिते पण्णत्ते । आहारग-सरीरस्स णं भंते ! के माहलिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं देसूणा रयणी, उक्कोसेणं पडिपुण्णा रयणी ।

—प्रज्ञापनासूत्र पद २१, सूत्र २७३ ।

जे नाणी ते अत्थेगतिया, दुन्नाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी, एवं तिन्नि नाणाणि, तिन्नि अन्नाणाणि य भयणाए।

मणुस्सा जहा जीवा, तहेव पंच नाणाणि, तिन्नि अन्नाणाणि भयणाए। वाणमंतरा णं भंते ! जहा नेरइया, जोइसिय-वेमाणियाणं तिन्न नाणा, तिन्नि अन्नाणा नियमा। सिद्धा णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी, नियमा केवलनाणी। सूत्र ३१८।

निरयगइया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणीवि अन्नाणीवि, तिन्नि नाणाइं नियमा, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। तिरियगइयाणं भंते। जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयया! दो नाणा, दो अन्नाणा नियमा। मणुस्सगइया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी, ?, तिन्नि नाणाइं भयणाए, दो अन्नाणाइं नियमा। देवगइया जहा निरयगतिया। सिद्धगतियाणं भंते ! जहा सिद्धा।

सइंदिया णं भन्ते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! चत्तारि नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। एगिंदियाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? जहा पुढविकाइया, वेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया णं दो नाणा, दो अन्नाणा नियमा। पंचदिया जहा सइंदिया। अणिंदिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, जहा सिद्धा। सकाइया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! पंच नाणाणि, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया नो नाणी, अन्नाणी, नियमा दुअन्नाणी तंजहा—मति-अन्नाणी य सुय अन्नाणी य, तसकाइया जहा सकाइया। अकाइया णं भन्ते। जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, जहा सिद्धा। सुहुमा णं भन्ते ! जीवा किं नाणी अन्नाणी ? जहा पुढविकाइया। बादरा णं भंते। जीवा किं नाणी अन्नाणी ? जहा सकाइया। नो सुहुमा नो बादरा णं भंते ! जीवा जहा सिद्धा पज्जत्ता णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? जहा सकाइया।

पज्जत्ता णं भंते ! नेरइया किं नाणी, अन्नाणी ?, तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा नियमा, जहा नेरइए. एवं जाव थणियकुमारा। पुढविकाइया जहा एगिंदिया, एवं जाव चउरिंदिया। पज्जत्ता णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं नाणी, अन्नाणी ? तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए। मणुस्सा जहा सकाइया। वाणमंतरा, जोइसिया, वेमणिया जहा नेरइया। अपज्जत्ता णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए। अपज्जत्ता णं भंते ! नेरतिया किं नाणी अन्नाणी ? तिन्नि नाणा नियमा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए। एवं जाव थणियकुमारा, पुढविक्काइया जाव वणस्सइकाइया जहा एगिंदिया। वेइंदिया णं पुच्छा, दो नाणा, दो अन्नाणा नियमा, एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं। अपज्जत्ता णं भंते ! मणूस्सा किं नाणी, अन्नाणी ?, तिन्नि नाणाइं भयणाए, दो अन्नाणाइं नियमा, वाणमंतरा जहा नेरइया। अपज्जत्तगा जोइसिया-वेमाणिया णं तिन्नि नाणा, तिन्न अन्नाणा नियमा, नो पज्जत्तगा नो अपज्जत्तगा णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? जहा सिद्धा।

निरयभवत्था णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, जहा निरयगतिया। तिरियभवत्था णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए। मणुस्स भवत्था णं जहा सकाइया। देवभवत्था णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! जहा निरयभवत्था। अभवत्था जहा सिद्धा। भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, जहा सकाइया। अभवसिद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। नो भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया णं भंते ! जीवा जहा सिद्धा। सन्नी णं पुच्छा, जहा सइंदिया। असन्नी जहा वेइंदिया। नो सन्नी नो असन्नी जहा सिद्धा। सूत्र ३१९।

कइविहा णं भंते ! लद्धी पण्णत्ता ?, गोयमा ! दसविहा लद्धी पण्णत्ता, तं जहा नाणलद्धी १, दंसणलद्धी २, चरित्तलद्धी ३, चरित्ताचरित्तलद्धी ४, दाणलद्धी ५, लाभलद्धी ६, भोगलद्धी ७, उवभोगलद्धी ८, वीरियलद्धी ९, इंदियलद्धी १० ।

नाणलद्धी णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच विहा पण्णत्ता, तंजहा—आभिणिवोहियनाणलद्धी जाव केवलनाणलद्धी । अन्नाणलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा । तिविहा पण्णत्ता, तंजहा-मइ-अन्नाणलद्धी, सुय-अन्नाणलद्धी, विभंगनाणलद्धी । दंसणलद्धीणं भंते ! कति विद्धा पन्नत्ता ?, गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्मामिच्छादंसणलद्धी । चरित्तलद्धी णं भंते । कतिविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—सामाइयचरित्तलद्धी, छेदोवट्ठावणियलद्धी, परिहारविसुद्धलद्धी, सुहुमसंपरायलद्धी, अहक्खायचरित्तलद्धी । चरित्ताचरित्तलद्धीणं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा । एगागारा पन्नत्ता, एवं जाव उवभोगलद्धी एगागारा पन्नत्ता । वीरियलद्धीणं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ? गोयमा ? तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—बालवीरियलद्धी, पंडियवीरियलद्धी, बालपंडियवीरियलद्धी । इंदियलद्धी णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?, गोयमा ! पंचविहा पन्नत्ता, तंजहा—सोइंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी ।

नाणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी, अत्थेगतिया दुन्नाणी, एवं पंच नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धीयाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी, अत्थेगतिया दुअन्नाणि, तिन्नि अन्नाणाणि भयणाए । आभिणिवोहियणाणलद्धियाणं भँते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी, अत्थेगतिया दुन्नाणी, चत्तारि नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणि ? गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि, जे नाणी ते नियमा एग नाणी, केवलनाणी । जे अन्नाणी, ते अत्थेगतिया दुअन्नाणी, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । एवं सुयनाणलद्धियावि । तस्सअलद्धिया वि जहा आभिणिवोहियनाणस्स लद्धिया ।

ओहिनाणलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा! नाणी, नो अन्नाणी, अत्थेगतिवा तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी । जे तिन्नाणी ते आभिणिवोहियनाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी । जे चउनाणी ते आभिणियोहियनाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी मणपज्जवनाणी । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं नाणी अन्नाणी ?, गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि एवं ओहिनाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए ।

मणपज्जवनाणलद्धिया णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी । जे तिन्नाणी, ते आभिणिवोहियनाणी, सुयनाणी, मणपज्जवनाणी । जे चउनाणी, ते आभिणिवोहियणाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी, मणपज्जवनाणी । तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि, मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए ।

केवलनाणलद्धिया णं भंते । जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी, नियमा एगनाणी केवलनाणी तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि, केवलनाण वज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए ।

अन्नाणलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नो णाणी, अन्नाणी, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । तस्स द्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी, पंचनाणाइं भयणाए । जहा अन्नाणस्स लद्धिया, ८.

य भणिया एवं मइअन्नाणस्स, सुयअन्नाणस्स य लद्धिया, अलद्धिया य भाणियव्वा । विभंगनाणलद्धिया णं तिन्नि अन्नाणाइं नियमा । तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं भयणाए, दो अन्नाणाइं नियमा ।

दंसणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा । नाणीवि, अन्नाणीवि, पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! तस्स अलद्धिया नत्थि । सम्मद्दंसण लद्धिया णं पंच नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । मिच्छाद्दंसण लद्धिया णं भंते ! पुच्छा, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए । सम्मामिच्छादंसणलद्धिया य अलद्धिया जहा मिच्छादंसणलद्धी, अलद्धी तहेव भाणियव्वं ।

चरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! पंचनाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं मणपज्जवनाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए । सामाइयचरित्तलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी, केवलवज्जाइं चत्तारि नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए, एवं जहा सामाइयचरित्तलद्धिया, अलद्धिया य भणिया, एवं जहा जाव अहक्खायचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा नवरं अहक्खायचरित्तलद्धिया पंच नाणाइं भयणाए । चरित्ताचरित्त लद्धियाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी नो अन्नाणी, अत्थेगतिया दुन्नाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी । जे दुन्नाणी, ते आभिणिवोयिनाणी सुयनाणी । जे तिन्नाणी ते आभिणिवोयनाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी, तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए ।

दाणलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं, भयणाए । तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणी नो अन्नाणी, नियमा एगनाणी, केवलनाणी, एवं जाव वीरियस्स लद्धी, अलद्धी य भाणियव्वा । वाल वीरिय-लद्धिया णं तिन्नि नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पंचनाणाइं भयणाए । पंडियवीरिय लद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं मणपज्जवनाणवज्जाइं णाणाइं, अन्नाणाणि तिन्नि य भयणाए । वालपंडियवीरियलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अनाणी ?, गोयमा ! तिन्निनाणाइं भयणाए ।तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए ।

इंदियलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! चत्तारि णाणाइं, तिन्नि य अन्ना-णाइं भयणाए । तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी नियमा एग नाणी, केवलनाणी । सोइंदियलद्धिया णं जहा इंदियलद्धिया । तस्सअलद्धिया णं पुच्छा गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि । जे नाणी ते अत्थेगतिया दुण्णाणी, अत्थेगतिया एगनाणी । जे दुन्नाणी ते आभिणिवोहियनाणी, सुयनाणी । जे एग-नाणी ते केवलनाणी । जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी, तंजहा—मइ अन्नाणी य सुय-अन्नाणी य । चक्खिं-दिय-घाणिंदिया णं लद्धिया णं, अलद्धिया णं य जहेव सोइंदियस्स । जिब्भिंदियलद्धिया णं चत्तारि णाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाणि भयणाए । तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि । जे नाणी ते नियमा एगनाणी, केवलनाणी । जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी, तंजहा—मइअन्नाणी य सुयअन्नाणी य । फासिंदिय लद्धिया णं अलद्धिया णं जहा इंदियलद्धिया य अलद्धिया य । सूत्र ३२० ।

सागारोवउत्ता णं भंते ? जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं

य भणिया एवं मइअन्नाणस्स, सुयअन्नाणस्स य लद्धिया, अलद्धिया य भाणियव्वा। विभंगनाणलद्धिया णं तिन्नि अन्नाणाइं नियमा। तस्स अलद्धिया णं पंच नोणाइं भयणाए, दो अन्नाणाइं नियमा।

दंसणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा। नाणीवि, अन्नाणीवि, पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! तस्स अलद्धिया नत्थि। सम्मद्दंसण लद्धिया णं पंच नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। मिच्छाद्दंसण लद्धिया णं भंते ! पुच्छा, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए। सम्मामिच्छादंसणलद्धिया य अलद्धिया जहा मिच्छादंसणलद्धी, अलद्धी तहेव भाणियव्वं।

चरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! पंचनाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं मणपज्जवनाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए। सामाइयचरित्तलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी, केवलवज्जाइं चत्तारि नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए, एवं जहा सामाइयचरित्तलद्धिया, अलद्धिया य भणिया, एवं जहा जाव अहक्खायचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा नवरं अहक्खायचरित्तलद्धिया पंच नाणाइं भयणाए। चरित्ताचरित्त लद्धियाणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी नो अन्नाणी, अत्थेगतिया दुन्नाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी। जे दुन्नाणी, ते आभिणिवोयिनाणी सुयनाणी। जे तिन्नाणी ते आभिणिवोयनाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी, तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए।

दाणलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं, भयणाए। तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणी नो अन्नाणी, नियमा एगनाणी, केवलनाणी, एवं जाव वीरियस्स लद्धी, अलद्धी य भाणियव्वा। वाल वीरिय-लद्धिया णं तिन्नि नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पंचनाणाइं भयणाए। पंडियवीरिय लद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं मणपज्जवनाणवज्जाइं णाणाइं, अन्नाणाणि तिन्नि य भयणाए। वालपंडियवीरियलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अनाणी ?, गोयमा ! तिन्निनाणाइं भयणाए।तस्स अलद्धिया णं पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए।

इंदियलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! चत्तारि णाणाइं, तिन्नि य अन्ना-णाइं भयणाए। तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी नियमा एग नाणी, केवलनाणी। सोइंदियलद्धिया णं जहा इंदियलद्धिया। तस्सअलद्धिया णं पुच्छा गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि। जे नाणी ते अत्थेगतिया दुण्णाणी, अत्थेगतिया एगनाणी। जे दुन्नाणी ते आभिणिवोहियनाणी, सुयनाणी। जे एग-नाणी ते केवलनाणी। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी, तंजहा—मइ अन्नाणी य सुय-अन्नाणी य। चक्खिं-दिय-घाणिंदिया णं लद्धिया णं, अलद्धिया णं य जहेव सोइंदियस्स। जिब्भिंदियलद्धिया णं चत्तारि णाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाणि भयणाए। तस्स अलद्धिया णं पुच्छा, गोयमा ! नाणीवि, अन्नाणीवि। जे नाणी ते नियमा एगनाणी, केवलनाणी। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी, तंजहा—मइअन्नाणी य सुयअन्नाणी य। फासिंदिय लद्धिया णं अलद्धिया णं जहा इंदियलद्धिया य अलद्धिया य। सूत्र ३२०।

सागारोवउत्ता णं भंते ? जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? गोयमा ! पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं

भयणाए । आभिणिबोहियनाणसागारोवउत्ता णं भंते ! चत्तारि णाणाइं भयणाए । एवं सुयनाणसागारोवउत्तावि । ओहिनाणसागारोवउत्ता जहा ओहिनाणलद्धिया । मणपज्जवनाणसागारोवउत्ता जहा मणपज्जवनाणलद्धिया । केवलनाणसागारोवउत्ता जहा केवलनाणलद्धिया । मइअन्नाणसागारोवउत्ताणं तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए, एवं सुयअन्नाणसागारोवउत्तावि, विभंगनाणसागारोवउत्ता णं तिन्नि अन्नाणाइं नियमा ।

अणागारोवउत्ता णं भंते! जीवा किं नाणी, अन्नाणी? पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । एवं चक्खुदंसण अचक्खुदंसण अणागारोवउत्तावि, नवरं चत्तारि णाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए, ओहिदंसण-अणागारो-वउत्ता णं पुच्छा, गोयमा ! नाणी वि अन्नाणीवि, जे नाणी ते अत्थेगतिया तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी, जे तिन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी । जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी जाव मणपज्जवनाणी, जे अन्नाणी ते नियमा तिअन्नाणी, तं जहा—मइ-अन्नाणी, सुय-अन्नाणी, विभंगनाणी । केवलदंसण अणागारोवउत्ता जहा केवलनाणलद्धिया ।

सजोगी णं भंते ! जीवा किं नाणी ?, जहा सकाइया, एवं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगीवि । अजोगी जहा सिद्धा ।

सलेसा णं भंते ! जहा सकाइया, कण्हलेसाणं भंते ! जहा सइंदिया, एवं जाव पम्हलेसा. सुक्कलेस्सा जहा सलेस्सा, अलेस्सा जहा सिद्धा ।

सकसाई णं भंते ! जहा सइंदिया, एवं जाव लोहकसाई । अकसाई णं भंते ! पंच नाणाइं भयणाए ।

सवेदगा णं भंते ! जहा सइंदिया, एवं इत्थिवेदगावि, एवं पुरिसवेदगावि, एवं नपुंसगवेदगावि, अवेदगा जहा अकसाई ।

आहारगाणं भंते ! जीवा जहा सकसाई नवरं केवलनाणंपि, अणाहारगा णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?, मणपज्जव-नाणवज्जाइं नाणाइं, अन्नाणाणि य तिन्नि भयणाए । सूत्र ३२१ ।

आभिणिबोहियनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, पासइ । खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वखेत्तं जाणइ, पासइ, एवं कालओवि, एवं भावओवि ।

सुयनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते? गोयमा! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ, दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ, एवं खेत्तओवि, कालओवि भावओणं सुयनाणी उवउत्ते सव्वभावे जाणति, पासति ।

ओहिनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?, गोयमा से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—दव्वओ, खेत्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं ओहिनाणी रूवी दव्वाइं जाणइ, पासइ, जहा नन्दीए, जाव भावओ

मणपज्जवनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?' गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए जहा नंदीए जाव

केवलनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ, एवं जाव भावओ ।

मइ अन्नाणस्स णं भंत्ते ! केवतिए विसए पण्णत्ते? गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ णं मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ, एवं जाव भावओ, मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगए भावे जाणइ, पासइ ।

सुयअन्नाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ ४, दव्वओ णं सुयअन्नाणी सुयअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं आघवेति, पन्नवेति, परूवेति, एवं खेत्तओ, कालओ, भावओ णं सुयअन्नाणी सुयअन्नाणपरिगए भावे आघवेति तं चेव ।

विभंगनाणस्स णं भंते ! केवतीए विसए पण्णत्ते ?, गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ ४। दव्वओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ, पासइ, एवं जाव भावओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगए भावे जाणइ, पासइ । सूत्र ३२२ ।

णाणी णं भंत्ते ! णाणीति कालओ केवच्चिरं होइ ?, गोयमा ! नाणी दुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—साइए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से साइए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं सातिरेगाइं ।

आभिणिवोहियनाणी णं भंते ! नाणी, आभिणिबोहियनाणी जाव केवल-नाणी । अन्नाणी,मइअन्नाणी, सुयअन्नाणी, विभंगनाणी, एएसि दसण्हंवि संचिट्ठणा जहा कायठिईए । अंतरं सव्वं जहा जीवाभिगमे । अप्पावहुगाणि तिन्नि जहा वहुवत्तव्वयाए ।

केवतिया णं भंते ! आभिणिवोहियनाणपज्जवा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता आभिणिवोहियनाण पज्जवा पण्णत्ता । केवतिया णं भंते । सुयनाणपज्जवा पण्णत्ता ?, एवं चेव, एवं जाव केवलनाणस्स। एवं मइअन्नाणस्स, सुयअन्नाणस्स । केवतिया णं भंते ! विभंगनाणपज्जवा पण्णत्ता ?, गोयमा ! अणंता विभंगनाण पज्जवा पण्णत्ता । एएसि णं भंते ! आभिणिवोहियनाणपज्जवाणं, सुयनाणपज्जवाणं—

ओहियनाण०, मणपज्जवनाण, केवलनाणपज्जवाणं य कयरे २ जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा सव्वत्थोवा मणपज्जवनाणपज्जवा । ओहिनाणपज्जवा अणंतगुणा, सुयनाणपज्जवा अणंतगुणा, आभिणिवोहियनाणपज्जवा अणंतगुणा, केवलनाणपज्जवा अणंतगुणा । एएसि णं भंते । मइअन्नाणपज्जवाणं, सुयअन्नाण पज्जवाणं, विभंगनाण० य कयरे २ जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा विभंगनाणपज्जवा, सुयअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा, मइअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा । एएसि णं भंते ! आभिणिवोहियनाणपज्जवाणं जाव केवलनाणपज्जवाणं, मइअन्नाणप०, सुयअन्नाणप०, विभंगनाणप० कयरे २ जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा मणपज्जवनाणपज्जवा, विभंगनाणपज्जवा अणंतगुणा, ओहिणाणपज्जवा अणंतगुणा, सुयअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा, सुयनाणपज्जवा विसेसाहिया, मइअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा, आभिणिवोहियनाणपज्जवा विसेसाहिया, केवलनाणपज्जवा अणंतगुणा । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति

भगवतीसूत्र, शतक ८, उ० २ । सूत्र ३२३ ।

कइविहे णं भंते ! गणिपिडए प० ?, गोयमा । दुवालसंगे गणिपिडए प०, तं—आयारो जाव दिट्ठिवाओ । से किं तं आयारो ?, आयारे णं समणाणं णिग्गंथाणं आयारगोयरे० एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा, जहा नंदीए जाव—

सुत्तत्थओ खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ।।१।।

भगवती सूत्र, शतक २५, उद्देश ३ ।

६. राशिबद्ध—जो एक समय में, दो से लेकर एक सौ आठ सिद्ध हुए हैं, उन्हें राशिवद्ध कहते हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—पहले समय में २ से लेकर ३२ पर्यन्त, दूसरे समय में ३३ से लेकर ४८ तक, तीसरे समय में ४९ से लेकर ६० तक, चौथे समय में ६१ से लेकर ७२ तक, पांचवें समय में ७३ से लेकर ८४ तक, छठे समय में ८५ से लेकर ९६ तक, सातवें समय में ९७ से लेकर १०२ तक, और आठवें समय में १०३ से लेकर १०८ पर्यन्त सिद्ध होने वालों को संभव है राशिबद्ध कहते हों। एक समय में ज० एक और उ० १०८ सिद्ध हो सकते है, क्योंकि कहा भी है—

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीई छन्नउई दुरहिय अट्ठुत्तरसयं च॥

नौवें समय में अन्तर पड़ जाना अवश्यंभावी है। अथवा १०८ किसी भी एक समय में सिद्ध होने के अनन्तर अन्तर पड़ जाना अनिवार्य है। राशिबद्ध सिद्धों के अनेक प्रकार हैं, उपर्युक्त लिखित भी उनका एक प्रकार है।

७. एकगुण—सिद्धों में सबसे थोड़े अतीर्थसिद्ध, असोच्चाकेवलिसिद्ध, स्त्रीतीर्थंकर सिद्ध, जघन्य अवगहना वाले सिद्ध, नपुंसकलिंगसिद्ध, गृहलिङ्गसिद्ध, पहली अवस्था में हुए सिद्ध, चरमशरीरीभव में पहली बार सम्यक्त्व प्राप्त करके होने वाले सिद्ध, इस प्रकार अनेक विकल्प किए जा सकते हैं। संभव है इस अधिकार में ऐसा ही वर्णन हो, इस कारण इस अधिकार को एक गुण कहा है, जिन वर्गों के भेद ऊपर लिखे जा चुके है, वे सब वर्ग अनन्त-अनन्त हैं, संख्यात-असंख्यात नहीं।

८. द्विगुण—गणधर, आचार्य, उपाध्याय, शास्ता, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, मण्डलीकनरेश इत्यादि पदवी के उपभोक्ता होकर यथाख्यात चारित्र के द्वारा कर्मों से मुक्त होने वाले सिद्ध, स्त्रीलिंगसिद्ध, सम्यक्त्व से प्रतिपाति होकर संख्यात भव तथा असंख्यात भव तक संसार में भ्रमण करके पंचमगति प्राप्तसिद्ध, पांच अनुत्तर विमानों से च्यवकर हुए सिद्ध इत्यादि अनेक विकल्प किए जा सकते हैं। संभव है इस अधिकार में ऐसा ही वर्णन हो।

९. त्रिगुण—बुद्धबोधितसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध, स्वलिंगसिद्ध, मध्यमावगहना वाले सिद्ध, सम्यक्त्व से प्रतिपाति हो अनन्त संसार परिभ्रमण करके पंचमगति प्राप्तसिद्ध, महाविदेह से हुए सिद्ध और तीर्थसिद्ध, संभव है इस अधिकार में पूर्वोक्त प्रकार से वर्णन हो, इसके भी अनगिनत भेद हैं। यहां तो केवल विषय स्वरूप का दिग्दर्शन ही कराया गया है।

१०. केतुभूत—यह पद दूसरी बार आया है। पहले की अपेक्षा यह पद अपना अलग ही महत्त्व रखता हैं। यहाँ से विषय का दूसरा मोड़ प्रारम्भ हो जाता है। जब जीव पहलीबार सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब उसकी विचार धारा एक दम स्वच्छ एवं आनन्दवर्धक हो जाती है। शुभ इतिहास के सुनहले पन्ने भी यहीं से प्रारम्भ होते हैं। विकास की पहली भूमिका भी सम्यक्त्व ही है। विवेक की अखंड ज्योति भी सम्यक्त्व से जगती है। आत्मानुभूति की अजस्र पीयूषधारा भी सम्यक्त्व से ही प्रवाहित होती है। सम्यक्त्व से ही जीव वास्तविक अर्थ में आस्तिक बनता है। एक बार जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है, समयान्तर में फिर भले ही वह मिथ्यादृष्टि बन जाए, किन्तु वह किसी भी अशुभकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बान्धता, जब कि एकान्त मिथ्यादृष्टि बान्धता है। जो आत्मा कभी भी पहले सम्यग्दृष्टि नहीं बना और न मार्गानुसारी ही, उसे एकान्त मिथ्यादृष्टि कहते हैं। संसारावस्था में जब सिद्ध आत्माओं ने सम्यक्त्व प्राप्त किया, तभी से उनका

विकास प्रारम्भ हुआ। जितने भी सिद्ध हुए हैं, उन्होंने सर्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त किया है और विकास-उन्मुख हुए, वहीं से जीवन का नया मोड़ प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः सम्यक्त्व लाभ होने पर ही गुणों का विकास और अवगुणों का ह्रास, एवं जीवन का पावन इतिहास प्रारम्भ होता है।

११. प्रतिग्रह—इसका अर्थ होता है स्वीकार करना—सम्यक्त्वलाभ होने पर १२ व्रत गृहस्थ के तथा पांच महाव्रत साधु के इनमें से किसी एक मार्ग को अपनाया व्रतस्वीकार करने पर यथाशक्य नियमों को आराधना से, दुःशक्य या अशक्य नियमों को विराधना से संयम पाला। बन्ध और निर्जरा दोनों ही चालू रहे, व्रतधारण करने पर उत्थान, पतन और स्खलना होती रही, उसके परिणाम स्वरूप पुनः भवभ्रमण करके सिद्धगति को प्राप्त किया। संभव है, इस अधिकार में इस प्रकार का वर्णन हो।

१२. संसारप्रतिग्रह—इसका अर्थ होता है सन्मार्ग से भटक कर उन्मार्ग में गमन करना। जिन आत्माओं ने सम्यक्त्व या चारित्र से प्रतिपाति होकर अशुभगतियों में संख्यातकाल, असंख्यात काल या अनन्तकाल पर्यन्त भवभ्रमण करके सिद्धत्वप्राप्त किया है, संभव है इस अधिकार में अतीतकाल की अपेक्षा उनके भव भ्रमण का इतिहास निहित हो।

१३. नन्द्यावर्त्त—इसका भाव है आनन्दमय जीवन का आवर्त्त, जो सिद्ध अवस्था से पहले रत्नत्रय की आराधना करके आराधक बने, नरकगति तिर्यंचगति, नीचगोत्र और अशुभनामकर्म का बन्ध छेदन कर उत्तममनुष्य भव और उच्चदेवभव में अनुपम सुख का उपभोग कर पुनः चारित्र ग्रहण कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए। संभव है इस अधिकार में पूर्वोक्त वर्णन किया गया हो।

१४. सिद्धावर्त्त—सिद्ध रूप में आवर्त्तन करना, जिन्होंने कर्मक्षय सिद्ध होने से पूर्व अथवा नैश्चयिक सिद्ध होने से पूर्व मनुष्य के जितने आध्यात्मिक लब्धि संपन्न भव व्यतीत किए हैं, उन्हें व्यावहारिक सिद्ध कहते हैं। जो एकबार व्यावहारिक सिद्ध होकर नैश्चयिक सिद्ध हुए हैं। संभव है इस अधिकार में उन्हीं का वर्णन हो।

मनुष्य-श्रेणिका-परिकर्म

१. मातृकापद—मनुष्य भव सब गतियों में और सब भवों में श्रेष्ठ गति एवं श्रेष्ठ भव है। अतः मनुष्य अपना महत्त्व विलक्षण ही रखता है। केवल जैन ही नहीं, विश्व में जितने आत्मवादी तथा आस्तिक है, वे सभी मानवभव को प्रधान मानते हैं। वैसे तो शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध जीव सभी गति, जाति, कुल और भवों में करता ही रहता है और कृतकर्मों का फल भी भोगता रहता है। किन्तु फिर भी जितना उत्थान, उन्नति, और विकास मनुष्य भव में हो सकता है उतना अन्य किसी भव में नहीं। ९ वें देवलोक से लेकर २६ वें देवलोक तक देवत्व के रूप में उत्पन्न होने की शक्ति मनुष्य में ही है और उन देवलोकों से देवता च्यव कर मनुष्य ही बनते हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धत्व प्राप्त करने की शक्ति भी मनुष्य में ही है इस दृष्टि से सिद्ध श्रेणिका परिकर्म के बाद मनुष्य श्रेणिका परिकर्म वर्णित किया है।

मातृकापद त्रिपदी का द्योतक है। उत्पाद व्यय और ध्रुव इनको त्रिपदी कहते हैं। मनुष्य-आयु उदय होने के पहले समय से लेकर अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर की अपेक्षा से उत्पाद और पूर्वपूर्व की अपेक्षा से व्यय समय समय में हो रहा है। पहले समय से लेकर अन्तिम समय तक मनुष्यभव ध्रुव है। उत्पाद के बाद व्यय और व्यय के बाद उत्पाद यह क्रम बेरोक टोक चलता ही रहता है। द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः और

भावत: इस प्रकार चारों की अपेक्षा पर्याय बदलती रहती है । कल्पना करो अभी-अभी सौ वर्ष की आयु वाला एक शिशु पैदा हुआ है । तुरन्त फोटोग्राफर ने उसकी फोटो ली प्रत्येक दिन प्रत्येक महीने और प्रत्येक वर्ष उसकी फोटो लेते रहें, सौ वर्ष समाप्त होने पर सभी फोटो को क्रमश: यदि सामने रखे जाएं तो सभी फोटो में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती जाएंगी । जैसे २ व्यक्ति में पर्याय बदलती है वैसे २ फोटो में भी अंतर नज़र आएगा । सभी फोटों में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की पर्याय पृथक् २ है । किसी फोटों में मुस्कान, किसी में शोक, किसी में रुदन, किसी में वीरता, किसी में प्रेम झलकता है और किसी में करता इत्यादि सब भावपर्याय हैं । इस प्रकार मनुष्य भव में उत्पाद और व्यय की पर्याय बदलती रहती हैं किन्तु ध्रौव्य आयु पर्यन्त रहता है । मनुष्यभव भी एक द्रव्य पर्याय है, उसमें जो जीव है, वह अनादि-अनंत काल से ध्रुव है ।

मातृकापद भाषाको भी कहते हैं । विश्व में जितने प्रकार की भाषाएं तथा लिपिएं प्रसिद्ध हैं, उन सबकी गणना इसी अधिकार में हो जाती हैं । मनुष्य अपनी आयु में जितनी भाषाएं व लिपियाँ सीखता है और जानता है । उतनी भाषाएं देवता भी नहीं जानता, अन्यगति के प्राणी तो क्या जाने ? मनुष्य श्रेणिका-परिकर्म के इस अधिकार में उपरोक्त विषय संभावित हो सकते हैं ।

२. एकार्थकपद—पद दो तरह के होते हैं एकार्थक और अनेकार्थक मानुष, मनुष्य मानव मनुज ये सब एकार्थक पद हैं । हरि गौ सैन्धव इत्यादि पद अनेकार्थक हैं । मनुष्य वाचक जितने भी पद हैं, वे एकार्थक पद में निहित हैं, भले ही वे किसी भी भाषा के शब्द हों, एकार्थक हैं ।

३. अर्थपद—मनुष्य शब्द के भी चार अर्थ होते हैं जैसे कि नाममनुष्य, स्थापनामनुष्य, द्रव्य-मनुष्य और भावमनुष्य । मनुष्य जाति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु विशेष या प्राणी का नाम मनुष्य रख दिया वह नाम मनुष्य, मनुष्य के चित्र या मूर्ति को स्थापनामनुष्य कहते हैं । जिस जीव ने मनुष्य की आयु बांध ली किन्तु वह अभी उदय नहीं हुई या कहीं मनुष्य का शव पड़ा उक्त हुआ है दोनों प्रकार के द्रव्य मनुष्य कहलाते हैं । जब मनुष्यों की आयु को भोगा जा रहा हो तब उसे भाव मनुष्य कहते हैं संभव है इस अधिकार में मनुष्यों का विवरण उक्त प्रकार से हो ।

४. पृथगाकाशपद—मनुष्य की अवगहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र, उत्कृष्ट तीन गाऊ से अधिक नहीं, शेष मनुष्य सभी मध्यवर्ती अवगहना वाले हैं । वे चाहे सम्मूर्छिम हैं या गर्भज, भोग भूमिज हैं या कर्मभूमिज । संभव है इस पद में उनकी अवगहना के विषय में सूक्ष्म वर्णन हो । जिन मनुष्यों की अवगहना एक समान है अर्थात् सदृश आकाश प्रदेशों को अवगाहित करने वाले मनुष्यों की एक श्रेणि, जो एक आकाश प्रदेश से अधिक अवगाहित करने वाले हैं, उनकी दूसरी श्रेणि । इस प्रकार आकाश के प्रदेश-प्रदेश अधिक करते-करते यावत् उत्कृष्ट अवगहना वाले जितने मनुष्य हैं, उनकी एक श्रेणी इस प्रकार अवगहना की असंख्यात श्रेणियां बन जाती हैं । इस पद के गम्भीर चिन्तन करने से ऐसा अर्थ अनुभूत हुआ ।

५. केतुभूत—केतुशब्द ध्वज के लिए भी रूढ है और धूमकेतु के लिए भी । वैसे ही जिन मनुष्यों का अभ्युदय कुल, गण, नगर, राष्ट्र तथा विश्व के लिए भयप्रद और उपद्रव का कारण बना हुआ है, वे मनुष्य केतुभूत हैं ऐसा इस पद से अर्थ झलकता है, तत्त्व केवलिगम्य है ।

६. राशिबद्ध—अढाई द्वीप में गर्भज मनुष्यों की गणना ज० २२२२२२२२२२२२२२२२२२ २२२ २९२२२२२ हो सकती है, इससे न्यून नहीं। मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या ९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९ ९९९९९९९९ इतनी हो सकती इससे अधिक नहीं। सम्मूर्छिम मनुष्यों का उत्कृष्ट २४ मुहूर्त का अभाव भी हो सकता है। उनकी संख्या जघन्य एक, दो यावत् संख्यात, असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय होते हैं उतने असंख्यात सम्मूर्छिम उत्कृष्ट हो सकते है, इसे राशिबद्ध कहते हैं।

७. एकगुण—मनुष्यों में सब भांति परमावधिज्ञानी, विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी, सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत, शुक्ललेश्या सहित अन्त किये वाले, चरमशरीरी, अभव्य, केवलज्ञानी, अप्रमत्तगुणस्थानापन्न पुलाक-निर्ग्रंथ, मनःपर्यवज्ञानी, इंद्रियपरमार्थीय चारित्री, द्वादशाङ्गगणिपिटक के वेत्ता, आहारक लब्धिसंपन्न, जंघा-चारण-विद्याचारण लब्धिवाले संयत संभव है इस प्रकार के मिलते-जुलते अनेक विषय इस अधिकार में हों। मनुष्यों में जो स्वरूप से स्वरूप है, भले ही वे अच्छे हों या बुरे उनकी गणना इस अधिकार में की गई है।

८. द्विगुण—उपशमश्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणिवाले द्विगुणित, सर्वविरति की अपेक्षा क्षायिक-सम्यग्दृष्टि मनुष्य द्विगुणित, तीर्थंकर के होते हुए उनके शासन में मुनियों की अपेक्षा मोक्ष में जाने वाली श्रमणीवर्ग द्विगुणित। महावीर के शासन में ७०० साधु और १४ साध्वीवृन्द ने केवलज्ञान प्राप्त किया। संभव है इस अधिकार में एतद् विषयक वर्णन हो।

९. त्रिगुण—संयतों की अपेक्षा साध्वियां त्रिगुण हों, जघन्य आराधक त्रिगुण हों। आराधकों की अपेक्षा विराधक संयमी त्रिगुण हों, क्षायिक—सम्यग्दृष्टि मनुष्य की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिगुण हों, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्युत हुए मनुष्य की अपेक्षा चार अनुत्तर विमान से च्युत हुए मनुष्य त्रिगुण हों, संभव है इस प्रकार के वर्णन करने वाला अधिकार यही हो।

१०. केतुभूत—जो मनुष्य अपने कुल, गण, राष्ट्र तथा युग में ध्वजा की भान्ति सर्वोपरि है—जैसे कि तीर्थंकर चक्रवर्ती बलदेव वासुदेव गणधर आचार्य उपाध्याय, सेठ सेनापति, इत्यादि पदाधिकारी मनुष्य केतुभूत कहलाते हैं। संभव है इस अधिकार में केतुभूत-ध्वजासदृश मनुष्यों का तथा तत्सदृश बनने के उपायों का वर्णन हो।

११. प्रतिग्रह—इस शब्द का अर्थ होता है स्वीकार करना, व्रतधारण करने पश्चात् उत्थान, पतन स्खलना आराधना, विराधना सातिचार, निररिचार सदोष निर्दोष चारित्र पाला जा रहा है इस कारण उस भव में विशिष्ट चारित्र के अभाव होने पर जीव को पुनः भव भ्रमण करना पड़ता। उसी भव में कर्मों पर विजय न होने से वह विरति मनुष्य सिद्धिगति को प्राप्त न कर सका इसी प्रकार विरताविरति मनुष्य के विषय में समझलेना चाहिए। सातिचार श्रावकवृत्ति पालकर जीव तीसरे भव में मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सका।

१२. संसार प्रतिग्रह—इस शब्द से ऐसा प्रतीत होता है, मनुष्यभव में पहली बार सम्यक्त्व प्राप्त किया, या पहली बार चारित्र धारण किया, उसके अनन्तर प्रतिपाति होकर उत्कृष्ट कितने कालतक भव भ्रमण करना पड़ता है ? जघन्य आराधना से और अधिक विराधना से भवभ्रमण होता है ? इसके लिए जमालिकुमार का उदाहरण ही पर्याप्त है।

१३. नन्दावर्त्त—जिस मनुष्य की काल लब्धि तो अधिक है, किन्तु संयम उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धत्तर

होता जा रहा है ऐसी आत्माएं मनुष्य से वैमानिकदेव, और वैमानिक से मनुष्य इस प्रकार सातभव देव के और आठ भव मनुष्य के नरक, तिर्यंच दोनों गतियों का बन्धाभाव करने से उच्चमानव भव और उच्च देवभव में भौतिक तथा आध्यात्मिक आनन्द अनुभव करतीं हैंइस कारण यह नन्दावर्त्त कहलाता है—जैसे सुबाहुकुमार का इतिहास हमारे सामने विद्यमान है। संभव है इस अधिकार में उक्त विषय निहित हों।

१४. **मनुष्यावर्त्त**—इस शब्द के पीछे भी अनेक अनिर्वचनीय रहस्य गर्भित हैं। मनुष्य भव में निरन्तर आवर्त्तकरते रहना सम्यक्त्व या चारित्र से प्रतिपाति होकर निरन्तर मनुष्य भव में कितनी बार जीव ने जन्म-मरण किए' या जीव मनुष्य भव कितनी बार निरन्तर प्राप्त कर सकता है ? निरन्तर आठ भव मनुष्य के हो सकते हैं, अधिक नहीं तत्पश्चात् निश्चय ही देवगति को प्राप्त करता है दूसरे भव से लेकर सातवें भव तक मुक्त होने का भी सुअवसर है किन्तु आठवें भव में नहीं। मनुष्य पहले भव में सिद्धगति प्राप्त करने की भजना है। छट्ठी पांचवीं नरक से आया हुआ, किल्विषी और परमाधामी देवगति से आया हुआ, विकलेन्द्रिय और असंज्ञीतिर्यंच तथा असंज्ञी मनुष्य से आया हुआ जीव मनुष्यगति में सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकता। संभव है इस अधिकार में उक्त प्रकार से विषय का वर्णन किया हो।

सिद्ध श्रेणिका परिकर्म के अनन्तर मनुष्यश्रेणिका परिकर्म का वर्णन करने का मुख्य ध्येय यही हो सकता है कि मनुष्यगति से ही सिद्धिगति प्राप्त हो सकती है, अन्यगति से नहीं। सिद्धों तथा मनुष्यों के जितने भी कथनीय विषय हैं, उन सबका विभाजन उक्त चौदह अधिकारों में ही हो सकता है। पन्दरहवें अधिकार के लिए कोई विषय शेष नहीं रह जाता।

दृष्टिवाद नामक १२ वें अङ्ग के ४६ मातृकापद हैं।[1] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों पदों को मातृका पद कहते हैं यहाँ पद, शब्द भेद अर्थ में अभीष्ट है। दृष्टिवाद के पहले भाग में परिकर्म का अधिकार है। परिकर्म के ७ भेद हैं, उनमें सिद्धश्रेणिका-परिकर्म और मनुष्यश्रेणिका-परिकर्म के १४-१४ भेद हैं उनमें सबसे पहला भेद मातृकापद है। सम्भव है ४६ मातृकापदों का अन्तर्भाव इन्हीं दो पदों में किया गया हो, कुछ मातृकापद सिद्धश्रेणिका-परिकर्म में हों और कुछ मनुष्यश्रेणिका-परिकर्म में, इस प्रकार इन्हीं दो श्रेणियों में मातृकापदों का प्रयोग किया है, अन्य किसी भी अधिकार में मातृकापदों का प्रयोग नहीं किया है। ऐसा समवायाङ्ग सूत्र से और प्रस्तुत नन्दी सूत्र से ज्ञात होता है। उक्त दोनों सूत्रों में "माउयापयाणि" बहु वचनान्त पद दिया है इससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रत्येक दो श्रेणियों में अनेकों ही मातृकापद हैं। सम्भव है दोनों में २३-२३ अथवा न्यूनाधिक पद हों। प्रतीत ऐसा होता है कि ४६ मातृका पद दोनों श्रेणियों में विभक्त किए हैं। उक्त दो परिकर्मों में सिद्धों तथा मनुष्यों का वर्णन है। सूत्रगत शब्दों का आशय स्पर्श कर यह सिद्धश्रेणिका परिकर्म का संक्षिप्त विवरण लिखा है। —संपादक

चित्तान्तर गण्डिकानुयोग का दिग्दर्शन

ऋषभदेव भगवान का शासन पचास लाख करोड़ सागरोपम से भी अधिक काल तक अर्थात् अजितनाथ भगवान के शासन प्रारम्भ होने तक निरन्तर चला तदनन्तर पहले शासन की इति श्री हुई।

---

१. दिट्ठिवायस्स णं छयालीसं माउया पया पण्णत्ता।
समवायाङ्ग सू० नं० ८५। ४६ वीं समवाय माउयापयाणि माउयापया दोनों शब्द शुद्ध हैं पुल्लिंग में भी पद शब्दका प्रयोग कर सकते हैं।

आचार्य मलयगिरि ने नन्दीसूत्र की वृत्ति में चित्रान्तर गण्डिका का परिचय अपनी मति-कल्पना से नहीं, अपितु पूर्वाचार्यों के द्वारा जो उन्हें सामग्री उपलब्ध हुई, उसके आधार पर निम्न लिखित रूप से दिया है जो कि विशेष मननीय है—

ऋषभदेव और अजित तीर्थंकर के अन्तराल में ऋषभवंशज जो भी राजा हुए हैं, उनकी अन्यगतियों को छोड़कर केवल शिवगति और अनुत्तरोपपातिक इन दो गतियों की प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाली गण्डिका चित्रान्तर गण्डिका-कहलाती है। इसका पूर्वाचार्यों ने ऐसा प्ररूपण किया है कि सगर चक्रवर्ती के सुबुद्धि नामक महामात्य ने अष्टापद पर्वत पर सगर चक्रवर्ती के पुत्रों के समक्ष भगवान ऋषभदेव के वंशज आदित्ययश आदि राजाओं की सुगति का इस प्रकार वर्णन किया है—उक्त नाभेय वंश के राजा राज्य का पालन करके अन्त समय में दीक्षा धारण कर संयम और तप की आराधना कर सब कर्मों का क्षय करके चौदह लाख निरन्तर क्रमशः सिद्धिगति को प्राप्त हुए। तदनंतर एक सर्वार्थसिद्धमहाविमान में। फिर चौदह लाख निरन्तर मोक्ष को प्राप्त हुए, तत्पश्चात् एक सर्वार्थसिद्ध महाविमान में। इसी क्रम से वे राजा मुनीश्वर होकर मोक्ष और सर्वार्थसिद्ध तबतक प्राप्त करते रहे जबतक कि सर्वार्थसिद्ध में एक-एक करके[1] असंख्य न हो गए।

इसके अनन्तर पुनः निरन्तर चौदह-चौदह लाख मोक्ष को और दो-दो सर्वार्थसिद्ध को तबतक गए बब तक कि ये दो-दो भी सर्वार्थसिद्धि में असंख्य न हो गए। इसी प्रकार क्रम से पुनः चौदह लाख मोक्ष होने के बाद तीन-तीन, फिर चार-चार करके पचास-पचास तक सर्वार्थसिद्ध महाविमान में गए और वे भी असंख्य होते गए।

इसके पश्चात् क्रम बदल गया, १४ लाख सर्वार्थसिद्ध-महाविमान में गए, तत्पश्चात् एक-एक मोक्ष को जाने लगे, पूर्वोक्त प्रकार से दो, दो, फिर तीन-तीन करके पचास तक गए और सब असंख्य होते गए। इनकी तालिका निम्नलिखित है।

१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सिद्ध गति में
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सर्वार्थसिद्ध में
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सिद्धि गति में
१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सर्वार्थसिद्ध विमान में

इसके बाद फिर क्रम बदला—दो लाख निर्वाण को और दो लाख सर्वार्थसिद्धि को फिर तीन तीन लाख फिर चार-चार लाख। इस प्रकार से दोनों ओर यह संख्या भी असंख्यात तक पहुंच गई। इसकी तालिका उदाहरण के रूप में निम्नलिखित है—

२	३	४	५	६	७	८	९	१०	मोक्षे गताः
२	३	४	५	६	७	८	९	१०	सर्वार्थसिद्धि गताः

(१)

इसके बाद काल के प्रभाव से फिर क्रम बदला, वह इस प्रकार है।

१	३	५	७	९	११	१३	१५	१७	१९	मोक्षे गताः
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०	सर्वार्थसिद्धि गताः

१. ३३ सागरोपम आयुवाले सर्वार्थसिद्धविमान में संख्यात देवता रह सकते हैं, असंख्यात नहीं, च्यवन भी साथ २ होता रहता है।

(२)

तत्पश्चात् पुन: काल के प्रभाव से क्रम बदला, जैसे कि—

१	५	९	१३	१७	२१	२५	मोक्षे गता:
३	७	११	१५	१९	२३	२७	सर्वार्थसिद्धौ गता:

(३)

तत्पश्चात् फिर कुछ अन्य प्रकार से क्रम बदला—

१	७	१३	१९	२५	३१	३७	४३	४९	५५	मोक्षे गता:
४	१०	१६	२२	२८	३४	४०	४६	५२	५८	सर्वार्थसिद्धौ गता:

(४)

इसके बाद क्रम कुछ अन्य ही प्रकार से बदला, जैसे कि—

३	८	१६	२५	११	१७	२९	१४	५०	८०	५	७४	७२	४९	२९	मोक्षे०
५	१२	२०	९	१५	३१	२८	२६	७३	४	९०	६५	२७	१०३	०	सर्वार्थ०

(५)

इसके बाद फिर अन्य ही प्रकार से क्रम बदला—

२९	३४	४२	५१	३७	४३	५५	४०	७६	१०६	३१	१००	९८	७५	५५	सर्वार्थसिद्धौ गता
३१	३८	४६	३५	४१	५७	५४	४२	९९	३०	११६	९१	५३	१२९	०	मोक्षे गता:

पहली स्थापना से लेकर पांचवीं स्थापना तक लाख या हजार नहीं समझने अपितु यावती संख्या पहले क्रम में दी है, उतने सूर्यवंशीय राजा मोक्ष जाते रहे फिर नीचे की पंक्ति की संख्या वाले सर्वार्थसिद्धि में—एक मोक्ष में तीन सर्वार्थसिद्ध में, ३मोक्ष में ४ सर्वार्थसिद्धि में, इस प्रकार की गणना करनी चाहिए।[1] पांचवीं स्थापना में जो शून्य पद दिया है उससे आगे मोक्ष गति में जाना बन्द हो गया, तब श्रीअजितनाथजी के पिता उत्पन्न हो गए थे। तब से लेकर सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त अन्य अणुत्तर देवलोक में भी जाने लगे किन्तु मोक्ष में जाना बन्द हो गया था। जब तक जीव मोक्ष गमन करते रहते हैं, तबतक तीर्थंकर का जन्म नहीं होता। बन्द हुए मार्ग को केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर ही खोलते हैं। पार्श्वनाथजी का शासन महावीर के शासन प्रारम्भ होने तक ही वस्तुत: चला—यदि फिर भी कुछ साधु-साध्वियां श्रावक तथा श्राविकाएं इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी रहे, वह वास्तव में शासन नहीं कहलाता। जब महावीर स्वामी का जन्म हुआ तब पार्श्वनाथजी के शासन में से केवलज्ञान, और सिद्धत्व की प्राप्ति बिलकुल बन्द हो चुकी थी। पार्श्वनाथजी के चौथे पट्टधर आचार्य तक मुमुक्षु मोक्ष प्राप्त करते रहे। तत्पश्चात् उस शासन में मोक्ष प्राप्त करना बन्द हो गया था। वे उतनी उच्चक्रिया नहीं कर सके, जिससे कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकें। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद, उनके शासन में ६४ वर्ष तक तीसरे पट्टधर आचार्य जम्बू स्वामीपर्यन्त मोक्ष प्राप्त करने वाले मोक्ष प्राप्त कर सके, तदनन्तर नहीं। परमविशुद्ध संयमाऽभावात्।

अत: सिद्ध हुआ कि तीर्थंकर आइगराणं धर्म की आदि करने वाले होते हैं। परमविशुद्ध संयम और चरम शरीरी मनुष्यों का जबतक अस्तित्व रहता है, तब तक निर्वाण मार्ग खुला रहता है। परमविशुद्ध धर्म की आदि तीर्थंकर ही करते हैं।

—अ०रा० को०

ॐ

1. चउत्थाओ पुरिसजुगाओ जुगन्तकडभूमि (कल्पसूत्र)